वैचारिकी

(साहित्य-समालोचन)

•

लेखिका
शचीरानी गुर्टू

•



1962

आत्माराम एण्ड संस
प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता
काश्मीरी गेट
दिल्ली 6

VAICHARIKI

(Literary Criticism)

by

Shachi Rani Gurtu

Rs. 10 00

प्रकाशक | रामलाल पुरी संचालक
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट दिल्ली-6

शाखाएँ | हौज़ खास नई दिल्ली
माई हीरां गेट जालन्धर
चौड़ा रास्ता जयपुर
बेगमपुल रोड मेरठ
विश्वविद्यालय क्षेत्र चण्डीगढ़

मूल्य दस रुपए
संस्करण प्रथम 1963

मुद्रक
सुरेन्द्र प्रिंटर्स प्राइवेट लि
किप्टीगंज दिल्ली-6

निवेदन

'वैचारिकी' मेरे स्फुट निबन्धों का संकलन है। समय-समय पर भीतरी और बाहरी प्रेरणा वश—कभी पत्र-पत्रिकाओं से लेखों की माँग के कारण कभी रेडियो-वार्ताओं के रूप में अथवा नई कृतियों व कृतिकारों की विचारधारा का मन पर पड़ी छाप या प्रतिक्रिया वश जो लिखना पड़ता है—उन्हीं सब लेखों को संशोधित और परिवर्धित करके प्रस्तुत पुस्तक में दे दिया गया है। कुछ वर्षों से राजकीय सेवा में होने के कारण जीवन बहुत व्यस्त हो गया है। मेरे समय का अधिकतर उपयोग सरकारी कामकाज और सरकारी हिन्दी के निर्माण में होता है फिर भी इस भागदौड़ और अत्यधिक कार्यव्यस्तता में जो साहित्य से मेरा रागात्मक सम्पर्क है उसी का परिणाम है वैचारिकी। इस स्थिति में जैसा कि स्वाभाविक है विषय चयन में कोई क्रम या तारतम्य नहीं है, किन्तु बावजूद इसके यदि जिज्ञासु पाठकों को उनके मनोनुकूल इसमें कोई सामग्री मिल सकी या वे कोई क्रम या तारतम्य खोज सके तो मुझे प्रसन्नता होगी।

दिल्ली

शचीरानी गुर्टू

वैचारिकी

१

नई आलोचना

आज के आलोचना क्षितिज पर दृष्टिपात करते हैं तो उसका प्रत्येक स्तर गतिमय प्रतीत होता है। युग बदला है तो युग के वैचारिक द्वन्द्व ग[दृ]ष्टिकोण भी बदले हैं। पहले की कोमल-प्राण कल्पना आज अधिक सक्रिय अधिक जागरूक हो उठी है। युग और जीवन से टकराकर अब तक की दबी पड़ी कुण्ठाएँ चोट खाये विषधर की भाँति फन उठाए हैं। युगों की पीढ़ी आगत-अनागत के आह्वान से भरी थी। उसका अनुभूति-सिक्त सहज भावलहरियों का अक्षय स्रोत शास्त्रीय नियम एवं लोकमत इन दो कूलों को स्पर्श करता हुआ शत-सहस्र धाराओं में उच्छ्वसित हो—सदानीरा की भाँति—अप्रतिहत वेग से बहा करता था। उसके मर्यादित चिंतन का बाँध कम टूटता था उसकी तुष्ट दृष्टि तर्कशील न हुई थी। पर नई चेतना में पला नये युग का नया साहित्यकार तात्कालिक परिस्थितियों एवं दैनन्दिन संघर्षों से टक्कर लेकर अपेक्षाकृत सतर्क हो गया है। वह पूर्ववर्तियों से अपने आपको उच्छिन्न करके सर्वथा नई लीक का राही है। साहित्य के प्रति उसके दायित्व नये हैं उसके कर्तव्याकर्तव्य का मानदण्ड नया है उसके मूल्यांकन का विधान नया है। भौतिकता के विकास के साथ ज्यों-ज्यों रागात्मकता शिथिल पड़ती जा रही है बौद्धिकता उभर रही है। फलतः संक्रमण की इस अराजकता के बीच आलोचना की ऐसी अभिनव प्रणालियाँ विकसित हुई हैं जिनमें साहित्य के प्रति एक नवीन और तीव्र चेतना का आभास मिलता है।

यों गतिशीलता ने आलोचना को कई डग आगे बढ़ाया है। मानवीय चिंतन इतना आगे बढ़ गया है कि उसमें नई सृजनोत्कण्ठा के साथ-साथ बौद्धिक जिज्ञासाओं की तार्किक प्रणाली से निखरी सृजन को आँकने की स्पृहा भी जग गई है। आचार्य शुक्ल के बाद हिन्दी आलोचना रचनात्मक पथ पर अग्रसर होती रही तो कि उसके स्थायी मूल्य और माप की कसौटियाँ अभी सुस्थिर नहीं हुई। दिनानुदिन बौद्धिक नवीनता के आग्रह ने आलोचना के उपादानों को उन निरे जड़ अर्थों में ही ग्रहण नहीं किया अपितु आलोचना-परम्परा की लीक से अलग हट कर साहित्यिक प्रक्रिया के सच्चे स्वरूप और जीवन की रागबोधात्मक अनुभूतियों एवं बाह्य वास्तविकताओं के साथ उसके संवेदनात्मक सम्बन्धों को जानने और समझने का

भी प्रयास किया। यद्यपि आलोचना की प्राणवान परम्परा अभी विकसित नहीं हुई, पर साहित्य में उसकी गहरी पर्तें हैं उसके निर्माण में उसकी गठन में उसके स्थायित्व में उसका महत्त्वपूर्ण योगदान है।

मौजूदा आलोचना प्राचीन और नवीन का सम्मिश्रण है। वह अभी समृद्धि के उस छोर को नहीं छू पाई, जहाँ से दिग्भ्रान्त होने का खतरा टल जाता है। पर अन्य प्रभावों को आत्मसात् कर बाहर से दाय ने उसे सर्वांगीण और परिपुष्ट किया है। साहित्य के समूहगत पर्यालोचन परीक्षण विश्लेषण उसके सम किया अर्द्ध सत्य निष्कर्षों की खोज सम्यक् अनुशीलन तथा देशीय एवं बहिर्देशीय अन्तर्विरोधों ने इधर कितनी ही प्रवृत्तियों को जन्म दिया है जिनमें नवीन वैविध्य और असामान्य गुम्फन है। मुख्य रूप से तो दो ही प्रवृत्तियाँ काम कर रही हैं—अन्तर्वादी और वस्तुवादी। अन्तर्वादी प्रवृत्ति का मूल मनोविज्ञान है जिसमें सहानुभूति आत्म-प्रपीड़न स्वप्न-परिपूर्ति और दमित इच्छाओं के कारण स्व-रत्यात्मकता (Neurosist neurosis) आदि वैयक्तिक विकृतियाँ समाहित हैं। कुछ आत्मकेन्द्रित आलोचकों ने मनोविश्लेषण का दायरा सीमित कर ऐसे अन्तर्मुखी अगम्य अशरीरी तत्त्वों की खोज की है जिनमें मानव-मन के भीतरी पर्तों में दबी पड़ी काम-कुण्ठाओं का विवेचन है। जैसे-जैसे भौतिकशास्त्रियों की गवेषणाएँ आगे बढ़ रही हैं मानव-जिज्ञासा के पीछे छिपी कतिपय स्वीकृत-अस्वीकृत मान्यताओं के परीक्षणात्मक प्रयोग शुरू हो गए हैं।

पराजित भोगवाद

कहना न होगा—ऐसे आलोचक फ्रायड के मतवादों से प्रभावित हैं जिसने मनुष्य की तमाम विकृतियों अथवा छायात्मक मानसिक रोगों की उत्पत्ति निरोधित प्रेरणाओं में खोजी है। उसके अनुसार मनुष्य की मनःप्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो स्वभावतः अप्राप्य की ओर दौड़ा करती हैं। वे उन वस्तुओं को पाने के लिए सतत चेष्टाशील रहती हैं जो नितान्त सामाजिक अथवा व्यावहारिक जीवन में अमान्य हैं। अपने प्रयत्न में बाधा पाने से मनुष्य की प्रबल लोलुपता उसकी उन्मत्त उद्दाम लालसाएँ उग्र संवेग निरन्तर दमित होने के कारण अचेतन मन में घर पैदा करते हैं और ऐकान्तिक वृत्तियों पर हावी होकर अन्तःकरण के अभेद्य स्तरों में संचित हो जाते हैं जो बाहर से तो ओझल पर भीतर से मनोव्यापारों का अविभाज्य अंग बने रहते हैं। इन तिरोभूत अवांछित मनोवेगों घुटे इच्छाओं अवसादों का क्षणिक तृप्ति से शमन नहीं होता अपितु समय-असमय इन्हें अति दमित उत्तेजना मिलती रहती है जो सजग चेतन के असंख्य तारों को अनायास ही झनझना देती हैं। मन के गह्वर में दबी पड़ी ये काम-कुंठाएँ, फ्रायड के अनुसार, वातावरण के अनुकूल नियमित होती रहती हैं और मनुष्य के उच्चतर 'अहं' द्वारा उनका संस्कार या परिष्कार होता रहता है। पर जब-तब उनमें भयंकर विस्फोट

होता है अर्थात् मनुष्य की उच्छृंखल वृत्तियों पर से बुद्धि की रास ढीली पड़ जाती है तो मानसिक उलझनों और असन्तुलित मनोविकारों की कोई थाह नहीं है।

फ्रायड ने मानव-मन की मूल प्रेरक शक्ति 'काम' मानी है। इसी कसौटी पर उसने अपनी सम्पूर्ण मनोवैज्ञानिक भित्ति खड़ी की है। मनुष्य की इच्छा-अनिच्छा सुकृत्य-कुकृत्य क्षुद्र एवं उदात्त चिन्तन विचारधाराएँ, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष और जानी अनजानी क्रियाएँ, सचेत अर्द्धचेत तथा अचेत मन के अज्ञात अबाधित निर्देश सुषुप्ति अथवा जाग्रतावस्था के कार्य-व्यापार, उसकी तूफानी या संतुलित वृत्तियाँ—सभी का उद्गम 'काम' अर्थात् भोगजन्य उत्तेजना है जिसको फ्रायड युवावस्था में ही नहीं बल्कि शैशवावस्था से ही—अविकसित रूप में—स्वीकार करता है।

अपने यहाँ भी विश्लेषणवादी आलोचकों का एक ऐसा वर्ग बन गया है जो फ्रायड के पदचिह्नों का अनुसरण करता हुआ स्त्री और पुरुष के बीच के स्थूल शारीरिक द्वंद्वात्मक आकर्षण को ही सर्वोपरि मानता है।

'हमारे व्यक्तित्व में होने वाला संघर्ष मुख्यतया काममय है और चूँकि ललित साहित्य तो मूलतः रागात्मक होता है, अतः उसकी प्रेरणा में काम वृत्ति की प्रमुखता असंदिग्ध है।" (डॉ नगेन्द्र 'विचार और अनुभूति")

इसी प्रकार डॉ नगेन्द्र ने समस्त छायावादी काव्य को 'काम' से प्रेरित माना है। प्रेमचन्द वाले लेख में उन्होंने लिखा है

"साहित्य में कामाश्रित स्वप्न-कल्पनाओं का असाधारण योग रहता है। मैं समझता हूँ विश्व साहित्य का बहुलांश इन्हीं काम-कल्पनाओं से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में संवर्द्धन प्राप्त करता है। ('विचार और विवेचन" पृष्ठ ९१)

'अज्ञेय' ने तो आज के समूचे साहित्य को कुण्ठाजात माना है। 'त्रिशंकु' में 'परिस्थिति और साहित्यकार" शीर्षक निबंध में उन्होंने स्पष्ट उद्घोषणा की है—

"आज का हिन्दी साहित्य अधिकांश में अतृप्ति का या कह लीजिए लालसा का इच्छित विश्वास (wishful thinking) का साहित्य है।"

इसी लेख में एक अन्य स्थल पर वे लिखते हैं

" हमारे देश की आधुनिक अवस्था में अनुकूलता की संतोषजनक सामाजिक परितृप्ति की माँग दुस्सह हो उठी है।"

इसी माँग के कुण्ठित हो जाने से जो द्रोह व जो अशान्त अतृप्ति पैदा होती है वह एक विशेष प्रकार के साहित्य को ही प्रेरित कर सकती है।

आज का हिन्दी साहित्य प्रायः ठीक ऐसा ही साहित्य है।"

'अज्ञेय' ने मनुष्य को अनुशासित करने वाली दो प्रमुख वृत्तियाँ मानी हैं— अहं और काम जिनमें परस्पर संघर्ष होता रहता है। मनुष्य की उपभोग वृत्ति के

साथ उसका अहं टकराता रहता है। कहीं अहंभाव में दमित काम का पर्यवसान हो जाता है और कहीं काम के अनुशासन को स्वीकार करके अहंभाव की एकांगी विकासमूलक साधना की चरम परिणति भी दृष्टिगत होती है। नैतिक व्यवधान और सामाजिक परिवेश मानवीय विकृत कुण्ठाओं पर प्रवंचना का पर्दा डाल देते हैं जिससे असहनीय स्थिति अर्थात् उनकी भाषा में—ग्रन्थि पैदा हो जाता है।

फ्रायड के मन-कल्पना सम्बन्धी सिद्धांतों के एकाग्र जोधी भी भ्रामक हैं, पर उनका अनुभव-क्षम विकास है और वे किसी भी मतवाद की चौहद्दी में न बँध कर मनोविज्ञान की व्यापक स्थितियों को स्वीकार करते हैं

मेरे मत में मानवीय मन का विभाजन केवल दो या तीन खण्डों में नहीं किया जा सकता। मनुष्य का मनोलोक केवल सचेत मन या अर्द्धचेत मन तक ही सीमित नहीं है। वह असंख्य स्तरों में विभक्त है जिनमें से अधिकांश स्तर साधारण चेतना की अवस्था में हमारी अनुभूति के लिए अज्ञात रहते हैं। जिन अवांछित प्रवृत्तियों का हम दमन करते जाते हैं वे किन्हीं स्तरों में जाकर उन्हीं में घुलमिल जाती हैं। प्रतिक्षण एक न एक अज्ञात स्तर हमारे सचेत मन को प्रेरणा देता रहता है। पर असाधारण अवस्थाओं में एक नहीं अनेक स्तर, एक दूसरे से टकराते हुए, सचेत मन पर आकर हमला करते हैं और एक प्रचण्ड मानसिक भूकम्प की अवस्था उत्पन्न कर देते हैं। अन्तस्तल में निहित कौन स्तर कब और क्यों उठ कर तूफान मचा बैठेगा इसका कोई भी निश्चित नियम नहीं है।"

('विश्लेषण" पृष्ठ १ ९)

हम तो कहेंगे मानव-मन की क्रिया-प्रतिक्रिया इतनी सूक्ष्म और अदृश्य है कि उसे किसी विशेष खंडों अथवा स्तरों में विभक्त किया ही नहीं जा सकता। मन की संक्रमणशील शक्तियाँ केवल प्रातीतिक हैं। वे एक ऐसे स्वतःपूर्ण समभाव की सजीव प्रक्रिया हैं जो अपने आप में अविभाज्य हैं। उन्हें अणु, परमाणु या उससे भी सूक्ष्म तम कणों में विभाजित करना असम्भव है। मन का निर्माण इतना उलझावपूर्ण और रहस्यमय है साथ ही उसके गुणात्मक मूल्यों की सत्ता इतनी संश्लिष्ट और अविभाज्य है कि उसके स्वरूप का निर्धारण किया ही कैसे जा सकता है। अतएव अनन्त और अमित चेतना को 'काम' की सीमित परिधि में बंदी बनाना अथवा उसका एक ही मूलगत एवं अपरिणत आधार खोजना सर्वथा गलत और भ्रामक है। मन की मुक्त तरंगें अप्रतिहत वेग से अनेकधा होकर प्रवहमान होती हैं जिनके ओर-छोर का पता लगाना अथवा मनोलोक की सभी असंख्य वृत्तियों को कामोन्मुख मानना निरी विडम्बना है। कामजन्य उत्तेजनाएँ तो क्षणिक उन्माद की शिखाएँ हैं जो एक बार प्रदीप्त होकर किसी भी स्थितप्रज्ञ साहित्यकार की बुद्धि को अस्थिर कर सकती हैं। किन्तु महान् स्रष्टा की सृजन-चेतना तो तभी विराट् होगी जब कि वह सर्वांग के श्रेय प्रेम को आत्मवत् ग्रहण करने का अभ्यस्त होगा।

प्रश्न है कि क्या किसी भी अदृश्य अथवा इन्द्रियातीत सूक्ष्मतम संस्कारों को अन्तिम दृष्टि से वास्तविक सिद्ध किया जा सकता है या यूँ ही वहमों एवं असत्य आधारों को फ्रायड द्वारा पोषण मिला है ? मन से परे अचेतन की अगम्य अवस्थाओं से साक्षात्कार वही व्यक्ति कर सकता है जो अन्तर्अनुभूति के बल पर मनस्साधना के मार्ग का अनुधावन कर चुका है फिर भी ये भीतरी अनुभूतियाँ मानसिक वातावरण में से गुजर कर जब भाषा में व्यक्त होती हैं तो उनमें परस्पर भद प्रभेद एवं विसंगतियाँ आ ही जाती हैं जिनकी न व्याख्या हो सकती है न विश्लेषण।

स्वयं फ्रायड के दो शिष्यों एडलर और युंग ने आगे चल कर उसका विरोध किया था। फ्रायड के काम-वासना के महत्व और चेतन-अचेतन के अन्तर को उन्होंने सर्वथा अनुपयुक्त माना था। एडलर के मतानुसार मनुष्य की मूल प्रेरणा-शक्ति लोकैषणा अथवा बड़प्पन प्राप्त करने की इच्छा है लेकिन उसकी ये जबर्दस्त महत्वाकांक्षाएँ कठोर यथार्थ के अत्यन्त संकुचित दायरे में गिरफ्तार हो जाती हैं। शनैः शनैः उसमें आत्महीनता की भावना जगती है जिससे उसके भीतरी जीवन में बहुत कुछ अस्तव्यस्तता और अशान्ति छा जाती है।

इसके विपरीत युंग ने मनुष्य में विभिन्न मनःप्रवृत्तियाँ इच्छाशक्ति और व्यक्तिगत आकांक्षाएँ होते हुए भी कलाकार के रूप में उसकी उच्चतर स्थिति मान कर उसे 'सामूहिक मनुष्य' और मानव-मात्र के अचेतन मानसिक जीवन को प्रेरित और रूपायित करने वाला प्राणी स्वीकार किया है। उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट हो गया कि मन के अकल्पनीय छोरों की कोई ठोस परिसीमा नहीं है। यह अवश्य है कि फ्रायड ने चिन्तन को एक नया मोड़ दिया पर आधुनिक मनोविज्ञान हमारे भीतर काम कर रहे जीवन और चैतन्य के स्रोतों की जो खोज कर रहा है उसमें वह बहुत दूर तक नहीं ले जा सका है। ज्यों-ज्यों नये संशोधित सिद्धांत आये जाएँगे पुरानी मान्यताएँ पीछे पड़ जायेंगी। मनोविश्लेषणवादी आलोचक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में स्वयं इस बात को स्वीकार कर चुके हैं। इलाचन्द्र जोशी फ्रायड के एकांगी और संकीर्ण दृष्टिकोण की भर्त्सना करते हुए अपना अभिमत यों व्यक्त करते हैं

'फ्रायड ने यह निर्देशित किया है कि हम नींद की अवस्था में—जाग्रत अवस्था में भी—जितने भी स्वप्न देखते हैं वे बदले हुए रूपों में हमारी दमित यौन भावनाओं को ही विस्फुटित करते हैं। उसके कथनानुसार हमारे स्वभाव की जितनी भी विकृतियाँ हैं उनका मूल कारण दमित यौन प्रवृत्ति है और जितनी सुकृतियाँ या सुसंस्कृत और समुन्नत प्रवृत्तियाँ हममें पाई जाती हैं वे भी दमित यौन प्रवृत्ति के परातोन्नत रूप हैं। मतलब यह कि मानव-जीवन को प्रगति की ओर बढ़ाने वाली अथवा विकृति की ओर पीछे घसीटने वाली मूल परिचालिका शक्ति एक ही है, और वह है यौन-प्रवृत्ति। यह कैसा एकांगी और संकीर्ण दृष्टिकोण है विशेषज्ञों को यह बताने की आवश्यकता न होगी। यह ठीक है कि यौन-प्रवृत्ति के भीतर एक बहुत बड़ी अणु-शक्ति निहित है जिसके अनियंत्रित विस्फोट से मनुष्य के समस्त जीवन

पर अगाध प्रभाव पड़ सकता है तथा जिसके सुनियन्त्रण से जीवन के सुचारु संचालन में एक बहुत बड़ी सहायता मिल सकती है। पर समस्त मानवीय भावनाओं मनुष्य की सभी सुख-दुःखमयी वेदनाओं और आकांक्षाओं की मूल नियंता एकमात्र यही प्रवृत्ति है ऐसा समझना घोर भ्रामक होगा। असंख्य मानवीय मूल प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो यौन भावना से तनिक भी सम्बन्ध नहीं रखतीं और जो मानव के संघर्षमय जीवन को कुछ निश्चित दिशाओं की ओर धक्का देती रहती हैं।"

("विवेचन" पृष्ठ १ ८)

डॉ नगेन्द्र अभी फ्रायड के मतवादों से मुक्त नहीं हो पाए हैं— 'प्रगतिवाद के एकाध नादान दोस्त की मोटी अक्ल में फ्रायड का महत्त्व नहीं बैठ पाता पर इससे फ्रायड का कुछ नहीं बनता-बिगड़ता।

पर लगता है उनके विचार अब डगमगाने लगे हैं और वे फ्रायड से पीछा छुड़ाना चाहते हैं। एक रेडियो-प्रसारित वार्ता में उन्होंने कहा था 'मेरे सहयोगी और सम-सामयिक मुझे फ्रायडवादी समझते हैं किन्तु उनकी यह धारणा गलत है।"

'अज्ञेय' तो पक्के भोगवादी होते हुए भी प्रगतिशीलता का दम्भ भरते नहीं थकते। ये दृष्टिकोण ही उनके जीवन के 'सूत्र' हैं और पुस्तकें उनकी साक्ष्य।

लेकिन फ्रायड के इस स्थूल दैहिक आकर्षण ने इधर अपरिपक्व नौसिखुओं की बुद्धि को इतना झकझोरा है कि जो स्थापनाएँ अब पश्चिम में ही संदिग्ध हो गई हैं या उन्हें ना-काफी मान कर कितने ही हेर-फेर किए जा रहे हैं—उन्हें नये सिरे से अपना कर वे अपने आपको गौरवान्वित मानते हैं। दो-एक प्रतिष्ठित आलोचकों की शह पाकर तो आधुनिक मनोविज्ञान के प्रतिमानों का जो स्वयं शैशव और प्रयोग की संदिग्धावस्था में हैं हिन्दी साहित्य पर इस प्रकार बोझा जा रहा है कि नकारात्मक मलीन स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियों को प्रश्रय दिया जा रहा है। फ्रायड के इन अन्ध मतानुयायियों को देखकर उन अर्धविक्षिप्त कामातुर और विकृत रोगियों की लम्बी कतार आँखों के सामने आ खड़ी होती है जिनके मस्तिष्क में विषमता की घुटन है और वहमी उलझनों के कीड़े कसमसा रहे हैं। मनोविज्ञान की आड़ लेकर और मतवादी संकीर्ण सीमाओं के कठघरे में बाँधकर जो साहित्य को एकांगी और मर्यादाहीन बना रहे हैं वे उसे चरम विकास के मुहाने पर ले जाने के बहाने कहाँ—कितनी दूर तक—अपवीथ में—ले जाकर छोड़ देंगे—कहा नहीं जा सकता। भीतर-ही-भीतर वासना का 'घुन' उन्हें खाए जा रहा है जो उनके पशुत्व को उभार कर अधिकाधिक उन्हें खोखला और पुंसत्वहीन बना रहा है।

निःसन्देह इन भीतरी राग-विरागों के दिमागी फितूर और तिस पर अनर्गल इच्छा-आकांक्षाओं के न जाने कितने ही मिले-जुले अनन्त स्तर हैं जिनके जटिल जाल में समूचा जीवन और उसके अनगिन व्यवहार-व्यापार उलझे हैं। सदियों से घुट कर ये दबे-घुटे विकार ही तीव्र से तीव्रतर होकर जैसे आज के भिन्न-भिन्न जीवन के

विवशता और बुद्धि के मशीन की कटी झंकारों से अंधेरी गुहाओं को गुंजाते अंतर्मन के कोनों-कोनों में झांक लेने का दम भरते हैं। सब कुछ नया अनदेखा अनजाना बे-समझा—एक निरर्थक दुःस्वप्न-सा—घुटन और हताशा की पलायनवादी परिणति में आ सिमटा है। जीवन के अनन्त फेनिल प्रवाहों की ओर उन्मुख पर उनके प्रवाह के सरसवेग को रुद्ध करने वाली भीषण चट्टानों की ही तरह जहाँ अनेकानेक विकारों के उपकरण मौजूद हैं—ऐसे 'ओडिपस काम्प्लेक्स' के मझधार आवर्तों में दिग्भ्रान्त—लक्ष्य से भटके हुए, मगर फिर भी किसी एक ओर ही बहने की ज़िद ठाने—तन-मन की थकान और जीवन-संघर्षों की तल्ख़ी लिए ऐसे-ऐसे दूरस्थित छोरों पर भटक जाते हैं जहाँ सामंजस्य के बिन्दु या किसी प्रकार का मौलिक साम्य नहीं है जहाँ इत्तफ़ाक से एक हवा टकराई तो दूसरी कतराकर गुज़र जाती है। मनोवैज्ञानिकों के मत में यह 'ओडिपस काम्प्लेक्स' ही तो सारी मुसीबत की जड़ है। बस यही तो है वह पड़ाव जिसकी ओट में असली और नकली चेहरे छुपे रहते हैं। अवचेतन की दुर्भेद्य परतों में आत्म प्रपीड़न अहंकार और व्यक्तित्वहीनता कुंठा दंभ और दुर्भावना विचार, भावना और परिस्थितिगत द्वन्द्व आकर्षण-विकर्षण और कितनी ही सुरुचियों-कुरुचियों से उपजी अकारण प्रवृत्तियाँ—ऐसे-ऐसे असंख्य अपराधों की संभावनाओं को नित्य जगाते रहते हैं जिनमें बहुमुखी विराट् वाङ्मय के अन्तर्प्राण स्पन्दन अपने निजके प्राणस्पन्दन से एकमेक कर ये मदांध दम्भी और संकीर्णमना लोग निजी इच्छा-आकांक्षाओं के बिम्ब प्रतिबिम्ब उभारते रहते हैं। साहित्य के जीवन्त प्रेरणादायक स्वरूप को न समझते हुए अपनी क्षुद्र लिप्साओं की दुर्गन्धित छलना में बहक कर ऐसे-ऐसे अप्रत्याशित परिकल्पनाओं के 'क्लाइमेक्सों' द्वारा इस तरह के दृष्टिकोण मतवाद धारणाएँ और मत-विभेद प्रस्तुत कर रहे हैं जिनके द्वारा एक नितान्त कुण्ठित जड़ता में साहित्य के सृजनशील तत्त्वों का दम घोंटा जा रहा है।

किसी भी आलोचक को आलोचना की निजी कसौटी अख्तियार करने की तो स्वतन्त्रता है परन्तु साहित्य को इस प्रकार स्वेच्छानुसार से कुण्ठित करने का उसे कोई अधिकार नहीं।

अतिचारवाद या अबाध उन्मुक्ति

उपर्युक्त मनोविश्लेषणवादी धारा के समानान्तर कुछ अन्य प्रतिगामी प्रवृत्तियाँ भी साथ-ही-साथ पनप रही हैं। मुख्यतः हमारे अत्याधुनिक समीक्षकों में यह भावना घर करती जा रही है कि विचार और अभिव्यक्ति में बे-रोकटोक स्वतन्त्रता बरतनी चाहिए। भले ही वे प्रगतिशील हों या प्रयोगशील अथवा ऊपर से कायदे के दुश्मन ही क्यों न हों—वे किसी भी साहित्य के आचार उपचार को न मान कर कहते हैं—किसी भी प्रतिबन्ध को न मानो जो बात कहनी हो बेझिझक दिल से कहो। किसी की परवाह न करो किसी का लिहाज़ में अपने भीतर की दबी हुई वासनाओं अतृप्तियों आकांक्षाओं का गला न दबाओ। अतएव उन तत्त्वों और नियमों को निर्मूल कर दो जो कला के रूप और विषय की पूर्ण स्वतन्त्रता एवं निर्बाधता में

मचल उठें। ऐसा प्रतीत होता है कि मानसिक संघर्ष मनुष्य की चेतना को ठेल कर और उसका कसमसाता भीतरी विद्रोह उभर कर व खीझ कर समस्त बन्धनों को तोड़ता हुआ बाहर फूट पड़ना चाहता है। मनोविश्लेषणवादियों का कामशास्त्र बहुत कुछ मनःकल्पना है, अतः बौद्धिक अधिक है। जिन्हें इसमें काल्पनिक सुख मिला वे इससे सम्मोहित ही अधिक हुए, क्योंकि भारतीय साहित्य-परम्परा के अन्तर्गत इस विजातीय तत्त्व की पूर्णतया खपत न हो पाई। यहाँ के मनोविश्लेषणवादी आलोचक भी इसे बुद्धि द्वारा ही ग्रहण कर सके अनुभूति द्वारा उसे अनुप्राणित नहीं कर पाए।

किन्तु यथार्थवादियों ने इस भावना को नये स्वर से अपनाया है। वे मन के छद्म आवरणों का पर्दाफाश कर 'काम' के उद्बोध का खुला निर्बाध निष्कासन पसन्द करते हैं। इस पतनकारी प्रवृत्ति की ऐसी लहर सी आई है कि उपन्यास कहानी नाटक कविता आदि पर तो इसका गहरा प्रभाव है ही आलोचना भी इसके असर से अछूती नहीं रह सकी है।

एक और प्रवृत्ति इधर जोरों पर है जो साहित्य की सहज गति को रुद्ध करने वाली है। प्रायः जो आलोचक आलोचना के क्षेत्र में उतरते हैं वे विचार या तर्क-वितर्क करना तो पसन्द करते हैं, पर ग्राही नहीं हैं। कोरी युक्तियाँ ही उनके पास हैं अनुभूति की पूँजी उनके पास बहुत कम होती है। परिणाम यह होता है कि ऐसी अधिकांश आलोचनाएँ असफल और अविश्वसनीय उतरती हैं।

प्रगतिवादी समीक्षा

नये युग की नवोद्भासित चेतना ने इधर साहित्य को नई राह दी है। जीवन बिखर कर इतनी धाराओं में बहने लगा है कि साहित्य का गति-परिवर्तन अवश्यम्भावी भी हो गया। समष्टिगत गतिवेग ने प्रगतिवादी आलोचना को प्रश्रय दिया और इस तरह की आलोचना खूब पनपी भी पर परम्परागत संस्कारों में अनास्था उत्पन्न करके विचारों की वर्गगत श्रेष्ठता के दम्भ और नित-नई समस्याओं की खींचतान ने जीवन के दुर्बल पक्ष ही उसमें अधिक उभारे। फिर ज्यों-ज्यों प्रगतिवाद मार्क्सवादी दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectic Materialism) से प्रभावित हुआ यह वर्गहीन समाज-व्यवस्था में विश्वास करने लगा और उसके मापक परिभाषा भी बदल गए। नई-नई शंकाओं के साथ नए-नए समाधान और निराली समस्याएँ भी सामने रखी गईं। वर्तमान को अतीत से विच्छिन्न करके देखा गया और साहित्य के शाश्वत तत्त्व द्वन्द्ववाद में आ सिमटे।

इस द्वन्द्व से उद्भूत एक प्रतिरोध इधर की आलोचनाओं में दीख पड़ रहा है। प्रगतिवादी समीक्षक द्वन्द्व में ही विकास का बीज समझकर जिस अधिकारवादी रुख को अपनाते जा रहे हैं वह संकीर्ण सत्तावाद का वाहन बन कर प्रतिगामी और परस्पर-विरोधी तत्त्वों का एक दूसरे में अंतर्भाव कर साहित्य को गतिमान करने की

बजाय उसके वेग को रोक रहा है।

अब तक विशेष सिद्धान्तों की कसौटी पर विभिन्न विचारधारा के विपक्षी वर्गों में ही परस्पर आलोचना प्रत्यालोचना हुआ करती थी जिससे साहित्य के अच्छे-बुरे, सबल और दुर्बल पहलू उभर आया करते थे। इससे राहत मिलती थी और अपनी अपनी रुचियों को प्रश्रय देने का मौका भी मिल जाता था। मसलन ऐसी आलोचनाएं सदैव अभिनन्दनीय होती थीं और हमारी राय में कभी भी उनकी महत्ता कम न होगी जो साहित्य के मिथुनाचार का बहिष्कार कर उसे स्वस्थता की ओर प्रेरित करेंगी।

'वात्स्यायन जी बार-बार कलाकार के 'स्वानुभूत सत्य' और उसकी 'ईमानदारी' की बात उठाते हैं बातें दोनों ही ठीक हैं। जिस साहित्य में कलाकार का अपना स्वानुभूत सत्य नहीं होता वह घटिया साहित्य होता है घटिया और प्रभावशून्य। बिलकुल ठीक बात है। उसी तरह जिस साहित्य के पीछे साहित्यकार की ईमानदारी नहीं होती वह दो कौड़ी का साहित्य होता है। बिलकुल ठीक बात है। देखना यह है कि इसमें कुछ बात छिन-कही भी छोड़ दी गई है। वह छिन-कही बात यह है कि एक खास तरह की अनुभूति ही अनुभूति है और एक खास तरह की ईमानदारी ही ईमानदारी। यानी अगर अपने कमरे में बन्द आप अपने काम-दलित या अहंपीड़ित या घुटन और अवसाद भरे मन की बारीक गुलकारियां दिखलायें तो वह आपकी सच्ची अनुभूति और स्वानुभूति मानी जायेगी लेकिन अगर आप किसी क्रांतिकारी भावना या घटना का चित्र खींचें तो वह आपकी स्वानुभूत बात नहीं मानी जायेगी वह रचना कम्युनिस्ट प्रचार के अन्दर परिगणित हो जायेगी। मगर बात समझ में नहीं आती कि मेज पर पड़ी हुई धूल या जमीन पर रेंगते हुए कीड़े या मक्खी को अपने जाल में फंसाने वाली मकड़ी या मैथुन करती हुई छिपकली या कबूतरी या चमोली स्याही की दावात का यथार्थवादी विकिनिकल वरफेक्शन तक पहुंचा हुआ चित्रण अगर कवि की ईमानदारी में शामिल है तो पूर्व बिहार के गोलीकांड पर एक कहानी या कविता या रिपोर्ताज लिखना उसकी ईमानदारी में शामिल क्यों नहीं ? शरद् की जुन्हाई या नदी तट की अपार बालुका राशि देखकर ही हमारे इन कवियों की सरस्वती क्यों जागती है ? निशीथ की ठिठुरती हुई निस्तब्ध वेला में उन्हें हर बार अपनी प्रिया का ही ध्यान क्यों आता है एक बार भी किसी गरीब बेचारी लड़की का ध्यान क्यों नहीं आता जो ठिठुरते हुए रात काट रही है और जिसकी हर रात इसी तरह कटती है ? कवि तो बड़ा भावुक प्राणी होता है। क्या एक बार भी उसे इस गरीब लड़की की पीड़ा की अनुभूति नहीं होती ? अगर होती है तो उसके अपने साहित्य में उसका प्रभाव ? और अगर नहीं होती तो क्यों नहीं होती ? वह सत्य कभी भी उसका स्वानुभूत सत्य क्यों नहीं बनता क्यों ये चीजें सदा उसके लिए बेगानी रही आती हैं ? कवि के सारे प्रतीक व्यर्थता और थकान पीड़ा और अवसाद, पराजय और मृत्यु के ही क्यों हैं एक खास तरह की Ennui क्यों उसका दामन नहीं छोड़ती ? क्यों नयी जिन्दगी का उबाल उसका जोश और जवानी, उसका अजेय संकल्प उसका दुर्वार तक-

कोठरी में भी मुसकराना उसका sense of fulfillment अज्ञेय जैसे कवियों के यहाँ नहीं मिलता (यहाँ वहाँ विदेशी साहित्य में) यह सवाल हम वात्स्यायन जी से पूछते हैं। क्यों अन्न और कफ़न और मौत और अंधेरे और फ़्रायडीय मनोविज्ञान के बारीक से बारीक रेशों की तलाश आपको उनके यहाँ मिल जायगी मगर शासक-वर्ग के बड़े-से-बड़े ज़ुल्म और बड़ी से बड़ी ज़्यादतियाँ गोलियाँ और लाठियाँ और पुलिस की हिरासत में और जेलों में दी गई यंत्रणाएँ—इनकी तनकी कोई प्रतिध्वनि इस कवि-हृदय में नहीं होती इनके खिलाफ़ एक भी प्रतिवाद का स्वर उसके मुँह से नहीं निकलता। मरे हुए कुत्ते को देखकर वह बीस पंक्तियों की एक कविता लिख सकता है मगर सलेम के जेल पोलीकाट में मरे हुए पच्चीस और घायल एक सौ राजबंदियों की बाबत पढ़कर और सुनकर उसे दो पंक्तियाँ लिखने की भी प्रेरणा नहीं होती। कवि कहेगा—यह मेरा स्वानुभूत नहीं है।"

(अमृतराय 'हंस' दिसम्बर, १९५१)

और इसी तरह फ़्रायडीय पद्धति की कुत्सित मनोवैज्ञानिकता को कड़ी फटकार देते हुए शिवदानसिंह चौहान ने लिखा है

"मोटे तौर पर, मनुष्य की मानसिक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करके सहज वृत्तियों आवेगों और भावनाओं को अधिक मानवीय संस्कृत और स्वस्थ बनाने वाले सामाजिक प्रभावों का निर्देश करना मनोविज्ञान का काम है। परन्तु ये मनोवैज्ञानिक!

इन लकड़बग्घों के घृणित मनोविज्ञान पर टिप्पणी करना भी किसी इंसान का स्वाभिमान गवारा नहीं कर सकता। मानवीय विचार नैतिक मर्यादा मानवीय भाव सांस्कृतिक परम्परा समाज सम्बन्ध कला दर्शन विज्ञान आज कोई चीज भी तो इन मौत के व्यापारियों के निकट सत्य और पुनीत नहीं है। मानव आस्था और मानव विवेक की हत्या करके यहाँ पर एक विक्षिप्त नरभक्षी कुंभकरण को जगाना आज इनकी विध्वंस योजना का अनिवार्य अंग है। उनका दुःस्वप्न कभी सफल नहीं हो सकता क्योंकि जीवन मृत्यु से अधिक बलवान है।"

(नई चेतना अंक ४ १९५१)

मगर मानवीय विवेक जगाने वाली और सद्भावना व हमदर्दी से विचारों के आदान प्रदान की चीज़ें इधर कम लिखी जा रही हैं। कुछ वर्षों से प्रगतिवादी समीक्षा में ऐसी घातक पटेबाज़ी चल रही है कि ये लोग खुद एक दूसरे पर कीचड़ उछाल कर बेबुनियाद सिद्धांतों के प्रचार प्रसार में समय नष्ट कर रहे हैं। अविश्वास और क्षुद्र अहंकार ने उनके बीच दुर्लंघ्य प्राचीरें खड़ी कर दी हैं। इसका एक सबसे बड़ा कारण यह है कि प्रगतिवादी या मार्क्सवादी कहे जाने वाले आलोचक अधिकतर तो वे अधकचरे अवसरवादी नवयुवक हैं जो नवीनता की चकाचौंध में बे-पर के उड़ कर धरती पर पैर टिकाना नहीं चाहते। वे अहम्‌वाद एक जमाकर इस क़दर आगे बढ़ने की हिमाक़त कर रहे हैं कि प्रगति की दौड़ में सबको पीछे धकेल देना चाहते हैं। ऐसे ग़ैरज़िम्मेदार लेखक न साहित्य को नई परम्परा दे सकते हैं, न गम्भीर

मौलिक जीवन-दृष्टि और न मानव-हृदय को उद्वेलित करने वाला अन्तर्भावों का घात-प्रतिघात । प्रगतिवादी विचारधारा के कतिपय मान्य आलोचकों ने यथार्थ समस्याओं को सामने रखकर युगीन दायित्वों की ओर प्रेरित करने का प्रयत्न किया था अवश्य पर अब तो उनके दिलों में भी गहरी खाई, विचारों में विलगाव और साहित्य के खरेपन की परीक्षा करने वाली उनकी एक-सी प्रतीत होने वाली कसौटियाँ दिन-दिन रंग बदल रही हैं । महान् क्रांति के उन्नायक और साहित्य को सशक्त बनाने वाले उत्तरदायी लेखक आज गुमराह हुए से लगते हैं ।

नवम्बर, १९५१ के 'हंस' में अमृतराय ने प्रगतिवादी आलोचकों की सर्जनात्मक शक्ति का परिचय देते हुए डॉ. रामविलास शर्मा शिवदान सिंह चौहान प्रकाश चन्द्र गुप्त अमृतलाल नागर डॉ. रांगेय राघव डॉ. शिवमंगलसिंह सुमन शमशेर बहादुर सिंह चन्द्र भूषण त्रिवेदी रामाकृष्ण आदि कई लेखकों के नाम गिनाए थे और लिखा था "क्या इस बात से इन्कार किया जा सकता है कि सभी लोग बहुत मौलिक प्रतिभाएँ लेकर साहित्य में आए हैं और सभी ने अपने-अपने माध्यम से साहित्य को भावों की नई गहराइयाँ नई सूझ-बूझ बयान की नई करवटें टेक्नीक के नये निखार दिए ? पर क्या इतने ही से यह बात साफ नहीं हो जाती कि हमारी पीढ़ी बाँझ नहीं है ?"

उपर्युक्त मत से हम सहमत हैं और मानते हैं कि प्रगतिवादी समीक्षा महत् दूह पर स्थित या उजाड़ चौराहे में से नहीं गुजर रही है । उसमें प्रबल शक्ति है युग-चेतना के अधिक अनुकूल सत्य की साधना है और सामाजिक अर्थ में सृजनशील तत्त्व भी उसमें अधिक सक्रिय है ।

जहाँ तक प्रगतिवाद की सहज गतिशील प्रवृत्तियों का प्रश्न है वे केवल स्वीकार्य ही नहीं अपितु सामाजिक चेतना को उद्बुद्ध करने के लिए आवश्यक भी हैं । कोई भी उनकी उपयोगिता एवं दुर्दम शक्ति का तिरस्कार नहीं कर सकता । साहित्य के गृहीत रस को सर्वसुलभ बनाने के लिए युग की आत्मा की अनेकमुखी व्यंजना अनिवार्य है और साहित्यकार अपनी संवेदना को अधिकाधिक उभार कर मानव-जीवन की व्यापक अनुभूति में पैठ सकता है । प्रगतिवाद शुरू से ही सामूहिक उत्क्रांति के रूप में सभी थोथे और औपचारिक बन्धनों को विच्छिन्न करता हुआ एक गतिशील विराट् शक्ति बन कर आया । उसने न केवल प्रचलित जड़ धारणाओं के विपरीत वरन् समाज के ढाँचे और उसकी मौजूदा व्यवस्था में निहित अन्याय आर्थिक असमानता समाज के घुन 'पूँजीवाद' अनिवार्य वर्ग-संघर्ष और परस्पर विरोधी धर्म-अधर्म सामान्य-विशिष्ट, सापेक्ष-निरपेक्ष औचित्य-अनौचित्य की द्वंद्वात्मक अवस्थिति पर गहरी चोट की । उसने हमारी धार्मिक और नैतिक स्थापनाओं को लेकर जीवन-साम्य का समाधान प्रस्तुत किया और दलित शोषित मानवता के चित्र आँक कर न केवल हमारी कोमल वृत्तियों को झकझोरा बल्कि समाज की उपरली

हुई प्रवृत्तियों और साहित्य व कला के द्वैत और विसंगतियों पर भी दृष्टिपात किया।

व्यापक से बृहत्तर व्यापकता की ओर मनुष्य की गति है। वह निजत्व का प्रसार और बौद्धिक चेतना को क्रमशः विकसित देखना चाहता है। प्रगति की भावना उसके विचारों को ठेलती धकेलती और आगे बढ़ाती है, अन्यथा जीवन चल नहीं पाता। धम्मपद में लिखा है 'यदि मृत और जर्जर ही हमारा रास्ता रोके रहेंगे तो आगे बढ़ने को पथ कैसे मिलेगा? वातावरण और परिस्थितियों के अनुसार मनुष्य की भावनाएँ विकसित होती रहती हैं। विगत युगों में जो हमारा जीवन सत्य था वह आज भी कैसे स्थायी रह सकता है? अपने सुख-दुख में तो हृदय एक परितृप्त निश्चलता का अनुभव करता ही है, किन्तु समाज में रह कर वह बाह्य बन्धनों से भी मुंह मोड़ कर कैसे जी सकता है? अतएव विकास के क्रम का कौन हिमायती न होगा पर यह उत्कर्ष यह विकास साहित्य में मूर्त होना चाहिए। कोरे सिद्धांत कोरा विरोध कोरी स्थूल कल्पना कुछ मानी नहीं रखती। कोई अत्युक्ति न होगी यदि यह कहा जाय कि परस्पर-विरोधी वृत्तियों एवं संघर्ष भावना से प्रेरित होकर साहित्यकारों ने साहित्य में कुछ ऐसी सीमारेखाएँ निर्धारित की हैं जिसके संकुचित दायरे में हमारी सामान्य सृजन-रुचि और उदात्त अंतश्चेतना उत्तरोत्तर ह्रास को प्राप्त हो रही है।

'स्व' की भावना व अभीष्ट उद्देश्य को भुलाकर तर्क-वितर्क और नये मत वादों की प्रवर्तना की है। हमारी साहित्यिक प्रतिभाएं कुछ गुटों वादों और दल-बन्दियों के दलदल में फँस कर अपनी शक्ति का अपव्यय कर रही हैं। उन्होंने एकांगी असामाजिक रुख अपनाकर एक दूसरे के विचारों का बहुत कुछ खण्डन मण्डन किया है और साहित्य के उच्च लक्ष्य से पथभ्रष्ट होकर अराजक साहित्य की सृष्टि की है।

"अपने क्रान्ति-विरोध का सबूत देकर चौहान ने बुर्जुआ मनोविज्ञान की माला जपनी शुरू की। मार्क्सवाद अधूरा है उसे बुर्जुआ मनोविज्ञान से मिलाकर भरापूरा बनाओ—यानी साहित्य का जनवादी मर्यादा खत्म कर दो साहित्य को फिर व्यक्तिवादी बनाओ जन-संघर्ष में निर्लिप्त और निस्संग रहो। चौहान ने पूंजीवाद के पढ़ाए हुए तोते की तरह यह रट लगानी शुरू की। कला के नाम पर प्रयोगवादी विचार-वस्तु की हिमायत की और आखिर में अज्ञेय जैसे टुटपुंजिया लेखक को गोर्की और प्रेमचन्द की बराबर बिठाया। प्रगतिशील लेखकों का मोर्चा कमजोर करने के लिए चौहान ने यह नारा उठाया कि कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है और कला आत्मसिद्धि का परिणाम है।"

(डॉ० रामविलास शर्मा 'नया सवेरा' में प्रकाशित शिवदान सिंह चौहान पर लिखे गए निबंध से)

'कुम्नो मो यो के अनुसार जो व्यापक संयुक्त मोर्चा तीस वर्ष संयुक्त

कार्य और सम्मिलित संघर्ष और उससे उत्पन्न चीनी लेखकों की पारस्परिक सद्भावना और एकता का स्वाभाविक परिणाम होना था उसे रामविलास शर्मा ने तीन चार वर्षों तक नियमित रूप से प्रगतिशील लेखक आंदोलन की जड़ों पर कुठार चलाने और देश की साहित्यिक शक्तियों में फूट और वैमनस्य की चौड़ी खाई खोदने के बाद हठात् एक अनिवार्य आरम्भ-बिन्दु के रूप में पेश कर दिया और इस प्रकार अपनी और अपने कुत्सित समाजशास्त्रीय जनद्रोही गुट की संस्कृति-विरोधी करतूतों पर पर्दा डालने की चेष्टा की।"

(शिवदान सिंह चौहान—"आलोचना" अक्तूबर १९५१)

रूस के सुविख्यात लेखक मैक्सिम गोर्की को लेकर ही इन दोनों आलोचक महारथियों के आरोप-प्रत्यारोप का एक नमूना देखिए—

'चौहान मार्क्सवाद और पश्चिमी बूर्जुआ मनोविज्ञान के समन्वय का मसौदा पेश करते रहे हैं, यह साहित्य में तटस्थता की मांग करते रहे हैं और गोर्की तक के लिए उन्होंने लिखा है कि उस महान् लेखक ने रूसी क्रान्ति के अवसर पर 'तत्कालीन प्रश्नों को लेकर जो रचनाएँ कीं' उनका इसी तरह की वाल्टेयर और रूसो की रचनाओं की तरह 'कोई साहित्यिक मूल्य नहीं रहा।' चौहान की कोशिश रही है कि प्रगतिशील साहित्य को तत्कालीन प्रश्नों से हटा कर शाश्वत तथा अर्द्ध शाश्वत प्रश्नों की तरफ मोड़ा जाय। ('हंस' मई १९५१)

'प्रेमचन्द और गोर्की की तुलना क्यों नहीं की जा सकती और गोर्की को प्रेमचन्द से हीन क्यों नहीं सिद्ध किया जा सकता? और सबसे पहले यह सिद्ध करने का श्रेय भी डॉ॰ रामविलास शर्मा को है। सच तो यह कि 'साहित्य' के इस डाक्टर ने एक ही तौर से विश्व के तीन महान् लेखकों—टाल्स्टाय, दास्तावस्की और गोर्की—को प्रेमचन्द के मुकाबले में धराशायी कर दिया। उन्होंने 'युग के साथ' होने को 'चमत्कारी' कसौटी पर कस कर सिद्ध किया कि 'अनेक दृष्टियों से ये महान् लेखक अपने युग से पिछड़े थे।'" (देखिए डॉ॰ रामविलास शर्मा कृत 'प्रेमचन्द' की भूमिका प्रथम संस्करण पृष्ठ ३)

इस हिन्दी आलोचक के ही शब्दों में गोर्की के पिछड़ेपन का भाव मुलाहज़ा फर्माइए।

'गोर्की में आदर्शवाद अत्यधिक था और वर्ग-संघर्ष की उसे पूरी-पूरी जानकारी न थी। उसने अपनी डायरी में अपनी आवारा प्रवृत्तियों का मार्मिक वर्णन किया है। अपने रोमांटिकपन के कारण वह क्रान्ति के पश्चात् भी क्रान्ति के पूर्व के ही चित्र बनाता रहा। प्रेमचन्द अपने युग के साथ थे और अपने युग की उथल-पुथल को उन्होंने अपनी रचनाओं में चित्रित किया है।" (वही 'पृष्ठ' ३)

" इस वक्तव्य के गूढ़ार्थों में गागर में सागर भरा हुआ है।"

('प्रेमचन्द और गोर्की' पुस्तक से उद्धृत पृष्ठ २२४)

और 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' पुस्तक में डॉ० रांगेय राघव का यह आक्रोशभरा विद्रूप

'डॉक्टर साहब ठीक कहते हैं। चौहान की भी गलती है कि वे अपनी तरह सबको गलती महसूस करने वाली ईमानदारी का मालिक समझते हैं। उन्हें बुर्जुआ वर्ग की अवसरवादिता के पक्ष पर मार्क्सवाद से शिक्षा लेनी चाहिए। तब यहाँ मिसालें गिना देना ठीक होगा। आज जैसे डॉ० रामविलास शर्मा चीन की लाल चीख रहे हैं एक दिन वे रूस की आँख निकाल रहे थे।" (पृष्ठ ८)

डॉ० रामविलास शर्मा ने सुमित्रानन्दन पंत और राहुल सांकृत्यायन पर लम्बी आलोचनाएँ की थीं जिन पर कितनों ने ही अपने-अपने ढंग से एतराज किया। वर्षों तक एक हंगामा सा मचा रहा जिसके आसार अब भी सर्वथा मिटे नहीं हैं। डॉ० धर्मवीर भारती ने पंत जी का पक्ष लेते हुए 'संगम' में लिखा

"जैसे एक पागल कुत्ता कभी-कभी खिसिया कर अपनी ही पूंछ नोचने के लिये नाचने लगता है वैसे ही इन प्रगतिवादियों ने अपनी ही पक्ष वालों को हाथ नचा-नचा कर गालियाँ देनी शुरू कीं। सबसे पहला वार हुआ पंत जी पर। पंत जी के उस कैम्प में जाने से लोगों को आश्चर्य हुआ था परन्तु पंत जी की सरलता से जो लोग अवगत थे वे जानते थे कि कैसा जाल बिछाया गया था। और बाद में उनके शिकंजे को पंत जी के लिए बर्दाश्त करना असम्भव हो गया।"

और राहुल जी के पक्ष-समर्थन में डॉ० प्रभाकर माचवे ने 'प्रजाबन्धु' नाम से अपना आक्रोश यों व्यक्त किया

'डॉ० रामविलास शर्मा के लेखों का शास्त्रीय विश्लेषण आवश्यक है, चूँकि उनका दृष्टिकोण नितांत अशास्त्रीय अवैज्ञानिक है। राहुल जी तो उन्होंने निमित्त मात्र बनाया है। उनका उद्देश्य कुछ और ही है। उनका उद्देश्य ध्वंसात्मक नीति के लिये नैतिक समर्थन प्राप्त करना है। उस नीति की असफलता की खीझ से व्याकुल रामविलास इस प्रकार की अंधी आलोचना के तीर फेंक कर प्रगतिशील आन्दोलन का कितना बड़ा अहित कर रहे हैं यह शायद वे नहीं समझते। एक ओर संयुक्त साहित्य मोर्चे की चर्चा और दूसरी ओर ये प्रतिदिन के फरमान—आज शिवदान सिंह चौहान को चारों खाने चित करो कल पन्त को पटक दे मारो परसों रांगेय राघव को 'धोबी पछाड़' दो नरसों यशपाल पर छुरा लेकर दौड़ पड़ो। यह है साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में रामविलास की पहलवानी और उनके चहेते शिष्य चन्द्रबली सिंह जी का उस्ताद की तालीम पहन मुख्तार में तेल चुपड़ना।"

('जनयुग' २४ जून १९५१)

इस पर खीझकर डॉ० शर्मा ने लिखा

"यह कीचड़ फेंकते हुए इन सज्जन को खुद उनकी दुर्गन्ध से इतनी पीड़ा

हुई कि उन्होंने मुँह पर कपड़ा बाँध लिया और असली नाम का 'अ' लेकर नकली नाम प्रतापवत् रख कर ही साहित्य के मैदान में क़दम रख सके।"

('हंस' मई १९५१)

उपर्युक्त आरोप का उत्तर दिया डॉ. रांगेय राघव ने। अपनी पुस्तक 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' में उन्होंने लिखा

'तो यह पता चला कि डाक्टर साहब के तर्क के अनुसार जब कोई नाम बदलकर लिखता है तो वह डरता है। तब रामविलास जी जब अगिया बेताल निरंजन अघोर आदि नामों से लिखते थे तब वे डरते थे। या तो डाक्टर साहब को अपनी नौकरी का डर रहा होगा या उन्हें वैसे साहित्य को स्वीकार करने में झेंप होगी। जब वे चासलेटी साहित्य को, पार्टी दस्तावेजों को छन्दबद्ध करके रख रहे थे और उससे जनवादी कला का दम घोट रहे थे तब शायद उन्हें अपने डाक्टर जैसे भारी-भरकम नाम के बदनाम होने का डर था, क्योंकि खड़ीबोली की वह कविताएँ जो आधुनिक प्रचलित शैली में लिखी गई है उन पर उनका 'डाक्टर' घोषित है।"

इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें आहत क्षोभ दुराग्रह, आवेश और घृणात्मक दलीलों का प्रश्रय लिया गया है। एक ही विचार धारा और सम सिद्धान्तों के सम्मानित लेखकों में इस तरह के विवेकहीन तर्क और फब्तियाँ पेश की जा रही हैं कि जिससे संकीर्ण विचार-वृत्त में ही सिमट कर प्रगतिवादी समीक्षा सर्वथा एकांगी और विध्वंसक होती जा रही है।

और भी कितनी ही खामियाँ हैं जिन्हें नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता—

१ रूसी मान्यताओं को लेकर चलने के कारण प्रगतिवाद अपनी भारतीय जीवन-व्यवस्था में पूर्णरूपेण गृहीत न हो सका पर इसके समर्थकों ने इसके सामान्य गुणों के लम्बे-लम्बे भाष्य कर हमारे देशकाल की विशिष्ट परिस्थितियों पर इसे जबर्दस्ती थोपने का प्रयास किया है।

२ प्रत्येक कलाकार अपने युग से सदैव आगे होता है। उसकी प्रतिभा निर्माणोन्मुख और अभावों को चीरती हुई सतत गतिशील होती है फिर संगत-असंगत तर्कों द्वारा प्राचीनों का मूल्य घटाना अथवा तात्कालिक परिस्थितियों की अवहेलना कर उनके इतिहास को किसी खास पैमाने से मापतौल करना सर्वथा अशोभनीय है।

३ 'शाश्वत' और 'चिरन्तन' से चिढ़ने वाले आलोचकों द्वारा प्राचीन श्रेष्ठ साहित्य तक को आज के उथले दिशाहीन साहित्य की तुलना में घटिया सिद्ध करना या उन्हें पृथक् करने वाली विभाजक रेखाएँ खींचना (क्योंकि उसमें उनका अभीष्ट या निर्दिष्ट मान्यताएँ नहीं हैं) अपनी प्राणवान साहित्यिक पूँजी को बिल्कुल चौपट करना है।

४ ऐसी विचार-परम्पराएँ, जो देश-विशेष से सम्बद्ध होती हैं उससे बाहर उनका कोई विशेष मूल्य नहीं होता। इसके विपरीत जातिगत और देशगत सीमाओं को अतिक्रान्त कर जो मानवीय अनुभूतियाँ सार्वदेशिक सार्वकालिक और सार्वजनीन हो जाती हैं उनकी महत्ता सदैव अक्षुण्ण बनी रहती है। वे 'आउट आफ डेट' नहीं होतीं बस वे ही युग-युगान्त की धरोहर हैं। उन्हीं में स्थायित्व और असाधारणता होती है जो 'शाश्वत' और 'चिरन्तन' की कोटि में आ जाती है।

५ प्रगतिवादियों ने मोटे तौर पर 'दलितों' और 'शोषितों' को अपनाया उनके लिए ही समझा-बूझा समस्त त्रुटियों और कमजोरियों पर पर्दा डाल कर उन्हीं की वेदना और निरीहता का रोना रोया। परन्तु दूसरे पक्ष वालों की भावनाओं और मनोगत द्वंद्वों से इन्होंने आँखें मूँद लीं जो कि सच्चे टिकाऊ साहित्य में सब हेम को समान रूप से समेटने की सामर्थ्य होनी चाहिए।

६ इन लोगों ने जीवन के 'सूक्ष्म' को 'स्थूल' 'कोमल' को 'कर्कश' और 'सुघड़' को 'अनगढ़' के रूप में लिया है। पर सर्वथा विपरीत छोरों को मिलाने की न इनमें योग्यता है न सहनशीलता।

७ नास्तिक तो ये हैं ही आत्मा की सत्ता में भी पूर्ण अनास्था है। वे सभी स्वप्न आदर्श प्रेरणाएँ और महत् सङ्कल्प इनकी दृष्टि में मिथ्या हैं जिन्होंने (मार्क्स से पूर्व) गम्भीर चिन्तना दी है जो हमारी संस्कृति के ऊर्ध्व विकास से सम्बद्ध रहे हैं और जीवन की सत्यात्मक धाराएँ जहाँ से उद्भूत हुई हैं। इनका दृष्टिकोण निरा भौतिक है और जीवन-दर्शन अत्यन्त संकुचित।

८ प्रगतिवादियों ने जीवन की आर्थिक व्याख्या स्वीकार की है पर क्या प्रतिकूल आर्थिक परिस्थितियों और विषम सामाजिक अवस्थाओं में आज साहित्य की सृष्टि नहीं हुई? यथार्थ के मूक चेष्टाविहीन चित्रण में उनकी कृतियाँ पूर्ण रूप नहीं हुई वे मानो अस्थिर वात्याचक्र में ऊपर-ही-ऊपर चक्कर काटते रहे। फलतः उनमें कृत्रिमता अधिक अनुभूति की सच्चाई और रसभीनी चिन्तना कम है।

९ प्रगतिवादी दर्शन पतिवाद की जागृति का हिमायती होकर भी जीवन के भेद-प्रभेद का ग्राहक न बन सका यही कारण है कि कोई व्यापक मानवीय भावना—ऐसी भावना जिसमें व्यक्ति समाज और वर्गों के भय रहते हुए भी सब द्वन्द्वों से परे संकुचित सीमाएँ मिट जाती हैं हमें प्रगतिवाद में नहीं मिलतीं।

१० शुरू में प्रगतिवाद एक नये आशा-भरे सन्देश को लेकर अखाड़े में उतरा था। बड़ी आकर्षक बोली में उसने जनता का ध्यान आकृष्ट किया। धूम मचाने के बाद उसने-जाता हासिल की पर अन्त में उसी पुरानी कीचड़ और गन्दगी में जा लगा।

११ 'प्रगति' का अर्थ है 'आगे बढ़ना' लेकिन एकपक्षी सकोच विचारधारा ने साहित्य में उल्टे 'अ-गति' पैदा की है। ऐसी प्रगति उस 'कोल्हू के बैल' की सी

है जो गोल परिधि में आँखों पर पट्टी बाँधे आगे कदम तो बढ़ाता है पर किसी निश्चित ध्येय पर नहीं पहुँच पाता।

१२ 'संयुक्त मोर्चे' का सारा व्यर्थ का वितंडा है, लेखकों का ध्यान आकर्षित कर उपयोगी साहित्य की सर्जना में इससे क्षति पहुँची है। क्या किसी भी सच्चे सर्जक की निर्बन्ध लेखनी को किन्हीं प्रस्तावित उद्देश्यों, कार्यक्रमों, नियमों और एक विधान से बाँधा जा सकता है?

१३ एक प्रगतिशील आलोचक[1] के शब्दों में—"मार्क्सवाद ने जीवन को देखने-समझने और बदलने के लिए अमल करने का एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण दिया है पर यह दृष्टिकोण जादू की छड़ी नहीं है कि उसको छूते ही आदमी 'सर्वगुण सम्पन्न' बन जाता हो।"

१४ निश्चय ही साहित्य गतिमय है परिवर्तनशील है, भले ही उसका गतिमय प्रेरक रूप तुरन्त पकड़ में न आता हो किन्तु उसके कोई निश्चित् कानून नहीं हैं। विगत कुछ दशकों में हर तरह के विचारधारा और व्यक्तिगत प्रवृत्तियों को लेकर जो नित-नये 'वादों' की सृष्टि हो रही है उससे साहित्य के सहज औचित्य बोध से विमुख—विसंगतियों और उलझाव के कारण—उसकी मूल स्थापनाएँ डगमगा गई हैं।

असंतुलन

आज अन्तर्मुखी और वस्तुवादी समीक्षा का द्विधाग्रस्त वैषम्य ही हमारी समस्या नहीं बना हुआ अपितु अपने यहाँ चिन्तकों का एक ऐसा वर्ग भी है जो विभ्रम और संभ्रम की इस स्थिति में कुछ निश्चय नहीं कर पा रहा है। साहित्य के पहले के स्थापित सिद्धान्त एवं मानदंड अथवा उसकी मान्य सीमा से परे वे उसमें ऐसे अभिनव तत्त्व खोज लाना चाहते हैं जो अब तक कभी प्रयोग में नहीं आए। उनका मत है कि जो कुछ लिखा जाय उसमें नव्यता और निरालापन तो होना ही चाहिए। उनमें अपनी श्रेष्ठता का दम्भ तो है ही साहित्य के अंतरंग शाश्वत स्रोतों के प्रति खुला विद्रोह भी है जिससे एक तिक्त घुटन और असन्तोष का स्वर नित-नई बदलती विचारधारा के साथ तीव्रतर होता जा रहा है। सनातन मान्यताओं के प्रति निष्ठा खोकर वे ऐसे बेतुके सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने में नहीं हिचकते जिनसे उनकी भावनाओं का कभी लगाव नहीं हुआ, जिनको उन्होंने अपने भीतर अनुभव करने की आवश्यकता नहीं समझी और जिनमें उनकी आस्था की किंचित् भी कभी पैठ नहीं हुई।

इस मध्य भूमि पर उतरने के प्रयास में उनकी भ्रमित चेतना साहित्य के मर्म और अन्तर्निहित को भुला बैठी है। एक विचित्र विरोधाभास सा उभर दीख पड़ रहा

---

१ शिवदान सिंह चौहान 'आलोचना' अक्तूबर, १९५१

है जिससे एकाएक विरोधी दबावों से विशृंखल वृत्तियाँ अनियमन और संयम में उनके स्वानुभूत से तादात्म्य नहीं कर पाती।

इन अन्तर्विरोधों की कोई सीमा नहीं है और न इनके द्वारा किसी विशेष मत या सिद्धान्त का प्रतिपादन ही हो सकता है। एक प्रवृत्ति यदि सृजन को व्यक्ति परक तो दूसरी उसे सामाजिक बनाने के पक्ष में है। सामाजिक संकल्प से अधिक उसमें व्यक्ति के विकल्प गुंथे हैं। साहित्य की संगठित शक्तियाँ आज एक ऐसी अविभाज्य इकाई के रूप में नहीं दीख पड़ती जिसमें सृष्टा के अनेक पहलू तिरोहित होकर एक पुंजीभूत प्रकाश पैदा कर सकें। इसके विपरीत 'वादों' का यह एक बड़ा उत्तापपूर्ण समवाय है जिसमें वादपरक होना उसकी सम्पूर्ण साधना की एक अनिवार्य शर्त बन गई है और जिनका न परस्पर समझौता हो सकता है और न समन्वय। स्पष्ट है कि साहित्य के ये वादपरक पहलू एक सम्पूर्ण समष्टि के रूप में नहीं व्यष्टि के रूप में एक बड़ी प्रायोगिक प्रक्रिया के अंग मात्र हैं जिनमें जिन्दगी की सही सीमाएँ आँकने की ताकत है न वस्तु और अभिव्यंजना का अंतरंग सम्बन्ध और न सहजात स्वनिर्मित वैचारिक स्वीकृति।

आज आलोचना का क्षेत्र विस्तृत है पर उसके अभावों की सर्वांगीण पूर्ति के लिए कौन से प्रयत्न हो रहे हैं? हमारी वर्तमान आलोचना का स्तर क्या है? पाठकों की माँग क्या है और उसकी किस प्रकार पूर्ति हो रही है? यह किसी ने कदाचित् सोचने का कष्ट नहीं किया। तर्क-वितर्क और वाद-विवादों का आग्रह ज़ोरों पर है जिससे उसमें साधन-संबल बटोरने की शक्ति नहीं है पर साहित्य की यह चकाचूंध स्थिति जीवन और जगत् के शाश्वत प्रेरक तत्त्वों को कितने समय तक स्थापित कर सकेगी—यह समझना है।

ज्यों-ज्यों साहित्य में दिखावटी अतिरंजित और बाह्य असम्भावनाएँ बढ़ रही हैं पलायनवादी नकारात्मक तत्त्व उसमें अधिकाधिक उभर रहे हैं। नवीन परिस्थितियों के साथ भौतिक आन्दोलन युग-विशेष की मान्यताएँ, संवेग रुचियाँ और मनोभाव हमें जीवन की जटिल समग्रता के साथ सामंजस्य नहीं कर पाते। अतएव इस द्रुत और अस्थिर क्रम में मनुष्य इतना हतबुद्धि और दिग्भ्रान्त सा है कि वह साहित्य के ओर-छोर हीन विस्तार के बीच मुँह बाए निस्तब्ध खड़ा है। सामाजिक समस्याओं में उलझा हुआ और अपने व्यक्तिगत सुख-दुःखों में रत साथ ही जीवन यापन की अविरत अस्थिरता परेशानी व्यस्तता और कशमकश ने उसके रसोद्रेक को शिथिल और चिन्तना को ऐसा पंगु-सा बना दिया है कि वह कुछ भी सोचने-समझने में सक्षम नहीं है। एक विचित्र प्रकार का 'अहं' उसमें जगा है जो भीतर-ही भीतर घुलकर प्राचीन और नवीन के समन्वय-प्रसार और वैविध्य से एकरस नहीं हो पाता। अतः साहित्य में स्थायी और निर्माणक तत्त्वों का बहुत कम समावेश हो पा रहा है। अतीत की थोथी बेजान मिट्टी में या तो नव आशांकुर उगाने की चेष्टा की जा रही है अथवा नये-नये मतवादों के मायापाश में जकड़े जाकर जन-जीवन के प्रति एक निर्जीव

अचेतना और केवल दुराग्रह का अनिश्चित कुहासा छाया है।

फिर भी आलोचक चूँकि अधिक जागृत है वह भीतरी और बाहरी अन्त विरोधों में संतुलन स्थापित कर साहित्य को नई गति दे सकता है। प्रत्येक युग के कुछ खास प्रश्न होते हैं और नीर-क्षीर-विवेकी आलोचक की प्रखर प्रतिभा अपने ढंग से उन सभी का समाधान खोजती है। युग-युगान्तर की कड़ी से बँधकर वह समय की नब्ज को टटोलता हुआ सचेत होकर, भावुक रह कर, सर्जक के हृत्स्पंदन को उसके सृजन के स्पंदन से एकरूप कर साहित्य के मूल आधारों को नया पथ देता है।

आलोचना का ध्येय

इसमें संदेह नहीं कि लेखक के मनोबल पर परिस्थितियों का भारी दबाव है और वह इसे बखूबी महसूस भी कर रहा है पर आलोचक का आस्थावान हृदय अभिव्यक्ति को निरूपित करने वाली क्षमता का दिग्दर्शक होता है अतः वह कभी भी हार नहीं मानता। एक स्पष्ट जीवन-दर्शन विचारों एवं अनुभूतियों की एकतानता भावना एवं विवेक बुद्धि का समीचीन संतुलन—इस प्रकार उसके सहज ज्ञान द्वारा प्रतिपादित स्वयंसिद्ध और अकाट्य तर्क साहित्य के रूप और मूल्य के प्राणवान स्पन्दनों के वाहक बन सकते हैं मोटे रूप में—उसके ऊपरी विश्लेषण से नहीं वरन् उसकी सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रतिक्रियाओं और निहित अर्थवत्ता को वह आत्मसात् कर सकता है। आलोचक का कर्तव्य है कि वह साहित्य के सत्य और सौंदर्य को अधिक पूर्णता और अंतर्दृष्टि से आँके उसकी समग्रता में पैठ कर विषय-वस्तु का अंगांगि अनुपात खोजते हुए अधिक गहराई और व्यापक रूप में उसे छूए।

आलोचक के पास मूल्य आँकने की व्यावहारिक कसौटियाँ हैं किन्तु उसके कृतित्व की अंतरंग परीक्षा द्वारा हमें देखना यह है कि उसमें उत्कर्ष का धरातल क्या है युगीन दायित्वों को उसने कहाँ तक निभाया है और किन शक्तियों को मुखर करता हुआ वह सनातन कला का मापक बन सका है। उसकी दृष्टि जितने ही सुदूर तक फैले जीवन पर पड़ेगी उतने ही सौंदर्य के शाश्वत स्वरूप की प्रतिष्ठा वह अपने कृतित्व में कर सकेगा और उसकी गहराइयों में उतर सकेगा। उसके दिल-दिमाग का दायरा ज्यों-ज्यों फैलता जायगा उसकी जिम्मेदारियाँ बढ़ेंगी सार्वजनीन संस्कारों का ग्रहण करने के अलावा उसके रागात्मक संबंधों और अनुभूतियों का क्षेत्र विस्तृत होगा और युग-सत्य का प्रेष्य बनाकर सामयिक स्थितियों को वह अधिक सचाई से आँक सकेगा।

आलोचक की युक्तियों में युगानुरूप जिज्ञासाओं के प्रतिरूप और अन्तर्दृष्टि की दुर्जेय शक्ति निवास करती है। किसी भी कलात्मक कृति और उसके सौंदर्य भावन की प्रक्रिया को ऐसी विवेक-तुला पर रख कर जाँचना-परखना चाहिए कि जिससे उसकी असलियत आँकी जा सके। सामंजस्य की कसौटी पर आलोचक एक बड़ी हद तक किसी भी कृति की नाप जोख कर सकता है, पर स्थिर किए मानदंड

और समीक्ष्य सामग्री दोनों में समानुपात और सर्वांगपूर्णता तो अवश्य होनी ही चाहिए।

तो फिर वह कौन सी तुला है जिस पर समीक्ष्य सामग्री को तोला जाय ? सबसे पहली बात तो कला-परीक्षण करते समय आलोचक को अपने गम्भीर दायित्वों को ध्यान में रखना है। साहित्य के स्वस्थ समुन्नयन के लिए—जब कि इस संक्रान्ति युग में सारे प्राचीन मूल्य और मान बदलते जा रहे हैं—सामयिक उतार चढ़ाव को भाँपता हुआ वह रूप और स्वरूप की समस्या को लेकर बाह्य विवेचन और आन्तर अनुभूति के नित्य सम्बन्ध की ओर दृष्टिपात करे। उसमें यदि सचाई होगी तो वह स्थापित कसौटियों में निष्पक्षता और निष्ठा बरत सकेगा। १

साध्य और साधन

आलोचक की खूबी 'सत्य' की पकड़ है पर हाँ—इस अनित्य 'सत्य' का जो मूल प्रकार है वह सदा अविच्छिन्न रूप से परिवर्तनशील तत्त्वों के ऊपर उठा होना चाहिए। आज साहित्य जैसे वस्तुओं के बोझ से दबा कराह रहा है। विभिन्न वादों मत-मतान्तरों और सिद्धान्तों से उसकी साँस घुट रही है लेकिन कोई भी उसकी मर्यादा को नहीं माप सका है। युगीन समस्याएँ नित्य बदलती हैं और इन्सान उनसे जूझता है सोचता है, उलझता है पर उनकी कोई थाह नहीं पाता। समय से टकराकर साहित्य के शाश्वत उपादान जीर्ण होकर धूलिसात् नहीं होते वरन् नित नए रूप में उभरते हैं। आलोचक को इस द्वन्द्व इस कशमकश में से ही पथ खोजना पड़ता है। उसकी लेखनी की शक्ति असीम है किन्तु उसकी शक्ति की असीमता सर्वसंवेद्य अनुभूति-प्रवणता में है। उसे समीक्षा के व्यापक तत्त्वों की गवेषणा करते हुए ऐकान्तिक से समष्टिगत और एकदेशिक से सार्वभौम सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना चाहिए।

आज आवश्यकता इस बात की है कि आलोचक अपनी आन्तरिक दायित्व भावना को पूर्णतया उद्बुद्ध करे। वह दिग्भ्रमित न हो अपितु विरोधी सिद्धान्तों एवं वाद-विवादों की बहिर्गत विषमता को अन्तरतम ऐक्य की एकनिष्ठ साधना के बल पर साहित्य के स्वीकृत जीवनात्मक स्वस्थ तत्त्वों को आत्मसात् कर ले क्योंकि उसकी मूल्य-मान्यताओं का प्रश्न केवल बौद्धिक संवेदन का प्रश्न नहीं है साहित्य के निर्माण और विन्यास का प्रश्न है।

वर्तमान युग के दो अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त विशिष्ट आलोचक टी एस इलियट और आई ए रिचर्ड्स ने एकमत हो स्वीकार किया है—"आलोचक का उद्देश्य किसी वस्तु के मूल्यों का निर्धारण करना है।

पर इससे एक और सवाल पैदा होता है कि ये निर्धारित मूल्य कैसे हों और वह उन्हें किस रूप में सामने रखे। आलोचना का सौष्ठव उसकी अर्थवत्ता और उसका तात्त्विक आधार उसके महत्तर अन्तर्संयोजन में निहित है जहाँ आलोचक

केवल उस हवा से—जहाँ कि वह साँस लेता है—उन परमाणुओं को एकत्र कर ही तुष्ट नहीं होता प्रत्युत कलात्मक मूल्यों का अपनी चेतना से तादात्म्य कर और अपने मनःप्राणों में उन्हें उतार परिचालित करता है। सेंत ब्यूवे के मत से "साहित्य की स्वास्थ्य परिपाटियाँ स्थापित करके ही आलोचना को ऊँचा उठाया जा सकता है। साहित्य तो अनन्त स्रोत है जिसकी प्राणदायिनी बूँदें आत्मा का अभिसिंचन और चेतना-केन्द्रों को अनुप्राणित कर सकती है। साहित्य को आँकने वाली कोई निश्चित मापरेखा तो नहीं खींची जा सकती परन्तु कलात्मक मूल्यों का महत्व आलोचक की प्रबुद्ध सहानुभूति में रम कर कहीं अधिक व्यापक कहीं अधिक महनीय हो सकता है। वह अपनी जिम्मेवारी को जितनी ही गहराई से समझेगा उतनी ही अपनी निर्दिष्ट कसौटियों को साहित्य की स्थायी परम्परा से मण्डित कर सकेगा।

२

नई कविता
केन्द्र और परिधि

इधर कुछ वर्षों से अर्वाचीन काव्य के उत्कतर विकास का प्रतिनिधित्व करने वाली जो कविताएँ प्रकाशित हो रही हैं उनमें असंख्य विसंगतियाँ विभ्रम और अन्तर्विरोध नजर आ रहे हैं। कवियों की मनोवृत्ति क्या है विगत युगों के आगत की परिणति और अनागत की प्रेरणाओं से परिचालित उनके नवीन केन्द्रस्थ विश्वास और परिधिगत मूल्यों के आयाम किस दिशा की ओर अनुधावित हो रहे हैं मुख्य रूप से तात्कालिक वर्तमान के लिए अवबोध चाहने वाले इन महत्त्वाकांक्षियों ने अपने बहुमुखी माध्यमों और सुपनिष्ठ भावोन्माद से निष्पन्न अप्रतिरोधित रसोद्रेक द्वारा एक अपनी विशिष्टता तो कायम की है किन्तु इस विशिष्टवाद ने निरवधि काल प्रवाह की अपरिहार्यता को चुनौती देते हुए कवि-चेतना के समगामी स्वरूप पर बल देकर—कि कवि को दरअसल किस युग विशेष का संदेशवाहक बनना है—साथ ही किसी अन्तःस्फूर्ति द्वारा इन्द्रियगम्य और इन्द्रियातीत के आवरण-पट को छिन्न कर वह कौन से अन्तर्लोकों को स्पर्श करने का प्रयत्न कर सकता है और उसके परिवेश के विभिन्न धरातलों का मिलन-बिन्दु क्या है तथा भीतरी भावबोध का उद्घाटित स्तर वस्तु-सत्य के मापदण्ड के समकक्ष है कि नहीं—ये कुछ विचारणीय प्रश्न हैं जो आज के सृजन के मूल में समारोही तत्त्वों को बटोरकर विस्फोटक बारूद का काम कर रहे हैं। आधुनिकता की भांति मोहक कल्पना-प्रियता और अवचेतन-विलासिता के अतिरेक ने नव्य जीवन-मूल्यों की स्थापना को एक अप्रत्याशित मोड़ दिया है और उसकी सर्वथा नयी व्याख्या प्रस्तुत की है।

कहना न होगा—काव्यगत मूल्यों का उक्त क्रम-विपर्यय कभी-कभी खिलवाड़ के सिवा कुछ नहीं। वर्ग-संघर्ष के दौर में अस्थिर अनुभूति और अबाधित राग-विराग से खिंचे गए इन रंग रेखाओं के व्यापार का क्या कोई मापदण्ड नहीं है? जहाँ रेखाओं की गति निर्बन्ध हो और भावाविष्ट टेकनीक की युक्तियों का लक्ष्य ही बस यह भाव 'वास्तव' एवं 'प्रतीति' में कोई भेद न रहे तथा निर्मुक्त विपर्यों अथवा असम्बद्ध शब्द चयन के वैचित्र्य में ही अर्थ खोजने की चेष्टा की जाय तो प्रेरणा का स्रोत उक्त परिधि के भीतर या बाहर कहाँ ठेल ले जायगा—कहा नहीं जा सकता।

माना कि व्यष्टि मानव और समष्टि मानव के पूँजीवादकालीन दुर्निवार अन्तर्विरोध के फलस्वरूप अनेक कवियों ने कविता का नया रूप-संस्कार किया है तथापि जीवन के प्रति उस विस्तृत और गंभीर प्रतिक्रिया को एक तथ्यात्मक व्याख्या के रूप में प्रस्तुत करने के प्रयास में जो उनकी अंतरंग विद्रूपता कल्पना-बिम्बों में उभरी है उन पर बौद्धिक प्रक्रिया का ऐसा आवरण चढ़ा है कि वह अतीत और वर्तमान के व्यवधान के बीच साङ्गोपाङ्ग संपूर्ति का साधन अथवा सहज संवेद्य बनकर आत्मा में रमने वाला नहीं हो सकता। मूल में प्रतिपक्ष परिणत होता वर्तमान और भविष्य की मोहक परिधि में सिमटा अनागत नित-नई मानव-चेतना का पाथेय बनकर प्रगति-पथ की ओर निर्देश करता है। जब-जब नवोदित क्रान्ति ने लोक-चेतना में आलोड़न उत्पन्न किया है नई ताजी खुली हवाओं के झोंके बहुमुखी क्रियात्मक शक्ति एवं संघर्ष के प्रति आश्वस्त बनाकर विचार और कर्म की संकीर्णता से मुक्त करते हैं पर इसके विपरीत यदि ये हवाएँ कृतिकार की क्षमताओं पर अट्टहास करतीं अथवा उसके अंतस्तल को झकझोरती नैसर्गिक सृजन की मूल प्रेरणाओं को विच्छिन्न करने वाली हैं तो युगीन दर्शन आचार और रीति-नीति उनके क्रूर थपेड़ों से आहत होकर बेमानी हो जाते हैं।

उन्मुक्त वातायन या खाली-अनखुली आवारा हवाएँ खुले दिल और खुले दिमाग को शह देती हैं। ये सुप्त मानस को जगाने वाली और भीतर की बन्द कारा में नई रूह जगाने वाली हैं मगर ये सरपट पास से गुजरने वाले प्रचंड बवंडर—अपने संक्रमणकारी प्रभाव से—क्या कलाकारिता की कसौटी को ही नष्ट भ्रष्ट न कर देंगे?

प्रगतिवाद

छायावाद की रूढ़ियों की प्रतिक्रिया सहसा प्रगतिवादी कविताओं में प्रबल जीवनाकांक्षा का उन्माद लेकर प्रकट हुई थी। साधारणतः किसी प्रमुख प्रवृत्ति के बहुत दिनों तक एक ही दिशा में चलते रहने से जो प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है वही कालान्तर में प्रबुद्ध मानवों द्वारा प्रगति-पथ खोजती है। प्रगति एक हद तक जनधर्म और जीवन-सापेक्ष भी है। आत्मकेन्द्रित निर्मुक्त भाव-चेतना बाह्य जीवन क्रम में एक प्रकार का अवरोध उत्पन्न कर देती है जिससे बाध्य होकर गतिशील सत्य और सामाजिक चेतना के भीतर से उपादान खोजने पड़ते हैं। कलाकार चूँकि अधिक जागृत है वह भीतरी और बाहरी अन्तर्विरोधों में संतुलन स्थापित करता है और अपनी सशक्त अभिव्यक्ति द्वारा समाज का नेतृत्व करता है।

आज के संघर्षशील युग में जिन्दगी की मौजूदा कशमकश और विरोधाभासों ने मानव के पूत रसोद्रेक को शिथिल नियन्त्रित और शुष्क बना दिया है। जीवन की दृष्टि भी बदल गई है। कवि की प्रखर चेतना ध्वंसात्मक शक्तियों को ललकार कर क्रान्ति का आह्वान किया चाहती है। यह आँधी सिर्फ हवा नहीं इसकी दिशा विकासोन्मुख है। इसके कोलाहल के भीतर बदलती दुनिया की तस्वीर छिपी है। नवीन जीवन के

निर्माण की ओर उत्प्रेरित यह गतिशील क्रान्तिकारी दृष्टिकोण ही आज प्रगतिवाद के नाम से रूढ़ हो गया है और आलोचक इसके पक्ष-विपक्ष में अपने अभिमत व्यक्त करते रहे हैं।

सत्यम् व सत्य की साधना ही साहित्य में वांछनीय है और प्रगतिवाद की यह पहली और आवश्यक शर्त होने के कारण बहुत कुछ संकुचित और अवास्तविक आदर्शों को ठुकराया गया है। छायावाद का सूक्ष्म वायवी कला-विलास इधर बहुत कुछ एकांगी हो गया था। उसमें जीवन की सीधी निर्बाध अभिव्यक्ति न थी इसलिए यह स्वीकार करने में हमें आपत्ति न होनी चाहिए कि लोगों के दृष्टिकोण बदलने में प्रगतिवाद का बहुत बड़ा हाथ रहा है। यह कुछ इतनी तेजी से घटित भी हुआ कि उसके कदम के जादू को कोई रोक नहीं सका। उसने शाह जिन्न के उत्पात को उदात्त बनाकर दर्शाया और प्रगति के मार्ग में रोड़ा अटकाने वाली प्रतिगामी शक्तियों को कुचल कर भावी क्रान्ति के लिए आवश्यक मनोभूमि का निर्माण किया।

पर यह प्रगतिवाद का विधायक पक्ष है। प्रश्न उठता है—अपनी भौतिक निष्ठा और तार्किक वादावाद के अलावा उसने साहित्य को और क्या दिया? यह किन आस्थाओं किस चेतना और किन संस्कारों से गतिमान होकर अग्रसर हुआ और उसने कौन सी 'मिशन' पूरी की? सचाई से प्रेरित होकर जब-जब आत्म-विश्वास और दृढ़ संकल्प के साथ जन-जीवन से तादात्म्य स्थापित किया गया तब-तब साहित्य समाज के संस्कारों की समष्टि बनकर आया और श्रेष्ठ एवं स्फूर्तिप्रद समझा गया। मत-प्रचार की संकीर्णता से मुक्त जहाँ यह विचार-आवृत्ति का प्रभाव बना वहीं निम्न तल से उठकर उच्च धरातल पर जा टिका और कलाकार की अमर साधना का प्रतीक बनकर प्रकट हुआ।

युग विशेष की माँग क्या है—इस प्रश्न ने अनेक बार हमारे साहित्यकारों की सामाजिक और राजनीतिक चेतना को झकझोरा। उनके परम्परागत संस्कारों पर सम्भव-असम्भव परिस्थितियों की चोट पड़ी और वे काल्पनिक आदर्शों को भुलाकर एक नवीन संस्कृति के स्वप्नद्रष्टा हो गए। निराला पंत नरेन्द्र बच्चन भगवती चरण वर्मा दिनकर आदि कवि भी इस लहर में बह गए। स्वप्नदर्शी पंत ने आकाश से पृथ्वी की ओर झाँका और दूसरों को भी ऐसा ही करने के लिए प्रेरित किया।

ताक रहे हो गगन?
मृत्यु—नीलिमा—काल-गगन?
निःस्पन्द शून्य निर्जन निःस्वन?
देखो भू को!
जीवन प्रसू को!
हरित भरित सद
पल्लवित मर्मरित

कूजित गुंजित
कुसुमित
भू को !

सुन्दर से असुन्दर को सहन करने की भावना भी उनमें जगी ।

'यह अन्तःसौन्दर्य सहन कर सके
बाह्य अवश्य विरोध ।

पंत के सुन्दरतम गीतों का एक बहुत बड़ा अंश प्रगतिवाद से प्रेरित है । प्रगति की होड़ में न जाने कितने ही अन्य कवियों ने भी सुन्दर कविताएँ रचकर साहित्य को समृद्ध किया लेकिन धीमे धीमे यह 'वाद' फैशन बन गया और बाहरी संघर्ष से भीतरी प्रतिक्रिया का सामंजस्य न हो सकने के कारण अनेक बार प्रगतिवादियों के कृतित्व का संतुलन खो गया ।

सन् १९१७ की बोल्शेविक क्रान्ति ने न सिर्फ रूस में वरन् यहाँ भी जीवन की नींव हिला दी थी । फलतः किसान मजदूर, दीन-दुखी शोषित-उत्पीड़ित वर्ग ही कवियों के आकर्षण का केन्द्रबिन्दु बन गया । जीवन का अंतर्विरोध यहाँ तक बढ़ा कि कुछ समय तक साहित्य के मूलभूत तत्वों में भी तनाव और तीखापन अनिवार्य समझा गया ।

'आज शोषक-शोषितों में हो गया जग का विभाजन ।
अस्थियों की नींव पर, अकड़ा खड़ा प्रासाद का तन
धातु के कुछ ठीकरों पर मानवी संज्ञा विसर्जन ।
मोल कंकड़-पत्थरों के बिक रहा है मनुज जीवन ।

(शिवमंगलसिंह 'सुमन')

यह नरक जिसे कहते मानव पीढ़ी से आज नई बीती ।
घुस जाती तो आश्चर्य न था हैरत है पर कैसे जीती ।।

(अंचल)

'रे दो दिन का
उसका यौवन ।
सपना छिन का
रहता न स्मरण ।
दुःखों से पिस
दुर्दिन में घिस
जर्जर हो जाता उसका तन ?

वह आता असमय यौवन बन ?
वह आता तट का तिनका
जो लहरों से हँस-खेला कुछ क्षण ?

(सुमित्रानन्दन पंत)

नष्ट कर दो
आज धरती पर बसे
अभिशाप से
इन राजमहलों को जलाकर
नष्ट कर दो
लक्ष्मी के लाड़लों के
ये विशाल भवन !
हैं खड़े जो नींव लेकर
आज मानव के रुधिर की ।
नष्ट कर दो......
शेष रह जाये न कोई
इस जगत में ....

(विश्वनाथ मिश्र)

बहुत सह चुकी जर्जर नौका, बहुत प्रेम का मान हुआ ।
बहुत हो चुका रास-रंग कवि ! बहुत दिनों मधुपान हुआ ।
बहुत दिनों तक हुआ न्याय का और बहुत अपमान हुआ ।

(नरेन्द्र)

'प्रलय क्रांति बन मन मचलेगी प्रांत प्रांत पुर पुर बिछलेगी
गली-गली प्राचीन रूढ़ि के भवन गिरेंगे दुर्ग ढहेंगे ।'

(नेपाली)

विश्व साहित्य से अनुप्राणित होकर यहाँ के साहित्य का गति-परिवर्तन अवश्यम्भावी भी हो गया था । अतः जीवन बिखर कर अनेक धाराओं में बहा और यद्यपि बीच में कितनी ही बाधाएँ आईं, किन्तु उसकी प्रगति न रुकी और रुकावटों विघ्नों के बावजूद भी वह आगे बढ़ता रहा । आज भी ऐसे दकियानूसी लेखकों की कमी नहीं है जो प्राचीन आदर्शों से चिपटे रहकर साहित्य की गति को रुद्ध करना चाहते हैं लेकिन प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उनके द्वारा भी वह सत्य स्वीकृत हो

चुका है कि साहित्य सीमित अथवा व्यक्ति-केन्द्रित होकर नहीं जी सकता। सामाजिक दायित्वों की सर्वथा उपेक्षा करके शक्ति अर्जन करना उसके लिए असम्भव है। कारण—जीवन-सत्य की परिणति ही साहित्य की सार्थकता है।

इस व्यापक सत्य को स्वीकार करके कवि नूतन पथ पर अग्रसर तो हुआ किन्तु मानव-समाज के विकास के साथ क्रम से क्रम मिलाकर युग को वाणी देने का नवीन दायित्व न निभा सका। प्रगतिवादी कविता पनपी तो सही किन्तु उसमें विद्रोह का स्वर इतना तीखा था कि साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के खिलाफ़ मार्क्सवाद और सर्वहारा वर्ग के नाम पर बेहद उग्र खलबली मचा गई। यौन-परक मनोविज्ञान ने नग्न 'सेक्स' चेतना जगाई और यथार्थ के हामी बनकर बिना किसी अंकुश के न सिर्फ उनके अस्वस्थ मन एवं विकृत मस्तिष्कों के परीक्षण किये वरन् उनके उपचार का भी दावा किया।

अध्यात्मवाद और आत्मानुभव को ठुकराकर नितान्त स्थूल दृष्टिकोण अख्तियार किये गए, साथ ही नीति और आचारवाद को अस्वीकार करके नर-नारी के पारस्परिक पवित्र सम्बन्ध यहाँ तक कि उनके दैहिक आकर्षण तक को स्वस्थ सहज प्रेम के अन्तर्गत लिया गया।

'धान घास के कटे हुए खेतों के उस पार,
मेड़ के पीछे एक काली-सी किसान-कन्या
जाड़े से अरहर की बनी उस ओट में
पास में मोटा-सा लट्ठ लिए एक युवक
भैंस की पीठ पर कुहनी टिकाए हुए
देखते ही देखते चिकोटी काटी उसने
छातियाँ मसल दीं, उसने और]
गाड़ी में बैठे हुए बाबू के मन में ....
सेक्स-चेतना की प्रतिक्रिया हुई 'छि:, छि: ये
देखिए असभ्यता गंवारों की,
खुले मैदान में.... ....
खेत खलिहान में
'पै' के आगे कहने में उनकी सुसभ्य वाणी ...
प्रौढ़ा नायिका की भाँति सकुच सिमट गई !
उन्हें क्या पता कि....
स्वस्थ काम को अपेक्षा नहीं
महल अटारी और सोफा-पलंग की।

(मंगला मोहन)

अनेक कवियों ने अपने कृतित्व में सहज मर्यादा तक को भुलाकर उच्छृंखल यौन-रुचियों को परितृप्त करने के लिए रसात्मक सर्जना की जो उन्हीं की प्रतिगामी इच्छाओं की प्रच्छन्न अभिव्यक्ति के रूप में या कहें कि छिन्नमूल वैयक्तिकता के आस्फालन से मुक्त स्वच्छन्द तीव्रता में फूट पड़ी।

'मधु नस में छलक-छलक उठती कैसी तृष्णा मदिरा अज्ञात
किस नव तरंग से कसक चल कर रहा प्रबल उत्तप्त गात
यह सावन की झरमरी रात'

(अंचल)

पंत की स्वस्थ चुम्बनेच्छा कितना ही सात्विक और सद्भाव लिए हो किन्तु व्यावहारिक जीवन में अमनोवैज्ञानिक और व्यर्थ की कल्पना मात्र है।

'धिक रे मनुष्य तुम स्वस्थ शुद्ध निश्छल चुम्बन
अंकित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर !
क्या कुछ शुद्ध ही बना रहेगा बुद्धिमान
नर-नारी का यह सुन्दर स्वर्गिक आकर्षण !!

प्रगतिवाद आज के साहित्य का सब से पुष्ट अंग है। नव चेतना उसमें जिस अनुपात से प्रतिबिम्बित हुई उसी अनुपात में जनमत को प्रभावित करने की शक्ति उसमें आयी, पर शिकायत यही है कि अपने यहाँ प्रगतिवाद का ठीक विकास नहीं हुआ और रूसी मान्यताओं को लेकर चलने के कारण अपनी भारतीय जीवन-व्यवस्था में वह पूर्णरूपेण गृहीत न हो सका। प्रगतिवादी दर्शन मतिवाद और प्रगति का हिमायती होकर भी जीवन के श्रेय-प्रेय का ग्राहक न बन सका यही कारण है कि कोई व्यापक मानवीय भावना—ऐसी भावना जिसमें व्यक्ति समाज और वर्गों के भेद रहते हुए भी सब द्वन्द्वों से परे संकुचित सीमाएँ मिट जाती हैं—हमें प्रगतिवाद में नहीं मिलती। विरोधों के बीच प्रतिगामी शक्तियों पर दृष्टि रखते हुए विकास का पथ खोज लेना सामान्य सिद्धान्तों में वैभिन्न्य-विभेद के बावजूद व्यापक समानता को सापेक्ष बनाना और जैसे अंधकार एवं प्रकाश का एक सम्मिश्रण होता है उसी प्रकार प्रतिकूल प्रेरक क्रियाओं में भी परस्पर सांगठिक तत्व खोज लेना साहित्य में अभिव्यक्ति की पूर्णता की कसौटी है। प्रगतिवाद इसी कसौटी पर उतर कर हमारे अतीत और वर्तमान की पूर्ववर्ती और परवर्ती मूल्य-दृष्टियों का समन्वय प्रस्तुत कर सकता है।

हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि हमारी आज की समस्याएँ भी वे ही हैं जो पहले थीं और उनमें किंचित् उलट-फेर नहीं होना चाहिए। प्रत्येक युग की कुछ भिन्न समस्याएँ होती हैं और उनका हल भी नूतन ढंग से किया जाता है। लेकिन श्रेष्ठ

साहित्यकार का कर्तव्य है कि वह मर्मद्रष्टा बन कर अपने चारों तरफ देखे और वस्तु के तल में पैठने का प्रयास करे। उसे तात्कालिक समस्याओं में नहीं उलझ जाना चाहिए केवल कुछ प्रश्नों और एक-दो समस्याओं में ही वह अपनी समस्त शक्ति केन्द्रित न कर दे उसे तो साहित्य के चिरंतन सत्य और निरपेक्ष ध्रुव पर आ टिकना चाहिए। वह अनेक कोणों से जीवन के विभिन्न पक्षों और भिन्न-बिन्दुओं की परख करे और युग-चेतना से सम्पृक्त होकर यथार्थ स्थितियों की पर्यालोचना में प्रवृत्त हो। कारण— सृजनशील लेखक टकसाली सिद्धान्तों अथवा उनके विश्लेषण से काम नहीं चला सकता उसे किन्हीं भी मनोवैज्ञानिक गुत्थियों और चेतन-अचेतन के द्वन्द्व-संघर्ष का सामना करने के लिए स्वकीय सिद्धान्त किंवा निर्दिष्ट दृष्टिकोण तो अपनाने ही पड़ते हैं।

प्रगतिवाद के विषय में आज जो विवाद छिड़े हुए हैं उसका कारण है कि इधर उसका दायरा बहुत संकुचित हो गया है। सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति न होकर राजनीतिक द्वन्द्व और तनाव की रूपरेखा ही साहित्य में व्यक्त होने लगी है। यथार्थ के मूक चेष्टा-विहीन चित्रण में चिरन्तन प्रश्न गौण हो गए हैं और स्वयं यथार्थता भी इतनी जटिल और बहुमुखी हो गई है कि जिस प्रश्न के पक्ष तक एक या दो ही समाधान हो सकते थे वह आज खण्ड-खण्ड होकर सामने बिखरा पड़ा है और उसको समेटना एक समस्या बन गया है। मनुष्य के समान उसके विचार और दृष्टिकोण उसकी भावनाएँ और संवेदनाएँ एक विषम सामाजिक परिवृत्ति से घिरे हैं। परिस्थितियों के दबाव ने उसे परवश कर दिया है, उसकी एकान्त अनुभूति दुस्सह हो गई है फलतः उसकी अभिव्यक्ति भी घटिया किस्म की और बेजान होती जा रही है।

प्रयोगवाद

साहित्य और कला के विषय में प्रयोगवादियों की आमतौर पर बुनियादी स्थापनाएँ निम्न हैं

नवीन भाषा नवीन छन्द नवीन टेकनीक असाधारण प्रतीक-विधान और मनमानी भावात्मक इकाइयों का कविता में अविरमित रूप।

नित-नए प्रयोगों की प्रक्रिया के भीतर से जीवन और वस्तु-सापेक्ष्य प्रायोगिक क्रान्ति।

वस्तुपरक दृष्टिकोण का आत्यंतिक आग्रह।

स्वतन्त्र चिन्तन रूप-शिल्प काम्योत्कर्षकारी व्यंजना सामाजिक संघटन से पराङ्मुख या गुमराह भावचेतना का प्रयत्नपूर्वक पोषण समृद्धि-विकास एवं कलात्मक साज-संवार।

जीवन के मूल तत्वों में वांछित उलट-फेर और अस्तव्यस्त उसकी मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं को सहज सवलम्ब बनाना।

एक प्रयोगवादी कवि के शब्दों में 'सरलतम भाषा में रंग-बिरंगी बिम्बात्मकता से समन्वित साहसपूर्ण उन्मुक्त रूपोपासना तथा उद्दाम यौवन के सर्वथा मांसल गीत।"

प्रयोगवादियों का दावा है कि मनुष्य की मूल वृत्तियाँ—युग और वातावरण के अनुरूप—उत्तरोत्तर विकसित होती रहती हैं अतएव उसकी मनोद्भावित चेतना भीतरी बोधवृत्ति का जो परिष्कार और रूपान्तर करती चलती है वे ही समयानुरूप साहित्य में जीवन्त और सशक्त प्रयोग बन जाते हैं। मानवीय भावनाओं का आलोड़न सामाजिक चेतना से सर्वथा विच्छिन्न नहीं किया जा सकता इसी कारण उसमें सम्भावित द्वन्द्व-संघर्ष और उसी की मनोवृत्तियों से उत्पन्न पलायन के तत्त्व उभरते रहते हैं जो अनेक बार उसकी पूर्णता के परिचायक बन जाते हैं।

चूँकि युग बदल गया है अब भावप्रवण मिथ्या परिकल्पनाओं के छायाभास वैभव में मानव की वृत्ति नहीं रमती और जीवन की खोखली ठोस बौद्धिकता ने भी उसमें संशय और क्षोभ पैदा कर दी है। युगानुरूप विश्वास और मस्तिष्क को जाग्रत करने के लिए ये प्रयोग साहित्य की प्रेरणा बन सकते हैं। ये जीवन के 'सत्यं-शिवं सुन्दरम्' को आत्मसात् करके कला-साधना का पथ प्रशस्त कर सकते हैं—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

प्रयोग की प्रवृत्ति और बड़े पैमाने पर प्रयोगशील सक्षम उपकरणों के संचयन का प्रश्न कुछ ऐसी व्यापकता लिए है कि उसकी अनिवार्यता किसी सूरत में अस्वीकार नहीं की जा सकती। पर प्रयोगों के मूल्यांकन की कसौटी क्या हो? उनका रूप कैसे सुस्थिर किया जाय? किन पैमानों पर उन्हें जाँचा और परखा जाय—ये कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं।

जिज्ञासा और ऊहापोह का यह नया युग किसी पुरानी वस्तु को उसी रूप में स्वीकार करने के लिए कैसे उद्यत हो सकता है? समय की रगड़ से परम्परागत विश्वासों और निष्ठा को जो गहरा धक्का लगा है उसके फलस्वरूप कितनी ही नवीन समस्यायें सामने आ खड़ी हुई हैं और कवि अथवा कलाकार को अपनी बात को अधिकाधिक मार्मिकता एवं प्रभविष्णुता प्रदान करने के लिए अभिव्यंजना के नये नये प्रकारों से जूझना पड़ता है।

बात यह है कि प्राचीन से ऊब कर नवीनता की चाह प्रत्येक में होती है और सनातन भावनाओं को अनेक बार नए चोले में पेश किया जाता रहा है। हर लेखक का अपना निराला ढंग होता है वह दूसरे से भिन्न तौर-तरीका अख्तियार करना चाहता है, कम से कम उसमें यह ख्वाहिश तो होती ही है कि वह अपनी बात को चमत्कारिक ढंग से कहे। दूसरे लोग उसकी प्रतिभा की दाद दें और वह जो कुछ कहे या प्रकट करे उनके दिल-दिमाग में पूरी तरह बैठ जाय। इसी भावना से प्रेरित होकर प्रत्येक अभिनव प्रयोग करता आया है और दूसरों को प्रभावित करने की सतत चेष्टा करता रहा है।

प्रयोगों की यह परम्परा नई नहीं है, यह आज के मस्तिष्क की उपज भी नहीं है हाँ—उसे 'वाद' बनाने का दुराग्रह नया कहा जा सकता है।

यह निर्विवाद है और काव्य-सृजन की आदिम परम्परा से लेकर उसके परम पुष्ट विकसित काल तक का इतिवृत्त भी यही सिद्ध करता है कि प्रयोग सदा से होते आए हैं और उनसे कल्पना की समृद्धि एवं सारस्य की अभिवृद्धि होती है। सूक्ति वैचित्र्य अलंकार, श्लेष यमक अनुप्रास अतिशयोक्ति आदि तथा ध्वनि रीति लक्षणा व्यंजना असाधारण रूप-विधान अथवा वस्तु दृश्य घटना और जीवन के अनवरत संघर्ष-विराम से प्रेरित संवेदनशील अनुभूति साहित्य-स्रष्टा की उत्कृष्ट एकाग्रता व तन्मयता से एकात्म्य हो काव्य की सफल सार्थकता को उजागर करती रही है पर साथ ही यह भी सच नहीं कि विचित्र व्यंजना अथवा नितांत नए भावों को नई शैली में नए रूप-विधान के साथ प्रस्तुत करना ही एकमात्र काव्य की कसौटी है। न कभी काव्यगत प्रयोग इतने छिछले स्तर तक ही वांछनीय हुए हैं जहाँ कलात्मकता बाधित हुई हो और न शिल्प एवं प्रकार में अद्भुत सम्भावनाओं का इतना उत्कट आग्रह ही कभी व्याप्त हुआ कि जिनमें नई सृजन-प्रेरणा का नितांत अभाव हो। पुराने ज़माने के कवि अपने प्रयोगों में भी सत्य के खोजी हुआ करते थे और उनका सत्य भी वही हुआ करता था जिन्हें वे समग्र रूप से ग्रहण अथवा आत्मसात् कर लेते थे। विचारों को अलंकृत करने के उद्देश्य से रूपक या उपमा सद्भाव अथवा सादृश्य कल्पना उनके अपने स्वानुभवों और चारों ओर के पर्यवेक्षण और जीवन के प्रति अंतःप्रेरित एवं काल्पनिक प्रतिक्रिया के आधार पर निर्भर होती थी। उनका काव्यत्व उनका समग्र शिल्प-विधान—इसी चरम लक्ष्य की सिद्धि के निमित्त नियोजित होता था कि सर्वस्वीकृत रूढ़ि में ढले होने के कारण विशिष्ट वैयक्तिक सन्दर्भों से समन्वित होते हुए भी वे सार्वजनीन रूप से कैसे मान्य हों यथा—

"पिया बिनु साँपिन कारी रात
कबहुँ जामिनी होत जुन्हैया,
डसि उलटी ह्वै जात।

उपर्युक्त पंक्तियों में सूरदास ने कृष्ण पक्ष की भयावह रात्रि की उस काली सर्पिणी से तुलना की है जो डसने के उपरान्त तुरन्त उलटी हो जाती है और इस तरह उसके पेट की श्वेतिमा रात्रि की उत्तरार्द्ध चाँदनी सी कौंधकर विरहिणियों के लिए अत्यन्त कष्टप्रद और असह्य होती है। रात्रि की सर्पिणी से तुलना आज भी एक नया और अद्भुत प्रयोग कहा जा सकता है पर कितना समीचीन और वस्तुस्थिति के सत्य को ग्रहण करने वाला।

"ज्यों मुख मुकुर [मुकुर निज पानी
गहि न जाइ अस अद्भुत बानी'

(तुलसीदास)

अयोध्या कांड में राम के वन से पुनः अयोध्या लौट चलने की गम्भीर वार्ता का प्रसंग है। राम प्रेम में विभोर भरत की वाणी श्रोताओं को ग्रहण करना उसी प्रकार कठिन प्रतीत हो रहा है जैसे हाथ में दर्पण थामे हुए भी और मुख की प्रतिच्छवि इतनी समीप और नयनों के सम्मुख होते हुए भी पकड़ में नहीं आती।

इसी तरह के मनोनीत प्रयोग भक्तिकाल और रीतिकाल के कवियों में अपितु कहें कि उनसे भी पूर्ववर्तियों और परवर्तियों में मिलते हैं परन्तु काव्य में जो अपेक्षित स्थायी गुण होने चाहिये अर्थात् कभी न शेष होने वाली सम्पदा और एक असीम अनन्तता—उसका पहले निर्वाह किया जाता था। विचारधारा में प्रगति नाम वाले अंश मूल्यों की खोज करके प्रत्येक की विशेषताओं का वर्गीकरण और सम्बन्धों का निरूपण कर लेने के पश्चात् उस विशिष्ट काल-खंड के भीतर उसी की कोटि की या उससे महत्तर मूल्यों की स्थापना में एक-एक पहलू का सर्वव्यापी महत्व निर्दिष्ट कर नव्य दिशा की ओर अग्रसर होने की चेष्टा की जाती थी। एक-समय वास्तविकता मौलिक और शाश्वत यथार्थ को विस्मृत न करती थी और निरपेक्ष सत्य की सीमा-रेखा मात्र की असीमता को भुलवा न पाती थी। सर्वसम्मत औचित्य के आधार पर व्यक्ति की क्रियाशीलता सामाजिक क्रियाशीलता बनकर महत्त्वाकांक्षा और निःश्रेयस में प्रगति करती थी। यों प्रगतिशील या प्रयोगशील कहे जाने वाले साहित्य की मान्यताएँ किसी विशिष्ट राजनीति धर्म अथवा सामयिक परिस्थितियों से संयुक्त न होकर सचाई से उन तथ्यों का अधिकतर आकलन करती थी जिसमें एक समन्वित समग्रता तो निहित होती ही थी पर वो कालान्तर में साहित्यिक उद्देश्यता की भी उत्प्रेरक सिद्ध होती थी। किन्तु इसके विपरीत आज की सन्देहशील अनिश्चितता में कवि की कुछ अनियन्त्रित अभिव्यक्ति को स्वच्छन्दत्व कहकर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सत्य और सर्वोचित की परिपक्वता में परिणत करने का ढंग कितना सहित साबित हुआ है। कुंठित मस्तिष्कों की ह्रासमूलक प्रवृत्तियाँ नर-नारी के यौन व्यापार और उनकी प्रेम कृपा के संवेदनात्मक चित्र अथवा प्रकारान्तर से जनवादी आस्था की दुहाई देकर क्षुद्र-भूख के शिल्प-विधान की प्रवंचना द्वारा जनता के स्वप्न और नई जिन्दगी की निर्माण-चेतना को ललकारना कहाँ तक सही है और किस रूप में निश्चितता का अन्त कर वह नया जीवन फूलने में सफल होगा—कहा नहीं जा सकता।

उधर यही दिक्कत प्रयोगवादी रचनाओं की सीमा रेखा निर्धारित करने में होती है। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद दोनों में इतना सूक्ष्म भेद है कि पार्थक्य कभी कभी कठिन सा हो जाता है और अनेक प्रगतिवादी रचनाएँ प्रयोगवाद के अन्तर्गत परिगणित की जा सकती हैं। यथा

“और वे सारे अभी भी झिलमिलाकर आँख मटकाते फिरते,
है उन्हें क्या ज्ञात ?

कितनों भूख से मन छटपटा कर सो गये फुटपाथ पर हैं
और कितने घोर अत्याचार
होते हैं यहाँ पर
गिनकर आप इन्हें क्या, बस हो गई है रात।"

यह प्रगतिवादी कविता है। इसी भावना से प्रेरित एक प्रयोगवादी कविता

"ज्योति के ये कण हैं क्या ?
ये सकल रवि-रश्मि जैसे
चाँदनी से धुल उज्ज्वल
मोतियों से जगमगाते
हैं विमल मधु मुक्त चंचल।
श्वेत मुक्ता सी चमक पर
कर न पाये पथ प्रकाशित
ज्योति है किन्तु कर न पाये
पूर्ण वसुधा किन्तु ज्योतित।
कौन कहता दीप ये जो
ज्योति से कुटिया सजाते ?
ये निरे अंगार हैं बस
जो निकट ही जगमगाते।
ये न दें आलोक पाये ?
बस चमक केवल दिखाते
झिलमिलाते व्योम अपरिमित
कब गगन-भू को मिलाते ?
ज्योति के सब कण हैं क्या ?"

(महेन्द्र भटनागर)

उपर्युक्त दोनों कविताओं में बहुत कम अन्तर है। ऐसी ही सैकड़ों कविताएँ एक दूसरे में घुलकर बिखरी हुई हैं जिनमें प्रगतिशील उपकरणों और युग विशेष के विशिष्ट अभिप्रायों के अलावा छन्द, भाषा शैली और अभिव्यंजना के माध्यमों में नवीन प्रयोग करते गए हैं। विगत पन्द्रह-बीस वर्षों में 'प्रगति' के सवाल में आगे आने की नए पुराने कवियों में जो परस्पर होड़-सी होती रही उसी ने उनमें विद्रोही टीस और यथार्थता जोश भरा और उसी ने उन्हें नए सक्षम प्रयोगों की प्रेरणा दी। भगवती चरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा, अंचल, दिनकर—यहाँ तक कि निराला और पंत तक ने आगत जागरण-युग की भावनाओं को ग्रहण करते हुए कविता को अधिक सोद्देश्य और सशक्त बनाया। उस समय जो जनवादी कविताएँ लिखी गईं उनमें सामाजिक तत्त्व और वैचारिक संघर्ष तो है ही विषय-वस्तु और रूप-विधान में भी

ऐसे कलागत प्रयोग किए गए हैं कि उनमें अभिप्रेत सामंजस्य उत्पन्न होकर विभेदक-सीमा मिट गई है। प्रगतिशील और प्रयोगशील दोनों प्रकार के तत्वों ने उन्हें ऐसा ठोस आधार प्रदान किया है कि आज वे एक विशिष्ट दिशा एवं निश्चित गन्तव्य पथ की ओर संकेत कर सकी हैं।

प्रगतिवादी तत्व अब तक प्रयोगवाद के भी पूरक रहे थे यद्यपि यह यथावत प्रवृत्ति अभी स्पष्ट नहीं हो पाई थी। प्रगतिवाद में सामाजिक चेतना और राजनीतिक द्वन्द्व-संघर्ष प्रमुख होता है जबकि प्रयोगवाद में प्रखर वैयक्तिक चेतना के साथ साथ भाव-वस्तु और शैली-शिल्प के प्रयोगों के प्रति अपवादात्मक बौद्धिकता और वस्तुपरक व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण होता है। आज के संघर्षशील युग में मौजूदा परिस्थितियों के साथ कवि-धर्म निभाना कुछ कठिन सा हो गया है। ऐसे अन्तर्विरोधों को दूर करने और कविता की जीवन्त शक्तियों को उद्बुद्ध करने के लिए प्रयोगों की आवश्यकता दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। प्राचीन से जब मन ऊब जाता है तो कुछ नया पाकर संतोष होता है, ताजगी और स्फूर्ति आती है। यों भी सृजनशील कलाकार पुरानी लीक पर कदम से कदम मिलाकर देर तक नहीं चल सकता वह अपनी निजता दूंढ़ता है। अपनी अभिव्यंजना-शक्ति विविध ढंग से मुखरित करता है, कम से कम एक-दो पग आगे बढ़ कर साहित्य पर कुछ अपनी स्थायी छाप छोड़ने की इच्छा तो रखता ही है।

कहना न होगा कि उक्त परिवर्तन आज दृष्टिगोचर हो रहा है। साहित्यकार की बहुमुखी प्रतिभा व्यापकता की ओर बढ़ रही है। भले ही विषयमूत विविध बाह्य परिस्थितियों तक ही उसकी दृष्टि सीमित हो किन्तु निश्चेष्ट होकर बैठना उसे नहीं सुहाता। वह साहित्य को एक नया मोड़ देना चाहता है। नई पनपती हुई प्रवृत्तियों के साथ यथार्थ के अधिक निकट आने की प्रवृत्ति उसमें जग रही है।

तो साहित्य और कला में जहाँ तक जीवन की विशाल विविधता के समावेश का प्रश्न है उसका क्षेत्र व्यापक और विस्तृत किया जाना ही चाहिए। इसी से वह आगे बढ़ सकता है और मनुष्य की अंतःशक्ति को जगा सकता है, पर इससे लाभ वह क्या है? जीवन की सृष्टि विराट् वास्तविकताओं के अनुपात में वह कहाँ तक श्रेष्ठ चिंतन व आत्म-विश्वास का प्रतीक बनकर प्रकट हुआ है—यह विचारणीय है। मिथ्यात्व के कुहरे को भेद कर वास्तविक भूमि पर उतरना शुभ है लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि काव्य के परम्परागत रूप को तोड़-मरोड़ कर कल्पना की अभिनवता और नवीन प्रतीकों के सृजन में इतना विभोर हो जाये कि अंतरंग चिंतन और रागात्मक आलोड़न की सर्वथा उपेक्षा ही हो जाय।

काव्य का ध्येय मनुष्य का अनुरंजन है। तीव्र भावावेश में ही हृदयस्थ अनुभूतियाँ कविता बन जाती हैं। जहाँ भावावेश मन्द होगा वहाँ भावना मूक और भाषा फीकी पड़ जाएगी साथ ही काव्य संकीर्ण परिधि में बन्दी होकर उन्मुक्तता और जीवन से तादात्म्य खो बैठेगा। इस स्थिति में काव्य की अंतरंग परीक्षा द्वारा हमें देखना यह

है कि उसके उत्कर्ष का धरातल क्या है, अपने युग से उसका क्या सम्बन्ध है, और वह किन शक्तियों को मुखर करता हुआ सनातन कला का मापक बन सका है। सर्जक की दृष्टि जितनी ही दूर तक फैले जीवन पर पड़ेगी, उतने ही सौन्दर्य के शाश्वत स्वरूप की प्रतिष्ठा वह अपने कृतित्व में कर सकेगा और उसकी गहराइयों में उतर सकेगा। उसके चिंतन-विमर्श का दायरा ज्यों-ज्यों फैलता जाएगा उसकी दिलचस्पियाँ बढ़ेंगी, सार्वजनीन संस्कारों को ग्रहण करने के अलावा उसके रागात्मक सम्बन्धों और अनुभूतियों का क्षेत्र विस्तृत होगा और युग-सत्य को प्रश्रय बनाकर सामयिक स्थितियों को वह अधिक सचाई से आँक सकेगा।

यह सच है कि सिरजन के कोई खास नियम नहीं होते। प्रत्येक को अपने ढंग से कहने का अधिकार है। यह भी आवश्यक नहीं है कि सबके प्रेरक उपकरण एक से हों, कुछ न कुछ भिन्नता तो बनी ही रहती है, किन्तु यह असम्भव है कि लेखक कलात्मक सिद्धांतों के बदले अन्य महत्वहीन सिद्धांतों की रचना करे। साहित्य के शाश्वत उपादानों की अवहेलना करके ऐसी चीजें लिखे जिनसे उसकी भावनाओं का प्रसार न हो, जिसको अपने भीतर अनुभव करने की उसने आवश्यकता न समझी हो और जिसमें उसकी आत्मा न झाँकती हो।

युग बड़ी तेजी से बदल रहा है और युग के साथ-साथ साहित्य-स्रष्टा की अभिव्यक्ति के मनोवैज्ञानिक पहलू भी बदल रहे हैं। काव्य प्रणालियाँ इतनी बहुमुखी हो गई हैं कि सृजन-व्यापार में संलग्न मानस की गतिविधि और उसकी सूक्ष्म प्रक्रियाएँ समझना कठिन हो गया है। यह माना कि नवीन परिस्थितियों के साथ भौतिक आवेष्टन, युग-विशेष की मान्यताएँ, नवीन रुचियाँ और हमारी मनोवृत्ति के द्वन्द्व जीवन की जटिल समस्या के साथ सामंजस्य नहीं कर पाते, फिर भी कलाकार की अपनी सीमा होती है और उसकी दृष्टि अतीत से मुड़कर उसकी आत्मा के भीतरी स्वरूप को पहचानती है।

प्रयोगवादियों ने अब तक साहित्य-क्षेत्र में कुछ अछूते विषयों पर दृष्टिपात किया है सही, किन्तु उनका अपना कोई स्वतन्त्र स्थान नहीं है। अभी उनकी कविता का कोई रूप भी स्पष्ट नहीं हो पाया है। अधिकांश प्रयोगवादी रचनाओं में जो मिलता है वह है गहरी अस्पष्टता, असंतुलन, वैचित्र्य और प्रत्येक वस्तु को एक नवीन दृष्टिकोण से देखने का गहरा मोह। अब से साहित्य में यथार्थ के चित्रण की प्रवृत्ति बढ़ी है, सारा साहित्य वैयक्तिक वास्तविकता की कुण्ठा एवं कल्पनात्मक अभिव्यक्तियों से भरता जा रहा है। वह जिज्ञासों के किसी भी पहलू, किसी भी पक्ष का निर्णायक और कहीं से भी समाधान बटोरने की ताक में रहता है। मनोगत द्वन्द्व संघर्ष, अन्दरूनी आवेग प्रवेगों को समझने का उसके पास न अवकाश है और न उत्साह। निरन्तर व्यक्तिवादिता पनप रही है, सहज तत्व गौण पड़ गए हैं। अन्तर्जगत् की प्रतिक्रियाओं में उलझा कवि स्वयं नहीं समझ पा रहा है कि वह लिखना क्या चाहता है और लिख क्या रहा है। उसके तर्क बाहर से सत्य प्रतीत होते हुए

भी भीतर से पोले और बजान हैं। उसकी लेखनी राहु-कराह रेंगती है और मन के निराधार मनःस्थ भावों को सहसा सनसना देती है।

प्रयोगवादी धारा का एक रूप है काव्य की परिचित परम्परागत लीक से अलग हटकर चलना। वह अपनी प्रकृति और स्वरूप दोनों में भिन्न है। उसकी दूसरी विशेषता है वैचित्र्य-विधान की प्रवृत्ति और बिखरी वस्तुओं पर कुहर के मोहक चित्रों, झिलमिल छायाओं, स्पर्शों और कल्पित प्रतीकों का आरोप। समष्टि से निरपेक्ष वह व्यक्तिगत अतृप्त कुण्ठाओं से आक्रान्त है और उसकी प्रायः ही स्वच्छन्द विचारों के दबाव से जो कल्पना में छायाचित्र उभर आएँ उनका अनूठा चित्रण है। प्रयोगवादी हर पंक्ति में प्रयोगगत और व्यवसायगत चमत्कार चाहता है भले ही उसे अनेक स्थलों पर बेमेल और हल्का होकर अपनी प्रतिपादित विशिष्टताओं को मिथ्या साबित करना पड़े।

"सामने के पीत नभ में
आवरण बिन्दु की कमानी, बाँह मस्जिद की खिंची है।

(नरेशकुमार मेहता)

"मेरे प्राणों के पहिए धूमिल बहुत भाग चुके
सिनेमा की रीलों-सा उससे छिपता है सभी कुछ
मेरे अन्दर कमानी खुलने को भरती है हुमास
जो कुछ, इतना ही कहना है, सुनो
"तुम से तुम"
किन्तु ठहरो तो क्षण भर
इससे भी अच्छी कोई बात मन आ जाये।"

(रघुवीर सहाय)

नीचे की पंक्तियों में आँखों को लालटेन की धीमी परिधि में समेटा गया है

"दिन से बुखार
रात्रि की मृत्यु,
के बाद हृदय पुँसत्व हीन
अन्तर्मनुष्य रिक्त सा पेड़
दो लालटेन से नयन दीन।"

(गजानन मुक्तिबोध)

इस दूसरी कविता में नयनों को दो मोमबत्तियों सा बताया गया है

"मित्र! युग संक्रान्ति के इस मोड़ पर
मैं रुका कुछ वर्ष
चरम शिखर, धुआँ में बँध गए

मोमबत्ती की तरह जलती रहें दोनों नयन
अपने विश्वासों की जलाये लौ।"

(नरेशकुमार मेहता)

कहीं 'प्राण के दीप' जलाये गए हैं—
प्रणय पंथ पर प्राण के दीप कितने
मिलन ने जलाए, विरह ने बुझाए।

(शम्भूनाथ सिंह)

कहीं पलकों के मंदिर में पुतली का दीपक जलाया गया है
पलकों के मंदिर में मैंने
पुतली का दीप जलाया जब
हे देव ! तुम्हारी स्वर्ण-किरण में
'लौ' ने स्नेह जलाया जब
जग-मग की सतरंगी रेखा,
बरसी कण-कण शीतल चन्दन।

एक अन्य स्थल पर वही पुतली रूपी नौका में परिवर्तित हो गई है
'पुतली की नौका मैंने जब खोली अधीर
देखा पतवार सँभाले को
स्थिर बैठे थे— तुम वही धीर।

(केदारनाथ मिश्र)

'अश्क' ने किसी दूर टिमटिमाते तारे से इनकी उपमा दी है
तेरी थी वे आँखें ज्यों दीप्तियुक्त मानो किसी,
दूरतम तारे की चमक हो।
एक कवि महाशय आँखों से प्रश्न करते हैं
कोमलता का प्रश्न सदा से
इन आँखों में कितना जल है !

(भगवतीचरण वर्मा)

एक अन्य कविता में 'चुम्बन' ही दीपक बन कर जल रहा है
'तुम्हारा चुम्बन जल रहा है भाल पर
दीपक सरीखा
मुझे बतलाओ
कौन सी दिशि में अँधेरा अधिक गहरा है।

(दुष्यंत कुमार)

और एक दूसरे कवि आँखों की बेमाप गहराइयों में ही मानों खो गये हैं

'आँखें मत बाती हैं
जिनमें मैं समुन्दर की बेमाप गहराइयाँ
बनकर खो गया हूँ।

(केदारनाथ सिंह)

नूपुर-ध्वनि और चप्पल की आवाज में कोई साम्य नहीं है फिर भी

'मैं सुनता रहा मधुर नूपुर-ध्वनि
यद्यपि बजती थी चप्पल।

(भारतभूषण)

कहीं पाँवों की ध्वनि बारात बनकर आई

'पाँवों की ध्वनि की बारात में
बिजलियों की आँखों की छाया में
सड़क चली जा रही
किनारे पर गंगा के।

(रामदरश मिश्र)

एक अन्य कविता में ऊँटों की कतार को रेंगते काले काले प्रश्नचिन्हों-सा आँका गया है

'शाम हुई—
दूर आकाश के नीचे
रेगिस्तानी टीलों पर
भूखे शिथिल ऊँट,
मुख क्षितिज की ओर ऊपर सर उठाए
पीठ पर भार लादे
किसी ओझल पड़ाव की ओर थके मांदे
काले प्रश्नचिन्हों से रेंगने लगे।"

(सर्वेश्वर दयाल सक्सेना)

निम्न दो कविताओं की पहली कविता में 'मौन सुधियों के राजहंस' और दूसरी में 'सपनों के कलहंस' कहीं दूर से तिरकर उड़ते आते या जाते हैं

'मौन सुधियों के राजहंस दूर-दूर उड़े जाते हैं'

(नेमिचन्द्र जैन)

'एक रोज मेरे आँगन में पर फैलाए
सपनों के कलहंस कहीं से तिरते आए।"

(रामानंद 'दोषी')

लेकिन वे ही सपने एक कविता में 'फूलों की नाव' दूसरी में 'सिम्फुकेन' और तीसरी में 'प्राण की लघु नाव' बन गए हैं

'कि जब तुम्हारे सपनों के फूलों की नाव
छिन्न भिन्न हो गई थी
किसी के 'चेक-बैलेंस' की
अट्टहास से टकराकर।

(वीरेन्द्र कुमार जैन)

'सिम्फुकेन से सपने विलीन हुए

(शम्भूनाथ सिंह)

'अरे यह जागरण की रात
पावन प्रार्थना की रात
निशि का तिमिर-पारावार
उसमें बह रही अविराम
मेरे प्राण की लघु नाव'

(ब्रजमोहन गुप्त)

नीचे उद्धृत पंक्तियों में बादल की शीघ्र श्वेतिमा हड्डी की मनहूस सफ़ेदी से समकक्ष आँकी गयी है

'पूरब दिशि में हड्डी के रंगवाला बादल लेटा है
पेड़ों के अन्दर गमन खेत में
दिन का श्वेत अश्व मार्ग के श्रम से थककर मरा पड़ा क्यों।

(नरेशकुमार मेहता)

यहाँ प्रकाश की उपमा श्रम के सफ़ेद परिधान से की गई है

'इनका प्रकाश
श्रम के विशाल
तन का सफ़ेद परिधान साफ़।

(गजानन मुक्तिबोध)

और इन्हीं कवि महोदय ने एक अन्य स्थल पर पूनो की चाँदनी की झिलमिल झिलमिल रेशम से तुलना की है

'फैली यह सफलता की भव्यता की
कीर्ति-श्री रेशम की पूनो की चाँदनी।

परन्तु एक अन्य कवि ने चाँदनी को शुभ्र वनस्पति की समता का दुस्साहस किया है

'यह देखो दूधिया चाँदनी
आज बिखेरी है धरती पर
कुछ वनस्पति घी सी जिसमें रंग न अब तक मिल पाया है।

(केशवचन्द्र वर्मा)

वहाँ देखिए—

'पूर्णमासी रात भर
पीती रही सुधा
अंक में शशि के सिमटकर
धोती रही श्यामल वसन
घुलघुल निखर
दिन सरीखी श्वेत चादर ओढ़।

(शकुन्तला माथुर)

'चाँदनी रात है—
किसी अबोध कुमारी के सरल नैनों सी
अथाह, जलभरी, गीली

(नेमिचन्द्र जैन)

'हर रात
जब चाँदनी
हर संभव खिड़की में
झाँकने की कोशिश करने लगती
और जब स्वप्न के
रंगीले पंख जरा नीचे झुके
सीमाहीन आकाश में
दिन भर की यथार्थता की चट्टान से टकरा
चूर चूर हो जाती।

(अनिल)

'चाँदनी का जिस्म टूटा जा रहा है
चाहती शबनम
किसी अभिसारिका के मधु कलश में
मुँह छिपाकर
रात के पिछले पहर तक
प्राण कितनी बेबसी है

(परमार)

'बाँह पर धर माल
बिखुरी अलक सुन्दर
गा उठी अपनी कहानी
तिमिरधुर उन्मादिनी।

(रांगेय राघव)

लेकिन जब—

'उल्काओं के रथ पर सवार हो गई हवा,
डस लिया तिमिर अजगर ने तारों का राजा।

(नीरज)

तो एक दूसरे कवि के शब्दों में —

'कँपता है चाँदनी सित
तिमिर की शरद-निशा को शान्ति है निस्सार।

(अज्ञेय)

निम्न दो कवियों ने चाँद की लजीली वधू से उपमा दी है

"बिल्कुल वधू सी है चाँदनी
विदा की वेला में
लजाती सी उन्मादिनी
बही है बही है शरद हासिनी"

(राजेन्द्र किशोर)

और

"डाल कर परदा कुहासे का
यह शरद की साँझ दुल्हन सी
चाँद के सिहरे शिवालों पर
पालकी से सहम कर उतरी।"

(शंभुप्रसाद श्रीवास्तव)

और इसमें उलटे मन की शून्यता को काली बेनाप चादर-सा बताया गया है

'शून्यता की स्याह-सी बेनाप चादर से
अभी क्यों ढक गया हो शून्य जी का प्रान्त।

(नेमिचन्द्र)

जाड़ों की धूप एक अन्य कवि को 'सेमल की नरमीली रुई' सी जान पड़ती है

सेमल की परवीली हल्की रुई समान
जाड़ों की धूप खिली नीले आसमान में
झाड़ी झुरमुटों से उठे लम्बे मैदान में।

(गिरिजाकुमार माथुर)

अनुभूति की गहराई कभी अन्तर की विराटता खोजा करती थी और काव्य के मूलाधार—भाव विचार और कल्पना—मनुष्य की बुद्धि हृदय मस्तिष्क इन तीन शक्तियों से परिचालित हुआ करते थे पर अब वे हृदयगम्य अनुभूतियाँ मात्र बुद्धि गम्य अनुभूतियाँ बन गई हैं। उनमें वैसी रागात्मकता या रंजनकारी तरलता नहीं है जो उमड़ घुमड़ कर आप्लावित करके इसके विपरीत एक दुरूह श्रमसाध्य मस्तिष्कीय व्यायाम है जो सभ्यता के आधार पर प्रभावों की समग्रता और उसके सहज वैशिष्ट्य के साथ बलात्कार सा करता है।

"पिंजर बीटल काली भौंहें
प्रश्नचिह्न सी झुक रही हैं
चाबुक सी ये कर्ण शिरायें
और पोर्टेटो-फिगर जैसी
ओठों की दुर्बल सीमायें,
दूर बमों सी काली मूँछें
धूम-बम की काई जैसी
रिक्त कपोलों की गहराई
भस्मित वायुयान के झुलसे
डैने जैसे जर्जर कन्धे
झिलमिल की स्लेटो जैसी
मेकानो की पट्टी हड्डियाँ
सर्चलाइट की मन्द बैटरी जैसी छाती
किसी लालटेन सी आलोकित गहरी साँसें।"

(लक्ष्मीकान्त वर्मा)

साम्य और वैषम्य के कुछ और सजीवोपमीत चित्र ज़रा देखिए

"कोकाकोला जैसा हुस्न
घुला घुला सा काला लाल सा
सिडीमन जैसी मुहब्बत
फीकी फीकी सी मीठी मीठी सी
कोरामीं डालरों की मदद से

पुला धुला सा रँगा रँगा सा निखरा-निखरा
तेरे नैनों का लच्छा लच्छा ।

(कर्तारसिंह दुग्गल)

"बादामी पंखड़ियों से नख
गदराई मटर फली-सी रक्तिम अँगुलियाँ
तीखी कलमों से सुन्दर सुरमई नयन
गेहूँ का गोरा पेड़
चोंपसी ओंठ'

(रामसेवक श्रीवास्तव)

"गालों की धरती पर
आँसू की झीलें हैं !
आँखों का आसमान
बरस बरस जाता है !
कलियों का हृदय किन्तु
तरस नहीं पाता है
किरणों के छूने से
आँसू की झीलों में,—
इन्द्रधनुष के समान
सरसिज के दल के दल
खिलते हैं—आसमान !
सिहरन से हिलते हैं !"

(शिवकुमार श्रीवास्तव)

कवि की कोमल कल्पना दृश्यवस्तु के बिम्ब या उसकी छाया ग्रहण कर नव रूप विधायिनी शक्ति के रूप में स्फूर्त हुआ करती थी अर्थात् संवेदनजन्य अनुभूति के योग से सादृश्य-साम्य के सहारे दृष्ट छवियों को प्रकृत साँचों में ढाल कर कितने ही भावरंजित चित्र उभारा करती थी पर आज की उपमाएँ महज ज्यामिति या एलजेब्रा के तात्त्विक प्रयोग हैं जो कुंठाओं की कसमसन लिये पाठकों के मर्म पर उतर जाते हैं—

"तुम्हारे पास, हमारे पास
सिर्फ एक चीज है
ईमान का डंका है
बुद्धि का बल्लम है
अभय की गैती है

हृदय की तगारी है—ढलता है,
नये नये बनाने के लिए
भवन आत्मा के
मनुष्य के
हृदय की तगारी में ढोते हैं हमी लोग
जिन्दगी की गीली और
महकती हुई मिट्टी को।"

(गजानन मुक्तिबोध)

नीचे उद्धृत पहली कविता में पगडंडी सर्पिणी सी फन फैलाए है—
"पगडंडी ऊपर कुंडलिनी सी; उन्मना
शांति भूमि पसारी अवधूई विषकामयी
उठी फन ऐंठा कर डसा मेरा।"

(शम्भूनाथ सिंह)

किन्तु दूसरी कविता में उसी पगडंडी की केंचली मानकर चलने को चुनौती दी जा रही है
"ओ पगडंडी की केंचुली मानकर
है चलना तो कैसे राह बनाओगे?"

(रामावतार त्यागी)

दरअसल आज का विषम वातावरण बेहद आकांक्षाएँ और आत्मावलोकी वृत्तियाँ उभार रहा है फलतः सब कुछ चारों ओर उसे बेगाना सा लगता है। एक अट्टहास करता हुआ प्रलयंकर पिशाच सृजन चेतना पर छाया है जो वस्तुस्थिति के आगे नतशिर नहीं बल्कि बड़े ही उद्धत मान-अभिमान से सिर ऊँचा किए है। जिन्दगी के इर्दगिर्द न जाने कैसी उमड़ती-घुमड़ती मनहूस घटाएँ कालिमा-अंधेरा संत्रास कार्ड की-सी स्याह जनता लिए एक मिथ्या अभिजात्य या इसके ठीक विपरीत अनास्था का कफ़न ओढ़े है

"नीमर कहीं
सफ़ेद होंठ
पीली आँखें
मुर्दा चर्पें
अब रह-रह कर चिल्लाती हैं।

(कैलाश वाजपेयी)

और
"और अब हम बोलते हैं,

बास होठों पर तनिक स्मित-हास्य रखकर—
बोलती है,
न जाने कसे कहाँ से
वह हमारे प्रश्न लेकर,
हमें छू का अर्थ देकर,
हमारी ही मुट्ठियों से—
एक जीवित सोनचिड़िया-सी
फुरकती भाग जाती है।"

(केदारनाथ सिंह)

रूप और सौंदर्य की मार्मिक संवेदनात्मक अभिव्यक्ति भी बाहरी मुलम्मा बनकर रह गई है

"सोने की वह सेब चील
अपने चमकीले पंखों में से
अंधकार अब बैठ गई जिस अंडे पर
नदी बधू को नथ का मोती चील ले गई।

(नरेश मेहता)

चूँकि हर युग का कवि जिज्ञासु है अतएव पर्दे के पीछे ताक-झाँक करने की प्रवृत्ति को वह आज भी इसी जिज्ञासा का एक अंग मान रहा है। ऊटपटाँग कविता की रसज्ञता में बहकर वह उसके मौलिकपन का अंकन का प्रयास करता है। इस ना-तकल्लुफी के दौर में वह अपने संयम का आवरण उतार कर इस क़दर दुराग्रही और आत्मविश्वासी बन गया है कि उसे अपने 'आचार्यत्व' का भ्रम है वह अपनी बड़ी तौहीन समझता है और यथार्थ से कतराकर ऐसे-ऐसे कल्पित स्वप्नलोक में उलझ जाता है—वन के पक्षियों की तरह आवारा और मुक्त— एक अजीब मस्ती और बेगानापन लिये—जहाँ वासना सत्य है प्रेम बंधन है और अनावृत आचरण और कुरुचि उछालना ही गौरव समझा जाता है। कविता क्या है—मानसिक ऐय्याशी का प्रतीक—जो अपने रंगीन पंखों पर मानों कहीं उड़ा कर ले जायगी। अपने अंतर्मन के आगे चकमक फुलझड़ी चित्र उभार कर और बौद्धिक रिक्तता व विघटन को तूल देकर वह कुछ ऐसा नया और चौंका देने वाला वैलक्षण्य खोजता है जिससे चोखे रंग देने वाले कलाकारों के आगे उसकी कल्पना का दारिद्र्य छिप जाय। घुमाफिरा कर अप्रत्यक्ष रूप में कोई ऐसा पहलू हाथ लग जाय जिससे कोई बड़ी झंझट न हो और इस प्रकार उसकी कलई खुलने से रह जाय।

"छिली खाली दियासलाई की डब्बी
मद्धिम बजती तोतली-सी हँसी

मोरपंख की आँखों के प्यार भरे गीत !
बल्मीक पर फैले हुई चाँदनी की बेल !
शबनम के अलंकार !
इन्हें अब रहने दो !"

(शिवकुटीलाल वर्मा)

"एक तीव्र मोड़ !
मन ने दर्द से कहा—ऐ तुम सच हो !
टूटे प्यालों में सिगरेटों की राख
खोखली हँसी की झनकारें—
मुर्दे तड़प उठे।

(मलयज)

इसी प्रकार—
"अपशकुन लम्बी तरीका मौन !
धूलों से ढँके इन नगर पथों पर
हँसा है—हँसा तरीका !

(जगमित्र)

"धूप का कफ़न" ओढ़े एक दूसरी कविता—
"बाँसुरी की कब्र पर धूप का कफ़न मैं
चुटकियाँ पत्थर किए हूँ बन्द।
कौन ?
धूप के वस्त्र को
तेज सुई की तरह से छेदता ?
जिस्म के इस रेत वन पर
मैं अहं का मेघ हूँ।
उन दिशा की शाखियों के संवत्सर के करों में
जब बन्द है मेरा कमरा।

(नरेशकुमार मेहता)

यहाँ 'कफ़न का कवच' जीवन का संरक्षक बन गया है—
"हम कफ़न लपेटे चलते सदा यहीं हैं
इसलिए कि वस्त्र जीवन का कवच नहीं है।"

(भारतभूषण अग्रवाल)

और निम्न पंक्तियों में 'सत्यानुभव की नवली' जैसे सारी कविता पर छाई हुई है।

झुपके-चुपके प्राणों की यह अवला बदली
भीतर बाहर छायी इन्द्रधनुष की बदली।"

(त्रिलोचन शास्त्री)

प्रतीक या उपमान स्थूल वस्तुतत्त्व के लिये नहीं अपितु उसकी अंतःप्रकृति के अनुरूप सूक्ष्म सम्बन्ध तत्त्व पर आधारित होने चाहिए, लेकिन वर्तमान नई कविता की प्रतीकबहुल यत्नसाध्य और स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के ऐसे सकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं जिसमें भटके हुए दृष्टिबिन्दु से उपमाएँ, रूपक और साम्य प्रस्तुत किये गये हैं। कला की अभिव्यक्ति के क्षेत्र में उनकी उपादेयता और औचित्य क्या है और वे किस हद तक सफल कहलायेंगी—यह तो बताना कठिन है, हाँ—इतना अवश्य कहा जा सकता है कि नवीन वर्ण्य-विषय और नूतन प्रयोगों के मोह में निरर्थक रूप विधान और कलाहीन प्रचार सर्वथा रुक जाना चाहिए।

मौजूदा युग की प्रबल स्थूलता एवं इतिवृत्तात्मकता के फलस्वरूप कवियों *में यह विपरीत प्रतिक्रिया इतनी अन्तर्मुखी और वैयक्तिक होती चली जा रही है* कि उनकी दृष्टि जनवादी प्रवृत्तियों को पूर्ण रूप से न अपनाकर काल्पनिक कुहासे और रंगीन छायाचित्रों में भटक रही है। छन्द रचना पद-विन्यास प्रतीकवाद (Symbolism) रूपप्रकारवाद (Formalism) स्थूल सज्जा और शैली-शिल्प के पुष्पित वैभव में भ्रमित उनकी चेतना अपनी कला के मर्म और वास्तविकता को भूल बैठी है। कई बार उपमाएँ पचाई नहीं थोपी गई सी जान पड़ती हैं।

छायावादी समाप्ति कम होने पर ज्यों-ज्यों मध्य वास्तविक भूमि पर उतरने का प्रयास किया गया त्यों-त्यों साहित्य में एक विचित्र विरोधाभास उपस्थित होता गया और यह विरोध दो व्यक्तियों में नहीं वरन् एक ही व्यक्ति की विभिन्न मानसिक स्थितियों से उत्पन्न दृष्टिकोणों में दीख पड़ा। 'अज्ञेय' द्वारा सम्पादित 'तार सप्तक' 'दूसरा सप्तक' और 'तीसरा सप्तक' के अनेक कवियों में यह विभेद-वैभिन्य स्पष्ट है। अनेक बार उनकी अन्तरंग प्रेरणा उनकी संकल्पनाओं से असम्बद्ध-सी लगती है और एकाएक विरोधी दबावों से उनकी विशृंखल वृत्तियाँ अनिश्चय और संशय में उनकी स्वानुभूतियों से अन्तर्ग्रथन नहीं कर पाई हैं।

हमें किसी भी 'वाद' से परहेज नहीं है, न 'वाद' की ओट में हम किसी महत्त्वपूर्ण वस्तु को तिरस्कृत और बहिष्कृत करना चाहते हैं। पर साहित्य की यह शंकाकुल स्थिति जीवन और जगत् के गतिमय प्रेरक तत्त्वों को कितने समय तक स्थापित कर सकेगी—यह समझना है। कोई भी साहित्य इसीलिए श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह प्रयोगधर्मी या वादपरक है। उसकी हीनता अथवा श्रेष्ठता की कसौटी तो उसकी अन्तर्हित शक्ति एवं रसात्मकता ही सिद्ध करती है।

प्रयोगवाद की सफलता में हमारा अविश्वास नहीं है बल्कि इसके विपरीत हमें प्रायोगिक अनगढ़ आकारों का रूप सुस्थिर करना है और उसमें सार्वजनीन तत्त्वों

का समावेश कर अन्तर्नुभूतियों से समन्वित करता है । सत्साहित्य जीवन का दर्पण ही नहीं बल्कि भीतर रमकर युग-युगान्तर की जीवन-धारा को मोड़ने की क्षमता भी रखता है । अतएव सच्चे साहित्यकार की जिम्मेवारियाँ बड़ी हैं । वह आत्मा का इंजीनियर है । वह न केवल सच्ची कला के निर्माण में सहायक होता है, अपितु उसका संस्कार और परिष्कार भी करता है । उसकी लिखने की पद्धति अथवा टक्नीक साधारण से भिन्न होती है । वह पुराने ढंग को नये ढंग से अख्तियार कर सकता है अथवा अपनी रचना को अतीत से विच्छिन्न करके नये युग के अनुरूप गढ़ सकता है । जब तक सच्ची कला के साथ सच्चे कलाकार का इतिहास जुड़ा रहेगा तब तक साहित्य में अभिनव प्रयोग होते रहेंगे और कलाकार की सृजनशील प्रतिभा भरपूर शक्ति के साथ उसका उपयोग करेगी ।

हमें कोई आपत्ति न होगी यदि प्रयोगवादी कवि जीवन के विराट् रूपों को अपने कृतित्व में अधिकाधिक साकार करें, अपनी निश्छल और निखरी स्वानुभूति को आकर्षक और नूतन ढंग से दूसरों के सामने रखें उनकी अभिव्यक्ति में जनवादी स्वर हों उनकी पुकार में मर्म को कचोटने वाली संवेदना हो और सबसे बड़ी बात उनमें व्यापक सत्य सर्वांगपूर्णता और रागतत्वों को उद्भासित करने की शक्ति हो । ऐसी चीजें दिल खोल कर अपनाई जायेंगी किन्तु जहाँ नवीन प्रयोगों के मोह में पड़कर भाव और भाषा अटपटी हो गई है अतिवैयक्तिक शब्दों में भावनाएँ अनमिल हो गई हैं और छन्द लय ताल की वर्जित स्थापनाओं से सहज एकसूत्रता विच्छिन्न हो गई है वहाँ प्रयोगवाद निरा बच्चों का खिलवाड़ है । यह मनोरंजन तो कर सकता है साहित्य की महान् परम्पराओं को जीवित नहीं रख सकता ।

विकल्प या स्वेच्छाचार

सबसे बड़ी घातक स्थिति इस स्वेच्छाचारी दौर में अव्याहत स्वातन्त्र्य और उन्मुक्त उच्छृंखलता की भावना है जो कविता को दिग्भ्रमित और डाँवाडोल कर रही है । घोर प्रतिक्रियास्वरूप एक नकारात्मक अनास्था और अविश्वास—वैचारिक ऊहापोह में—न केवल ह्रासोन्मुखी पूँजीवाद से ग्रस्त है, अपितु तमाम समाज और सामाजिकता से उसे भयंकर द्रोह है । अत्यधिक आत्मकेन्द्रित और अहंवादी तर्क विध्वंसात्मक रूप से एक ऐसे नये संघर्ष के स्वरों का उपभोग कर रहे हैं जिससे साहित्य में कुरुचि और अपरिष्कृत हिंसा के उद्दाम चित्र मिलते हैं । कलात्मक संयम तत्त्वचिंतन और एकनिष्ठ साधना का तो प्रश्न ही नहीं उठता इसके विपरीत दुर्दमनीय सौन्दर्येच्छा, यौन-प्रेम और अनियन्त्रित आचरण ने उनकी अभिरुचि और ग्राहक शक्ति को नितान्त विकृत बना दिया है । अतएव काव्य-सृजन की प्रक्रिया में—बौद्धिक जोड़तोड़ स्थापित होकर—नये-नये पहलू और ढाँचे उभारते हैं । शब्दों और वाक्यांशों के नये आरोह-अवरोह रूपों को साधने और अनुभूति को चरितार्थ करने में आशातीत अकल्पित भावों की व्यंजना कर रहे हैं ।

"कभी तुम बहुत पास लगते हो
दुख की किसी तह में
बैठी हुई, छिपी हुई
दिल की धड़कन हो जैसे
कोई गुप्त कम्पन ।
और वासना के भूखे मेरे आलिंगन
ढूंढते रहते हैं तुम्हें
भुजाओं की पहुँच के बीच
कदमों की दूरी में
मेरे वासना के भूखे आलिंगन ।"

(कर्तारसिंह दुग्गल)

"और यदि तुम कह गए कुछ सत्य तो
फिर तुम असभ्य
समाज से अनभिज्ञ
'अनसोशल' कहलाओगे ।
किन्तु, सारी जिन्दगी भूखे मरोगे
जूतियाँ चटकाओगे ।
है अभी जल्दी समय—
यदि चेत जाओ ।
क्या सही है इसे छोड़ो ।
जिस तरह भी बने
अपने पर मुलम्मे को चढ़ाओ ।
ये समय की माँग है
ये नाइण्टी परसेण्ट लोगों के दिमागों का निचोड़ ।"

(विनोद शर्मा)

लगता है—मानववाद की इस उपेक्षा में कवि को अकस्मात् ऐसी [illegible] विचित्र दृष्टि हासिल हुई है कि वह बेहद आवेग या दुस्सह विवशता में एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच गया है जो ध्वंसावशेषों पर नियति का अभिशाप बनकर अपनी महत्त्वाकांक्षाओं का प्रासाद खड़ा करना चाहता है । नई धारणाओं और अ-धार विचारों ने अच्छे-बुरे की विभेदक सीमाएँ तोड़ दी हैं । धारणा कुछ और है, कर्म कुछ और । स्थूल वास्तव की वस्तुपरक प्रक्रिया ने अंतर्मन को इतनी दरारों में विभाजित कर दिया है कि प्रणय तक का मधुर संगीत अब पूर्णतर [illegible] का कोई प्रकार उत्पन्न नहीं करता वरन् पृथ्वी से उठे क्षितिज से कितने ही 'कार्टूनों' में [illegible] आड़ी रेखाओं में मानो टूटी-फूटी सी सिसकियाँ उभारता है । 'प्रेम की ट्रेजडी' की कुछ पंक्तियाँ—

←▽→
(हाय !)
←△←
(नहीं चैन
जागते ही कट गयी रैन)
→ ←
(प्रेम पानी इश्क पानी क्या !)
"!"
"!!"
▽+△

?
(अरमानों के गाल पर चांटा
सरदेरी का कांटा)
←?→
(मुहब्बत में घाटा !!)

(सैयद सफीउद्दीन)

आवेश आहें एक लंबी सी चीख बीच-बीच में असह्य मौन और आंसू भरी सिसकियाँ—रात के सन्नाटे में—रेडियो-संगीत सुनकर एक दूसरे कवि का मानो कुछ और ही अहसास होता है

मैं
सुनू ना तेरी आवाज
तैरती चाँद की सतहों में रोशन
तीर-सी
शबनम की रातों में
तारों की चूमती
नर्म
गर्म
शमशीर सी।
तेरी आवाज
ख्वाबों में घूमती-झूमती
आहों की एक तस्वीर सी
सुनू ना : तेरी-तेरी है यह
खोई हुई

रोई हुई
एक तस्वीर सी।
(परों में– जल के– धवल
झिलमिल झिलमिल
कमल दल)

रात की हँसी है
तेरे गले में
सोने में
बहुत काली घुमड़ी अलकों में
आँखों में सुनहरी पलकों में
आई तू – और छिपती?
फिर मुस्काई तू ।
(नींद में – खामोश – बस्ल)"

(शमशेर बहादुर सिंह)

इसी लय पर एक और कविता—

"नहीं
मुझे कुछ भी याद नहीं
कुछ भी तो याद नहीं आता....
ओठों को छू-छू कर
पलकें छा लेते हैं
वही....
वही अपने कन्धों पर बिखरे
बहके बहके
रेशमी मुलायम अलकों के बादल
और उनमें
भटकती निगाहों सी
मेरी दिग्भ्रान्त अंगुलियाँ।"

(राजेन्द्र यादव)

प्राचीन वर्जनाओं को स्वाभाविक मनःस्थिति में स्वीकार करने में आज के कवि को अनैतिकता या पुरुषता की झिझक महसूस नहीं होती। चूँकि सभी पहली मान्यताओं के समक्ष गहरे प्रश्नचिह्न लगे हैं अतः अपने अधिकांश कृत्यों और उनके पक्ष में दिये गए तर्कों का वह स्वयं उत्तरदायी है। बाहरी और भीतरी अव्यवस्था अथवा असम्पन्नता के कारण एक सीमाहीन तनाव से घिरा अपनी बोधवृत्ति के

सन्दर्भों से वह नितान्त अलग जा पड़ा है जहाँ द्विविधा में विकल्पहीन एक अस्पष्ट कुहेलिका में उसे दिग्भ्रमित कर दिया है।

इसका परिणाम है कि वादों का एक भीषण बवंडर उठ खड़ा हुआ है और नये-नये प्रचारस्रोत नए-नए तौर तरीके और नई-नई मनोवृत्तियाँ काम कर रही हैं। मौजूदा जीवन-संघर्ष की थकान और पस्ती ने एक विचित्र अहं और पलायनवाद जगाकर उसे ऐसा बना दिया है कि जो 'मूड' या तरंग उसमें उठती है उसी के मुताबिक वह बाहरी तथ्यों को खोजता है और उसका उद्देश्य किन्हीं सामाजिक आग्रह या स्थायी काव्यमय मूल्यों को खोजने का नहीं है, बल्कि सत्याभासों की आड़ में उसकी अपनी दुर्निवार अनिश्चितता व्यक्ति-विद्रूप कुण्ठा-दैन्य आधि-व्याधि पीड़ा-घुटन कुछ खोजने और पाने की हविस स्पर्द्धा का भाव और सीमाएँ तोड़कर आगे बढ़ने की प्रवृत्ति वैयक्तिक और एकान्तिक अंगीकरण एकांगी दृष्टि के निमित्त यौनवादी 'एप्रोच' सबसे बढ़कर आंतरिक द्वन्द्व और विरोधी तत्त्वों के बीच समाधान पाने के लिए प्रतिपाद्य विषय के रेशे रेशे को उधेड़कर अत्यन्त होशियारी से बरतते हुए उपादान साथ ही दृष्टिकोणवादी जटिलता को पचाकर अथवा प्रयोजित नवीनता से चुने गए उपकरणों को साधकर अपनी वैचारिक प्रक्रियाओं को स्वस्थ और श्रेयस्कर और दूसरे को पस्त और निकम्मा साबित करने का वह प्रयत्न कर रहा है। ज्यों-ज्यों सामयिक उत्तेजना और छिछली भावुकता के कारण उसके पक्षवादी अफ़साने 'प्रोपेगेंडा लिटरेचर' बनते जा रहे हैं अपने ढंग से इस्तेमाल करने के उसे कितने ही 'गुर' भी मालूम हो गए हैं—जो एक नये तर्ज और अन्दाज़ में कमाल की हद तक तो ले जाते हैं पर बात के चटखारे और मज़ाक में ही जो अपनी अहमियत खो देते हैं।

एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि ऐसी कविता ने विस्तार, गहराई और शक्ति सामर्थ्य की दृष्टि से क्या कुछ दिया क्या कुछ छोड़ा और बिखेरा। इस प्रश्न और इस जैसे अनेक प्रश्नों का उत्तर यही है कि मौजूदा कवि अपनी संश्लिष्ट कल्पना के उन्मुक्त क्षणों को कुछ शब्दों में बाँधकर प्रकट करता है। वह हवा में तैरता सा है। उसमें कुछ खूबियाँ हैं तो कितनी ही खामियाँ और नाराज़गियाँ भी। जिसे इतिहास नहीं बना पाया उसे वे बनाये हुए हैं यद्यपि वे स्वयं ही अपना इतिहास हैं और इतिहासकार भी। एक ओर मूल्यों का विघटन प्रारम्भ हो गया है तो दूसरी ओर मूल्यान्वेषण का शौक चर्राया है। ऐसी कविता की टेक्नीक और शैली-शिल्प अलग है पर उसमें अनगढ़ एवं असंगत तत्त्वों को खपाने की अतीव शक्ति है। कारण—उसकी वैचारिकता अधिक अर्थविस्तारों वाली होती है, उसने कितनी ही दुर्गम स्थितियों और स्तरों को बिना रुके बहुत थोड़े समय में पार किया है। नई और पुरानी परम्पराओं से टकराकर किन्तु आज के वैज्ञानिक विकास और चमत्कारों के बीच वह खुद भी वर्णसंकर तत्त्वों का बटोर कर बहुत चटक और मनमौजी हो गई है जिस पर किसी भी प्रकार का अंकुश नहीं लगाया जा सकता। सही तो यह है कि नया कवि अपनी उत्कट भावनाओं को किसी भी रूप में प्रकट करने से नहीं कतराता। शब्द, अर्थ रस

ध्वनि लय गति छन्द व्याकरण और अलंकार आदि काव्य के प्रचुर साधनों से तो वह नाता तोड़ ही चुका है, किसी विशद भाव-ऐश्वर्य या कल्पना-बिम्बों में भी वह रमण नहीं करता है वरन् इसके विपरीत जहाँ तहाँ अनुदय कवियों से जुड़कर युगीन यान्त्रिकता व दार्शनिक समाधान में उसकी कविता ऐसी उलझट है जिससे लगता है—काव्य-साधना जैसे अजीब तमाशा या करतब हो समाधानहीन समस्याओं में उलझी वह दम तोड़ रही हो तथा जीवन का थोथाकर मरणोन्मुख पहलुओं की नोंक पर व्यर्थ बजाती हो। इस एटम के 'स्टीम' युग में भाग-भागकर दम फुला फुलाकर कवि अपनी प्रतिभा को बेकाम कर रहा है उसे फुर्सत नहीं है, कविता का सम्मोहन अमृत न बनकर उसके लिए विष बन गया है, अतः वह अपने तत्वों को सच्ची आंतरिक प्रेरणा पर तरजीह देने लगा है क्योंकि यह सच्ची प्रेरणा एक ऐसा उद्वेग और बह जाती लहर है जो इत्तफाक से क्षण भर किसी विचार पर टिकी तो एक बिम्ब छोड़ कर चली गई पर दूसरे ही क्षण कहीं और फिसल कर रपट गई। दरअसल परस्पर विरोधी बिन्दुओं को जोड़ने में भी कोई मौलिक साम्य नहीं जैसे विचारों की इकाई सर्वथा खंडित हो गई हो। हवा की इस बरछी को या तो वह अपने से बहुत सशक्त पाता है अन्यथा वह अपनी हीनता या न्यूनत्व से परास्त हो जाता है। इस दुविधा में उसकी कविता इतनी वाचाल और छिछली है कि वह उसे किसी भी तरह गढ़ सकता है अपनी हर बेढंगी अभिव्यक्ति को कविता का जामा पहना सकता है और टूटे बिम्ब के नगमों का कविता की हद में बाँध सकता है।

'यह ठीक नहीं कि इच्छा के खिलाफ़
अंधियारियों द्वारा छले जायें
ठीक नहीं कि आकाश के नक्षत्रों के जुल्मों को
सर झुकाकर सहते जायें
यह भी कि जिन किलों में रहना नहीं चाहते
वहीं मजबूरन रहते जायें ।
ठीक यह कि अंधियारियों नक्षत्रों और
किलाओं की प्रतिकूलताएँ हमें न छलें
ठीक यह कि इस शाम को हम
रौशनी की नई पोशाकों
हवाओं की खुशबू
और जिल्लेइलाही के नामों में बदलें।"

(*श्रीकान्त जोशी*)

यों प्राचीन दर्शन की दुहाई न करते हुए कोरा तर्क-वितर्क और ऊहापोह बल्कि कहें—कि कोई भी स्थिति और गति सापेक्ष तारतम्य पर आश्रित नहीं द्विविधा और द्वन्द्व मार्गों चतुर्दिक परिस्थितियाँ उसे घर लेती हैं अपने जाल में जकड़ हैं और अपनी निर्दिष्ट सीमारेखाओं में इस प्रकार बाँध लेती हैं कि वह दम्भमान रह जाता

है। लगता है—उसके अंतर की घुटन समूचे सेन्सरों का कत्लआम कर बाहर फूट पड़ना चाहती है। यही कारण है कि आज का कवि दंभी है, हिप्नोटाइज्ड मन से स्वयं और संत्रस्त वह दूसरों को भी हिप्नोटाइज करना चाहता है अर्थात् उसका दिमागी कैमरा जो अक्स ग्रहण करता है वह अनुभूत या यथार्थ नहीं वरन प्रत्याभास मात्र है अर्थात् दुर्दान्त परिस्थितियाँ—विकृति और घुटन बनकर ही—आती हैं और उसके मौलिक विनाशविश्लेषण को प्रतीकों की सांकेतिकता में समोना चाहती हैं। ऊपर-नीचे, आगे-पीछे बेतरतीब बगमगाते नितान्त विचित्र और असम्बोधपरीय जिसमें कहीं न कुछ तथ्य है न रूप न वैशिष्ट्य न विधायकता केवल थोथे विचार मात्र हैं। उसकी कुंठाओं और अन्य विचारधारा के घात प्रत्याघात से उपजे भ्रम और भ्रमर हैं किन्तु कविता में फिट करना भी मुश्किल है जो काव्य की विरलमयता को धार्मिकता में समेटने का प्रयास करते हैं। प्रयोगों से टकराकर कविता के विधायक तत्त्व तो नष्ट हो ही गये हैं उनके आपेक्षिक भेद-प्रभेद और पृथक सत्ता को भी ठेस पहुँची है मानो उसका सब कुछ तीन-तीन होकर बिखर गया है। दिशाहारा कवि सर्वथा नई लीक पकड़कर तो चलना चाहता है, कुछ करिश्मा कुछ चुस्ती कुछ अपनी करामात दिखाने की गरज से पर ऐसी डाँवाडोल मनःस्थिति में—कि यह भी नहीं वह भी नहीं कुछ भी तो ठीक नहीं फिर है तो क्या है, किसी पर भी तो उसका मन उसकी आस्था टिक नहीं पाती।

"क्या यही हूँ मैं
अँधेरे में किसी संकेत को पहचानता सा ?
चेतना से पूर्व सम्बन्धित किसी चाहेस को
आगत किसी सम्भावना से बाँधता सा ?"

(सत्येन्द्र श्रीवास्तव)

एक दूसरे कवि के शब्दों में—
"हम सरोवर हैं
नहीं है ज्वार
अब नहीं हममें तरंगित गान
और बन्धन की व्यथा में खो गया अभिमान।

(भारतभूषण अग्रवाल)

इस संत्रास और अनास्था की नकारात्मक स्थिति में कैसे वे मूल्य पुनः स्थापित किए जायें जबकि उसका भीतरी विक्षोभ मात्र कुंठाओं में दब जाता है। लगता है—कविता निरी बिम्बवाद या कलावादी अथवा इसके विपरीत झूठे समझौतों व हमारी रीती बुद्धि की मकड़जाल मकान है जिसकी सचाई तो कभी की मर चुकी केवल उसकी गूँज-अनुगूँज ऊबड़खाबड़ घाटियों से टकराकर बार-बार अपने को दोहरा रही है और चकनाचूर, चूर-चूर, बर्बर, नष्टप्राय अट्टहास करती कसमसती-सिसकती पीड़ के

अयथों में जा भटकी है—

"भूल गलों जम्पड़ों में
ये तुम्हें भटकायेंगे दौड़ायेंगे
छिप जायेंगे—
इनका ठिकाना क्या ?
यहाँ बैठे वहाँ पाया—
उधर जाकर छा गये ।"—

(केदारनाथ सिंह)

फलतः इस सन्दर्भ में कविता का सही दिशा-निर्देश असंभव सा हो गया है। उक्त प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि में हमें कुछ अच्छी चीजें भी मिली हैं पर वैयक्तिक कुण्ठाओं से भ्रष्ट भोंडी कुरूप करुण विचारधारा और रूपशिल्प के कृत्रिम विधान न नैसर्गिक न सुरुचि भावनाओं को कुचल डालता है। टूटे खंडित स्वप्नों ने साहित्य में एक ऐसी ध्वंसात्मक अराजकता उत्पन्न कर दी है जो अजगर की-सी उग्रता लिये उसके सम्पूर्ण अस्तित्व को आन्दोलित कर अपने आप में खींच लेना चाहती है।

स्पष्ट है कि उक्त विडम्बना किसी भी विकसित साहित्य के व्यापक अपराजेय मनोबल की विरोधी है। अनगिनत मानसिक उद्वेगों अवान्तर स्थितियों विकृत प्रतीतियों और असंगत अन्तर्विरोधों ने हमारी मंगलमयी सृजन की गरिमा को छीन लिया है। सर्वमान्य आलोक के ऊर्ध्वमुखी बहुविध तत्त्वों को अतिशय जड़ता और अनिश्चय की कारा में बन्दी बना लिया गया है। या कहें कि कविता इस वक्त एक ऐसी डगमग दिशाहारी नौका बन गई है जिसमें पास नहीं दूर नहीं अगल-बगल घाट या पड़ाव की जगह नहीं वरन् निरुद्देश्य भटकते उसके सम्मुख एक ऐसा अपरिमित प्रसार है जिसका ओर-छोर दिखाई नहीं पड़ता ऊपर अनगिन छायाएँ बादलों सी उस पर मँडरा रही हैं पर जैसा कि कभी मदाम स्तालिन ने कहा है "साहित्यकार आत्मा का इंजीनियर है। वह कभी भी दुर्बल को सहारा देकर उसे सुरक्षित बना सकता है धारा-प्रवाह के वेग से अथवा उच्छल तरंगों से भागकर नहीं बल्कि उसमें बहते हुए उन्हें चीरकर, उनकी प्रबलता को मुट्ठी में बाँधकर, अपनी पतवार से उसके विशाल वक्ष को नापकर रास्ता बना सकता है।

समय की सीमाहीनता यदि कहती है कि वह बँधी नहीं है वह गति की ओर अनुधावित है तो लेखक भी बँधा नहीं है, वह अलक्ष्य की ओर बढ़ना जानता है। अपनी उद्दाम कल्पनाओं व भावि में प्राचीन की गाथा भुलाकर वह नित-नई योजनाओं के रूपाकारों को ढाला करता है। उसकी जीवन की जटिलता में अतीत की परिणति है तो भविष्य के सूत्र भी गुँथे हैं। इन सूत्रों के आधार पर ही उसकी अन्तर्हित सृजन-शक्ति को पहचाना जा सकता है।

अतएव जो सच्चे साधनानिष्ठ हैं—वे साधारण परिस्थितियों से सदा ऊपर उठे रहते हैं। उनका लक्ष्य क्षुद्र घृणा-द्वेष और छिछली भावनाओं का प्रचार प्रसार नहीं है।

इसके विपरीत उसकी दृष्टि भीतरी स्तर को भेदती है, साथ ही वैयक्तिक अनुभूतियों को सामूहिक मान्यताओं में आत्मसात् करके अपनी विशिष्ट चिन्तना एवं चैतन्य जागरूकता द्वारा वे सहज परिस्थितियों में हृत्कम्प-सा तो मचा देते हैं पर मर्यादित पृथक् पथ खोजते हैं।

स्रष्टा की वाणी में यथानुरूप विस्तारों के प्रतिरूप और अंतर्दृष्टि की दुर्जेय शक्ति निवास करती है। उसे मिथ्या द्वेष-दम्भ और परस्पर तिरस्कृत-बहिष्कृत करने की भावना का परित्याग करके दिमाग के दरवाजे खुले रखने चाहिए। जगत् और जीवन को साहित्य में रूपान्तरित करने के लिए सृजन के उन स्थायी और सार्वभौम तत्वों को अपनाना चाहिए जो मानवीय उदात्त कल्पना को वाणी की अखण्ड पूर्णता में परिणत कर सकें।

आज की उलझन और ऊहापोह में एक प्रकार की चुनौती है। हमें अपने परिचित पथ को गति को बदलकर चलना है। साहित्य के पोषक तत्वों को लेकर एक ऐसे तीसरे साहित्य की सृष्टि करनी है जो प्रत्येक देश प्रत्येक जाति प्रत्येक युग की धरोहर हो और एक अखण्ड इकाई के रूप में हमारी चेतना का उद्बुद्ध और कल्पना-शक्ति को परिपुष्ट कर हमें अबाध रूप से आगे बढ़ने की प्रेरणा प्रदान करे।

३

नई कहानी

कहानी जीवन के मय और हेय सभी तत्त्वों को भीतर समेटे हुए मनुष्य की रागात्मक वृत्तियों का उद्भावित करती है। कहानी का सत्य जीवन के सत्य से भिन्न नहीं है, वरन् एक के बिना दूसरे का अस्तित्व वांछनीय नहीं। अतएव मानव के सम्पूर्ण क्रिया-कलाप एवं उसकी अरूप चित्तवृत्तियों के भीतर मचलनेवाला गूढ़तम अन्तर्भावों का आलोड़न ही कहानी का प्राण है।

कहानी कैसी हो ?—इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार कहानी जीवन की प्रतिरूप होनी चाहिए, अर्थात् विभिन्न जीवन-प्रसंगों को प्रभावोत्पादक रूप में प्रस्तुत करना ही कहानी-शिल्प अथवा उसकी टकनीक की विशेषता है किन्तु इसके विपरीत कुछ लोग कहानी में रोचक आकर्षक तत्त्वों को अधिक महत्त्व देते हैं। वस्तुतः मनोरंजक कहानियों की माँग हमेशा से बहुत अधिक रही है और इससे सैकड़ों हजारों व्यक्तियों के मन की परितृप्ति होती है किन्तु कहानी में मनोरंजन की स्वाभाविक प्रक्रिया के साथ-साथ कथानक चरित्र-चित्रण वार्तालाप सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रसंगानुरूप वाक्यों और शब्दों का प्रयोग भाषा और शैली घटनाओं की सुव्यवस्थित संयोजना और रचना-संगठन पर भी ध्यान केन्द्रित होना चाहिए। कहानी सदैव जीवन के व्यापक अर्थ को ध्वनित करने वाली हो साथ ही उसकी प्रमुख घटनाओं कथानक और चरित्र की व्याख्या को इस प्रकार जीवन से संश्लिष्ट कर देना चाहिए कि कहानी की मार्मिकता का पाठक पर ईप्सित प्रभाव पड़े।

कुछ नये उत्साही लेखक कहानी लिखने की तीव्र इच्छा रखते हुए भी इस बात से अनभिज्ञ होते हैं कि कहानी कैसे शुरू की जाय। प्रचारात्मक दृष्टिकोण प्रारम्भ में ही अपना लेने के कारण उनकी दृष्टि संकुचित हो जाती है जो जीवन के मर्म में पैठ नहीं पाती। यद्यपि प्रचारात्मक दृष्टिकोण भी उपेक्षणीय नहीं इसमें व्यावहारिक लाभ रहता है तथापि तथ्य-समर्थन और बाह्य आवश्यकताओं की पूर्ति भी मानवीय मनोवेगों की पूर्ण संगति के साथ स्थापित कर देनी चाहिए। एक सफल कलाकार जीवन की गहराइयों में पैठकर तत्सम्बन्धी वास्तविकताओं, परि

स्थितिजन्य वैविध्य एवं निगूढ़ मनोगतियों का उद्घाटन करता हुआ कहानी के उन नैसर्गिक गुणों की ओर आकृष्ट होता है जो उसकी आंतरिक शक्ति को उद्बुद्ध करते हैं। सर मास्टर बसेंट ने कहानी की व्याख्या करते हुए उसकी उपयोगी मान्यताओं का सफल आकलन किया है।

कहानी कला में वर्णन-पटुता, सचाई, विश्वास, सूक्ष्म पर्यवेक्षण-क्षमता, तटस्थ दृष्टिकोण, वस्तु चयन, सुलझे विचारों की प्रस्तुति, चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन, रचना प्रणाली की चारुता और कहानीकार का उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिये जो पाठक के हृदय में औत्सुक्य, विश्वास और अन्तर्जिज्ञासा जगा सके तथा उसकी रागात्मक वृत्ति एवं भावुक अन्तःप्रकृति को एक व्यापक संवेदना से भर दे।

उपन्यास और कहानी में अन्तर

कुछ लोग कहानी और उपन्यास में बहुत थोड़ा भेद मानते हैं प्रत्युत यों कहें कि कहानी को उपन्यास का ही छोटा रूप समझते हैं। कहानी और उपन्यास इसलिए भी एक दूसरे के साथ घुल मिल गये हैं क्योंकि बहुत से उपन्यासकार उतनी ही सफलता से कहानी-साहित्य का भी सृजन करते हैं (यद्यपि कई बार खूबी से नहीं)। प्रायः कहानी लेखक—अनुभव और परिपक्वता पाकर—कहानीकार से उपन्यासकार में परिणत हो गये हैं किन्तु इसका प्रमुख कारण है कहानी के विधायक तत्त्वों से उनका गहरा लगाव—जो आत्मविश्वास जगाता है और उपन्यास के विस्तृत 'कैनवस' पर विचरण करने की सूक्ष्म प्रतिभा प्रदान करता है।

कुशल लेखक भले ही उपन्यास और कहानी की विभेदक सीमा को पाटने की क्षमता रखता हो किन्तु नए कहानीकार को दोनों की पृथक्-पृथक् टेक्नीक को हृदयंगम कर लेना चाहिए।

(१) उपन्यास और कहानी का मुख्य भेद विस्तार और सीमा का है। उपन्यास का विस्तृत चित्रपट मानव-जीवन की विविध परिस्थितियों एवं समस्याओं का लेखा लिये होता है, किन्तु कहानी की संकीर्ण परिधि में मानव-जीवन के किसी एक अंश या पहलू पर ही प्रकाश डाला जा सकता है। एक खास घटना, जीवन की कोई स्थिति-विशेष अथवा किसी केन्द्रीय भावना को लेकर कहानी लिखी जाती है। उसमें अनावश्यक प्रसंग, विरोधी वृत्तियाँ, मुख्य ध्येय के विपरीत एक जीवन से टकराने वाले दूसरे प्रतिरोधी जीवन के तथ्य नहीं रखे जा सकते। कथा, परिस्थिति और घटनाओं का तारतम्य एक ही केन्द्रबिन्दु की ओर अनुधावित होता है। उदाहरणार्थ—प्रेमचन्द की 'प्रेरणा' कहानी को लिया जा सकता है।

सूर्यप्रकाश नामक विद्यार्थी अत्यन्त शैतान और शरारती है। उसकी विविध कपट-क्रीड़ा, ऊधम और षड्यन्त्रों से समस्त विद्यार्थी और शिक्षक संत्रस्त रहते हैं। उसका अपनी क्लास का प्रोफेसर सबसे अधिक परेशान है किन्तु दैवयोग से उसकी बदली हो जाती है। विदा के क्षणों में शिक्षक और विद्यार्थी दोनों में ही सुप्त स्नेह

उमड़ पड़ता है। सहसा सूर्यप्रकाश के हृदय में पश्चात्ताप का अंकुर जमता है और उसकी आँखों में अश्रु-बिन्दु छलक आते हैं। केवल पश्चात्ताप को केन्द्रबिन्दु बना कर ही कहानी का क्रमिक विकास दर्शाता है। प्रोफेसर का त्यागपत्र गाँव में एकान्तवास अकस्मात् डिप्टी कमिश्नर के रूप में सूर्यप्रकाश से भेंट उसकी बदली हुई जीवन-परिस्थितियों के विश्लेषण से कि कैसे ममेरे भाई की संपत्ति से उसकी सर्वथा कायापलट हो गई आदि बातों से मुख्य ध्येय पर प्रकाश पड़ता है। सूर्यप्रकाश के स्वभाव में परिवर्तन और उसकी आदतों में सुधार—इस प्रकार एक व्यक्ति-विशेष के जीवन में सब कितने ही प्रश्नचिह्न सहसा उद्घाटित होते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि कोई एक केन्द्रीय घटना अथवा परिस्थिति अन्य द्वन्द्वों की कचोट से ही छोटी कहानी को उत्कृष्ट बनाया जा सकता है। कचोट और तीव्रता नष्ट होते ही कहानी समाप्त हो जाती है। ऐसी कहानियों में घटनाओं का संयोजन इस प्रकार होता है कि चरम स्थिति पर पहुँच कर ही अन्त में उसका प्रभाव पड़ता है।

एक दूसरी छोटी अच्छी कहानी में जिसमें प्लॉट की अपेक्षा चरित्र-चित्रण की विशेषता है, एक वृद्ध व्यक्ति का बड़ा ही अनूठा शब्द-चित्र अंकित किया गया है जो मद में अन्धा होकर निराश और दुःखी अपने पैदायशी ग्राम में लौटता है। वहाँ मार्ग में भटकते हुए उसकी एक बालक से भेंट होती है जो हाथ पकड़ कर उसका पथ प्रदर्शन करता है। जिन वस्तुओं को देखने में वह अक्षम है उनका रोचक वर्णन करके बालक उसके निराश और विषण्ण हृदय में प्रेरणा और प्रोत्साहन भरता है। बालक के मधुर शब्द शक्तिवर्द्धक टॉनिक की भाँति उसमें आश्चर्यजनक स्फूर्ति भर देते हैं। उसकी प्रसन्न मुद्रा और चहकती बातों को सुन कर उस अन्धे व्यक्ति के विचार और दृष्टिकोणों में परिवर्तन हो जाता है। वृद्ध बालक के विदा होते ही वह आत्मतोष और शान्ति का अनुभव करता हुआ चुपचाप बैठ जाता है। तभी उसकी उस लड़की से भेंट होती है जो इस दुरवस्था में भी उसकी सहायिका रही है। वह उसे बताती है कि वृद्ध बालक भी उसी की भाँति बिल्कुल अन्धा और असहाय है। जैसा कि स्पष्ट है इस कहानी का निष्कर्ष चरम स्थिति पर पहुँच कर ही प्रकट होना चाहिए था। बीच में ही उसका उद्घाटित करना समयोचित और प्रभावोत्पादक न होता। 'क्लाइमैक्स' पर पहुँच कर तीव्रतम स्थिति के साथ-ही-साथ कहानी का अन्त भी वांछनीय होना चाहिए।

२ कहानी में दूसरी विचारणीय बात उसके आकार की है। कहानी कितनी बड़ी हो—इस पर अन्तिम रूप से निर्णय देना कठिन ही नहीं असम्भव है। कुछ कहानियाँ इतनी बड़ी लिखी गई हैं जिन्हें हम आसानी से छोटा उपन्यास ही कह सकते हैं। प्राय सभी विज्ञ सम्पादकों के मतानुसार कहानी की सीमा १ ०० से ४ ०० शब्दों तक की अधिक सुविधाजनक है यों बहुत सी कहानियाँ ढाई सौ से आठ हजार शब्द तक की भी मिलती हैं। वस्तुतः कहानी और उपन्यास में अन्तर

केवल आकार का ही नहीं, वरन् रचना प्रणाली और उद्देश्य का भी है।

३ कहानी के मूलतः निर्माणक तत्त्व उपन्यास की अपेक्षा साधारण हैं। आधारभूत केन्द्रीय भावना के अतिरिक्त अनावश्यक प्रसंग एक से अधिक तथ्यों की चर्चा तथा ऐसे पात्रों का चित्रण जो कहानी की एकसूत्रता और प्रमुख उद्देश्य पर व्याघात पहुँचाते हैं—छोटी कहानी में बहुत कम गुंजाइश रखते हैं। एडगर एलन पो ने कहानी में एक भी फालतू शब्द और वाक्य का घोर निषेध किया था। बाद में हडसन ने भी संक्षिप्तता पर जोर देते हुए यही बात दोहराई। मौजूदा आलोचकों के मत से प्रभाव-ऐक्य और स्वतःपूर्ण रचना होने के कारण कहानी का छोटा होना अनिवार्य है। ज्ञात एवं अज्ञात रूप से लेखक द्वारा प्रत्येक वाक्य का परीक्षण होना चाहिए, बड़ी बारीकी और बुद्धिमानी से यह जानने के लिए—कि वह कहानी के विकास में कहाँ तक सहायक है। नए कहानी लेखकों में ऐसी कुछ अजीब आदतें होती हैं कि वे जो कुछ एक बार लिख देते हैं उसे फिर निकालना नहीं चाहते विशेषकर जब उन्हें कोई शब्द अथवा मुहावरा रुच जाए। यह बुरी आदत है और इसका दृढ़ता से बहिष्कार होना चाहिए। कहानी लिखते हुए प्रत्येक वाक्य की समाप्ति पर गम्भीरतापूर्वक मनन करके यह निर्णय कर लेना चाहिए—कि क्या वह कहानी के लिए आवश्यक है? कथावस्तु अथवा ईप्सित प्रसंग को वह मदद तो कर रहा है? यदि कोई वाक्य व्यर्थ हो और प्रस्तुत विषय से उसका सीधा सम्बन्ध न हो तो उसका हटा देना ही श्रेयस्कर है।

४ इसके अतिरिक्त कहानी का एक और विशिष्ट एवं अत्यावश्यक गुण है जिसको अनुभवी लेखक तो जाने-अनजाने सीख ही लेते हैं किन्तु नये लेखकों को समझने में कठिनाई होती है।

यहाँ यह लिखना अप्रासंगिक नहीं कि कहानी के इन्हीं परिपोषक अंतरंग तत्त्वों में जीवन का सूक्ष्म निर्बाध चित्रण होता है। कहानीकार भौतिक तत्त्वों से पराङ्मुख होकर कभी भीतर की ओर अपनी दृष्टि केन्द्रित करता है और कभी कल्पना से प्रसूत सामान्य राय वाले क्रियाकलापों और विस्तृत संघर्षों का मार्मिक अंकन करता हुआ जीवन की संश्लेषणात्मक प्रक्रियाओं की व्याख्या में प्रवृत्त होता है। जब हम कोई कहानी पढ़ते हैं तो हमें लगता है कि विस्मयनीय तत्त्वों से परे कहानी का सम्बन्ध जनसाधारण की चित्तवृत्ति और वातावरण से अधिक है जिससे प्रभावित होकर लेखक ने उसका निर्माण किया है। हम बिलकुल दूसरी दुनिया में पहुँच जाते हैं। कथा-सम्राट प्रेमचन्द ने कहानी का विवेचन करते हुए लिखा है, "साहित्य में कहानी का स्थान इसीलिये ऊँचा है कि वह एक क्षण में ही बिना किसी घुमाव फिराव के आत्मा के किसी न किसी भाव को प्रकट कर देती है आत्मज्योति की आंशिक झलक दिखा देती है और चाहे थोड़ी मात्रा में ही क्यों न हो, वह हमारे परिचय का दूसरों में अपने को देखने का दूसरे के हर्ष या शोक को अपना बना लेने का क्षेत्र बढ़ा देती है।

जीवन के अनन्त प्रवाह एवं अंतर्संघर्षों में झाँककर देखने की आकांक्षा मानव स्वभाव है। गहरे और प्रखर मनोभाव जिन्दगी की ऊँच-नीच और गहराइयों में पैठ कर मानवीय दुर्बलताओं और उसकी सशक्त चेष्टाओं को अवगत करना सत् और असत् के संघर्ष मनोरंजक अथवा हृदय को हिला देने वाले सूक्ष्म रहस्यों के गूढ़ आशय को समझने का प्रयत्न करना तथा ऐसे अनगिन दृश्यों दशाओं और मार्मिक पहलुओं को हृदय में उतार लेना मानव की सहजात वृत्ति है—जो विषय विस्तार में झाँकने की नित्य प्रेरणा प्रदान करती है। जब कोई अनुभूति किसी स्मृति से जुड़ जाती है अथवा भीतर संचित संस्कारों के समानान्तर हमारे राग-विराग से जा टकराती है तो आलोड़न उत्पन्न होता है और वे ही राग-विराग कला की सृष्टि करते हैं। कभी-कभी कहानियों को पढ़ कर लगता है कि जैसे हम जिन्दी सच्ची घटनाओं में से गुजर रहे हैं। जीवन के अगणित दृश्य-चित्र अतीत की भूली बिसरी बातें कब की कहाँ की सुनी-देखी घटनाएँ कहानियों को पढ़ते हुए बरबस याद ही मानस पटल पर कौंध जाती हैं। कभी-कभी तो यथार्थ जीवन की घटनाओं से भी अधिक कहानियाँ हमारे हृदय पर प्रभाव डालती हैं। इसका कारण है कि कुछ कहानीकार जीवन के यथार्थ और मनोवैज्ञानिक चित्रणपथ को इस स्वाभावि कता से कहानी में चित्रित करते हैं कि पाठक के सूक्ष्म मनोभाव उसमें केन्द्रित होकर सुख दुःख का अनुभव करते हैं। प्रेमचन्द के शब्दों में—"कहानी जीवन का यथार्थ चित्र है। यथार्थ जीवन का चित्र तो मनुष्य स्वयं ही सकता है मगर कहानी के पात्रों के सुख-दुःख से हम जितना प्रभावित होते हैं उतना यथार्थ जीवन से नहीं होते—जब तक कि वह निजत्व की परिधि में न आ जाय। कहानियों में पात्रों से हमें एक ही दो मिनट के परिचय में निजत्व हो जाता है और हम उनके साथ हँसने और रोने लगते हैं। उनका हर्ष और विषाद हमारा अपना हर्ष और विषाद हो जाता है इतना ही नहीं बल्कि कहानी पढ़कर व लोग भी रोते या हँसते देखे जाते हैं जिन पर साधा रणतः सुख-दुःख का कोई असर नहीं पड़ता। जिनकी आँखें श्मशान या कब्रिस्तान में भी सजल नहीं होतीं वे लोग भी उपन्यास-कहानी के मर्मस्पर्शी स्थलों पर पहुँच कर रोने लगते हैं।

शायद इसका यह कारण भी हो कि स्थूल प्राणी सूक्ष्म मन के उतने समीप नहीं पहुँच सकते जितने कि कथा के सूक्ष्म चरित्र के। कथा के चरित्रों और मन के बीच में जड़ता का वह पर्दा नहीं होता जो एक मनुष्य के हृदय को दूसरे मनुष्य के हृदय से दूर रखता है। और अगर हम यथार्थ को हू-ब-हू खींचकर रख दें तो उसमें कला कहाँ है? कला केवल यथार्थ की नकल का नाम नहीं है।

जहाँ तक कथाशिल्प और जीवन की विकसित चेतना का प्रश्न है, वहाँ कोरी अनुकृति नहीं वरन् स्पष्ट दृष्टिकोण और सूझबूझ चाहिए। शिल्प और नैतिक प्रतिमाओं में रूपगत समानता की अपेक्षा प्रकृतिगत समानता का विशेष महत्त्व है।

'सादृश्य' या 'प्रतिरूपता' किसी भी कहानी की विश्वसनीयता तो है ही जीवन और कथाकार के सम्बन्ध-सूत्र को परिलक्षित करने का ठोस आधार भी है। कथाकार अपने शिल्प की भावात्मकता का संस्पर्श तभी दे सकता है जबकि उसकी अंतःप्रकृति में पैठे और सामान्य जीवन के अनुरूप सूक्ष्म निष्ठा के साथ उसे मानवीय संवेदना से आपूरित कर दे। कारण—कहानी अंतरात्मा की वह मुखरता है जिसमें कथाकार के अर्जित संस्कार प्रतिफलित होते हैं। वह उन्हीं रूप-व्यापारों और जीवन-व्यापारों की प्रमाणस्वरूपता में पैठता है जो उसकी कल्पना को प्रेरित करते या उससे तादात्म्य स्थापित करते हैं। उसकी रुचि और कार्यान्वय में भेद हो सकता है पर प्रभाव या संवेदना की गहराई बरतने के लिए उसमें तादृश सजीवता और चमत्कार तो अपेक्षित है ही। महान् कथाकार का जीवन महान् घटनाओं से ही नहीं बल्कि महत्ता से भरे व्यक्तियों और जीवन-प्रसंगों से जुड़ा होता है। मनोवैज्ञानिक रूप में वह प्रसंग उसकी कल्पना में मूर्तिमान् हो जाता है अर्थात् उससे तद्रूप हो वह निजी अनुभूतियों को तो प्रकट करता ही है, अपनी मौलिक प्रतिभा के योग से नये चरित्रों को भी जन्म देता है। कहानी तो सभी कह सकते हैं—चाहे कोई अनपढ़ हो या विद्वान्। मगर कल्पना से खिंचे इन रूपाकारों में वह कितनी सूक्ष्म और गहरी रेखाएँ आँक सका है जो उसकी निश्छल तन्मयता या दूसरों की आत्मा को छू सकी है—यह देखना है। रसग्राही चेतना के तंतुओं को जाग्रत करनेवाली ईमानदार साधना ही किसी भी कृति को महत्त्वपूर्ण बनाने की सच्ची कसौटी है और उससे जो एकात्म्य स्थापित होता है वही वस्तुतः कला की चरम अनुभूति है।

कुशल कहानीकार की खूबी है कि वह अपनी कहानी में यथार्थ की तादृश भ्रांति उत्पन्न करे जो यथार्थ न होती हुई भी यथार्थ सी ही ज्ञात हो। इस कला में जो जितना ही पारंगत होगा उतना ही वह सफल कलाकार हो सकता है।

प्लॉट

यों तो कहानी में क्रमबद्धता अथवा घटनाओं के संयोजन का कोई नियम नहीं है तथापि कथा-तत्त्वों के उत्कर्ष के लिए सुन्दर प्लॉट होना आवश्यक है। प्लॉट में परिवर्तन की स्थितियाँ इतनी सुसंगठित होनी चाहिए कि घटनाओं का एक निश्चित क्रम हो जाए और वे अभ्यंतर के गहन सूक्ष्म सत्यों को उद्घाटित करती हुई अपना सामूहिक प्रभाव छोड़ जायें।

जीवन के जिस क्षेत्र से कहानीकार अपनी कहानी का प्लॉट ले उससे उसे पूर्ण अवगत होना चाहिए। अपनी प्रखर कल्पना-शक्ति से वह ऐसे भी कितने ही दृश्यों, व्यापारों और मनोभावों का प्लॉट के साथ चित्रित कर सकता है जिनका उसने प्रत्यक्ष अनुभव न करके कल्पना द्वारा अनुमान लगाया हो। यह सत्य है कि संसार की विभिन्न वस्तुओं, प्रकृति का उन्मुक्त प्रसार और उसमें छिपे अपरिमित रहस्य तथा मानव जीवन के कतिपय मर्मस्पर्शी पहलू कहानी के प्लॉट और विषय बन सकते हैं

तथापि उसमें मानवीय आत्मा की वह उदात्त चेष्टा होनी चाहिए जो कहानी को प्रभावशाली और प्रेरक शक्ति से भर दे। कुछ कहानियाँ पुराने विषयों को लेकर ही चलती रहती हैं, यथा—कौतूहल और वैचित्र्य से भरी छोटी-छोटी प्रणय कथाएँ जो दुःखान्त अथवा सुखान्त होती हैं सामान्य जीवन-स्थिति के लोगों की घरेलू व्यथ कथाएँ, कल्पित और रहस्यपूर्ण किस्से त्याग और बलिदान को दर्शाने वाले विषय ऐसे प्लॉट जिसमें किसी मुख्य व्यक्ति की प्रधानता रहती है अथवा किसी निष्कर्ष को लेकर चलने वाली कहानियाँ जिसमें सज्जन का उत्कर्ष और दुर्जन का अपकर्ष दिखाया जाता है आदि इस प्रकार के अहर्निश उपयोग में आने वाले साधारण और परिचित विषय भी कुशल कहानीकार की लेखनी से असाधारण और जीवन सिद्धांतों से ओतप्रोत होते हैं। नये दृष्टिकोण से लिये हुए पुराने प्लॉट कलात्मक स्पर्श पाकर मनोज्ञ और आकर्षक तत्त्वों से युक्त आकार की विविधताओं से वंचित व्यापक संवेदना और मानवीयता से आप्लावित इस लोक के होते हुए भी कहीं और के, किन्हीं अन्य ही प्रकार के व्यक्तियों से भरे दीख पड़ते हैं जो पाठकों के हृदय पर अमिट प्रभाव छोड़ जाते हैं।

प्लॉट क्या है? यह कहना अथवा इसकी ठीक-ठीक व्याख्या करना कठिन है, किन्तु हम इसे कहानी का ढाँचा कह सकते हैं। चरित्र-चित्रण वार्तालाप और वर्णन की संकुलता से मुक्त यह कहानी का शरीर मात्र है। कभी-कभी प्लॉट और थीम (मन्तव्य) में भी भ्रम हो जाता है। निःसन्देह, प्लॉट शरीर है तो थीम केन्द्रस्थ आत्मा। थीम कहानी को सबल और सशक्त बनाता है।

एक मशहूर छोटी अंग्रेजी कहानी में कतिपय दम्पति जो अनेक आर्थिक कठिनाइयों में से गुजर रहे हैं अपने विवाह के प्रथम वार्षिकोत्सव पर एक दूसरे को अच्छे-से-अच्छा उपहार देने को उत्सुक हैं। वे चुपचाप बिना बताए अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु गँवाकर भी भेंट देना चाहते हैं। वह शुभ तिथि आती है और पति अपनी पत्नी के सुन्दर बालों के लिए कीमती पिन कंघे आदि अपनी अत्यंत प्रिय घड़ी बेच कर ले आता है, किन्तु सहसा उसे यह जानकर बहुत दुःख होता है कि पत्नी ने उसकी घड़ी के खातिर सोने की चेन भेंट करने के उद्देश्य से अपने लम्बे लहराते काले बाल कटवा डाले हैं।

उपर्युक्त कहानी के प्लॉट में केन्द्रस्थ विषय भेंट की करुण परिणति है जो कहानी को सशक्त बनाती है।

प्लॉट और थीम में पर्याप्त अन्तर है। थीम में साधारणतः एक ही विषय की प्रमुखता रहती है प्लॉट परोक्ष-अपरोक्ष रूप से अनेक छोटी-मोटी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। थीम एकदम लेखक के मस्तिष्क में कौंध जाता है जब कि प्लॉट की रूपरेखा शनैः-शनैः तैयार की जाती है। जैसी कि कुछ लोगों की धारणा है सामान्य घटनाओं का चयन मात्र ही प्लॉट नहीं है। प्लॉट का सर्वांग गठन इस प्रकार होना चाहिए कि उसका यदि कोई अंश निकाल लिया जाय तो वह अर्थंग न हो। ऐसा

निर्माण-कौशल कहानी को असाधारण बना देगा यद्यपि ऐसी श्रेष्ठ कहानियाँ विश्व साहित्य में बहुत कम मिलती हैं।

प्लॉट ढूंढने के लिए कहानीकार के सम्मुख समग्र मानव-जीवन बिखरा रहना चाहिए यों ऐसा सम्भव नहीं है कि उसके सभी विभिन्न पहलू समान रूप से मूल्यवान् समझे जायें। नए लेखकों को कुछ उत्कृष्ट कहानियों के प्लॉट हृदयंगम कर लेने चाहिए। जो कोई अच्छी कहानी उसकी नजरों से गुजरे उसके प्रतिपाद्य विषय का मूल्य आँकने के लिये उससे सम्भूत रागात्मक तत्वों की शक्तिमत्ता पर ध्यान केन्द्रित करते हुए उसे उसके गुण-दोषों का संक्षिप्त विवेचन किसी कापी में नोट कर लेना चाहिए। इस प्रकार तीस-चालीस अच्छे प्लॉट लिख लेने पर कहानी लिखने की कला उत्तरोत्तर विकसित होती जाती है।

सर वाल्टर बेसेंट के अनुसार अच्छे प्लॉट ढूंढने के लिए कहानीकार को अपनी सामग्री आले पर रखी हुई पुस्तकों से नहीं उन मनुष्यों के जीवन से लेनी चाहिए जो उसे नित्य ही चारों तरफ मिलते रहते हैं। ऐसा कौन है जिसके पास कुछ कहने-सुनने को न हो। किसी के भीतर रंज-ग़म है तो किसी के पास सुखी भरी अनुभूतियाँ हैं। कोई निराश प्रेम में तड़पा है तो किसी ने प्यार की रंगरेलियाँ मनाई हैं। जरा छेड़िये तो किसी के दिल के तार, फिर वह अपनी कितनी-कितनी दास्तानें सुनाने को बेताब हो जाता है। जीवन में घटित होने वाली छोटी-मोटी घटनाएँ, समाचार-पत्रों में पढ़ी हुई खबरें, स्टेशनों पार्कों व्यस्त सड़कों अदालतों और इतस्ततः बिखरे असीमित दृश्यों को देखकर कहानी लिखने की प्रेरणा मिलती है। मान लीजिए हम किसी अखबार में हड़ताल की खबर पढ़ते हैं अचानक मनन करते-करते हमारी आँखों के सामने एक चित्र खिंच जाता है। मेहनतकश मजदूर वर्ग की वर्तमान जीवन-स्थितियाँ स्त्री-पुरुषों और बच्चों की दुरवस्था पग-पग पर उच्च वर्ग द्वारा उनकी भर्त्सना तिरस्कार और अवहेलना आदि दृश्य एक के बाद एक दृष्टि-पथ के समक्ष खिंच जाते हैं। फलतः हमारा ध्यान खिंच कर किसी प्लॉट पर केन्द्रित हो जाता है और हम उससे भिन्न किसी और ही असाधारण कहानी का ढाँचा तैयार कर सकते हैं। यथा—

एक बिजली-कम्पनी में काम करने वाले व्यक्ति का बच्चा सख्त बीमार है। चिन्तित परेशान माता-पिता को डाक्टर बताता है कि अभी तीन दिन तक कोई खतरा नहीं है। पिता निश्चिन्त होकर लेबर यूनियन की मीटिंग में सम्मिलित होने के लिए चला जाता है किन्तु उसी रात्रि को अचानक बच्चे की स्थिति बिगड़ जाती है। वही डाक्टर बुलाया जाता है। वह माँ को आश्वस्त करता है कि कोई भय नहीं केवल एक छोटा-सा आपरेशन बच्चे की स्थिति में परिवर्तन ला देगा। तत्पश्चात् डाक्टर बिजली के बल्ब के प्रकाश में बच्चे के ऊपर झुकता है और औजार से घाव का चिह्न बनाता है। समीप ही बच्चे की माँ चिन्तातुर खड़ी है। किन्तु पलक झपते ही भीषण अन्धकार! मकान की सारी बिजलियाँ एकदम बुझ जाती हैं। 'ओह! आप

वह क्या कर रही है? डाक्टर चीखता है। कमरे को चीरता हुआ करुण स्वर सुन पड़ता है जिसकी मैंने नहीं सुनाई। सब पागल से सिर खटखटाते हैं किन्तु व्यर्थ! चारों ओर अंधकार-ही-अंधकार, कुछ सूझ नहीं पड़ता। बड़ी कठिनाई से एक मोम बत्ती मिलती है लेकिन इतनी देर बाद कोई लाभ नहीं बच्चे की मृत्यु हो जाती है। तभी द्वार पर धम-धम होती है और किसी के भारी बूटों की आवाज नजदीक आती हुई सुन पड़ती है। किवाड़ खुलता है। मृत बालक का पिता विजयोल्लास से मुस्कराता हुआ सामने आता है। 'हमारी जीत हुई, वह जोर से चिल्लाता है 'आज सारे नगर में एक भी बत्ती नहीं जल रही है।

इस प्रकार छोटी-छोटी घटनाओं से उत्कृष्ट प्लॉट गढ़न की प्रेरणा मिलती है। एक किस्सा दूसरे किस्से को जन्म देता है 'धाम-धाने' प्लॉट ढूँढना एक मनोरंजक मस्तिष्कीय व्यायाम बन जाता है और अभ्यास हो जाने पर हमारी दृष्टि अपने मतलब की बात बटोल लेती है। कल्पना के योग से मानसिक शक्ति का वर्द्धन होता है और हमारी बुद्धि उत्तरोत्तर तीव्र और उर्वरशील होती जाती है।

हेनरी जेम्स ने लिखा है 'यदि किसी लेखक की बुद्धि कल्पना-कुशल है तो वह सूक्ष्मतम भावों के योग से जीवन को व्यक्त कर देती है वह वायु के स्पंदन को भी जीवन प्रदान कर सकती है। परिश्रम और साधना सफलता का द्योतक है। प्लॉट बरसात के सदृश आकाश से हमारे मस्तिष्क में नहीं उतरते और न ही वे लेखक—जो कलम से जमीन खोंचते हुए सिर पर हाथ रख बैठे रहते हैं—उसे पाने के अधिकारी होते हैं वरन् दृश्य-जगत् में चारों ओर इधर-उधर घटनाएँ बिखरी हुई हैं। जो चाहें उनमें से महत्त्वपूर्ण चीज़ें बटोर सकते हैं।

चरित्र चित्रण

प्लॉट के बाद कहानियों में पात्रों का मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म विश्लेषण अपेक्षित है। कहीं-कहीं तो यह प्लॉट से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। मानवीय संवेदना की सर्वांगीण व्याख्या के लिए पात्रों के भाव विचार और प्रवृत्तियों का सूक्ष्म विवेचन साथ ही उनकी विचार प्रक्रिया और मनोरागों की निरपेक्ष अभिव्यक्ति उन्हें यथार्थ अथवा सम्यक रूपेण जीवन के निकट ले आती है। पाठक की दृष्टि कभी-कभी स्थूल घटनाओं की अपेक्षा पात्रों की अन्तर्वर्ती सत्ता पर आ टिकती है। वह व्यक्ति की ऐकान्तिक अन्तश्चेतना को बाह्य व्यापारों और जीवन के प्रेरक विकासक तत्त्वों में आरोपित करके बहुत कुछ देखन-समझने की चेष्टा करता है। अतएव कुशल कहानीकार को चाहिये कि वह अपने पात्रों में जीवन-तत्त्वों का ऐसा चेतन संघटन प्रस्तुत करे कि उसके पात्र जीती-जागती तस्वीर बन जायें। उनके अणु-परमाणुओं में सारे पर गहरे रंगों को समाविष्ट करके वह उनमें चल-चित्रों की भाँति चमत्कारात्मक प्रभाव उत्पन्न करदे किन्तु इसके लिये उसे परिश्रमपूर्वक वैयक्तिक निरीक्षण की कला को विकसित करना होगा। जीवन की संकुलता में झाँक कर मनुष्य के विभिन्न रूपों उनके स्वभाव प्रवृत्ति

और विशेष गुण-दोषों को हृदयंगम करना होगा। जिन कहानी-लेखकों की चरित्र-चित्रण की ओर विशेष अभिरुचि है उन्हें बिना किसी हिचकिचाहट के जन-समूह में घुसकर विभिन्न व्यक्तियों की चारित्रिक विशेषताओं का मननपूर्वक गंभीर अध्ययन करना चाहिये और उनकी बाह्य आकृति वेष-भूषा आदि का भीतरी वृत्तियों से साम्य स्थापित करके उनकी छोटी-छोटी बातों पर गौर करना चाहिए। फिर ऐसा न हो वे अपने अनुभवों को यों ही भूल जायें या उनकी उपेक्षा कर दें। उन्हें अपनी मस्तिष्कीय प्रतिक्रिया को तत्क्षण कागज पर उतार लेना चाहिये। एकान्त में बैठकर वे मन ही मन अपने अनुभवों को एकत्र करलें और लिखते जायें। पहले वे चुपचाप अपने मित्रों और परिचितों के रेखाचित्र खींचें फिर उन्हें बराबर पढ़ें और संशोधित करते जायें। लिखते हुए उनकी भाषा स्वस्थ स्वाभाविक और पात्रानुरूप होनी चाहिये।

कहानी में चरित्र-चित्रण उपन्यास की अपेक्षा अधिक सुकोमल और संकेतात्मक होता है। जैसा कि टेमूर हेवन ने लिखा है—कलम का किंचित् सा स्पर्श गहरी रेखाएं खींच देता है। यदि वे सुसंयत अथवा सुविचारित होती हैं तो वह कुशल कलाकार माना जाता है अन्यथा उसकी कला एक कलंक बन जाती है। कला के किसी भी अंग में स्पर्श का इतना बड़ा महत्त्व नहीं है। एक रेखा यदि संगत बैठी तो सब असफल हो जाती है। इसके अतिरिक्त लेखक की अनुभव-समष्टि कहानी की परिमित परिधि में इतनी संकुल और घनीभूत होकर प्रकट होती है कि वह अपने पात्रों को जितना ही सजीव और विश्वसनीय बना सके उतना ही अच्छा है। सूक्ष्म रेखाकार अपनी शलाका से जो चमत्कार उत्पन्न करता है वही कथा-लेखक अपनी लेखनी से कर दिखाता है। रेखांकन कला रंगों की सूक्ष्मता में रमती है तो कहानीकार को बुद्धि और मस्तिष्क कुरेद कर जीवन-तत्त्वों के भीतर गहरा पैठना पड़ता है।

हमारी अन्तरंग वृत्तियां स्वभावतः चैतन्य होने के कारण मानव-चेतना में ही अपने अस्तित्व की शाश्वत अनुभूति पाती हैं। सर्वमान्य मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य की मानसिक प्रक्रिया भिन्न-भिन्न उद्देश्य प्रच्छन्न अभिलाषाएं और मनोवृत्तियां प्रायः बहुत कुछ एकसी हुआ करती हैं। कहानियों को पढ़ते हुए पात्रों की वृत्तियों के साथ हमारा तादात्म्य स्थापित हो जाता है और हमें लगता है जैसे वे हमारे ही संगी और परिचित हों। हम उनके सुख दुःखों में समान रूप से भाग लेते हैं और उनके जीवन में अपने ही जीवन का प्रतिबिम्ब देखना चाहते हैं। प्रेमचन्द लिखते हैं—"साधु पिता का अपने कुव्यसनी पुत्र की दशा से दुःखी होना एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। इस आवेग में पिता के मनोवेगों को चित्रित करना और तदनुकूल उसके व्यवहारों को प्रदर्शित करना कहानी को आकर्षक बना सकता है। बुरा आदमी भी बिल्कुल बुरा नहीं होता उसमें कहीं देवता अवश्य छिपा होता है,—यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। उस देवता को खोलकर दिखा देना सफल आख्यायिका लेखक का काम है। विपत्ति पर विपत्ति पड़ने से मनुष्य कितना दिलेर हो जाता है—यहां तक कि वह बड़े से बड़े संकट का सामना करने के लिये ताल ठोंक कर तैयार हो जाता है, उसकी

समस्त दुर्बलताएँ भाग जाती हैं उसके हृदय के किसी गुप्त स्थान में छिपे हुए जौहर निकल आते हैं और हमें चकित कर देते हैं यह मनोवैज्ञानिक सत्य है।…… जीवन में ऐसी समस्याएँ नित्य ही उपस्थित होती रहती हैं और उन से पैदा होने वाला द्वंद्व आख्यायिका को चमका देता है। सत्यवादी पिता को मालूम होता है कि उसके पुत्र ने हत्या की है। वह उसे न्याय की वेदी पर बलिदान कर दे या अपने जीवन सिद्धान्तों की हत्या कर डाले? कितना भीषण द्वंद्व है। पश्चात्ताप ऐसे द्वंद्वों का अखंड स्रोत है। एक भाई ने अपने दूसरे भाई की सम्पत्ति छल-कपट से अपहरण कर ली है। उसे भिक्षा माँगते देख कर क्या छली भाई को जरा भी पश्चात्ताप न होगा? अगर ऐसा न हो तो वह मनुष्य नहीं।

निस्संदेह, ऐसे मनोगत भाव और द्वंद्व हमारे हृदय को छूते हैं। कहानीकार को उस द्वंद्व का गम्भीर ज्ञान अपेक्षित है। वह वार्तालाप क्रिया और विभिन्न चेष्टाओं द्वारा अपने पात्रों का यथार्थ और आकर्षक चित्रण प्रस्तुत कर सकता है।

इसके अतिरिक्त कुछ स्वभावगत विशेषताओं को आरोपित करके वह अपने पात्रों की मनोवृत्तियों को भी प्रयोग में ला सकता है। हम प्रायः प्रतिदिन ऐसे व्यक्तियों से मिलते हैं जिन्हें सिर घुमाने या पैर हिलाने की आदत होती है। किसी को उंगली चटकाना या सीटी बजाना बहुत भाता है। कुछ लोगों को कोई-कोई शब्द मुहावरे और वाक्य इतने मुँह चढ़े रहते हैं कि वे बात-बात में उनका प्रयोग करते हैं। इस प्रकार कहानीकार अपने पात्रों में कुछ विशिष्ट मनोवृत्तियों को आरोपित करके उन्हें और भी सजीव एवं विश्वसनीय बना सकता है।

वार्तालाप

मनुष्य में अपने विचारों को दूसरों के समक्ष व्यक्त करने की स्वाभाविक इच्छा होती है। वह वार्तालाप द्वारा अपनी और दूसरे की बात कहने-सुनने को लालायित रहता है। कहानियों के पात्र बहुधा अपनी सजग स्पष्ट और गम्भीर बातचीत से हमारे मन में घर कर सके हैं। उनका अपना व्यक्तित्व हमारे सम्मुख चमक जाता है और भीतरी वृत्तियाँ सजीव होकर उभर पड़ती हैं। इससे कथ्य विषय तो गतिमान होता ही है पात्रों के मनोवेगों अभिरुचियों और उनके अन्तरंग मार्मिक स्तरों का छू ना भी सुअवसर मिल जाता है।

जिस प्रकार प्लॉट और चरित्र-चित्रण प्रतिपाद्य विषय पर प्रकाश डालते हैं उसी प्रकार वार्तालाप भी घटनाओं को गतिशील वातावरण को रोचक चरित्र चित्रण को प्रखर और कहानी के व्याख्यात्मक तत्त्वों का निर्माण करता है। वार्तालाप में भी ये हैं प्रश्न न हो वार्ता और न ही विचार व्यक्त करना चाहिए या प्लॉट के विकास में सहायक हों और चरित्रों के गुप्त मनोभावों का निदर्शन करें। एक सुप्रसिद्ध अंग्रेजी लेखक ने एक बार लिखा था— किसी भी कहानी में यह लिखने की आवश्यकता नहीं कि अमुक स्त्री या अमुक आदमी झगड़ालू और कर्कशा है।

उसे सामने लाकर खड़ा कर दो और बकने-झकने दो। इस प्रकार अनेक विशिष्ट पात्रों के वार्तालाप से ही उनकी मनोवृत्तियों का अध्ययन हो जाता है। क्रोध घृणा द्वेष हर्ष-शोक प्रेम-अनुराग हँसी-कुतूहल आदि मानव-मन के प्रच्छन्न पहलू उनकी वाणी द्वारा व्यक्त हो जाते हैं और हम उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं को हृदयंगम करने में सफल होते हैं। निम्न वार्तालाप में प्रेम कर्त्तव्य और व्यथा की छटपटाहट का कैसा सुन्दर मर्मस्पर्शी चित्रण है—

"उषा के आलोक में सभा-मंडप दर्शकों से भर गया। बन्दी अरुण को देखते ही जनता ने रोष से हुंकार करते हुए कहा—'वध करो!'

राजा ने सबसे सहमत होकर आज्ञा दी—'प्राणदण्ड'। मधूलिका बुलाई गई। वह पगली-सी आकर खड़ी हो गई। कोशल-नरेश ने पूछा—'मधूलिका तुझे जो पुरस्कार लेना हो माँग।' वह चुप रही।

राजा ने कहा—'मेरी निज की जितनी खेती है मैं सब तुझे देता हूँ।' मधूलिका ने एक बार बन्दी अरुण की ओर देखा। उसने कहा—'मुझे कुछ न चाहिए।' अरुण हँस पड़ा। राजा ने कहा—'नहीं मैं तुझे अवश्य दूँगा माँग ले।' 'तो मुझे भी प्राणदण्ड मिले'—कहती हुई वह बन्दी अरुण के पास जा खड़ी हुई।

('पुरस्कार'—प्रसाद)

वार्तालाप सरल सजीव और आकर्षक होना चाहिए, साथ ही वह ऐसा न हो जो जीवन से दूर जा पड़े। श्रेष्ठ कलाकार वही है जो प्रसंगानुकूल उचित परिस्थितियों एवं पात्रों के अनुरूप वार्तालाप प्रस्तुत करता है—हाँ उसे यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि उसका वार्तालाप यथार्थ और स्वाभाविक होता हुआ भी इतना साधारण और निम्न कोटि का न हो जो गँवारू और सर्वथा कलाहीन हो जाए।

भाषा और शैली

कहानी लिखने के लिए यह आवश्यक नहीं कि अपनी समस्त शक्ति भाषा और शैली पर ही केन्द्रित कर दी जाय। यदि विचार-गाम्भीर्य न होगा तो भाषा और शैली की बाह्य चारुता निरर्थक है, वरन् शब्द अलंकार, उपमाओं से भरी भाषा अस्वाभाविक और दुरूह हो जायगी। कहानी-लेखक अपनी मनोवृत्तियों के अनुरूप आत्माभिव्यंजन की इच्छा से प्रेरित होकर भाषा का निर्माण करता है। यदि उसकी कल्पना और कला में जीवन की व्याख्या निहित है तो उसका महत्त्व भाषा की शक्ति में केन्द्रित होकर उसके प्रभाव को द्विगुणित कर देता है। वह उसके भावों और विचारों की वाहक होकर उसके प्रतिपादन की पद्धति पर आश्रित रहती है। न केवल भाषा में उसके भाव प्रतिफलित होते हैं प्रत्युत् भावों के अनुरूप उसकी भाषा भी इस बिन्दु से सुदूर बिन्दुओं की ओर अग्रसर होती रहती है और विषय को उपयोगी बनाती चलती है।

कोई भी दक्ष लेखक भाषा का क्रीतदास नहीं वरन् भाषा ही उसकी अनु

वर्तिनी होती है। उसकी सूझ उसकी गम्भीरता विचार-अनुक्रम और मस्तिष्कीय उद्भावनाओं की अमिट छाप उसकी भाषा और शैली पर स्पष्ट अंकित हो जाती है। अनजाने ही वह लिखता जाता है और भाषा चुपके-चुपके उसकी सृजन-शक्ति और प्रतिभा के अनुकूल ढलती चलती है। बेकन ने लिखा है

"अच्छे लेखक अधिक नहीं पढ़ते अपितु जो पढ़ते हैं उसे पचाते अधिक हैं। व्यापक अध्ययन—हृदय और मस्तिष्क में ओतप्रोत होकर—भावी साहित्य-साधना में सहायक होता है किन्तु जिन्हें हम पढ़ते हैं उनका अन्ध अनुवर्ती होना हमारी बौद्धिक हीनता का द्योतक है।

लेखक इतस्ततः पढ़कर और अध्ययन करके ही तत्कालीन विचारधारा को अपने कृतित्व में उतारता है, केवल उसका लिखने का ढंग मौलिक होना चाहिए। अपनी सौंदर्य की अभिव्यक्ति को वह भाषा के औचित्य और सृजन की अदम्य शक्ति से परिपुष्ट कर सकता है।

कहानी के उदात्त तत्त्व

प्लॉट, चरित्र-चित्रण वार्तालाप और शैली के प्रमुख अंगों के अतिरिक्त कहानी में कुछ ऐसे उदात्त तत्त्व भी निहित होने चाहिए जो पाठक में सद्भाव और उदात्त विचार उत्पन्न कर दें। कहानी समाप्त करते ही वास्तविक परिस्थितियों की गहराइयों में डूबी हुई जीवन के सत्य की ऐसी जाज्वल्यमान रेखाएँ उसके समक्ष विकीर्ण हो जायें जिसमें वह अन्तःप्रेरणा की शाश्वत शक्ति को उद्बुद्ध कर सके।

कहानी मनुष्य के जीवन की व्याख्या है। उसका मूल आधार मनोविज्ञान है। वह जीवन के क्रमात्मक सत्य मनुष्य के मन की ग्रंथियों उसके प्रच्छन्न भाव मानसिक ऊहापोह, उलझन अन्तर्संघर्ष एवं विकारग्रस्त कल्पनाओं को मनोविश्लेषणात्मक पद्धति पर उघाड़-उघाड़ कर दर्शाती है। जीवन रहस्य के सहस्रों परमाणु उसकी परिधि में सिमटे रहते हैं, कथा-लेखक को तो उन्हें ठीक से सँवारने-सजाने की मात्र स्मरण है। कहानी में निहित उदात्त विचारों से आत्मतुष्टि तो होती ही है, साथ ही जीवन के अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर भी प्रकाश पड़ता है।

कहना न होगा—कहानी को उदात्त बनाने के लिये उसका सजीव गठन अनिवार्य है। जैसा उसका आरम्भ प्रभावात्मक हो वैसा ही उसका अन्त भी स्वस्थ और सुन्दर होना चाहिए। इसके अतिरिक्त कहानी में घटना-क्रम परिस्थितियों का विश्लेषण भाव-व्यंजना उद्देश्य आदि भी ऐसा होना चाहिए जो कहानी के प्रसार-क्रम को शिथिल न होने दे।

कहानी साहित्य की आधारशिला है। उसमें सदा से ही अतीत जीवन की झाँकी मिलती रही है यही कारण है कि प्रत्येक देश की प्रत्येक जाति में चाहे वह सभ्य हो या असभ्य कहानियों का प्रचलन रहा है।

विश्वकथा-साहित्य में भारतीय-साहित्य के ऋग्वेद, उपनिषद् जातक आदि

के दृष्टान्त, उपाख्यान तथा ग्रीस में प्रस्तर खण्डों पर खुदी प्राचीन गाथाओं को छोड़ कर ग्रीक और लैटिन कहानियाँ ही सबसे प्राचीन मानी जाती हैं जिन्होंने सारे यूरोप में कहानी-साहित्य का सूत्रपात किया है। ईसा से चार शताब्दी पूर्व हिरोडोटस की पुस्तक में ईजिप्ट की दिलचस्प कहानियों का उल्लेख मिलता है जो बहुत कुछ भारतीय कहानियों का किंचित् परिवर्तित रूप ही कही जा सकती हैं।

चौदहवीं शताब्दी में इटली में बोकेशियो की कहानियाँ पढ़कर इस ओर लोगों की अत्यधिक अभिरुचि हुई। उसकी अनेक कहानियाँ फ्रेंच भाषा में अनूदित हुईं और उनका इतस्ततः प्रचार किया गया। शनैः-शनैः इन्हीं अनुवादों से मौलिक कहानियाँ लिखने की भी प्रेरणा प्राप्त हुई।

हमारे साहित्य में आधुनिक लघु कथाएँ लिखने की प्रथा पश्चिम से आई है, यों यह बात नहीं कि हमारे यहाँ अपना कथा-साहित्य था ही नहीं। संस्कृत में हमारे प्राचीन धर्मग्रन्थों के रोचक आख्यानों के अतिरिक्त 'हितोपदेश' 'पंचतन्त्र' कथा सरित्सागर' 'बृहत्कथा मंजरी' 'दशकुमार चरितम्' 'कादम्बरी' आदि स्वतन्त्र कथा-ग्रंथों की भी रचना हुई जिनका प्रभाव न केवल भारतीय भाषाओं पर ही पड़ा वरन् मध्य एशिया के अन्य देशों की भाषाओं पर भी देखा जाता है।

हिन्दी में वर्तमान छोटी कहानी अंग्रेजी से बंगला और बंगला से हिन्दी में आई है जैसे यहाँ 'रानी केतकी की कहानी' 'नासिकेतोपाख्यान' आदि कुछ पुराने ढर्रे की कहानियाँ पहले से ही लिखी जाती रही हैं, पर उन कहानियों में और आज की कहानियों में आकाश-पाताल का अन्तर है।

चमत्कारपूर्ण विस्मयोद्बोधक प्रणाली से किसी उपदेश विशेष की योजना अथवा किसी-न-किसी रूप में मजेदार किस्से-कहानी कह कर पाठकों का मनोरंजन करना उन पुरानी कहानियों की विशेषता थी। उनमें अद्भुत तत्त्व का अंश अधिक और मानवीय भावनाओं का विश्लेषण कम था। जीवन अपनी स्थूलता में जिन तथ्यों को उभार कर रखता है उनसे परे आन्तरिक परिस्थितियों और पहलुओं की व्याख्या न की गई थी। किन्तु आज की कहानी जीवन और जीवन-मर्म की विश्लेषक है। यह महत्त्वपूर्ण समस्याओं को हल करने का एक महान् साधन बन गई है।

उन्नीसवीं शताब्दी से विश्व-साहित्य में कहानियों का विशेष प्रचलन हुआ है। रूस फ्रांस इंग्लैंड आदि के सुप्रसिद्ध कहानी-लेखक दॉस्तोएवस्की टालस्टाय तुर्गनेव) चेखव मैक्सिम गोर्की बालजाक मोपासाँ गाई-डी पियेरलोटी डिकेंस हार्डी वेल्स किप्लिंग सार्लेट ब्रेट. हार्टी आदि ने युगान्तर उपस्थित कर दिया और इन्हीं के अनुकरण पर छोटी कहानियाँ अर्थात् 'शॉर्ट स्टोरी' लिखी जाने लगी।

सन् १९० में 'सरस्वती' में किशोरीलाल गोस्वामी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी 'इन्दुमती' प्रकाशित हुई। किन्तु यह भी शेक्सपीयर के नाटक 'टेम्पेस्ट' के कथानक के आधार पर लिखी गई थी। इसके बाद अनेक रूपान्तरित और अनूदित कहानियों के अलावा बंग-महिला की 'दुलाई वाली' मौलिक कहानी छपी जिसे

आधुनिक कहानी का प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है। सन् १९११ में जयशंकर प्रसाद की 'ग्राम' कहानी 'इन्दु' में प्रकाशित हुई और इसके बाद काफ़ी संख्या में कहानियाँ छपने लगीं।

उन दिनों सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में जो कहानियाँ प्रकाशित होती थीं उनमें मौलिकता के चिह्न होते हुए भी प्रतिभा का विशेष चमत्कार और जीवन की सूक्ष्म वास्तव परिस्थितियों का ज्ञान न था। अधिकांश कहानियाँ दैवी घटनाओं प्रेमाख्यानक कथानकों और उपदेशात्मक विषय से भरी होती थीं। कहानी की टेक्नीक भी शिथिल थी। वर्णनात्मक शैली में अस्वाभाविक रूप-कल्पना जिसमें विविध मनोरंजक घटनाओं का संकोच-विस्तार और अजीब पेंचीदा गुत्थियाँ सुलझती चलती थीं पाठकों को चकाचौंध कर देती थीं। उनसे वास्तविक जीवन का संभाव कोसों दूर था।

हिन्दी कथा-साहित्य में जब इस प्रकार की विशृंखलता और अराजकता-सी फैली थी तथा तत्कालीन उपन्यासकार और कहानी-लेखक बाह्य एवं अस्वाभाविक प्रसाधनों का आश्रय लेकर कल्पित कृत्रिम और कौतूहलपूर्ण ऊटपटाँग किस्से कहानियाँ गढ़ रहे थे उस समय प्रेमचन्द ही सर्वप्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने कहानी और उपन्यास क्षेत्र में युग-प्रवर्तक का कार्य किया। मानव-जीवन के सार्वजनीन चित्र प्रस्तुत करते हुए उन्हीं की नित्यप्रति की अनुभूतियाँ उन्हीं के चरित्र के विविध आकर्षक पहलू साथ ही आदर्श-अनादर्श धर्म-अधर्म पाप-पुण्य के अन्तर्द्वन्द्व के बीच सद्वृत्तियों की विजय दिखाकर यथार्थ जीवन के तथ्यों का सत्यान्वेषण उनके कृतित्व में मिलता है। प्रेमचन्द की विशेषता है कथानक सामान्य होते हुए भी अपनी वर्णन पटुता और रोचक शैली से उसे सजीव बना देना। वे उर्दू से हिन्दी में आए थे अतएव उनकी भाषा में अदभुत ओज और स्वाभाविकता है। व्यावहारिक और मुहावरेदार शैली ने उनकी भाषा में जान फूंक दी है। ग्रामीण जीवन के चित्रण में उनकी वृत्ति असाधारण रूप से रमी है। लगता है लेखक ने देहाती जीवन के विविध दृश्यांकन प्राणों के रस से सींचे हैं। 'प्रतिज्ञा' 'वरदान' 'सेवासदन' 'प्रेमाश्रम' 'रंगभूमि' 'कर्मभूमि' 'निर्मला' 'गबन' 'कायाकल्प' 'गोदान' 'मंगलसूत्र' आदि उनके प्रसिद्ध उपन्यास और 'प्रेमद्वादशी' 'प्रेमपचीसी' 'प्रेमप्रसून' 'पंचफूल' 'कफ़न' 'सप्तसरोज' 'नवनिधि' 'प्रेरणा' 'मानसरोवर' आदि उनके कई कहानी संग्रह हैं।

हिंदी में प्रेमचन्द जब से कहानी-साहित्य में अवतीर्ण हुए तभी से कहानी की धारा बदली। पाश्चात्य कहानियों के सदृश ही उन्होंने जीवन की यथार्थ परोक्ष अभिव्यक्ति को कला में स्थापित किया और चेतना को व्यापक बना उसकी स्थायी भीतरी शक्तियों को पहचाना।

प्रेमचन्द की कहानियाँ महत्त्वपूर्ण जीवन-विश्लेषक चित्र हैं जिनमें समाज के

पूर्णता होने के नीचे मध्यमवर्ग निम्नवर्ग की द्वन्द्वात्मक जीवन-परिस्थितियों के छोटे छोटे करुण दृश्य अंकित किये गए हैं। बहुत ही मार्मिक व्यंजक और हृदय को हिला देने वाले गरीबों बेकसों किसान और निर्धन जनता की आशा-आकांक्षाओं के डूबते-उतराते ये सजीव सुन्दर दृश्यचित्र हैं जो पाठकों को मुग्ध कर देते हैं।

प्रेमचन्द के कृतित्व में जो जीवन-सम्पर्क और सहानुभूति है, कल्पना की मनोरमता के साथ-साथ मानव-स्वभाव का सूक्ष्म विश्लेषण और वैचित्र्य है उसी के कारण वे उपन्यास-सम्राट् और आधुनिक हिन्दी कहानी के जन्मदाता कहे जाते हैं।

प्रेमचन्द के पश्चात् जयशंकर प्रसाद ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा से हिंदी कथा-साहित्य को एक नवीन ओज और चेतना प्रदान की है। उनकी कहानियाँ सांस्कृतिक भावनाओं से युक्त मानवीय मनोभावों का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करती हैं। कभी उनकी प्रतिभा इतिहास की गौरव-गरिमा में रम जाती है कभी अतीत की रंगीनियाँ उन्हें आकृष्ट करती हैं और कभी जीवन का गम्भीरतम सत्य कण-कण हो उनके सामने बिखर जाता है।

कथानक टेक्नीक कला-शिल्प तीनों ही दृष्टियों से उनकी कहानियाँ उत्कृष्ट बन पड़ी हैं। उनमें रंजनकारी कल्पना और अन्तस्साधना है जो पाठकों को विस्मित कर देती है। प्रसाद बौद्ध-संस्कृति से प्रभावित हैं साथ ही उनमें रहस्य-भावना और संश्लेषणात्मक बुद्धि भी है। कहानियों में एक संवेदनशील स्रष्टा और गम्भीर चिंतक के रूप में वे हमारे सामने आये हैं।

प्रेमचन्द और जयशंकर प्रसाद के साथ विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' और चन्द्रधर गुलेरी के नाम भी ऐतिहासिक महत्त्व रखते हैं। गुलेरी जी ने केवल तीन कहानियाँ 'सुखमय जीवन' 'उसने कहा था' और 'बुद्धू का काँटा' लिखी और अमर हो गये। 'उसने कहा था' कहानी इतनी प्रसिद्ध हुई कि सभी उत्कृष्ट कहानी संग्रहों में उद्धृत की गई। उनकी भाषा सरल स्पष्ट और मुहावरेदार है। बीच-बीच में पंजाबी और उर्दू शब्दों के सुन्दर सम्मिश्रण और सामंजस्य से वह सहज व्यंग्यात्मक हो गई है। उनकी निरीक्षण शक्ति कलापूर्ण और कहानी कहने की प्रणाली निराली है। उनकी कहानियों में सामान्य जीवन के संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण और क्रम-विकास से अद्भुत सौंदर्य की सृष्टि होती है जो हिन्दी की कहानियों में बहुत कम मिलती है।

इनकी सुप्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' में एक छोटी सी सामान्य घटना को लेकर जो अन्तर्द्वन्द्व चलता है, कहानी के अन्त में उसका सम्पूर्ण चित्र सामने आ जाता है। उसके भाव-गुम्फों में संवेदना की गहरी कचोट मानसिक संवेग तथ्यों से उभरी स्मृति-विस्मृति की अंतर्दशाओं का सूक्ष्म विश्लेषण साथ ही कल्पना की परिष्कृति एवं अभिरुचि की पूर्ण समन्विति दृष्टिगत होती है। कहानी मर्म को छूती हुई अमिट रूप से मस्तिष्क पर छा जाती है।

कौशिक जी की कहानियाँ चरित्र प्रधान हैं। उनकी सर्वोत्तम कहानी 'ताई' में ताई के मन का अचानक परिवर्तन दिखाया गया है। इन्हीं के समकालीन कहानी लेखकों में विश्वम्भरनाथ जिज्जा, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, चतुरसेन शास्त्री, ज्वालादत्त शर्मा, चण्डीप्रसाद 'हृदयेश', श्री सुदर्शन, गोविन्दवल्लभ पन्त, राय कृष्ण दास और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने भी वातावरणप्रधान व्याख्यात्मक कहानियाँ लिखी हैं।

श्री जिज्जा ने अनेक सुन्दर कहानियाँ लिखीं, पर विषम परिस्थितियों की चोट से उनकी प्रतिभा बीच में ही मुरझा कर रह गई। राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह की कहानियों पर बंगला गद्य-शैली का स्पष्ट प्रभाव है। कहानियाँ वर्णनात्मक होते हुए भी स्वानुभव और जीवन के सत्य से अनुप्राणित हैं। कुछ हास्यमय मिश्रित प्रसंगों की पुलक, आकर्षक सरलता और खास भाव-अंदाज लिये हैं। चतुरसेन शास्त्री ने कहानियाँ अधिक परिमाण में लिखी हैं। विभिन्न मानव-मनोवृत्तियों, दृश्यों और समस्याओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए उन्होंने बौद्धकालीन, मुगलकालीन और राजस्थानी जीवन-चित्रों को साकार किया है। शाही हरम और रजवाड़ों के प्रच्छन्न दृश्य उनके कलम के जादू से जीते जागते पेश हुए। 'दुखवा मैं कासों कहूँ मोरी सजनी' आदि उनकी अनेक कहानियाँ अत्यन्त प्रसिद्ध हुईं। ज्वालादत्त शर्मा ने अपनी कहानियों में जीवन के सरस मर्मस्पर्शी चित्र आँके हैं। श्री 'हृदयेश' और सुदर्शन की कहानियाँ स्फूर्तिप्रद और कलात्मक सौंदर्य से पूर्ण हैं। गोविन्द वल्लभ पंत, रायकृष्णदास और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने इस प्रकार की कथानक-प्रधान कहानियाँ लिखी हैं जिनमें वातावरण का चित्रण और प्रसंगों की अवतारणा स्वाभाविक ढंग से होती है।

जासूसी और रहस्यपूर्ण कहानियों में गोपालराम गहमरी और दुर्गाप्रसाद खत्री द्वारा रचित कहानियाँ और हास्यरस-प्रधान में जी० पी० श्रीवास्तव की कहानियाँ उल्लेखनीय हैं। पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने अधिकांश यथार्थवादी कहानियाँ लिखीं जिनमें वेश्याओं, गुण्डों, भिखारियों आदि के चित्रण के कारण सुरुचि की रक्षा नहीं हो पाई। इनकी लिखने की शैली भी विशेष व्यंजक और उग्र है।

दूसरे दौर के कहानीकारों में वृन्दावनलाल वर्मा, जैनेन्द्रकुमार, आचार्य शिव पूजन सहाय, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, विनोदशंकर व्यास, राजेश्वर प्रसाद सिंह, जना र्दनप्रसाद झा 'द्विज', मोहनलाल महतो 'वियोगी', वाचस्पति पाठक, दुर्गादास भास्कर, इलाचन्द्र जोशी, ऋषभचरण जैन और पृथ्वीनाथ शर्मा आदि विशेष प्रसिद्ध हुए।

जैनेन्द्रकुमार ने कथा-क्षेत्र में एक नूतन विश्लेषणात्मक पद्धति को लेकर प्रवेश किया जिसमें विषय की गहराई में पैठकर पात्रके अन्तर्पीड़ा को टटोलने की क्षमता थी। उनके सहयोग से कहानी अपेक्षाकृत चिंतन की प्रौढ़ता और समग्र भीतरी चेतना की ओर उन्मुख हुई। इस ओर प्रेमचन्द को छोड़ कर समसामयिक कहानीकारों का ध्यान बहुत कम आकृष्ट हुआ था।

जैनेन्द्र में प्रखर बौद्धिकता के साथ-साथ मौलिक दृष्टिकोण और निष्पक्ष

दृष्टि-निक्षेप की कला है। एक साहसी निर्भीक कहानीकार के रूप में मिथ्या और धार्मिक शिष्टाचार से हटकर उन्होंने मानव-जीवन को यथातथ्य परिस्थितियों में डाल कर देखा है और कहानी में व्यास्यात्मक तत्त्वों को समाविष्ट कर उसका मार्ग प्रशस्त किया है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता है तथ्यान्वेषण और गम्भीर विवेचनात्मक चिन्तन। जीवन की जटिल गुत्थियों को बहुत सहज ढंग से उन्होंने कहानी में गूंथा और मानव-मन की अज्ञात एषणाएँ, उसके अभ्यन्तर में प्रतिपल उठते हुए विचारों उद्वेगों और असामान्य चिन्तनाओं को नवीन मानवीय संदर्भों से परख कर बौद्धिक रूप दे दिया।

इसके विपरीत वृन्दावनलाल वर्मा की कथा-शैली में एक ऐसी सर्वग्राहिणी मनोरंजकता है जो पाठकों का ध्यान बरबस आकृष्ट करती हुई उनके भीतर संवेदना और सहानुभूति जगाती है। तार्किक असंभावनाओं को अपनाकर बाह्य परिवेशों के आलोड़न-विलोड़न ऊपरी सतह को इतना फेनिल बना देना जिससे नीचे की गहराई तक जाये अथवा अच्छे-बुरे, सत्-असत् जीवन-उपकरणों को मनोविज्ञान की कसौटी पर कस कर कथा-साहित्य मे पर्यवसित करना इनका स्वभाव नहीं है वरन् इन्होंने जीवन को सर्वांगीण रूप में अपनाया है उसके सरल सच्चे रूप की व्याख्या की है और बनावटी गम्भीरता से हटकर जीवन के वैविध्य में झाँका है।

इनकी भाषा और भाव सरल हैं। कारण—केवल शहरी कुंठाओं के दाँवपेंच तक ही ये सीमित न रहे अपितु बुन्देलखंड और मध्यप्रदेश के पर्वत-पठार, नदी-नाले झील-तालाब मन्दिर-मठ, पेड़-पौधे हरे-भरे जंगल चरागाह और मकान यहाँ तक कि मेले-उत्सव माघ-मास और पर्व-त्योहार तक से उन्हें लिखने की प्रेरणा दी। समय के साथ ज्यों-ज्यों उनका दृष्टिकोण विकसित होता गया भारत की सामाजिक संस्कृति को समझने के लिए उन्हें इतिहास की गहराई में उतरना पड़ा। उनका प्रत्येक वर्णन प्रत्यक्ष मूल्यांकन हृदय का सहज उद्वेग है। पारिवारिक जीवन का चित्रण विभिन्न ग्रामीण स्त्री-पुरुषों बच्चों-बूढ़ों का स्वभाव रहन-सहन बातचीत सभी कुछ स्वाभाविक ढंग से इनके उपन्यास और कहानियों में मिलते हैं। इतिहास के गौरवमय अतीत में झाँक कर देखने के कारण इन्होंने अपने अदम्य आत्म-विश्वास और प्रवाहमयी कल्पना से अनेक ऐतिहासिक घटनाओं को कथा-सूत्र में बाँध दिया है।

आचार्य शिवपूजन सहाय बिहार के प्रमुख कहानीकारों में हैं जिनमें मौलिक प्रतिभा और असाधारण सूझबूझ है। इन्होंने अपनी कहानियों में जीवन के सरल और परिपक्व चित्र खींचे हैं। भाषा गम्भीर और संयत होती है। लिखने की शैली सुगठित सुष्ठु और कलापूर्ण है। इन्होंने न केवल कथा-साहित्य की सर्जना की वरन् अनेक लेखकों को प्रेरणा और प्रोत्साहन भी दिया।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी की कहानियों में मार्मिक व्यंजना के साथ-साथ गम्भीर चिन्तन और भाव-प्रवणता है। जीवन की साधारण घटनाओं को अपनी सहज मार्मानुभूति से इन्होंने अधिकाधिक व्यावहारिक और रोचक बनाया है। भाषा सरल और

विषय के अनुरूप बदलती चलती है। विनोदशंकर व्यास ने अपनी छोटी-छोटी कहानियों में जीवन के विविध दृश्यों को कौशल से अंकित किया है। कथाएँ और कहानियों के वर्ण्य-विषय अनेक स्रोतों से संकलित किये गए हैं।

राजराजेश्वर प्रसाद सिंह की कहानियों में अनावश्यक विस्तार होता है जिससे कहानी नीरस और असंतुलित हो जाती है। जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' की छोटी-छोटी कहानियाँ भावपूर्ण और सरस हैं। कविताओं में जो तल्लीनता और रस है वही कहानियों में फूट पड़ा है। अनेक कहानियों में इनका आलोचक का दृष्टिकोण है। जीवन के उषःकाल से आज तक जो संस्कार इन्होंने अर्जित किये वे कहानियों में रम कर समय-समय पर प्रकट हुए। सामाजिक आचारों-अनाचारों की भर्त्सना भी यत्र-तत्र मिलती है। कवि होने के कारण मोहनलाल महतो 'वियोगी' की कहानियों में भी शैली-वैचित्र्य और रस-विधान का अद्भुत सामंजस्य है। भाषा सरल रोचक और प्रौढ़ है। कहानियों के वर्ण्य-विषय दृश्य और चरित्रों में मानव-जीवन का सरल विवेचन मिलता है। सरलता सहृदयता और मानवीयता के साथ-साथ इनकी कहानियों में हल्का आक्रोश उद्वेग और स्वाभिमान भी है जो विविध अनुरंजन लिये है। वाचस्पति पाठक और दुर्गादास भास्कर साधारणतः अच्छी कहानियाँ लिखते हैं। इलाचन्द्र जोशी कहानी-क्षेत्र में अपना एक निराला व्यक्तित्व लेकर प्रकट हुए। मानव-मनोभावों में पैठकर वातावरण और परिपार्श्विक परिस्थितियों के सजीव चित्रण से कहानी को अनुप्राणित करने की कला में ये सिद्धहस्त हैं। ऋषभचरण जैन और पृथ्वीनाथ शर्मा ने सरल व्यावहारिक भाषा में अनेक सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं।

सन् १९२८ से हिन्दी में कहानियों का कुछ ऐसा जोर बढ़ा कि अनेक कवियों का ध्यान भी इस ओर आकृष्ट हुआ। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' सियारामशरण गुप्त सुमित्रानन्दन पन्त भगवतीचरण वर्मा आदि लब्धप्रतिष्ठ कवियों ने अनेक भावपूर्ण सरस कहानियाँ लिखीं। कुछ कहानीकार विभिन्न पाश्चात्य 'वादों' से प्रभावित हो नवीन दृष्टिकोणों को लेकर प्रकट हुए और उन्होंने कथा-साहित्य को स्फूर्ति और नवीन क्रांतिकारी चेतना प्रदान की। सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' उपेन्द्रनाथ अश्क यशपाल रांगेय राघव विष्णु प्रभाकर, आनन्दप्रकाश जैन चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, मोहनसिंह सेंगर, नलिन विलोचन शर्मा अनंत गोपाल शेवड़े राधी 'भिक्षु 'निर्गुण' रेणु' आदि की कहानियों में एक परिमाणमय क्रम है जो मानसिक प्रक्रियाओं के मूक आदान-प्रदान द्वारा एक क्रांतिकारी दृष्टिकोण उपस्थित करता है। कहीं-कहीं इनकी अभिव्यक्तियों में गहरी खीझ और कटुता है। सामाजिक संघर्षों की चोट ने उन्हें तीखा बना दिया है जिससे परम्परागत संस्कारों एवं सामाजिक कुरीतियों पर उनके वर्णनों में कहीं-कहीं भीषण विद्रूप बन उठता है। ऐतिहासिक कहानियों की दिशा में आनन्दप्रकाश जैन ने विशेष सफलता प्राप्त की है।

स्त्री कहानी-लेखिकाओं में शिवरानी प्रेमचन्द, सुभद्राकुमारी चौहान तेजरानी पाठक उषादेवी मित्रा होमवती कमला चौधरी कमला त्रिवेणी शंकर, चन्द्रावती

चन्द्रप्रभा जैन कंचनलता सब्बरवाल कुँवररानी तारादेवी रामेश्वरी 'चकोरी' हीरा देवी चतुर्वेदी कृष्णा सोबती तारा पाण्डेय, विमला देवी सत्यवती मल्लिक तारा पांडेय सुशीला आर्य और चन्द्रकिरण सौनरिक्सा के नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन सभी कहानी लेखिकाओं ने प्रायः पारिवारिक जीवन और हिन्दू-समाज में नारी की दारुण स्थिति का दिग्दर्शन कराया है। पुरुष की क्रूरता और स्वेच्छा भावना ने नारी को कुचला और रौंदा है। सुभद्राकुमारी चौहान की भाषा में ओज स्फूर्ति और भावावेग है। उन्होंने भिन्न-भिन्न दृश्यों घटनाओं का चित्रण किया उसकी पूरी झाँकी आँखों के समक्ष प्रस्तुत कर दी। सीधे साथ चित्र' 'बिखरे मोती' और 'उन्मादिनी' उनके महत्त्वपूर्ण कहानी संग्रह हैं। उषादेवी मित्रा कमला चौधरी और तारा पांडेय ने अनेक व्यंजक मर्म स्पर्शी कहानियाँ लिखीं। नारी-सुलभ करुणा और वात्सल्य इनकी कहानियों में सर्वत्र मिलता है। होमवती जी ने अधिकतर सरल व्यावहारिक प्रणाली अपनाई और सम्पर्क में आये चिर-परिचित व्यक्तियों की करुण कहानी साधारण रोजमर्रा के कार्यक्रम में घटने वाली घटनाएँ और सामान्य प्रसंग ही लिये हैं। नारियों न सदियों बाद सूक्ष्माकांक्षा तो जागी पर पुरुषों के प्रति घोर प्रतिक्रिया और आक्रोश के भाव ने उन्हें सर्वथा एकांगी बना दिया। फलतः उनके साहित्य में अन्तर्बाह्य का आलोड़न कम गहरी चीख और कटुता का भाव अधिक है। पुरुषों की उद्दाम स्वेच्छा भावना ने जो उन्हें सदा कुचला और रौंदा है उससे व उनके प्रति सन्तुलन न्याय और निष्पक्षता नहीं बरत सकी हैं। अपनी अधिकांश कहानियों में उन्होंने नारी की विवशता और समाज में उसकी दारुण स्थिति का तो दिग्दर्शन कराया पर व जीवन के उस परिमाणमय रूप को उस व्यापक दृष्टि से नहीं आँक सकी जैसा कि विश्व साहित्य की नारियों के कृतित्व में देखा जाता है।

पर आज के संघर्षों ने कुछ नई लेखिकाओं—शीला अवस्थी रजनी पन्निकर रत्नमयी दीक्षित शकुन्तप्रभा रानी पुष्पावती शोभा मीरा मन्नू भंडारी कृष्णा प्रियंवदा रत्नकुमारी इन्दुमती प्रेमलता दीप शीला शर्मा शकुन्तला शर्मा शकुन्तला सरन रामेश्वरी शर्मा आदि को इस ढंग से उकसाया है कि वे नई टकनीक को लेकर अग्रसर हो रही है। पुरुष से बराबरी का दावा करने वाली बनकर निश्चय ही वे उस रफ्तार बेदर्दी में विश्वास नहीं कर सकती जो सच्चे अर्थों में उनकी स्वत्व-स्वाधीनता पर कुठाराघात करे। अतएव कितनी ही सामयिक समस्याओं और ऊहापोहों ने उनके मूल तन्तुओं को हिला दिया और वे पारिवारिक परिधि से सामाजिक चेतना की ओर उन्मुख हुई। भ्रम मोहजाल को छिन्न-भिन्न करके उन्होंने मर्मस्पर्शी व्यंजक चित्रों की अभिव्यक्ति की। इन सभी लेखिकाओं में चन्द्रकिरण सौनरिक्सा में गहरी कचोट और ओजस्वी व्यंजना है। गृहस्थ की वास्तविकता को सूक्ष्म कोमल भावजगत् तक सीमित न रख कर इन्होंने पार्थिव अस्तित्व की परिधि में बाँध दिया है। आज की कसमसाती विषम परिस्थितियाँ जटिल समस्याएँ, भेदभाव अनैक्य और कुण्ठा-ग्रन्थियों के कारण अशांत उद्वेलित और असंतुष्ट मानव-जीवन का यथार्थ चित्रण इनकी कहानियों की विशेषता है। इन्होंने जीवन के

तल को स्पर्श किया है। कल्पित 'कैनवस' पर असहाय जीवन और ह्रासोन्मुख समाज के आचार-अनाचार और दयनीय अवस्था के सजीव सूक्ष्म कुशलता से आँके हैं।

ज्यों-ज्यों कथाकार की आंतरिक संवेदना उसके वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की शर्त बनती गई समय परिवर्तन के प्रवाह में बहकर उसके कथ्य की निष्ठा नये ढंग से विकसित होती गई। जितने ही जटिल प्रश्नों की गहराई में घुसकर वह उनका समाधान ढूंढने लगा। यहाँ तक कि निजी प्रवृत्तियों एवं परिवेश से परिचालित उसने नये-नये निष्कर्ष निकाले। परिस्थितियों की विषमता एवं तनावों ने न सिर्फ उसे बुद्धिजीवी एवं विद्रोही बनाया बल्कि हिमाकत और हठधर्मी भी उसमें हद दर्जे की बढ़ती गई। कोई फ्रायडीय तो कोई अस्तव्यस्ततावादी कोई प्रगतिशील या यथार्थोन्मुख वस्तुपरकता का कायल तो कोई प्रयोगों की बहक में निरपेक्ष स्वतन्त्रता बरतनेवाला —चाहे जैसे भी हो—नई पीढ़ी के नये कहानीकारों ने मानवीय विकासबोध की नई उपलब्धियों को नई अर्थवत्ता में ग्रहण किया—यों इस द्वन्द्वमयी संक्रमणकाल में 'इन डिविजुएल टेस्ट' अर्थात् अहम्मन्यता ही उसमें अधिक आयी। राजेन्द्र यादव कमलेश्वर सिंह दुग्गल परदेशी पहाड़ी मार्कण्डेय जनार्दन मुक्तिदूत कमलेश्वर, हृषनाम सर्वेश्वर दयाल ओंकारनाथ श्रीवास्तव निर्मल वर्मा शरचन्द्र शरद् अमरकान्त शेखर जोशी रघुवीर सहाय मन्मथ रामस्वरूप शर्मा उचित शाह, रणवीर सिन्हा नरेश आदि अभिनव प्रवृत्ति के कतिपय कहानी-लेखक सर्वथा नये निर्माण का आग्रह लिये हैं जबकि प्रगतिवादी कथाधारा के अन्तर्गत अमृतराय अमृतलाल नागर, कृष्णचन्द्र नागार्जुन प्रभाकर माचवे मरोराम नागर हंसराज 'रहबर' भीष्म साहनी भैरव प्रसाद गुप्त केशवप्रसाद मिश्र मेहन्दी रत्ता आदि ने जनजीवन के व्यापक द्वन्द्व-संघर्ष को चित्रित करने के प्रयत्न किये पर उनके मूल्यांकन व सामाजिक आदर्शों के विधान से बहुत लोग सहमत न हो सके। फिर भी पाश्चात्य कथा-साहित्य की विविध शैलियों जैसे पत्र कथा लघु कथा डायरी रिपोर्ताज स्केच हास्य-व्यंग्यात्मक कहानी किस्सों ने उसका पथ प्रशस्त किया।

अब तक कहानी काफी विकसित स्थिति में पहुँच गई है। उसकी टक्नीक में भी अपेक्षाकृत आकाश-पाताल का अन्तर हुआ है। कहानी की कथन-पद्धति में पहले का-सा अल्हड़ता वैविध्य नहीं है वरन् विषय-चयन में नूतनता और वैविध्य पाया जाता है। कहानियों में अनेक नूतन प्रयोग किये गए हैं। नई-नई समस्याएँ और नये-नये आदर्श उनमें साकार हो उठे हैं और उनका उद्देश्य एकांगी एवं एकदेशीय न होकर बहुमुखी हो गया है। यथार्थ जीवन के चित्रण के साथ-साथ मन के गूढ़तम प्रच्छन्न स्तरों मानव चरित्र के विभिन्न पहलुओं उनके व्यक्तित्व में गुथे ऐसे द्वैत, फलतः विसंगतियों जो उनसे कराती कुछ और कहलाती कुछ हैं असामान्य चितनाओं, आन्तरिक उहापोहों और अज्ञात अन्तर्ग्रन्थियों में भी झाँकने का प्रयास किया गया है।

आज की कहानी सस्ते रोमांस से हट कर मनोवैज्ञानिक बारीकियों पर आ टिकी है। प्रतिदिन की बेतरतीब उलझनें हमारी जीवन-यापन की अविरल अस्थिरता

परेशानी, व्यस्तता और हाहाकार तथा मानवीय भावनाओं की मनोविश्लेषणात्मक व्याख्या कथा-साहित्य की जीवन्त शक्तियों को अधिकाधिक उद्बुद्ध कर रही है जिससे अब तक की भ्रष्ट मनःस्थिति और परम्परागत संस्कार, मानसिक और बौद्धिक बंधन, कसक और बेचैनी, उलझन और प्रश्नभूमियाँ सच्ची जागृति के मूल में—एक व्यापक स्तर पर—जागरूकता और दृष्टि की पैठ उकसा रहे हैं और संकुचित प्रवृत्तियाँ दबाकर जीवन के हर कोण और पहलू पर गौर करके उसकी निर्माण प्रक्रिया का दायरा विस्तृत कर विश्व-साहित्य से होड़ ले सकने वाली लोकोत्तर सृजन की शक्ति जगा रहे हैं।

४

नई औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ

हिन्दी उपन्यास इधर पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति के साथ कई मंजिलों से गुज़रा है किन्तु कतिपय ह्रासोन्मुखी धाराएँ जो नवीनतम या अत्याधुनिक कला-टक्नीक का रूप धर कर हमारे बीच जोर पकड़ती जा रही हैं उनसे कितने ही नये बेबुनियादी पहलू—एक नई अनोखी ताज़गी और ताक़त के साथ—अजीबोग़रीब ढंग से पेश किये जा रहे हैं। इनका मूल्य और सर्वप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है क्योंकि आज के रचना-शिल्प और भाववस्तु के काल्पनिक उपादान जिन मानसिक प्रक्रियाओं के दुर्निवार की ओर आकर्षित हैं उनके उत्स्फूर्त प्रसंगों के वैविध्य में 'परम्परागत' नाम की कोई चीज़ नहीं। छायावादोत्तर काल के लेखकों की गहराई की थाह लेते हुए जो सम्पर्क या विचार हमारे सामने आए, न किसी निश्चित जीवन-दर्शन के दायरे में बन्धी नहीं यों व्यक्तिगत वैशिष्ट्य के अंतर्गत एकदम निजी और वैयक्तिक प्रयोग ही प्रायः मौजूदा उपन्यासों की कसौटी बन गए हैं।

ज्यों-ज्यों परम्परानुमोदित मान्यताएँ एक झटके के साथ अस्वीकारी जा रही हैं एक नये वस्तुतत्त्व एक नवीन जीवन-दर्शन और एक तीखी सी अनपेक्षित सामाजिकता उपन्यास के रूप और शिल्प भावपक्ष एवं कलापक्ष दोनों पर हावी होती जा रही है। ऐसी स्थिति में वे पुरानी कसौटियाँ जिन पर हमें नाज़ है कहीं की कहीं पिछड़ कर दूर जा पड़ी हैं।

यों कहें कि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण काल्पनिक वर्ग-संघर्ष की गुत्थियाँ अथवा वाद-विवादों के चक्कर में उपन्यास को आधुनिकता की ऐसी जकड़बन्दी में कसा है कि जिससे उपन्यासकार के कल्पना-जगत् में एक से एक परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं और इस कारण उसकी कोई एक खास दिशा निर्दिष्ट नहीं हो पाती।

चूँकि समूचा उपन्यास लेखक की कल्पना से ही सिरजा जाता है अतएव भिन्न-भिन्न प्रसंगों घटनाओं और पात्रों की सृष्टि इतनी यथार्थ और मार्मिक होनी चाहिए कि वह पढ़ने वाले को बिल्कुल सच्ची और विश्वसनीय लगने लग। दिल पर वे ऐसे अंकित हो जायें कि जीते-जागते व्यक्तियों की भाँति ही हम उनसे सम्पर्क करें। जैसा चरित्र हो वैसा ही उससे तादात्म्य स्थापित हो जाए, उनकी जीवन समस्याएँ हमारी हों और उनकी यथार्थता हमारे जीवन की यथार्थता बन जाए अथवा

नितान्त विश्वसनीय बनकर हमारे विमोचिमाश पर अपनी अमिट रेखाएँ आँक जाएँ। संघटनात्मक तत्त्वों के साथ ही परिस्थितिगत और परिवेशगत उत्थान-पतनों के निदर्शन के साथ-साथ उपन्यास में यदि निम्न बातों का ध्यान रखा जाए, यथा—

१ किसी पक्ष में अतिरेक की गुंजाइश न हो।

२ मूतन इकाई पर टिक कर अराजकता और अंतर्विरोध की भ्रान्ति में न पड़ें।

३ जीवन कितना बड़ा है, पर देखना है कि उसमें केन्द्रित संश्लनात्मक उपलब्धियाँ या संश्लेषण के तत्त्व कहाँ तक विकसित हुए ?

४ भले ही सीधे समतल पथ के बदले विसंगतियों से गुजरकर विरोधी तत्त्वों के समन्वय के लिए विकास का विषम पथ अपनाना पड़े किन्तु विशाल मूतन क्षितिज के अंतर्गत इस प्रतिक्रिया का एक अटूट और सम्पुष्ट क्रम तो बनता रहना ही चाहिए।

५ पूर्वाग्रह के पाश से मुक्ति का अर्थ है नई अनखोजी दिशाओं में किसी विशिष्ट विचारधारा या खोज का अभियान अन्यथा मौलिक प्रवेश से रहित के क्या मानी हो सकते हैं ?

६ उत्साह की उद्वेलित तरंग से या जीवन्त बौद्धिक सहानुभूति से प्रेरित होकर भव्य एकात्म्य की ओर गति हो तो व्यापक मूल्य चेतना के अंतर्गत वैयक्तिक मूल्यों की अवस्थिति क्या है, कौन से उपादान या साधन-सूत्र हैं और कहाँ से वे उभरते हैं तथा किस माध्यम से उन्हें ग्रहण किया जाता है। लेखक चूँकि एक स्वयम्भू सत्ता है, अतएव उसकी कृति अर्थात् उसके द्वारा रचित उपन्यास कहाँ तक पूर्ण इकाई बन सका है और उसकी विभिन्न व्यष्टियाँ सापेक्षिक और क्यों कर एक दूसरे की पूरक बन पड़ी हैं ? लेखक की सबसे बड़ी आधुनिक विशेषता यह है कि जीवन और जगत् के सत्य को अपने मोहमुक्त स्वानुभूत मौलिक चिंतन द्वारा उपलब्ध करे, क्योंकि गतिमान जीवन में कितने ही उतार-चढ़ाव आते रहते हैं क्षण-क्षण पल पल उसका कुछ बदलता रहता है, लेकिन वह एक तरह से नित्य-सनातन की ही मनोवैज्ञानिक पुनरावृत्ति है।

तो इस अनुभूत साक्षात्कार को सीखने-समझने की भी एक प्रक्रिया है अर्थात् समझकर हृदयंगम करने की एक ऐसी अपराजेय जिज्ञासा जो हर मुड़ने पर नज़र रख कर उसकी तह तक पहुँच जाय और उसके तीव्रतम कशाघातों को महसूस करे। अंत में इस अबाध प्रक्रिया को बरतते-बरतते जब अचानक अंधकार फट जाता है तो आर पार मुक्त प्रकाश में बहुत कुछ उभर आता है। जीवन-समग्र के भीतर भले ही खण्ड रूप में उसे लिया जाय—कोई भी युग-धर्म समस्या आकांक्षाएँ या संघर्ष हो तो वह उसका उचित आकलन करे और सम्पूर्ण सत्य के प्रकाश में देखे। मेरी सम्मति में लेखक का ऐसा सूक्ष्म निरीक्षण और असाधारण मनोवैज्ञानिक अंकन ही कारगर हो सकता है।

कहने का अभिप्राय है कि उपन्यास में जो चीज़ जिस ढंग से सामने रखी जाए उसे वैसा ही ग्रहण कर लिया जाए— सब मान लें क्योंकि किसी उपन्यास की कल्पना वास्तव मात्र नहीं वरन् एक ऐसा यथार्थ है जो अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। यह एक ऐसा सच्चा अनुभव है जो विश्लेषणात्मक युक्तियों से और भी गहराई से समझा जा सकता है। उपन्यास भले ही कल्पना हो या किसी व्यक्ति-विशेष की सहज प्रवृत्तियों की प्रेरणा से लिखा गया कथाख्यान कुछ की नज़रों में वह मानसिक एय्याशी अथवा विश्राम के क्षणों की काल्पनिक सृष्टि भी हो सकती है मगर उसकी अपनी एक निराली दुनिया है जो अपने ही कार्य-कारण के पारस्परिक सम्बन्धों और नियम-उपनियमों से परिचालित होती है। उसके कथाप्रसार में अलग वृत्तियों का निदर्शन और तत्सम्बन्धी वस्तुओं का आभ्यंतर और बाह्य प्रत्यक्ष साकार हो उठता है जिसमें केवल यही अन्तर है कि वास्तविक जीवन में मनुष्य के संकल्प और विकल्प का हाथ रहता है परन्तु औपन्यासिक संस्कृति की निजी मौलिकता में सृष्ट पात्र ही नाना विधियों से वाणी-कर्म द्वारा संघर्ष रूप जीवन के अधिष्ठाता हैं। उनका जीवन परिवृत्त ही नहीं बल्कि पूर्वनिश्चित् और नियमित भी है और उनकी अपनी विलक्षणतापूर्ण सीमाएँ भी होती हैं।

अनुभूतियों और वृत्तियों की अनुरूपता के कारण उनसे अनुभूतियों से प्राप्त सत्यों और निष्कर्षों का ग्राहक भी हम उसे बना सकते हैं। साहित्य की विविध विधाओं के अनुसार उसके अनेक भेद हैं कितने ही रूप और प्रकार हैं जिनमें जीवन चित्रों और भाव-स्थितियों की गतिमयता में बँधा उपन्यासकार अपनी निष्ठा और आत्मविश्वास को उद्भासित करता है।

पर उपन्यास का दृष्टिकोण आज कितना बदल गया है। वह पहले की तरह एकदम कुतूहल की कुंजी अथवा रहस्यमय तिलस्मी अजूबा नहीं है और न ही नूतन संस्कार एवं प्रभावान्विति की दृष्टि से रंग-रेखाओं के हल्के-फुल्के 'स्ट्रोक्स' या इधर-उधर कुछ मिला मेल से ही काम चलता है। इसके विपरीत हर घटना क्रिया भाव प्रसंग मर्म विषय और विभिन्न छोरों की गतिमयता के यावत् क्रम में सामाजिक आवश्यकता के धरातल पर, प्रगति के नये चरण चिह्नों का अनुसरण करते हुए कुछ ऐसे बदले हुए अनुभव और माध्यम खोजने पड़ते हैं जो उसके मौलिक आदर्शों और सिद्धान्तों के वाहक बन सकें।

आजकल भिन्न-भिन्न वर्ग के जीवन-दर्शन नये वातावरण और नई परिस्थितियों के साथ संश्लिष्ट करके आँके जा रहे हैं। मुख्यतः फ्रायडीय और कम्युनिस्ट—इन दोनों का क्रमिक समवाद अभिनव प्रतीकों और सम्भावनाओं में उभर कर सामने आ रहा है। पहले में अपने का स्वयं की परिधि में घूम [illegible] एकान्त और वैयक्तिक विचारों का अर्थ है अर्थात् दूसरे शब्दों में कामुकता का अवरोध घुटन और कुंठाओं का चरम परिणाम भी कहा जा सकता है, जबकि दूसरे में शोषित पोषक वर्ग के ऊपरी मुखमे और भीतरी आत्मलेपन की झाँकी मिलती है साथ ही शोषितों की मजबूरी के

रोमांचक नजारे भी पेश किये जाते हैं। पहला 'सुपीरियरिटी काम्प्लेक्स' से पीड़ित है और दूसरा 'इनफीरियरिटी काम्प्लेक्स' से। दोनों का नैतिक पतन बड़प्पने से दर्शाया जाता है—शोषक वर्ग का इसलिए कि उसकी उत्कट विलासिता और भोगवृत्ति का पर्दाफाश किया जा सके शोषित-अभाविर्तों का इसलिए कि निर्धनता और बेबसी की उन्हें कितनी बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है।

फ्रायडीय चित्रण में एक बिखरे हुए आकर्षण का वैशिष्ट्य है पर संयत सुखोप-भोग के उस बिन्दु तक नहीं जहाँ सुषुप्ति और चेतना बाह्य और अन्तर्मन उल्लास और आहें हास और अश्रु घुलमिल कर एक हो जाते हैं। इसके विपरीत कामजन्य आवेग के झोंके से भड़क कर अपने उद्दाम प्रसार और उत्तेजना से जो उभारते हैं वह हैं तेज दहकती साँस सीने का दर्द और एक उमड़ता असमाहित व्याकुल ज्वार। जीवन का एक-एक प्रसंग एक-एक पक्ष एक-एक अनुभूति स्वच्छन्द और अनुशासन हीन काम-आवेगों का स्फुरण मात्र है जो दमित कुंठाओं से उपजी आत्मभर्त्सना की अतिरंजित संवेदनाएँ जगाता है।

'दमित कुंठा' के अर्थ में आज बहुमुखी विस्तार है जो अधिकाधिक नैतिक वाग्मिकता में विकसित होती जा रही है। स्वप्न-जगत् के भावनात्मक पक्ष को उसके स्थूल भौतिक पक्ष से अधिक तूल देकर आज के मानव ने अपनी क्षुधाओं से नियंत्रण हटा दिया है, क्योंकि उसकी दृष्टि में आचार-संयम की सीमाएं कोई मानी नहीं रखतीं। वे कृत्रिम हैं और मौजूदा सभ्यता में उनके व्यावहारिक पहलू नगण्य हैं। 'प्रणय' तो परम्परागत है परन्तु उसका सम्यतम रूप जीवित मूल्यों की अधिकाधिक प्रतिष्ठा के साथ मनोग्रस्त होता जा रहा है और उसको प्रमाणित करने के लिए फ्रायडीय दर्शन में उनसे यथेष्ट आधार भी मिल गया है।

फलतः लेखकों का मनोविश्लेषणवादी कुण्ठाग्रस्त वर्ग मन के सपनों में डूबी एक अजीब सी कशिश और रहस्यमयता का पर्दाफाश करने या ऐकान्तिक ऊहापोह के समाधान में लगा है तो सर्वहारा वर्ग इसका सारा दोष समाज के मत्थे मढ़कर मध्यवर्गीय संस्कारों से सिरजी अनपेक्षित आकांक्षाओं और नग्न कामुकता के दहकते अंगारों की एक बेहद तीखी और गहरी दहशत पर किसी रूमानी बेबस प्यार के शबनम की बूँदें छिटकाने में मशगूल हो रहा है। पहला वर्ग नैतिकता को नया मनो-वैज्ञानिक आधार देना चाहता है तो दूसरा वर्ग इस नये मनोविज्ञान पर स्वनिर्मित नैतिकता को आरोपित करने में लगा है। इसका परिणाम है कि प्रेम के तौर-तरीके और ढंग बहुत कुछ बदल गए हैं। उसकी गहन गम्भीरता बाहर के अवहेलन को नहीं रुकती वरन् अपनी निविड़ जड़ता में भटके हुए उच्छृंखल मन को समो भी लेती है। संतप्त सत्ता का आत्मार्पण जो प्रेम में होता सुस्थिर, लीन और एकीभूत होता है और अपनी निस्सीमता में आविष्ट कर लेता है वह निम्नतर तत्त्वों से उपजी वास-नियाँ उद्वेग अथवा वर्जित इच्छाओं के विसर्जन और आज की नियंत्रणहीनता में अधिकाधिक प्रश्रय पाकर उस उदात्त आचरण या प्रणय के निजी 'अहं' अथवा एक

ऐसी बँधी-बँधाई एक विचारधारा पर आ टिका है जिसे न मन जानता है और न जिसकी चेष्टाओं एवं भंगिमाओं के आधार ही समझ पड़ते हैं।

मौजूदा उपन्यासों में बहुमुखी चरित्र-सृष्टि तो है, पर भारतीय आचार के अनुरूप शील एवं संस्कार नहीं, दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि चारित्र्य शुद्धि नहीं। सभ्य बर्बरता की इस नई कला में कथाकार का सचेत मन किनारे की मिट्टी में अतीन्द्रिय अनुभूति के पड़े तो खोजता है पर उसमें भीतरी आलोक रश्मियाँ नहीं बिखेरता। दरअसल सद्-असद् एवं असम्पूर्ण इच्छाओं की विचारात्मक प्रतिक्रिया ऐसे अतीन्द्रिय अनुभवों का समवाय ही तो है—यथा मन में विभिन्न प्रश्नों का उद्भव, विभिन्न जीवन-समस्याओं की उत्पत्ति तथा कितने ही प्रकार के मनोद्वन्द्व। ये ही वे दुःस्वप्न हैं जो बहुत गहरी प्रच्छन्न पर्तों के नीचे छुपे पड़े रहते हैं और अवसर पाकर विकृत रूप में उभर आते हैं। फलस्वरूप उनके द्वारा सृष्ट चरित्र एक ऐसे धरातल पर उतर आते हैं कि जिनका शिल्प विधान अस्तव्यस्त विभीषिका और भावात्मक सपनों पर टिका है और यों उनमें अकारण घुटन और अभुक्त तनाव की स्थिति पैदा हो जाती है। चरित्रों के माध्यम से उनके स्वयं के वैयक्तिक जीवन के खंडों का तो उद्घाटन होता ही है, जोरदार प्रतिक्रियास्वरूप उनकी उलझी और जटिल संवेदनाएँ ऐसे ऐसे पैटर्न उभारते हैं जिससे लगता है कि जैसे चरित्रों का ढाँचा सर्वथा बिखर गया है।

किसी भी चरित्र का मूल्य नीति-अनीति की कसौटी पर निश्चित करना सम्भव नहीं किन्तु नित-नई कुंठाओं, वर्जनाओं, व्यंग विद्रूपों में बढ़ती हुई आधुनिकता और यन्त्रीकरण से उद्बुद्ध निर्बन्ध कल्पना को इतना अधिक उकसाया है कि वह मानसिक असंतुलन और उलझनों के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं कर पा रही है। नितान्त बौद्धिक तत्त्वों से कथाकार का लगाव उसे ऐसे-ऐसे असंतुलित तत्त्वों की ओर ठेल रहा है जहाँ कोरे अर्थ की सत्ता अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके विपरीत प्राचीन आचार मर्यादाएँ एवं रूढ़ियाँ मात्र फार्म के रूप में उभर कर चरित्र के मूल तत्त्वों को बरबस ढँक रही हैं। काम विषयक औत्सुक्य जब अनायास अतृप्तिमूलक होकर उभरती है तो अमर्यादित वैपरीत्य की सृष्टि होती है—अधिकतर आज के उपन्यासों में कुछ एक नकारात्मक चरित्र उभारे जा रहे हैं जिनमें हमारी खोखली सौन्दर्य-रुचियों की निष्प्राण निर्मम जड़ता का प्रक्षेपण होता है। मोहब्बत से प्यासी चेहरे को कोई अपने आँसुओं के गम में पाल रहा है तो किसी के जज्बाती सपनों में कोई चूनरी उड़ती कजरारी पलकों में बसी झाँकती क्षीण कटि लचकती धूप सी सफ़ेद बाँहों में चूड़ियाँ खनकती ओठों की मिठास, गुलाबी कपोलों की लालिमा, मदमस्त मुस्कान और नारी की समस्त लज्जा समेट जब कोई सुन्दरी बम्बई जैसे महानगर में—विशेषकर बिजली की बत्तियों की कृत्रिम रोशनी में जगमग-जगमग इठलाते-मचलते वातावरण में सारी-सारी रात जागती रहती है, तब उसके पेट की भूख उसकी आँखों में भर जाती है या उसकी बहकी आँखों के जिस्म का बाजार इस भूख के बीच दब जाता है

और उसके रंगीन सपनों में घुली हुई रात मग्न सी पाती है जबकि उसके फूँआरेपन के सदियों पुराने नखरे नई शक्लें अख्तियार करते हैं। यौवन का सौदा पटाती उसकी अस्मत—रात की नमता में और भी भूम्य एवं भयावह—सिसकियाँ भर-भर कर रोती है और पाठकों के दिल दहला देती है। यों आज के कुछ रूमानी मनचले उपन्यासों में स्त्रीत्व को इतना महिमा इतना गर्व दर्शाया जाता है—जैसे ये पात्र नारी की सहज गरिमा या यौन-संस्कृति के लिए नहीं बल्कि फूलों जैसी हल्की-फुल्की महकभरी हवा मे रंगीन तितली के पंखों पर बैठकर उड़ने के लिए सिरजे गये हों। आज की 'आधुनिका' के अंग प्रत्यंग किस तरह उभारे जाते हैं उसकी आँखों में कितनी लम्बी लकीरें आँकी जाती हैं और कौनसा लिबास उसे उढ़ाया जाता है। ऐसा लिबास जहाँ किसी का झीना दुपट्टा उड़ रहा होता है और यह झीना दुपट्टा हवा में उड़ती उसकी जुल्फों के साथ नाजुक खूबसूरत उँगलियों से थामने के बावजूद भी उसके कन्धों से बार-बार खिसक जाता है। कपोलों की कालिमा नयनों की खुमारी का मादक नशा काली भौंह और उन पर आँजा गया सुरमा स्निग्ध सुन्दर स्मित फैलाते ओष्ठद्वय और फिर उनके उन्मुक्त हाव भाव कार्य-कलाप और विलास मयी प्रवृत्तियों का खुला चित्रण साथ ही इन सबको यह देवी मदमस्त जवानी की परिमल भरी घुटी न केवल उनकी सौन्दर्य-दीप्ति को नग्न रूप में उभाड़ती है, वरन् नौजवानों से लेकर प्रौढ़ों एवं बूढ़ों तक की आँखों में चौंध पैदा करती है। इसके विपरीत अधिकांश पुरुष पात्र भी पार्टियों क्लबों रेस्तराँओं या सड़क के चौराहों पर घूमनेवाले वे 'वीर' हैं जो बावजूद कालेज की दोस्ती और थोड़ी-सी हेलमेल बढ़ जाने पर फुटपाथ या रेशमी पर्दों से ढके ड्राइंग रूम में किसी लड़की से मिल जाते हैं जो बातों ही बातों में इस कदर तन्मय और सुधबुध खोकर अपलक मौन एक दूसरे को एक दूसरे की नजरों में तौलते रहते हैं और जब वह नटखट आँखों से कुहनी मेज पर टिकाये अनमनी और अलसायी भ्रम कौतूहल खोती शरारत खीझ और आक्रोश के उफनते-चढ़ते भावों को लिए उसकी कभी न खत्म होने वाली बातों को सुनती रहती है सुनती रहती है। ऐसे लोग न सिर्फ़ चाय और नाश्ते की गपशप व गप्पें गप्पों के बीच हर बौद्धिक हलचल के प्रति दिलचस्पी रखते हैं वरन् नीति-अनीति और प्रत्यक्ष-परोक्ष की सापेक्षता आदि गहन विषयों से लेकर क्रिकेट-फुटबाल रेडियो टीलीफोन व सिनेमा जगत् एटीकेट, कल्चर व मैनर्स पर कोई रिमार्क्स अथवा किसी बुक रिव्यू एवं विज्ञापनों की कतरनों के आधार पर चाँद-सूरज और सितारों के चमत्कार सिरों तक पहुँचने की हिमाकत रखते हैं। कोई फ़िल्मी गीत या किसी रोमांटिक कवि की कविता गुनगुनाते ये जीवन के सुनहरे सपने देखते हैं और 'जीनियस' जमन के नुस्खे इनके पास इतने रहते हैं जो परस्पर के शंका-समाधान या अदृश्य व्यवधान को एक झटके में तोड़ते हैं और जिनका हर लहमा धीमे में दर्द जमाता व दिल को बर्दाश्त बनाए रखता है। ये निहायत ही इकतरफ़ा व्यक्तित्व लिये भावनात्मक मनोवृत्तियों और कुण्ठाओं को समेट, हवाई और छिछले प्रतिक्रियावादी

और अजीबोगरीब राय रखनेवाले कितनी ही पसन्दगी-नापसन्दगी विकृत रुचि पक्ष-विपक्ष और कृत्रिम शालीनता व सभ्यता की खोल ओढ़े हुए जीवन से बेखबर आज की कुंठाओं के शिकार हैं। फ्रायड एडलर और युग के मतवादों पर कोई न कोई 'काम्प्लेक्स' आरोपित कर वह निम्न से निम्न स्तर पर उतरने का अवसर रहता है।

मौजूदा कथाकारों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—पहले तो वे जो प्राचीन परम्पराओं का निर्वाह करते हुए केवल सद् को ही स्वीकारते हैं अर्थात् जीवन का सुन्दरतम स्वस्थ और जीवन्त पक्ष ही चित्र चाहा है। दूसरे व जो जीवन के अच्छे-बुरे, श्लील-अश्लील सभी में सामंजस्य तो खोजते हैं पर अन्ततः सद् को ही महत्त्व देते हैं। तीसरी श्रेणी में वे आते हैं जिनकी दृष्टि केवल असद् पर ही टिकती है अर्थात् इस कोटि के कथाकार मानव की पाशविक वृत्तियों का नग्न और भयावह प्रदर्शन साथ ही अलौकिक दुर्गन्धी घृणोत्पादक वर्णनाओं और ऐसे गर्हित मनोविज्ञान का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं जो हर प्रकार से एकांगी अतिवादी और गुमराह करने वाला होता है। उनमें आचार नियमों का कोई नियन्त्रण नहीं होता फलतः आज का अधिकांश पाठक वर्ग भी ऐसा तैयार हो रहा है जिन्हें अश्लीलता और कुत्साओं में ही महान् कला के दर्शन होते हैं।

प्रेम की मूल भावना या प्रेम के स्रोत व उत्स भी पहले से बहुत कुछ भिन्न हैं। स्त्री-पुरुष की एकात्म्य-स्थापना का जो सहज आनुपातिक सम्बन्ध है वह मौजूदा मनोविज्ञान में रुचियों की परिमाणानुसार उनके परस्पर प्रणय के स्वरूप का निर्धारण सर्वथा नये ढंग से पेश करता है। असम्भाव्य कल्पना के आधार पर वह एक ऐसी अनहोनी इकाई बन गया है, अवचेतन की अवश प्रक्रियाओं का एक ऐसा तनाव अथवा मानसिक द्वन्द्वों का एक ऐसा विघटन जिसके ओर-छोर का कोई मापदण्ड नहीं और न ही जिसके सर्वांग का कोई चित्र खींचा जा सकता है। कारण—फ्रायड के मत की घटनाचक्र महज ही इस तरह के विकृत प्रेम को पैदा करती है अतएव भ्रामक धारणाओं और थोथी कल्पनाओं के सहारे यह मनोवृत्ति दम्भ की छाप ही उनकी विकासमान शिल्प-साधना को भस्म कर रही है। इसके विपरीत यथार्थवादियों ने दैनन्दिन जीवन की निर्विवाद संघर्षमूलकता से टकराकर इसी वह न चीत्कार उत्पन्न किया है। इस वर्तमान युग में पैशाचिक नंगे नाच की कोई सीमा नहीं है, गरीब जनता की जैसे हर मर्मान्त पिस रही है। हर अन्याय अत्याचारी बन कर बाढ़ उफनती है और आँधियों तूफानों और भूचालों का एक समुन्दर सा उमड़ रहा है कि लगता है—मानव-चेतना का तो विस्तार हुआ है परन्तु उसके जड़ तत्त्व अर्थात् धारणा अभी ज्यों की त्यों विद्यमान है। कहना न होगा कि नई औपन्यासिक भावभूमि पर अंत-र्चेतनात्मक के अर्थ में मनोवैज्ञानिक सत्य बहुत कुछ बढ़ हो गया है। परम्परा-वादियों ने उसे जैसा एकांगिक और आत्यन्तिक रूप में लिया यथार्थवादियों की स्वाभाविक प्रतिक्रिया भी एकांगेल उससे भी अधिक एक ऐसे अनुदार चित्रण की परा-काष्ठा तक पहुँच गई कि जहाँ कुछ भी वर्जित या अवाच्य नहीं। स्पष्ट है कि अब

विशेष के जीवन की यह अवसादपूर्ण भ्रांति या झूठे समझौतों की अनुगूँज एक अवास्तविक प्रत्याभास मात्र है। उसमें सार्वजनीन आशय स्वस्थ रोमांस और कुलीन दायित्व नहीं है बल्कि पेचीदा या उलझी संवेदनाओं को उकसाने वाली ऐसी सतही मनोवृत्ति है जो देहगत स्वभाव और सामाजिक व्यवस्थाओं में भारी विषमता के आधार पर टिकी लैंगिक अपरिपक्वावस्था में ही किसी क्रमिक प्रक्रिया द्वारा नहीं बल्कि अकस्मात्—रूमानी क्षण में—कुंठित कामजन्य उद्वेगों का अनधिकार प्रवेश कराती है जिसकी घूमती धुंधली छायाओं में गहरे अर्थ तो खोये हुए लगते हैं, पर अर्थहीन छिछले बेजान चित्र अधिकाधिक उभरते हैं।

तो क्या आज के साहित्य का 'व्यापक सत्य' हमारी वे परिस्थितियाँ और नित-नई समस्याएँ नहीं बनती जा रही हैं जिसने हमारे विचार और भावनाओं को अपने पाश में जकड़ लिया है और जिसकी वजह से सृजन-कल्पना आसानी से उस ऊँचाई को नहीं पहुँच पाती जहाँ श्रेष्ठता के प्रतिमानों को कोई मेधावी कलाकार ही यदा-कदा छू पाता है?

इधर कुछ आंचलिक उपन्यास भी लिखने के प्रयत्न हुए हैं परन्तु वे भी एक संकुचित वातावरण की यथार्थता से आगे उभर कर नहीं आ पाए। जमीन कहीं की भी हो किसी भी प्रदेश या अंचल की उसकी मिट्टी भी चाहे किसी रंग की हो, मगर लेखक में स्थानीय विशेषताओं को पहचानने और उन्हें ज्यों का त्यों वास्तविक बना देने की क्षमता तो होनी ही चाहिए। वहाँ की स्वभावगत चेष्टाएँ पारंपरिक सन्निहित कथ्य और अनूठी परिकल्पना के पूर्वापर सम्बन्धों को आँककर उनके आचरण परिस्थितिगत ढंग क्रम-संयोजन और परिवेश को सुनियोजित करके उनमें रंग-रूप भरना उनकी जिन्दगी के सही कोण सही पहलू सही नाक-नक्श भावमुद्राएँ, व्यवहार चेष्टाएँ—यहाँ तक कि उनके पसीने की गन्ध पहचानने की भी बुद्धि होनी चाहिए लेकिन बावजूद स्थानीय रंगों पात्रों घटनाओं और विविध प्रसंगों के प्रभाव एकत्व की अभीष्ट सिद्धि के लिए उनकी जिन्दगी का रूप उनका इतना अपना हो जिससे हर कहीं—हर मोड़ पर—सहज तादात्म्य स्थापित हो सके।

दरअसल आज की प्रायोगिक प्रवृत्ति उपन्यास पर भी हावी होती जा रही है। नये प्रतीक नये साम्य और नई टेकनीक बरती गई है लेकिन फिर भी कोई खास शिल्पगत मौलिकता और मनोवैज्ञानिक निरूपण दृष्टिगत नहीं होता। उपन्यास में 'नव पैटर्न' के रूप में रहस्यमय चमत्कारिक या जादुई वातावरण का निर्माण किया जा सकता है पर मध्यवर्गीय अतृप्तियों के महान 'सेक्स' की भूख अथवा आत्म प्रतारणा की घातक एवं स्वप्निल पत्नी और वैवाहिक विपर्यय या सर्वहारा क्रान्ति के बहाने घिसे-पिटे से नये 'क्लाइमेक्स' विषम परिस्थितियाँ और सबसे बढ़कर दैहिक बुभुक्षा के उत्तेजक मांसल चित्र अर्थात् जिनके वर्ग की अभिशप्त जिन्दगी के दिग्दर्शक में ही घिसे-पिटे सिद्धान्त पूर्व धारणाएँ या थोपी गई 'आईडोलोजी' ही

हमारी मुख्य समस्याओं का मूलाधार बनी हुई है।

कभी सोचती हूँ कि क्या हिन्दी के उपन्यासकार इस सब एकांगी संकीर्ण अर्थात् रोमांचक जेम्सी और प्रचारात्मक दृष्टिकोणों से ऊपर उठकर सर्वथा भिन्न स्तर की नई सीख नहीं दे सकते जहाँ गहरी अनुभूतिमयी बारीकियाँ सांगोपांग सौन्दर्य मर्यादा अनुपात के साथ मानवीय संवेदना का ऐसा अंतःप्रवाह बना दें जो अपनी अधीनता में आच्छादित कर लेने वाला हो जिस पर भी अहंभाव पक्षपात या पूर्वाग्रहों से मुक्त न हो सकने के कारण व अपना सापेक्ष ज्ञान और व्यक्तिगत धारणाओं को ही औपन्यासिक चित्रण का माध्यम बनाना चाहते हैं तो वे मात्र चलती-फिरती परछाइयाँ न हों वरन् उनकी छिछोरे, लेखक पक्षीय दूषित से दूषित और अहमा से अपना—किस तरह की भी [illegible] 'मूड' या 'टाइप' के व्यक्ति हों—हाड़-मांस के सच्चे सप्राण मानव होने चाहिए। विश्व कलाकारों में—हार्डी डिकेन्स थैकरे, स्काट, बाल्जाक पुश्किन ह्यूगो ड्यूमा गोगोल तुर्गनेव मोपासाँ चेखव टालस्टाय गोर्की आदि कितने ही ऐसे हैं जिनकी कल्पना की निष्ठा इतनी प्रबल और सूक्ष्म है कि उनकी सृजन-सृष्टि का मिथ्यात्व भी यथार्थ बन कर चेतना पर छा जाता है। उनके पात्रों और कथा-चरित्रों की भावनाएँ बातचीत कार्य कलाप सभी कुछ इतने मनोयोग से आँका गया है जो स्वयं पूर्ण है और जिनके व्यक्तित्व का सम्मोहन यथार्थ के जादू से भी बढ़कर है। कथा-साहित्य के सभी उच्चतम उत्तमों को इन्होंने अपनी जादुई कलम से छुआ था। तो क्या भला निरवधि काल की सीमा इन महान् कलाकारों के प्रभाव को कम करेगी और क्या कभी भी—किसी भी परिस्थिति में—इनका देय अग्राह्य होगा?

जैसे ईश्वर अपनी सृष्टि में ऐसे प्राणियों को सिरजता है जिनकी अपरिमित रहस्यमयी शक्ति नियति की डोर के सहारे नाचती है उसी प्रकार उपन्यासकार द्वारा सृष्ट पात्रों के भी व्यावहारिक साँचे हैं जिन्हें सामाजिक उत्तरदायित्व की जवाबदेही करनी पड़ती है और जिनकी नियति एक दूसरे से जुड़ी हुई महत्तर दुर्भेद्य की चुनौती स्वीकार करती है। जिस प्रकार ईश्वर मत्स्यगत मानव के प्रति विराट् अभियान-नाट्य में निजी सत्ता को एक नित-नवीन और असीम आकार प्रदान करता है उसी प्रकार लेखक का कथात्मक जगत् भी (भले ही कुछ लोग उसे मिथ्या कहें) वास्तविक जगत् है जिसका नियामक या सृष्टिकर्ता वह स्वयं है जिसकी आस्था एवं अनास्था उसके चरित्रों के भाग्य से बँधी है और जो विभिन्न प्राणियों के मूलगत भेद को कथा चरित्रों के रहस्यमय आयामों में प्रतिबिम्बित कर देता है। परन्तु किसके पास है यह निश्चित् कसौटी? कौन है जिसकी सृजनशील कल्पना अन्तर्मुखी शक्ति संचय कर सम्पूर्ण [illegible] पर ऊर्ध्व ज्योति बनकर छा जाती है और वहाँ समाधानहीन अनन्त आश्चर्य अथोन्मेषशालिनी उत्सुकता बाह्य गतियों पर नहीं आंतरिक चेतना की परतों और सूक्ष्म संवेदना पर थिरकती है। उपन्यासकार का उत्कट आत्म सृजन को सार्थकता देने का एक सक्षम उपाय यही प्रतीत होता

है कि वह जिन्दगी की धड़कन को महसूस करे, केवल अपना जाहिर या अपने तईं ही न जिये अपितु चतुर्दिक फैले जीवन में जो भी उसके सम्पर्क में आये उसके अनुभवों को महत्तर चेतना से संश्लिष्ट करके आँके। जैसा कि हमने ऊपर कहा उपन्यासकार हर परिस्थिति और घटनाक्रम की परिकल्पना करने वाला शिल्पी भी है अतएव जैसा ही वस्तुगत प्रभाव और वातावरण अंगीकृत करके उसे अंतरंग और बहिरंग की समग्रता में पूर्ण सामंजस्य खोजना चाहिए, साथ ही उसे उन मूल निष्कर्षों का संरक्षण भी करना पड़ता है जो समूचे सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की प्रवृत्तियों से एकात्म हो औपन्यासिक शक्ति का अक्षुण्ण स्रोत है।

विभिन्न प्रयोगों की एक लम्बी शृंखला के पश्चात् उपन्यास का पाट आज बहुत चौड़ा हो गया है, किन्तु यांत्रिक सभ्यता की अतिभौतिकता के आग्रह ने निष्ठापूर्ण आस्था की विकासमान शक्तियों को डगमगा दिया है। उपन्यास के लिए जिस अन्तर्दृष्टि, सूक्ष्म कल्पनात्मकता, सहानुभूति और मूर्त बिम्बात्मकता की अपेक्षा है—कौन है हिन्दी में जो ठोक-बजा कर बाह्य और आंतरिक पक्ष के विशेष गौरवपूर्ण कलात्मक संयम पर सर्जनात्मक क्षमता में सबको एक साथ समेटने का दावा कर सके। किसकी संवेदनाओं की व्यापकता और सचाई—सांगोपांग रूप में—जीवन के वैविध्य और उसके समस्त आयामों से एकतान हो सकी है।

प्रेमचन्द को जाने दीजिए। गुजरी बातें हैं। मगर जैनेन्द्र, अज्ञेय व इलाचन्द्र जोशी, यशपाल, कृष्णचन्द्र व अश्क, राहुल सांकृत्यायन, वृन्दावनलाल वर्मा व चतुरसेन शास्त्री, भगवती चरण वर्मा व भगवतीप्रसाद वाजपेयी, डॉ. धर्मवीर भारती व डॉ. देवराज, मन्मथनाथ गुप्त व डॉ. रांगेय राघव, अमृतराय व अमृतलाल नागर, फणीश्वरनाथ 'रेणु' व नागार्जुन साथ ही नये-नये प्रयोगों से चौंकाने की चेष्टा रत कितनी ही नवोदित प्रतिभाएँ क्या अपने लघु अहं के वृत्त से उभर कर आगे आने पाईं। लेखक के टूटे बिखरे, विशृंखल स्वप्नों की परिणति आज कुछ प्रतीकों, अभिव्यक्तियों और छिन्न अनुषंगों तक ही सिमट कर क्यों रह गई? कहाँ है समष्टि की उसका सहज ध्येय जो समय की दारुण चोट खाकर अदेय बन गया है और जिसकी अमिट खरोंचें ही औपन्यासिक शीर्षक या प्रायोगिक सफलता की नई मौलिक उद्भावना की कसौटी मात्र है।

वस्तुतः आज के हिन्दी उपन्यासकार की दृष्टि तलस्पर्शी नहीं, आत्मप्रवंचक है। उसके आशावादी कोरे समाधान छूते हैं ऊपरी हैं—जो समस्याओं की जड़ों को नहीं छू पाते।

५

नये काव्यग्रन्थ

किसी भी काव्यकृति के सौष्ठव को हम इस कसौटी पर नहीं परखते कि उसने हमारी भावनाओं को कहाँ तक उद्बुद्ध किया है प्रत्युत उसकी आत्मा में झाँक कर जीवन के मूलभूत सिद्धान्त एवं शाश्वत सत्य को हृदयंगत करके ही हम उसके महत्त्व को आँक पाते हैं। सत्काव्य का आदर्श सामान्य भावभूमि से सदैव ऊँचा उठा रहना चाहिए। न केवल साहित्य एवं कला के उदात्त तत्त्व कवि की सूक्ष्म राग-चेतना से अनुप्राणित होकर उसके अनुभूत यथार्थ को व्यक्त करते हैं वरन् जीवन और जगत् के सूक्ष्म प्रभाव—जिन्हें कि वह आत्मसात् करके वाणी द्वारा दूसरों तक पहुँचाता है—मानवीय मनोवेगों को आलोड़ित करते हुए हमारी कल्पना को भी चमत्कृत और अनुरंजित करते हैं।

कला अमर है और मानवीय मनोवेगों को तरंगित करने वाली यह रहस्यमयी शक्ति भी अमर है। सृष्टि के जिस दृश्यमान मूर्त की ओर साधारण लोगों की दृष्टि जाकर लौट आती है वही कवि के कल्पना-जगत् को आत्मप्रकाशोन्मुख करती हुई अलक्ष चिन्मय आनन्दानुभूति से भर देती है। चूँकि कवि की चेतना रागबोधात्मक है उसकी अनुभूतियों की परिधि भी इतनी व्यापक हो जाती है कि वह दृश्य जगत् की अर्थवती छवियों में अपनी राग-विराग की वृत्तियों को तद्रूप करके मर बिछुड़न-सा जीवनमय उन्मद राग में डूबता-उतराता रहता है। अन्तरिक्ष पथ पर बिखरे अगणित तारे जो सामान्य दृष्टि को केवल चिनगारियों से प्रतीत होते हैं रंग-बिरंग पुष्प जो असमय में ही झड़कर मुरझा जाते हैं और वातायन पथ से उठने वाली नीरमसम्म समीर की हल्की-हल्की थपकियाँ जो शून्य में टकराकर विलय हो जाती हैं, कवि के अन्तर्मन में न जाने कितनी मदभरी कोमलकान्त भावनाओं का जगाया करती हैं। कवि की यह उन्मादपूर्ण मानसिक स्थिति ही वास्तविक प्राप्तव्य अवस्था है क्योंकि इसी के द्वारा वह वस्तुगत सत्य तक पैठ पाता है। बाह्य परिवेश को अपने अनुभव का विषय बनाकर वह सौंदर्यसौरभ की विवृति करता है और आत्मा की मनन शक्ति द्वारा शुभ्र संकुचित सम्बन्धों से ऊपर उठकर भव की प्रेषणीय शक्ति को उद्बुद्ध करता है। लासक्रीयर ने एक स्थल पर लिखा है

जिस प्रकार कवि की कल्पना अज्ञात वस्तुओं का रूप निर्धारित करती है

उसी प्रकार उसकी लेखनी सामग्री तुच्छ पदार्थों को मूर्त करती हुई उनको संस्कार और स्थायित्व प्रदान करती है।

(As imagination bodies forth,
The form of things unknown, the poets pen,
Turns them to shapes, and gives to airy nothings,
A local habitation and a name.)

कवि की दृष्टि इतनी संवेदनशील और व्यापक होती है कि जीवन के सूक्ष्म तम भावों से उद्बुद्ध होकर अभिमत आदर्शों की उपलब्धि करती है और पुनः अपने इन्हीं मूर्त आदर्शों को जो उसकी कल्पना से सजीव हो उठे हैं वह उन्हें अणु अणु में स्पन्दित होते देखता है। विश्व में जो कुछ अन्तर्हित सत्य है उसे वह अपने ज्ञान स्फुलिंगों से उद्भासित करता हुआ अपनी निस्सीम भाव-परिधि में प्रतिष्ठित देखना चाहता है। विशिष्ट वस्तुओं का निरीक्षण करते हुए जो स्मृतियाँ उसके अन्तर में संचित हो जाती हैं, वे ही रससिक्त होकर उसकी लेखनी की नोक पर थिरकने लगती हैं और उन आत्म विस्मृति के क्षणों में उसे यह समझ नहीं पड़ता कि यह सब कैसे हो जाता है। टैगोर ने लिखा है

'क्या कोई मनुष्य किसी बात को समझाने के लिये कविता लिखा करता है? बात यह है कि मनुष्य के हृदय को जो अनुभव होता है वही काव्य-रूप में बाहर आने का प्रयत्न करता है। यदि किसी कविता को सुनकर कभी कोई यह कहता है कि मैं तो इसमें कुछ नहीं समझता तो उस समय मेरी मति कुंठित हो जाती है। पुष्प को सूँघकर यदि कोई कहने लगे कि मेरी कुछ समझ में नहीं आता तो उसका यही उत्तर हो सकता है कि इसमें समझने जैसा है भी क्या? यह तो केवल प्रतीति या आभास मात्र है।"

कवि के लिए सौंदर्य विश्व का अन्तरतम संगीत है। उसमें उसकी सूक्ष्म चेतना अन्तर्निहित होती है। विश्व की विराट रंगस्थली में जब पार्थिव वस्तुएँ मिलती जुलती और बिगड़ती हैं तो कवि को शाश्वत सौंदर्य और सत्यता की प्रकाशधारा दिग्दिगन्त में लहलहाती दीख पड़ती है। उसकी सौंदर्य की बोध-चेतना इतनी सूक्ष्म है कि वह अपने अभीप्सित को तीव्रता से स्पर्श करती हुई सत्य की समग्रता में खो जाना चाहती है। एक ओर उसकी महती आकांक्षा अन्तर्निष्ठ सौंदर्य की प्रेरणा का उत्स है तो दूसरी ओर चिदात्मा की असीम व्याप्ति उसकी आँखों में आलोक के स्निग्ध कण बन कर झूमती रहती है।

यह सौंदर्य ही काव्य की वह शाश्वत शक्ति है जो 'सत्यं शिवं' की चरम परिणति है। कवि की सौंदर्य-भावना सत्य की जिज्ञासा बनकर जब भीतर के अरूप सौंदर्य को मन-प्राण छलकाती है तो काव्य की धारा फूट पड़ती है और काव्य का यह शिवत्व ही 'सत्य' और 'सुन्दर' बन जाता है। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार यह सौंदर्य दो प्रकार

का होता है। (१) भाव सौंदर्य (२) अभिव्यक्ति सौंदर्य। इन्हें ही अपने यहाँ अनुभूति पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष अथवा भाव पक्ष और कला पक्ष कहा गया है। प्रमुख रूप से कविता में कवि की अनुभूति की अभिव्यक्ति रहती है। वह जो कुछ देखता या गुनता है उसे ही आत्मसात् करके कविता द्वारा व्यक्त करता है। किन्तु जैसे शरीर के बिना आत्मा का अस्तित्व सम्भव नहीं है उसी प्रकार अभिव्यक्ति के सौंदर्य के बिना केवल भाव का प्रकाशन ही कविता नहीं है। जब तक कवि अपने मनोभावों को व्यक्त करने वाली विविध कलाओं से अवगत नहीं होता तब तक कविता की परिपूर्ण और परिपक्व सत्ता सम्पन्न हुई दृष्टिगत नहीं होती। भारतीय आचार्यों ने भावों के स्वरूप-निरूपण और उनकी अनेक विधाओं की मार्मिक विवेचना की है किन्तु भावों के अंतस् में प्रवाहित होने वाले रस की निष्पत्ति तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि उन्हें अनूठे रूप से व्यक्त न किया जाय।

पाश्चात्य रीति से प्रतिपादित काव्य के चार तत्त्व (१) भावतत्त्व (रागात्मक तत्त्व) (२) कल्पनातत्त्व (३) बुद्धितत्त्व और (४) शैलीतत्त्व—अनुभूति और अभिव्यक्ति—इन दोनों पक्षों के अन्तर्गत आ जाते हैं। काव्य का प्रमुख गुण रागात्मक तत्त्व भावनाओं को स्फुरित करता है। कल्पनातत्त्व सजीव तूलिका से अमूर्त को मूर्त करता हुआ नानाविध चित्र हमारे नेत्रों के सम्मुख लाकर खड़ा कर देता है। बुद्धितत्त्व हमारे उद्वेलित मनोवेगों कल्पना-प्राचुर्य और विषय-प्रतिपादन पद्धति में सामंजस्य स्थापित करता है अर्थात् भावपक्ष और कलापक्ष दोनों को औचित्य की सीमा से आगे बढ़ने नहीं देता। शैली तत्त्व हमारे आत्म प्रकाशन का साधन है। वह हमारे आत्मभूत तत्त्व को बहिर्मुख करता हुआ उसे सुन्दर और सुग्राह्य बना देता है। कुशल कवि अपनी अन्तर्भूत सूक्ष्म भावनाओं को सुन्दर भाषा में प्रस्तुत करता है। वह इस कला में जितना ही पारंगत होता है उतना ही सफल समझा जाता है।

प्राय प्रत्येक काव्यकृति में दो तत्त्व दीख पड़ते हैं—एक 'अर्थ' और दूसरा 'शब्द'। शब्द और अर्थ काव्य का शरीर है और रस उसकी आत्मा। हमारे आचार्यों ने भिन्न-भिन्न पद्धति से शब्द अर्थ और रस की व्याख्या की है। उत्कृष्ट काव्य में सभी तत्त्वों का समावेश अनिवार्य है। जिस प्रकार अनन्त काल से मनुष्य में अपने विचारों को व्यक्त करने की प्रबल आकांक्षा है उसी प्रकार उसमें सौंदर्य-भावना निहित होने के कारण अभिव्यक्ति का साधन अपनी भाषा को सजाने-सँवारने की सहज वृत्ति भी होती है। अलंकार (शब्दालंकार अर्थालंकार उभयालंकार) शब्दों के गुण (माधुर्य ओज प्रसाद) ध्वनि (अभिधा लक्षणा व्यंजना) भाव और स्वर आदि भाषा-शास्त्रियों ने अनेक प्रकार से भाषा के गुण-दोषों का वर्गीकरण किया है। आत्मा की कैवल्यगामिनी शक्ति-सत्य की भावना से अनुप्राणित होकर—जब सुन्दर और सुग्राह्य रूप में वाणी द्वारा प्रस्फुटित होती है तो उत्कृष्ट काव्यकृति बन जाती है।

काव्य के भेद

प्रमुख रूप से काव्य के दो भेद किये गये हैं (१) भाव प्रधान और (२) विषय

उसी प्रकार उसकी लेखनी वायवी गुह्य पदार्थों को मूर्त करती हुई उनको संस्कार और स्थायित्व प्रदान करती है।

(As imagination bodies forth,
The form of things unknown, the poets pen,
Turns them to shapes, and gives to airy nothings,
A local habitation and a name.)

कवि की दृष्टि इतनी संवेदनशील और व्यापक होती है कि जीवन के सूक्ष्मतम भावों से उद्बुद्ध होकर अभिमत आदर्शों की उपलब्धि करती है और पुनः अपने इन्हीं मूर्त आदर्शों को जो उसकी कल्पना से सजीव हो उठे हैं वह उन्हें अणु अणु में स्पन्दित होते देखता है। विश्व में जो कुछ अन्तर्हित सत्य है उसे वह अपने ज्ञान स्फुलिंगों से उद्भासित करता हुआ अपनी निस्सीम भाव-परिधि में प्रतिष्ठित देखना चाहता है। विशिष्ट वस्तुओं का निरीक्षण करते हुए जो स्मृतियाँ उसके अन्तर में संचित हो जाती हैं, वे ही रससिक्त होकर उसकी लेखनी की नोक पर थिरकने लगती हैं और तब आत्म-विस्मृति के क्षणों में उसे यह समझ नहीं पड़ता कि यह सब कैसे हो जाता है। टैगोर ने लिखा है

'क्या कोई मनुष्य किसी बात को समझाने के लिये कविता लिखा करता है? बात यह है कि मनुष्य के हृदय को जो अनुभव होता है वही काव्य-रूप में बाहर आने का प्रयत्न करता है। यदि किसी कविता को सुनकर कभी कोई यह कहता है कि मैं तो इसमें कुछ नहीं समझता तो उस समय मेरी मति कुंठित हो जाती है। पुष्प को सूँघकर यदि कोई कहने लगे कि मेरी कुछ समझ में नहीं आता तो उसका यही उत्तर हो सकता है कि इसमें समझने जैसा है भी क्या? यह तो केवल प्रतीति या आभास मात्र है।

कवि के लिए सौन्दर्य विश्व का अन्तरतम संगीत है। उसमें उसकी सूक्ष्म चेतना अन्तर्निहित होती है। विश्व की विराट् रंगस्थली में जब पार्थिव वस्तुएँ नित्य बनती और बिगड़ती हैं तो कवि को शाश्वत सौन्दर्य और सरसता की अजस्रधारा दिग्दिगन्त में लहलहाती दीख पड़ती है। उसकी सौन्दर्य की बोध चेतना इतनी सूक्ष्म है कि वह अपने अभीप्सित को तीव्रता से स्पर्श करती हुई सत्य की समग्रता में खो जाना चाहती है। एक ओर उसकी महती आकांक्षा अन्तर्निष्ठ सौन्दर्य की प्रेरणा का स्पर्श है तो दूसरी ओर विश्वात्मा की असीम व्याप्ति उसकी आँखों में आलोक के स्निग्ध कण बन कर झलकती रहती है।

यह सौन्दर्य ही काव्य की वह शाश्वत शक्ति है जो 'सत्यं शिवं' की चरम परिणति है। कवि की सौन्दर्य भावना सत्य की जिज्ञासा बनकर जब भीतर के अरूप सौन्दर्य को मन-प्राण छलकाती है तो काव्य की धारा फूट पड़ती है और काव्य का यह शिवत्व ही 'सत्य' और 'सुन्दर' बन जाता है। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार यह सौन्दर्य दो प्रकार

का होता है। (१) भाव सौंदर्य (२) अभिव्यक्ति सौंदर्य। इन्हें ही अपन यहाँ अनुभूति पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष अथवा भाव पक्ष और कला पक्ष कहा गया है। प्रमुख रूप से कविता में कवि की अनुभूति की अभिव्यक्ति रहती है। वह जो कुछ देखता या गुनता है उसे ही आत्मसात् करके कविता द्वारा व्यक्त करता है। किन्तु जैसे शरीर के बिना आत्मा का अस्तित्व सम्भव नहीं है उसी प्रकार अभिव्यक्ति के सौंदर्य के बिना केवल भाव का प्रकाशन ही कविता नहीं है। जब तक कवि अपने मनोभावों को व्यक्त करने वाली विविध कलाओं से अवगत नहीं होता तब तक कविता की परिपूर्ण और परिपक्व सत्ता सम्पन्न हुई दृष्टिगत नहीं होती। भारतीय आचार्यों ने भावों के स्वरूप-निरूपण और उनकी अनेक विधाओं की मार्मिक विवेचना की है किन्तु भावों के अंतस् में प्रवाहित होने वाले रस की निष्पत्ति तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि उन्हें अनूठे ढंग से व्यक्त न किया जाय।

पाश्चात्य रीति से प्रतिपादित काव्य के चार तत्त्व (१) भावतत्त्व (रागात्मक तत्त्व) (२) कल्पनातत्त्व (३) बुद्धितत्त्व और (४) शैलीतत्त्व—अनुभूति और अभिव्यक्ति—इन दोनों पक्षों के अन्तर्गत आ जाते हैं। काव्य का प्रमुख गुण रागात्मक तत्त्व भावनाओं को स्फुरित करता है, कल्पनातत्त्व सजीव तूलिका से अमूर्त को मूर्त करता हुआ नानाविध चित्र हमारे नेत्रों के सम्मुख लाकर खड़ा कर देता है बुद्धितत्त्व हमारे उच्छृंखल मनोवेगों कल्पना-प्राचुर्य और विषय-प्रतिपादन पद्धति में सामंजस्य स्थापित करता है अर्थात् भावपक्ष और कलापक्ष दोनों को औचित्य की सीमा से आगे बढ़ने नहीं देता। शैली तत्त्व हमारे आत्म-प्रकाशन का साधन है। वह हमारे आत्मभूत तत्त्व को बहिर्मुख करता हुआ उसे सुन्दर और सुचारु बना देता है। कुशल कवि अपनी अन्तर्भूत सूक्ष्म भावनाओं को सुन्दर भाषा में प्रस्तुत करता है। वह इस कला में जितना ही पारंगत होता है उतना ही सफल समझा जाता है।

प्राय प्रत्येक काव्यकृति में दो तत्त्व दीख पड़ते है—एक 'अर्थ' और दूसरा 'शब्द'। शब्द और अर्थ काव्य का शरीर है और रस उसकी आत्मा। हमारे आचार्यों ने भिन्न-भिन्न पद्धति से शब्द अर्थ और रस की व्याख्या की है। उत्कृष्ट काव्य में सभी तत्त्वों का समावेश अनिवार्य है। जिस प्रकार अनन्त काल से मनुष्य में अपने विचारों को व्यक्त करने की प्रबल आकांक्षा है उसी प्रकार उसमें सौंदर्य भावना निहित होने के कारण अभिव्यक्ति का साधन अपनी भाषा को सजाने-सँवारने की सहज वृत्ति भी होती है। अलंकार (शब्दालंकार, अर्थालंकार उभयालंकार) शब्दों के गुण (माधुर्य ओज प्रसाद) ध्वनि (अभिधा लक्षणा व्यंजना) नाद और स्वर आदि भाषा-शास्त्रियों ने अनेक प्रकार से भाषा के गुण-दोषों का वर्गीकरण किया है। आत्मा की केन्द्रानुगामिनी शक्ति—मंगल की भावना से अनुप्राणित होकर—जब सुन्दर और सुचारु रूप में वाणी द्वारा प्रस्फुटित होती है तो उत्कृष्ट काव्यकृति बन जाती है।

काव्य के भेद

प्रमुख रूप से काव्य के दो भेद किये गये हैं (१) भाव प्रधान और (२) विषय

प्रधान। भाव प्रधान कविता में कवि का आत्माभिव्यंजक रूप अर्थात् उसकी अपनी बात की प्रधानता होती है। इसके अन्तर्गत गीतिकाव्य और स्फुट कविताएँ आदि आती हैं। विषय प्रधान कविता में अपने से परे देश और समाज की बातें विश्व भर के असंख्य मानवों के हृदयावेगों का विस्तृत रूप तथा जीवन की व्यापक संचालक शक्तियों एवं आशा-आकांक्षाओं की सफल अभिव्यक्ति होती है। "उसकी रचना उस बड़े वृक्ष की भाँति होती है जो देश के भूतल रूपी जठर से उत्पन्न होकर उस देश को आश्रयरूपी छाया देता हुआ खड़ा रहता है। विषय प्रधान काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य खंडकाव्य जीवन-वृत्त पौराणिक गाथा और ऐतिहासिक आख्यान आदि आते हैं। इसमें कवि केवल अपने तक ही सीमित न रहकर दूर तक अपनी दृष्टि फैलाता है। वह किसी समय-विशेष या देश-विशेष की भावनाओं में न बँध कर विपुल मानव-जीवन को अतीत वर्तमान और भविष्यत् के सन्दर्भ में अपने भीतर समेटे रहता है। जितने भी विश्व के बड़े-बड़े महाकाव्य अब तक लिखे गये हैं उनमें कवि का व्यक्तित्व तिरोहित होकर समग्र मानवता का रूप मुखर हो उठा है।

महाकाव्य की व्याख्या

यह तो निर्विवाद है कि महाकाव्य की परिधि अत्यन्त विस्तृत है। उसकी कथा किसी व्यक्ति विशेष की नहीं वरन् मानवता का इतिहास मानव जीवन की व्याख्या और मानवीय मनोवेगों का स्वच्छन्द प्रवाह उसमें मिलता है। वह अपने रचयिता की लोकोत्तर प्रतिभामयी कल्पना-शक्ति का दिग्दर्शन कराता विश्व भावनाओं को तरंगित करता और उसे दिव्य रस के प्रवाह में प्रवाहित करता है। महाकाव्य का उद्देश्य है—जीवन की घनीभूत विस्तृत निगूढ़ अनुभूतियों को अपने महा कलेवर में समेटे रहना और मानवीय उच्चादर्शों को उद्भासित करना।

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ के अनुसार जो सर्गों में बँधा हुआ हो वह महाकाव्य है। उसमें एक नायक होता है, जो देवता या उत्तम कुल का धीरोदात्त गुणों से युक्त क्षत्रिय होता है। एक वंश के कई राजा भी नायक हो सकते हैं। शृंगार, वीर और शांत रस में कोई एक रस अंगी होता है अन्य रस गौण होते हैं। नाटक की सभी संधियाँ रहती हैं। उसकी कथा ऐतिहासिक अथवा लोकप्रसिद्ध महापुरुष की होती है। धर्म अर्थ काम मोक्ष इस चतुर्वर्ग में से उसका एक फल दिखाया जाता है। आरम्भ में मंगलाचरण या वस्तु निर्देश का [illegible]ता है। कहीं-कहीं खलों की निन्दा और सज्जनों की प्रशंसा होती है [illegible] न से कम आठ सर्ग रहने आवश्यक हैं। प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द हो [illegible] सर्ग अन्तिम पद्य भिन्न छन्द का होता है यद्यपि कहीं-कहीं अपवाद [illegible] ता है सर्ग के अन्त में अग्रिम कथा की सूचना भी होनी चाहिए। रात्रि प्रदोष अन्धकार, दिवस प्रातःकाल मध्याह्न मृगया संयोग वियोग स्वर्ग नरक यात्रा संग्राम अभ्युदय पतन आदि सांगोपांग वर्णन होना चाहिए। उसका नामकरण कवि व [illegible] क

आधार पर होना चाहिए। प्राय: स्वतन्त्र नाम भी देखे जाते हैं।

पश्चिमी काव्यशास्त्र के अनुसार महाकाव्य में कोई सच्ची ऐतिहासिक अथवा लोकप्रसिद्ध बृहद् कथा वर्णित होनी चाहिए। वह कवि की कोरी मनगढ़ंत कल्पना न हो हाँ—अपने विचारों और आदर्शों के अनुसार वह उसे कुछ परिवर्तित अवश्य कर सकता है। महाकाव्य का विषय महत्त्वव्यंजक उसके पात्र असाधारण और धीर्यगुण-सम्पन्न तथा नायक कोई महापुरुष होना चाहिए। कवि के लिए यह आवश्यक है कि वह कथा के मर्म में पैठ कर उसकी इस प्रकार कलात्मक अभिव्यंजना करे कि उसमें एकसूत्रता और महती गरिमा हो। वर्णन-शैली और भाषागत सौन्दर्य भी अपूर्व होना चाहिए। उसमें एक ही छन्द का प्रयोग होना चाहिए। कथाओं उपकथाओं और रोचक प्रसंगों के अतिरिक्त उसमें देवी-देवताओं और नियति की भी प्रमुखता होती है। महाकाव्य की कथा किसी व्यक्ति विशेष की न होकर जातीय भावना को प्रतिबिम्बित करने वाली होनी चाहिए।

पाश्चात्य और पौरस्त्य दोनों के कथनों में—जहाँ तक महाकाव्य की उदात्तता और गरिमा का प्रश्न है—कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों में ही आधारभूत समानता यह मिलती है कि महाकाव्य म वर्णित विषय का उचित परिपाक व्यंजना की प्रगल्भता और उच्चकोटि रसप्रवाह होना चाहिए। जिसमें उत्कृष्ट व्यंजना गंभीरत्व और महाकवित्व नहीं—वह आकार में बड़ा होने पर भी महाकाव्य कहलाने का अधिकारी नहीं है। महाकाव्य म जीवन-समष्टि की अभूतपूर्व झाँकी पार्थिव कर्तव्यों एवं चेष्टाओं का अवदान सत्य सौंदर्य तथा उदात्त एवं मौलिक कल्पना-स्वातन्त्र्य का अनूठा सम्मिश्रण और बाह्य एवं अन्तर्जगत् को परिप्लावित करने वाली मंगलमयी निर्मल मन्दाकिनी निर्झरित होती है, जिसमें अद्भुत सौंदर्य-श्री के चरम अस्तित्व की विलक्षणताएँ और जीवन की सम्पूर्ण समग्रता व्याप्त रहती है।

महाकाव्य स्वतः सार्वदेशिक है। भले ही धाराधारों से उसकी सृष्टि हुई हो अथवा जनश्रुतियों से उसकी एक विशिष्ट संस्कृति का विकास हुआ हो फिर भी इस सृष्ट संस्कृति के मूलअंश में जो लोक जीवन के अपरिमित तन्तु सिमटे हैं वे ही वस्तुतः उसके प्राणपोषक तत्त्व हैं। न केवल परिस्थितियाँ घटनाएँ, दृश्यांकन जीवन के अनगिन चित्र सुख-दुःख हास्य-रुदन राग-द्वेष प्रेम-घृणा ईर्ष्या क्रोध तृप्ति अतृप्ति अभाव-वैभव हठ-अभिलाष अज्ञान-व्यामोह बबसी असमर्थता वरन् जवानी के जोश का बलबला और प्यार-मुहब्बत की रंगीन घोल मस्ती के भी कितने ही रोचक कथानक पूरे होते हैं। पात्र कथोपकथन वाक्-पटुता स्वरभेद और वैविध्य साथ ही घटनानुकूल चरित्र-चित्रण मनःस्थितियाँ आचार-विचार, तथ्यान्वेषण और उसके अंतरंग भेद प्रभेद—यों उसका विराट् रूप और व्यापकता उस अथाह समुद्र की नाई है जो अपने अतल में न जाने कितना कुछ समेटे रहता है। व्यक्ति से कुटुम्ब कुटुम्ब से समाज और समाज से राष्ट्र तक की रागात्मक अनुभूतियों को

संजोए महाकाव्य की विशेषता है कि वह अपने पात्रों और चरित्रों की एक नई दुनिया बसाता है उन्हें अमर कर देता है, एक इकाई के रूप में—समय और मुक्त—मानव मात्र की सामूहिक एकता का वाहक और युग-युगांत तक उसके महान् अस्तित्व का गवाह है। यही कारण है कि काव्य रूढ़ियाँ कथानक रूढ़ियाँ एवं उपलब्धियों की दृष्टि से पाश्चात्य-पौरस्त्य का भेद कृत्रिम माना गया है।

महाकाव्य के मूल तत्त्व

महाकाव्य के प्रमुख पाँच तत्त्व हैं—(१) सानुबंध कथा (२) वस्तु-वर्णन (३) भाव-व्यंजना (४) देशकाल और (५) शैली। महाकाव्य में कथा प्रवाह पर विशेष ध्यान दिया जाता है। महाकाव्यकार किसी सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक गाथा को लेकर अपनी सबटित सामूहिक शक्ति द्वारा मानव-आदर्श और विशिष्ट जिवनरुचि की स्थापना करता है। उसकी काव्य-सृष्टि के साधन किसी देश-विशेष अथवा काल विशेष से सीमित हो सकते हैं किन्तु उसके साधनों के भीतर वह प्रकाश छिपा रहता है जिससे प्रेरित होकर वह अपने अन्तर्बाह्य को उदात्त भावनाओं से रंजित करता हुआ विशद चिन्तन और विचार-बहुलता अपनाता है। वह प्रमुख इतिवृत्त के साथ गौण कथानकों अथवा नवीन काल्पनिक घटनाओं रसात्मक प्रसंगों और महत्त्वपूर्ण जीवन दशाओं को भी समाविष्ट कर सकता है।

महाकाव्य में मनोज्ञ वर्णनों पर भी कवि का ध्यान केन्द्रित होना चाहिए, किन्तु कहीं-कहीं वर्णन-योजना पर उसकी दृष्टि इतनी सुस्थिर हो जाती है कि वह समुचित प्रतिपादन पद्धति की परवाह न करके विस्मयोद्बोधक एवं चमत्कारपूर्ण प्रसंगों के वर्णन में ही अपनी सारी शक्ति व्यय कर देता है। विश्व-जीवन इतना जटिल और विविधता से पूर्ण है कि काव्यकार को उसके विराट् स्वरूप को हृदयंगम करने के लिये चारों ओर अपनी दृष्टि फैलानी पड़ती है। भाव-व्यंजना के अन्तर्गत समूचे कार्य-व्यापार, कथोपकथन और चरित्र-चित्रण आदि बातें आ जाती हैं। उसके चरित्र का अध्ययन जितना ही सूक्ष्म जितना ही परिस्थितिजन्य और वैविध्य को स्पर्श करने वाला होगा उतना ही सफलता से वह चरित्र-चित्रण कर सकेगा।

जीवन के चित्रण के रूप में महाकाव्य का महत्त्व मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों के संबंध में है। महाकाव्य के पात्र किसी देश-विशेष और समय विशेष के होते हैं, किन्तु उनमें इस प्रकार जीवन-तत्त्वों का संघटन होना चाहिए कि वे किसी एक युग एक समाज और एक देश के न होकर सार्वदेशिक और मनुष्य की सनातन एवं बहुविध प्रेरणाओं के प्रतीक बन जायें। युगों के संघर्षों के बीच टकराती अविच्छिन्न जीवन-धारा अनुभूत उपकरणों रागात्मक क्रिया-प्रतिक्रिया और अमूर्त सिद्धांतों के अशेष पटल सामने खोलकर रख दे तथा जीवन की निर्वैयक्तिक विराट् व्याख्या के अन्तर्गत तद्विषयक तथ्यों के रहस्य का हल भी सरलता से खोजा जा सके। मोटे रूप में उसके द्वारा जो भी प्रतिपादित किया जाय वह लोकोत्तर आनन्द की उद्भावना

और युगानुरूप रागबोध और निर्माणप्रिय विचारों की व्यंजना करने वाला होना चाहिए।

महाकाव्य में आदर्श और उत्कृष्ट चरित्रों का चित्रण किया जाना ही अनिवार्य नहीं है। महान् से महान् व्यक्तियों में भी कुछ न कुछ त्रुटियाँ अवश्य होती हैं। चरित्र को सजीव और सहज गुणों से विभूषित करने के लिए उनमें अच्छाइयों बुराइयों और जीवन के उन अंशों पर प्रकाश डाला जाना चाहिए जिससे कि स्थायी रूप से वे हमारी भावना का विषय बन जायें। कथोपकथन पात्रों के अनुरूप और काव्य की स्वाभाविकता को प्रकट करने वाला होना चाहिए।

महाकवि अपने महाकाव्य में जिस कथा-अंश और जीवन के उदात्त पक्ष को लेकर चलता है उसे तत्कालीन सामाजिक राजनीतिक आर्थिक और सांस्कृतिक वातावरण की सापेक्षता में रख कर ही देखता-जाँचता और अपने विषय का प्रतिपादन करता है। रामायणकालीन अथवा किसी भी युग विशेष की कथाओं उप-कथाओं का चित्रण करते हुए लेखक को उस समय की परिस्थितियों और वातावरण का ठीक ठीक परिज्ञान अपेक्षित है। यदि वह इसका ध्यान नहीं रखता तो अपने ध्येय की पूर्ति न कर सकेगा। महाकाव्य को लिखने की शैली प्रभविष्णु और उदात्त होनी चाहिए ताकि स्वानुभूति और लोकानुभूति के सर्वसामान्य तत्वों को समन्वित किया जा सके। काव्यकार की महती कृति आत्मरुचि की भावना से अनुप्राणित होकर ही मंगलमयी वैभवसम्पन्न और चिरलोभ्य बन सकती है।

महाकाव्यों की परम्परा

हमारे देश में वर्तमान काल में ही नहीं वरन् वैदिक और पौराणिक युग के मध्यवर्ती समय अर्थात् ईसा से कई हजार वर्ष पूर्व से श्रीमद्वाल्मीकीय 'रामायण' और श्री वेदव्यास द्वारा रचित 'महाभारत' इन दो बृहद् महाकाव्यों का प्रचार है। ये महाकाव्य जितने प्राचीन हैं उतने ही समृद्ध भी हैं। साथ ही इनमें महाकाव्यों के से विस्मय और ईश्वरप्रदत्त उपकरणों का चमत्कार भी दीख पड़ता है।

श्रीवाल्मीकि कृत रामायण में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम की कथा विशद रूप से वर्णित है। इसमें इतिहास और कल्पना का सुन्दर सम्मिश्रण है। क्या लोक पक्ष क्या आध्यात्म पक्ष—दोनों और इनकी गूढ़ता गम्भीरता और सरसता महान् है। राम की सामान्य जीवन-दशाओं को सामने रखकर उन्होंने अपनी कल्पना के उत्कर्ष द्वारा साधारण जनता के हृदय में उनका आदर्श मानव-रूप प्रतिष्ठित किया। काव्य की उदात्त गम्भीरता एवं दार्शनिक पुष्टता लोकोत्तर और मनुष्य की कल्पना से परे है। कथाओं, उपकथाओं और जीवन-वृत्तों द्वारा मानव की विराट शक्ति का दिग्दर्शन कराया गया है।

महाभारत में श्रीवेदव्यास ने कौरवों, पांडवों के महायुद्ध की बृहद् कथा बड़ी

सदाशा और दृढ़ता से सूत्र बिठाकर एक महागाथा के रूप में प्रस्तुत की। आरम्भ की कितनी ही घटनाओं का अन्त में जाकर समाहार होता है और स्फुट कथाओं के अत्यन्त विस्तृत और अनूठे वर्णन इस सागर के भीतर लहरें मार रहे हैं। महाभारत में पार्थिव शक्ति की पराकाष्ठा के साथ-साथ अलौकिक तत्वों का समावेश भी है। कथा-सृष्टि जटिल परम्परा प्राप्त और मंथर गति से आगे बढ़ती है। इसमें कर्तव्या-कर्तव्य और धर्माधर्म का बहुत ही सूक्ष्म विवेचन है और ईश्वर, जीव सृष्टि ईश्वर प्रेम जगत् की निस्सारता आदि पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

इन दोनों महाकाव्यों में सदियों का इतिहास समाया हुआ है। न केवल इनका प्रभाव अपने देश तक ही सीमित है वरन् इतर देशों जातियों एवं संस्कृतियों पर भी इनका प्रच्छन्न प्रभाव द्रष्टव्य है। दार्शनिक गूढ़ता व्यापक अनुभूति और सृजन-सामर्थ्य में तो ये महाकाव्य ग्रीस के सुप्रसिद्ध होमर कृत 'इलियड' (Iliad) और ओडसी' (Odyssoy) इटली के महाकवि वर्जिल और दांते के महाकाव्य इनियड' (Aeneid) और 'दि डिवाइन कामेडी' (The Divine Comody) और मिल्टन का अंग्रेजी महाकाव्य 'पैराडाइज लास्ट' (Paradise Lost) आदि से भी बाजी मार ले जाते हैं। इनमें हमारे महर्षियों की साधना और संकल्प साकार हो उठे हैं जो मानव जीवन के विभिन्न आदर्शों भावनाओं अभावों पूर्तियों एवं संख्यातीत विविधताओं का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। इन महाकाव्यों का विषय है मानव-जीवन सम्बन्धी शाश्वत एवं चिरन्तन मनोभाव किन्तु ज्यों-ज्यों लोगों ने नवीन विचारधारा को ग्रहण किया और साहित्य आदर्शवाद से यथार्थवाद की ओर झुका त्यों-त्यों मानव परिवेश के व्यापक तत्व घटते गये। प्राचीन आदर्श पिछले युगों की विरासत के रूप में चलते रहे किन्तु उनमें वस्तुरकृष्ट कथा का संकेत शिथिल और जीवन की समग्रता के पक्ष इनगिन रह गये। संस्कृत में कुछ काल तक व्यक्ति प्रधान यथा— किरातार्जुनीय' 'शिशुपालवध' 'कुमारसंभव' आदि महाकाव्यों की परिपाटी चलती रही लेकिन उनमें 'रामायण' 'महाभारत' की भाँति विश्व चेतना का विराट् मर्मस्पर्शी स्पन्दन न सुन पड़ा।

किसी भी राष्ट्र अथवा जाति के इतिहास में महाकाव्यों का उद्‌भव एक विशिष्ट युग में ही हुआ करता है। अपनी आदिम अवस्था में कवि जीवन को समष्टि रूप में अपनाकर उसमें अपनी भावनाओं का उन्मेष करता है। ऐसे युग में लोकोत्तर शक्ति में विश्वास देवी-देवताओं में आस्था और नियति से बँधे रहने में ही उसे अपना कल्याण दीख पड़ता है। रामायण महाभारत आदि महाकाव्यों में साहसिक कृत्य संग्राम और दैवी दुर्घटनाओं का बाहुल्य है। मनुष्य देवताओं और नियति के हाथ का खिलौना है उनकी दुर्जेय शक्ति उससे खिलवाड़ करती है। जिसकी तह में वह नहीं घुस पाता उसे ही भाग्य मानकर जीवन की विषम परिस्थितियों को वह सिर झुकाकर स्वीकार करता है किन्तु ज्यों-ज्यों उसका ज्ञान विकसित होता जाता है और समाज एवं राष्ट्र द्वारा निर्धारित नियमों में उसकी बुद्धि बँधती है त्यों-त्यों अनेक समस्याएँ

उभरकर उसकी संगठित समूह शक्ति और आदिम भावना को नष्ट कर देती है।

हमारे प्राचीन महाकाव्यों में बृहत्तर भारतीय संस्कृति एक नई विराट शक्ति के रूप में सदा सामने आई। पूर्णत्व की खोज और आध्यात्मिक आधार पर मानवीय सम्बन्धों के आधारभूत तत्त्व भारतीय जीवन में जो कुछ भी दर्शन अथवा धर्म के रूप में विशिष्टता है उसके जीवन्त समन्वय की भावना अर्थात् भिन्न और असम्बद्ध अंगों को मिलाकर एक करने की चरम अनुभूति ज्ञान भक्ति और योग की अदृष्ट शक्ति का अन्तरावलम्बन मोटे रूप में सबसे व्यापक तथ्यों को समझने-बूझने की अक्षुण्ण भावना के साथ-साथ शास्त्रीय एवं व्यावहारिक पक्षों की सापेक्षता में पठन के प्रयास चलते रहे। महाकाव्य युग और जीवन के अंतर्बाह्य की झाँकी प्रस्तुत करता हुआ अक्षुण्ण धरातल की उन्मुक्त चेष्टाओं का प्रतीक बना रहा। बुनियादी सांस्कृतिक एकता का सूत्रपात करते हुए भौतिक और बौद्धिक रूप से जो उभार दिया उसके मूल तत्त्व इस प्रकार हैं

१ समग्र जीवन की एकतानता जिसने भविष्य में समन्वय और प्रशस्त जीवन सत्य को उद्घाटित किया।

२ जीवन अपने अर्थ को उसकी हर परिस्थिति को नित-नई समस्याओं और गुत्थियों को काव्य के सन्दर्भों में उजागर करता रहा।

३ फिर व्यंजना भी उनमें कितनी उदात्त होती थी। न केवल भाव-समृद्धि तन्मयता और मनोयोग वरन् सरसता ओजस्विता और भाव प्रवणता के भी अजस्र उत्स होते थे। कल्पना की आँख ने अतीत वर्तमान और भविष्य की दुर्भेद्य पर्तों में झाँका था।

४ दुर्दम्य धारा प्रवाह की भाँति मार्ग बनाता जीवन-संघर्षों की कठोर चट्टानों से टकराता परिस्थितियों के कगारों को चकनाचूर करता महाकाव्य मूलगत प्रवृत्तियों को प्रतिबिम्बित करता रहा। कितने ही वर्णित तथ्य सामूहिक द्वन्द्व-संघर्ष का साक्ष्य प्रस्तुत करते रहे।

५ काव्य की कल्पना अतिमानवी होते हुए भी उसकी भाव-व्यंजना मानव की भाव परिधि को छूती रही अतएव समग्र मानव-मन के अनेक भावान्तरों का संचित स्मृतिज्ञान उसके पीछे है। युग-युगान्तर की राजनीति इतिहास समाज धर्म दर्शन ज्ञान-विज्ञान मनोविज्ञान रीति-रूढ़ि की पुंजीभूत अनुभूति और इस समग्र अनुभूति की असम्बद्धता में कितने ही दुरन्त-दुर्दम द्वन्द्व-संघर्ष और समस्याएँ निराहित हैं। इन दीर्घतम कथाभारों के आरपार झाँकने की उतनी ही अनगिन प्रक्रियाएँ भी हैं जिससे मूल कथा का तारतम्य टूट जाय तो उन्हें कल्पना से उसे संश्लिष्ट किया जा सकता है।

६ गतिमान जीवन में जो उतार चढ़ाव या बाधा दुराशाएँ हैं उनसे परे भी कोई सत्य या नित्य-सनातन जीवन का आश्वासन है। जीवन और जगत् के वास्तविक स्वरूप को उसकी समग्रता में न बूझ सकने के कारण वह पग-पग पर इस द्वन्द्वात्मकता

से भयभीत और पारलौकिकता से पलायन की बात सोचता है। दरअसल यह अनन्त गतिमान जीवन ही अपने आप में चरम सत्य है जिसके निर्द्वन्द्व निर्विकल्प साक्षात्कार का परिणाम ही ये काव्य हैं।

७ असली मानों में काव्य तो वह है जो छलकता रस नहीं वरन् भीतर ओत प्रोत रस का आस्वाद कराये जो आंशिक रूप में नहीं सार्वकालिक और सार्वभौम रूप में कुछ उपलब्धियाँ प्रदान करे अर्थात् बाहर-भीतर की वस्तुस्थिति में पैठकर गहरा उतरे। काव्य मे आत्महित और लोकहित—यह दो ही महान् तत्व अंतर्भूत हैं अर्थात् जब काव्यकार अपनी निजता में डूबकर निर्वैयक्तिक हो जाता है उसमें तद्रूप या तत्सम हो जाता है दूसरे शब्दों में काव्य लोकाबद्ध होकर भी लोकातीत है अर्थात् जीवन-जगत् का भेद उन्हें देखकर और पहचान कर भी उनके अभेद को पा लेने में है।

८. काव्य जितना ही तलस्पर्शी और निरपेक्ष है उतना ही अपने प्रस्तुतीकरण में तात्त्विक और सत्य का वाचक भी। अपने निजत्व को सत्य की खोज में लय कर देना ही उसकी खूबी है।

९ तत्कालीन प्रसंगों एवं घटनाओं का चित्रण करते हुए भी वह घटनात्मक सामयिकता से बँधा नहीं रह सकता क्योंकि ऐसी स्थिति में अहंकृत धारणाओं पर टिका काव्य संकीर्ण अर्थ का ही द्योतक होगा।

१० कवि में जब विधायक कल्पना का जन्म होता है तो वह प्रेरणा ही उदात्त रूप में या कहें कि उसकी मौलिक परिणति ही काव्य है। अपने मनोवेगों रागों और संस्कारों को उद्वेलन में वह जितना ही कमाल हासिल करेगा यानी उसका तन्मय भाव जितना ही असीमित होगा उसमें महाप्राणता का उतना ही पुष्ट बीज अंतर्हित होगा अर्थात् उसकी रसात्मकता उतनी ही अलौकिक भावभूमि पर उसे प्रतिष्ठित करेगी।

११ कहने का तात्पर्य है कि काव्य में जीवन की सत्यात्मक सत्ता का समष्टि रूप होना चाहिए अर्थात् चेतना के माध्यम से उसे इस प्रकार उद्भासित करना चाहिए ताकि आचार और विधि की महत्ता के साथ-साथ उसमें मूर्त स्पन्दन जाग्रत हो सके। मानव में जो स्वभावतः स्थायी भाव विद्यमान होते हैं वे सनातन संस्कारों के रूप में उभर कर सौन्दर्य और रमणीयता की प्रभावात्मक व्यंजना करते हुए हमारी बाह्य इन्द्रियों को तो तृप्त करते ही हैं मानस जगत् में भी आनन्द रस का संचार करते हैं।

१२ कालान्तर में रूप और नाम में भले ही हेरफेर हो पर इन सनातन संस्कारों का भाव नहीं बदलता। जीवन की शाश्वत धारा से उनका अविच्छिन्न सम्बन्ध है और चूंकि वे समय की सीमा में नहीं बँधते अतएव उनका अस्तित्व भी अचिन्त्य एवं अवर्णनीय है वह त्रिकालाबाधित है। यही कारण है कि उसकी व्याप्त सत्ता के समक्ष सभी नत हैं।

१३ उस अचिन्त्य एवं अनिर्वचनीय धारा का उन्नयन एक ऐसे कलात्मक

सौन्दर्य को प्रस्फुटित करता है या अंतर्रस को द्रवित कर कलाकार के द्वैत को अद्वैत की इकाई में परिणत कर देता है।

१४ वास्तविक काव्य के मूल में नित्य सत्य होता है। साधना के चरमोत्कर्ष पर पहुँच कर ही काव्यकार की चेतना स्फूर्त होती है और वह रूप और भाव की अपेक्षा न कर किसी भी श्रेष्ठ कला की शाश्वत भूमि पर उससे तादात्म्य स्थापित करता है।

१५ सामयिकता की परिधि से परे उसकी दृष्टि व्यापक से व्यापकतर— अर्थात् उसके विराट् व्यक्तित्व की विपुलव्यापिनी प्रतिभा के विविध रूपों की ही प्रतिच्छाया है। वर्तमान या विगत मूल्य मर्यादाओं को सही रूप में वह आँक सका है कि नहीं। सबसे बड़ी बात—वह अपनी विशालता में क्या कुछ समेट सका है साथ ही ज्ञान और भाव के एकत्व की ओर वह कहाँ तक प्रवृत्त हुआ है।

यों पहले के काव्य आभ्यंतरिक अनुष्ठान के प्रतीक हुआ करते थे और उसकी पूर्ति के लिए कवि को लम्बी साधना में प्रवृत्त होना पड़ता था। पर आज परिस्थितियों ने जो मोड़ लिया है उसने जीवन-वैषम्य की अनेकरूप भंगिमाएँ उसे दिग्भ्रान्त किये हैं। आज के बड़ से बड़े कवि की दृष्टि का विस्तार मौजूदा जीवन के विस्तार के साथ जुड़ा हुआ है यही कारण है कि उसके अर्थबोध में इतनी प्रतिक्रियाएँ निहित हैं कि पुराना काव्य का ढाँचा चरमरा उठा है।

किसी भी साहित्य से हमें युग की शक्तियों को परखने की प्रेरणा मिलती है। बाह्य आवेष्टन के पहलू नित्य बदलते रहते हैं अतएव साहित्य के मानदंड और मनुष्यों के मन भी बदलते रहते हैं। पुरातन आदर्श महाकाव्यों के कथ्य-विषय और ऐतिहासिक एवं पौराणिक आख्यानों के प्रति लोगों की आस्था घट गयी है। युग की विभिन्न माँगों समस्याओं और शंकाओं में उनकी वृत्ति इतनी रम गई है कि जीवन के शाश्वत स्थायी पटलों पर उनकी दृष्टि टिक नहीं पाती। तात्कालिक भौतिक समस्याओं में उलझे रहने के कारण उनकी क्रियाशीलता और जीवन में आनन्द की अनुभूति जैसे-जैसे कम होती जाती है वैसे-वैसे उत्कृष्ट महाकाव्यों का युग भी एक प्रकार से समाप्त होता जाता है।

हिन्दी में पहला वास्तविक महाकाव्य चन्द बरदाई का पृथ्वीराज रासो कहा जाता है। इससे पूर्व नरपति नाल्ह का 'बीसलदेव रासो' एक खंडकाव्य लिखा गया था किन्तु इसके अधिकांश वृत्त काल्पनिक और अप्रामाणिक हैं।

पृथ्वीराज रासो ६९ सर्गों में ढाई हजार पृष्ठ का महत्त्वपूर्ण महाग्रंथ है। इसकी रचना संभवतः सोलहवीं शताब्दी में हुई यों रासो में दिए गये संवतों आदि का ऐतिहासिक तथ्यों से सामंजस्य न होने के कारण इधर विद्वानों में मतभेद उत्पन्न हो गया है।

बुन्देलखंड के महोबे के चन्देल राजा परमाल (परमार्दिदेव जयचन्द) के

आश्रित जगनक नाम के एक भाट थे जिन्होंने आल्हा और ऊदल वीरों के साहसिक कार्यों का वर्णन और प्रगीतात्मक काव्य-पद्धति पर किया। आजकल जो 'आल्हा' गाया जाता है उसका पुराना मूल रूप बहुत कुछ विकृत हो चुका है और सामग्री भी अप्रामाणिक है। 'आल्हा' की ही तरह 'ढोला' की भी स्थिति है जिसे सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में आरम्भ न किया था किन्तु जो कुछ समय बाद जन कवि कुशलाभ द्वारा लिपिबद्ध किया गया। 'ढोला' महाकाव्य मध्यभारत और मध्यप्रदेश में बहुत प्रचलित है। सूफी काव्य-परम्परा में मसनवी शैली पर लिखे गये 'मृगावती' 'मधुमालती' 'मुग्धावती' और 'प्रेमावती' आदि महाकाव्यों के अतिरिक्त मलिक मुहम्मद जायसी का सुप्रसिद्ध 'पद्मावत' महाकाव्य मिलता है जो ईस्वी सन् १५२ (९२७ हिजरी) के लगभग लिखा गया। इसमें अलाउद्दीन और पद्मावती के ऐतिहासिक आख्यान को लेकर लोकपक्ष और आध्यात्म पक्ष दोनों का सुन्दर सम्मिश्रित रूप प्रस्तुत किया गया है। भक्तिकाल में रामभक्ति शाखा के अन्तर्गत गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरित मानस' अभूतपूर्व बृहद् महाकाव्य है। काव्य के उत्कर्ष और समुचित विकास के लिये जितने उपकरणों जीवन-संश्लिष्ट चित्रों और कल्पना-वैभव की अपेक्षा है उतनी भावराशि और ज्ञात-अज्ञात भावनाएँ इसमें बिखरी हुई हैं। तुलसीदास जी ने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा और समन्वय बुद्धि से जीवन की संपूर्ण समग्रता में झाँक कर मनुष्य की भीतरी वृत्तियों का बाह्य प्रकृति से सामंजस्य घटित करते हुए दार्शनिक चिन्तन लोक कल्याण भावना उज्ज्वल उदात्त कल्पना विश्वास अनुभूति-गमता अद्भुत काव्यशिल्प और युग-युग का शाश्वत सत्य प्रकट किया।

भक्तिकाल की अन्य स्फुट रचनाओं में लालचदास का 'हरिचरित' नरहरि का 'रुक्मिणी मंगल' नरोत्तमदास का 'सुदामा चरित' और केशवदास के 'वीरसिंह देव चरित' और 'रामचन्द्रिका' आदि आख्यान-काव्य भी लिखे गये हैं किन्तु पहले वो काव्य की कोटि में नहीं रखे जा सकते हाँ 'रामचन्द्रिका' इसमें अवश्य सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ है। केशवदास में सम्बन्ध-निर्वाह और कथा के गम्भीर और मार्मिक स्थलों को पहचानने की क्षमता न थी। जीवन के अंतरंग पक्ष उदात्त कोमल-भावना और प्रकृति की सौंदर्य-सुषमा के प्रति उनका विशेष आकर्षण न था यही कारण है कि उनमें काव्य का समुन्नत और व्यवस्थित रूप देखने को न मिला।

हिन्दी साहित्य के नवोत्थान में राम और कृष्ण की सरस लीलाओं को लेकर अनेक प्रबन्धकाव्य लिखे गये जिनमें महाराज रघुराजसिंह कृत 'रुक्मिणी परिणय' (१८५ ई.) और 'रामस्वयंवर' (१८७७ ई.) तथा बाबा रघुनाथदास रामसनेही का 'विश्रामसागर' (१८५४ ई.) उल्लेखनीय ग्रंथ हैं। इनमें साहित्यिक सौंदर्य न होते हुए भी वर्णनात्मक शक्ति और निर्माणमयी समन्वयकारी प्रतिभा दृष्टव्य है।

नव काव्यधारा उस प्राचीन परम्परा से सर्वथा विच्छिन्न से लगते हैं। नई नई परिकल्पनाओं और विषम परिस्थितियों में कल्पना और सत्य का मेल बहुत कम

होता है लगता है जैसे समाधानहीन समस्याओं में उलझकर शनैः-शनैः बाहर और भीतर की साधना नष्ट होती जा रही है। जीवन की उपलब्धियाँ एक सर्वग्रासी ऊब और खोखलाहट में समाहित होती जा रही हैं। अतः मौजूदा स्थिति में काव्य के स्वतन्त्र विकास की बहुत कम गुंजाइश है। जैसे कुकुरमुत्ता बगैर दिशाज्ञान संभव नहीं होता और अथाह बस्सागर में भटकना पड़ता है उसी प्रकार परिस्थितियों के कारण जीवन में महाकाव्य का अखंड सत्य तो मानो खो गया है इसके विपरीत जीवन के तथाकथित झूठे आदर्शों में उसकी मात्र छाया शेष है।

प्रियप्रवास

आधुनिक काल में काव्यों का आरम्भ पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'प्रिय प्रवास' से समझना चाहिए। राधाकृष्ण-प्रेम की परम्परा का निर्वाह करते हुए उन्होंने उक्त महाकाव्य की रचना की जिसमें सत्रह सर्गों में प्रेम और करुण रस से सिक्त कंस के निमन्त्रण पर श्रीकृष्ण का मथुरा प्रयाण शोकमग्न ब्रजवासियों की दयनीय दशा नन्द-यशोदा का विलाप राधा की विरह व्यथा गोप-गोपियों का असीम प्रेम तथा प्रसंगवश कितनी ही स्मृतियाँ पीड़ाएँ कृष्ण की लीलाओं के संस्मरण उनके सुख-दुख की सिहरती इच्छाएँ आदि इस काव्यग्रन्थ में बिखरी पड़ी है। राधा और कृष्ण का बचपन से साथ है दोनों साथ-साथ खेले और पले हुए हैं। दोनों को एक दूसरे को प्राप्त करने और अपना बना लेने की आकांक्षा है किन्तु मथुरा से असमय में ही बुलावा आता है और कृष्ण सदैव के लिए दूर चले जाते हैं। राधा कृष्ण के वियोग से व्यथित हो उठती है। उसका अनुराग विराग में बदल जाता है और निराश आशा की अन्तिम दशा करुणापूर्ण विरह की घूँट पीकर उनकी प्यार की मधुरिमा साधना की कठोरता में परिवर्तित हो जाती है। वे वियोगिनी से साधिका और साधिका से लोक-सेविका बन जाती है। शनैः-शनैः वे उस सतह तक पहुँच जाती हैं जहाँ प्रिय वियोग की व्यथा उनके कोमल हृदय को प्रतिकम्पित न कर उदात्त भाव स्थापित करती है।

उपाध्याय जी ने राधा को एक दूसरे ही रूप में चित्रित करके अपने काव्य को और भी मर्मस्पर्शी बना दिया है। वे करुणा की साक्षात् मूर्ति हैं प्रेम की अजस्र धारा उनके अन्तर में बहती है। किन्तु न केवल वे अपने दुःख से दुखी हैं वरन् दूसरों की व्यथा से भी उनकी आँखें गीली हैं

"इन विविध व्यथाओं मध्य डूबे दिनों में
अति-सरल-स्वभावा सुन्दरी एक बाला।
निशि-दिन फिरती थी प्यार से सिक्त होके
गृह पथ बहु वाले कुंज-पुंजों वनों में।

कृष्ण प्रेम से प्रेरित होकर राधा में लोक-जगत् का कल्याणोदय होता है। वे विलास विह्वल या उन्मादिनी नहीं वरन् कृष्ण-प्रेम विह्वल और तद्गत चित्त हैं।

उनका गंभीर प्रणय अनन्य भावपूर्ण हो शाश्वत मिलन की भूमि पर उस परमोत्कर्ष पर पहुँच जाता है जहाँ समस्त उद्वेग आक्रोश उद्वेलन अमृत रस की शत शत धाराओं में आप्लावित संयोग-वियोग से परे प्रेमाकुल अभीप्सा में लय हो जाते हैं। कृष्ण के प्रति उनका सच्चा समर्पण का भाव है मात्र दैहिक मिलन-स्पृहा नहीं अतएव उनमें बराबर कृष्णप्रेम रसानुभूति में डुबाकर तल्लीन कर देने की क्षमता जगती है। विरह-विच्छेद की विभीषिका झेलकर भी वे विचलित नहीं होतीं वरन् चिरतन्मय और प्रिय की स्मृति में विभोर आत्मस्थ हो जाती हैं। प्रणय उनके जीवन को उत्प्रेरित करता है, कुंठित नहीं करता। वस्तुतः अन्तर में बाहरी स्थिति को अव्याहत रखकर ही बाह्य जीवन के विराट् रूप की सृष्टि की जा सकती है। देह प्राण और मन में एकत्व स्थापित कर और द्वैत के भीतर अद्वैत की उपलब्धि द्वारा ही अनेक कल्पित व्यवधान हटाए जा सकते हैं। चूँकि इस अन्तराय को हटाकर ही अनन्त के बृहत् विस्तार में ओतप्रोत हुआ जा सकता है फलतः पूर्ण भाव के साधक अन्तर-बाहर के विभिन्न स्तरों का सर्वतोभाव से सामंजस्य के सूत्र में बाँध देते हैं। वे मूल सत्य को जीवन की पूर्ण सिद्धि में परिणत कर अभिनव प्रेरणा का विकास और व्यक्तिगत चैतन्य में ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं। प्रेम और कर्तव्य के द्वंद्व में यद्यपि राधा का हृदय प्रेम की ओर अधिक झुका है तथापि कर्तव्य उसे संभाले हुए है।

पतितों की थी शरण जननी थी अनाथिनी की।
आराध्या थी ब्रज-अवनि की प्रेमिका विश्व की थी॥

राधा कृष्ण के बिना अपूर्ण है पर राधा तत्त्व के विकास के विभिन्न स्तरों में उनके प्रेम की चरम परिणति सौंदर्य और माधुर्य के सम्पूर्ण प्रस्फुटन में होती है। वे एक दूसरे से अभिन्न हैं और राधा के भीतर कृष्ण और कृष्ण के भीतर राधा समाहित हैं। चरम स्वरूप के विलय से व सर्वकाम साधिका और आराधिका राधिका के महाभाव को प्रतिष्ठित करती हुई अनेक भेद रूपों में एकत्व का आभास कराती है

'राधा जैसी सदय हृदया विश्व प्रेमानुरक्ता'

हरिऔध जी ने कृष्ण-काव्य परम्परा में नवीन भाषा और शैली में 'प्रिय प्रवास' की रचना करके एक युगान्तर उपस्थित किया है। प्रियप्रवास से पूर्व खड़ी बोली में कोई मौलिक काव्यग्रन्थ न था। जो लिखे गये थे वे ब्रजभाषा में थे या खण्डकाव्य थे। 'प्रियप्रवास' में संस्कृत की नूतन शब्द-शक्ति के चमत्कार के साथ भाव नये-नये विचारों की उद्भावना भी मिलती है। पद्य प्रवाह की गति भी बदल दी गई है। मालिनी मन्दाक्रान्ता वंशस्थ वसन्ततिलका द्रुतविलम्बित शार्दूलविक्रीडित तथा शिखरिणी आदि संस्कृत के वर्ण वृत्तों में उन्होंने अन्त्यानुप्रासहीन (अतुकान्त) कविता का प्रयोग किया है। यद्यपि 'प्रियप्रवास' में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में है और पंक्तियाँ भी दीर्घ समासों से लदी हुई हैं तथापि ललित शब्दावली और एक पंक्ति दूसरी पंक्ति पर उतर कर माधुर्य छलका देती है।

कविता का उन्मुक्त रूप इस प्रकार निखरता चलता है जो कलाकार की प्रतिभा और नई सूझ का द्योतक है ।

अन्य कवियों की अपेक्षा उपाध्याय जी की भक्ति-भावना में एक विशेषता यह है कि उन्होंने कृष्ण को ईश्वर मानते हुए भी मानव रूप में लिया है उनकी अद्भुत लीलाओं और लोकरंजक रूप को नये दृष्टिकोण से देखा-परखा है । आज के बौद्धिक मन में जब कि तिल का ताड़ बनाया जाता है और बाल की खाल निकाली जाती है उन्होंने कृष्ण भक्तिपरक अलौकिक लीलाओं को विश्वसनीय एवं ग्राह्य बनाने के लिए लोक-हितकारी लौकिक रूप दे दिया है । उनकी गोप-गोपिकाएं न केवल कृष्ण के मनोहारी रूप और लावण्य पर मुग्ध हैं वरन् उन्होंने अपनी सेवाओं सदाचरणों और परोपकारी उदात्त भावनाओं से सबके हृदय जीत लिये हैं । गोपियों के साथ वे केवल केलि क्रीड़ा और हास-परिहास में [redacted] निमग्न नहीं रहते वरन् घर-घर में घूम-घूम कर प्रत्येक काम में हाथ बँटाते और दूसरों की सेवा करते हैं ।

'रोगी दुखी विपत आपत में पड़े की ।
सेवा सदैव करते निज हस्त से थे ।।
ऐसा निकेत ब्रज में न मुझे दिखाता ।
कोई जहाँ दुखित हो पर वे न होवें ।।

रास के समय अकेली गोपियाँ ही नहीं हैं बल्कि गोप भी हैं । गोप-गोपियाँ परस्पर आमोद-प्रमोद करते हैं एक दूसरे पर पुष्प-वर्षा करते हैं वीणा मृदंग वाद्यादि बजाते हैं और शोभामयी प्रकृति की गरिमा में विभोर-से दीख पड़ते हैं । गोप-गोपियों की टोलियाँ ज्योत्स्ना-स्नात निकुंजों रमणीक स्थलों और हरी-भरी भूमि में विचरण करती घूम रही थीं कृष्ण भी उनमें सम्मिलित थे और परस्पर प्रेम और सती-महिमा का बखान कर मुग्ध हो रहे थे ।

'वे यों बखेरू बहुधा रसना-सनी को
न्यारी विभा सब तमोमय है दिखाता ।

कृष्ण-भक्ति धारा के अन्तर्गत सूरदास आदि भक्त कवियों ने कृष्ण के परम्परागत भगवद् रूप और उनके अद्भुत शील-सौन्दर्य आदि को अपनाकर उनकी लीलाओं का गुणगान किया जो लोकातीत और सर्वसाधारण जीवन के लिये आदर्श न बन सकता था । हरिऔध जी ने इसके विपरीत लौकिक और अलौकिक तत्वों में सामंजस्य घटित किया । वर्षा से आप्लावित ब्रज को कृष्ण ने इस तत्परता और दक्षता से रक्षा की कि लोग कहने लग मानो उन्होंने गोवर्धन पर्वत को हाथ पर उठा लिया ।

'लख अपार प्रसार की गिरीन्द्र में
ब्रज धराधिप के प्रिय पुत्र का

सकल लोक लगे कहने उसे
रत्न किया गोपों पर श्याम ने ।

प्रचण्ड दावानल के समय जब भगवान् श्रीकृष्ण का अग्नि पी जाने का उल्लेख श्रीमद्भागवत में मिलता है तो 'प्रियप्रवास' में गोपों और ग्रामों के साथ दौड़ कर बाहर निकल भागने का तथा कालिय नाग-दमन के समय बाँसुरी की तान से उसे मुग्ध करने की अपेक्षा नाना उपाय और कौशलों से उसका निपात दर्शाया गया है ।

'सुकौशलों से कर अस्त्र शस्त्र से ।
उसे निपाता व्रजभूमि रत्न ने ॥

इस प्रकार 'प्रियप्रवास' में परम्परागत घटनाओं पर नूतन प्रकाश डाला गया किन्तु उपाध्याय जी की ये नवीन उद्भावनाएँ उन तक ही सिमट कर रह गईं। उनका प्रचार-प्रसार न हुआ । राम और कृष्ण के भगवत् स्वरूप और उनके शील शक्ति सौंदर्य की जो शाश्वत झाँकी कवियों के उर में अंकित है उसके संस्कार कभी मिटाए नहीं मिट सकते ।

'प्रियप्रवास' को महाकाव्य की कसौटी पर कसते हैं तो उसमें राधा कृष्ण लोकप्रसिद्ध नायक-नायिका सत्रह सर्ग संस्कृत के सात छन्दों का प्रयोग विप्रलम्भ शृंगार और करुण रस अभिलाषा चिन्ता स्मृति गुण-कथन उद्वेग प्रलाप उन्माद, व्याधि जड़ता मरण आदि सभी काम-दशाओं का अनुभाव एवं संचारियों के माध्यम से उचित परिपाक संयोग-वियोग संध्या-रात्रि अन्धकार-दिवस प्रातः मध्याह्न नगर-नदी वन-पर्वत छहों ऋतु पशु-पक्षी वृक्ष-लताएँ आदि सभी अनिवार्य तत्व जुटा दिये गये हैं । प्रेम की अन्तर्दशाओं के साथ-साथ मातृका प्रेम विह्वलता भग्न इच्छाएँ माँ का विह्वलता स्नेह आदि वर्णित है प्रकृति के रम्य स्थलों का अनूठा चित्रण है किन्तु काव्य की कथावस्तु इतनी स्वल्प है जो प्रबन्धकाव्य के उपयुक्त नहीं । सातवें सर्ग से ही कथा का सूत्र विच्छिन्न हो जाता है और राधा गोप-गोपी और नन्द-यशोदा का विलाप-वर्णन सत्रह सर्ग तक चलता रहता है ।

निःसन्देह 'प्रियप्रवास' एक महिमामयी और गरिमामयी कृति है । उसमें न केवल गतिशील तत्व और विचार-दर्शन की व्यापकता है अपितु प्राचीनता के साथ-साथ नूतनता और आदर्श के साथ-साथ यथार्थता भी है । यह आधुनिक हिंदी काव्यों का अग्रप्रेरक सिद्ध हुआ है ।

साकेत'

काव्य में व्यंजक शैली व्यापक सहानुभूति कुशल अभिव्यक्ति और सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति आदि जो गुण अपेक्षित हैं— वे सब 'साकेत' में सहज रूप में विद्यमान हैं । उसमें कलात्मक वैचित्र्य और जीवन की अनेक परिस्थितियों को नित-नये रूप में रचने की चाह नहीं है अपितु विस्तृत भावभूमि पर भावनात्मक प्रकृत पथ

अपनाया गया है। जीवन के सत्य सुन्दर रूप को हृदयंगम करके गुप्त जी ने अपनी परिष्कृत सूझ और समन्वित अभिरुचि का परिचय दिया है।

रामकथा प्रसंग में उर्मिला की पीड़ा और व्यक्तित्व जो अब तक तिरोहित था उसे गुप्त जी ने नवीन रूप देकर अत्यन्त सरसता और कौशल से चित्रित किया है। उर्मिला जैसी पतिप्राणा नारी के वियोग की कसक तूफानी हलचल और अनन्त प्रतीक्षा की नीरव व्यथा जो परम्परागत प्रसंगों के भार से अभी तक दबी पड़ी भीतर-ही भीतर अभिव्यक्ति के लिए छटपटा रही थी वह अनुकूल अवसर पाकर प्रकट हो गई।

वस्तुतः प्राचीन और अर्वाचीन कवियों के भक्ति विषयक दृष्टिकोणों में भी पर्याप्त अन्तर है। भगवान राम के अपूर्व प्रेमरस से सिक्त श्रीमद्वाल्मीकि तुलसी जैसे महाकवियों की लेखनी को इतना अवकाश ही कहाँ था कि वे भगवद् सत्ता से परे इतर मानवों के राग-विराग और सुख दुःखों की गाथा कह सकें। राम-सीता से भिन्न लक्ष्मण-उर्मिला के प्रेम की कल्पना और फिर वनवास के बाद प्रभु-वियोग के ताप के समक्ष वासनात्मक ऐहिक प्रेम की प्रमत्तता उन कवियों को कदाचित् रुचिकर न हुई होगी। अयोध्या में कौन ऐसा अभागा प्राणी था जो राम के दर्शनों की लालसा सँजोकर भीतर ही भीतर न घुट रहा था। परिजन, माताएँ, अयोध्यावासी सभी तो राम-वियोग में छटपटा रहे थे और फिर कौन जाने अल्पवयस्का नववधू उर्मिला राम की भक्ति में ऐसी विह्वल और आत्मविस्मृत हो कि उसे पति के अभाव की सुधि भी न रह गई हो अथवा राम और लक्ष्मण का पृथकत्व मिटकर उसकी विराट् दृष्टि में व्यापक बनकर समा गया हो। जब व्यथा गहन होती है तो अनुभूति शक्ति भी शिथिल और स्तब्ध हो जाती है उसका न विश्लेषण अभीष्ट है और न उसकी व्याख्या ही संभव है। कदाचित् यही कारण है कि राम-सीता के व्यक्तित्व से लिपटे-चिपटे लक्ष्मण-उर्मिला भी श्रीवाल्मीकि तुलसी आदि कवियों की दृष्टि से छूटने से बच कर रह गए हों और उन्होंने उनके अंतर्मन की सूक्ष्म प्रक्रियाओं एवं जीवन-सूत्रों को सुलझाने की आवश्यकता न समझी हो।

साकेत और प्राचीन काव्यग्रंथों के लक्ष्मण में भी भेद है। 'रामचरितमानस' में लक्ष्मण के चरित्र के सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवन-तन्तु राम में सिमटे हैं उनका 'स्व' मिटकर राममय हो गया है। राम जहाँ भी जाते हैं और जो भी करते या सोचते हैं—लक्ष्मण छायावत् उनका अनुसरण करते हैं। वनवास के समय लक्ष्मण को राम के साथ जाने की आज्ञा नहीं है तो भी क्या वे उनके बिना जीवन की कल्पना कर सकते हैं?

'गुरु पितु मातु न जानउ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरे सबई एक तुम स्वामी। दीनबन्धु उर अन्तरजामी॥

कैकेयी राम को सदा भरत से अधिक मानती आई है छोटे भाई से बड़े भाई का महत्व भी उसकी दृष्टि में अधिक है। यदि दशरथ ने सब बातें पहले ही बता दी होती तो वे सहर्ष अनुमति दे देती और कोई-झंझट-बखेड़ा न होता। लेकिन यहाँ तो संयोग ही कुछ ऐसा बन गया कि ज्यों ही उन्हें मंथरा द्वारा राज तिलक का शुभ संवाद मिला त्यों ही उनमें सौतिया-डाह के बीज बो दिए गए। मंथरा तरह-तरह से समझा-बुझाकर, अच्छा-बुरा और ऊँच-नीच सुझाकर और अनेक दुष्ट उपपत्नियों के दृष्टान्त देकर उनमें प्रचंड द्वय-भावना जगाता है। तिस पर भी उनका सरल मन बहुत देर बाद परिस्थिति की गम्भीरता में पैठ पाता है। यह सुनकर कि भरत राम द्वारा बन्दी बना लिए जायेंगे और वे स्वयं भी दूध की मक्खी की भाँति निराकृत होंगी उनका रोम रोम सिहर उठता है 'वन पवन कदली जिमि काँपी' और फिर उनमें जो अन्तर्द्वन्द्व और भावों का आलोड़न-विलोड़न होता है वह बड़ा ही स्वाभाविक और 'भरत से सुत पर भी सन्देह बुलाया राम' न कहें तो गेह से अधिक सबल कारण है। 'मानस' की कैकेयी के समक्ष राम और भरत के मानापमान का प्रश्न नहीं है, उन्हें दुःख है अपने विरुद्ध कौशल्या के षड्यंत्र का अपने आत्म सम्मान की दारुण क्षति का और पति की दृष्टि में उपेक्षिता हो जाने का जो नारी जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है। युग-युगान्तर से सौतिया डाह का जो विष नारी-जाति के सिर पर चढ़ कर बोला है वही राम-वनवास का भी कारण है। ऐतिहासिक परम्परा की लीक से हटकर उसमें पुत्र की मंगलकामना जैसा कोई हल्का कारण निहित नहीं है।

'मानस' की कैकेयी के अन्तर्भावों में क्रमशः उतार-चढ़ाव होता है। दो वर दान माँगने की बात भी मंथरा के सुझाने से ही उसके दिमाग में आती है जबकि 'साकेत' की कैकेयी पुत्र-स्नेह के आधार पर सब कांड स्वत ही रच डालती है। 'मानस' की कैकेयी की व्यथा भी अधिक गहरी है। एक हद तक वह अपने में ही लीन है। बाहर की प्रतिध्वनियाँ उसे प्रकम्पित नहीं कर पातीं। हठ ठान कर वह भीतर ही भीतर घुट रही है। सौतिया डाह का विष चढ़ गया है और वह उसके नस-नस में पैठ गया है क्योंकि नारी की एकान्त दुस्सह स्थिति के साथ-साथ यह ऐसा भयानक विष है जहाँ से जघन्य से जघन्य कर्म की मूल निकल आ सकती है मानों भीतर के इसी असत् में से इसी हठ में से विस्फोट हुआ करता है। परन्तु पुत्र की प्रताड़ना से वास्तविकता का बोध होने पर उसके पश्चात्ताप में भी एक भारी काठिन्य और अवसाद है जो उसकी अन्तर्वेदना एवं घनीभूत पीड़ा को अधिकाधिक दारुण और विषम बनाकर उसके दर्प को कुचल डालना चाहता है गई गलानि कुटिल कैकई काहि कहै केहि दूषन देई। 'साकेत' की कैकेयी जो बातों की राहत है वह वाकपटु है और श्रोता को प्रभावित कर देती है। इसके विपरीत 'मानस' की कैकेयी की व्यथा गहरी और सघन है जो भीतर-ही भीतर उमड़ घुमड़ कर रह जाती है। भाव स्तब्ध और शब्द मूक होकर उसे भीतर-ही भीतर कचोटते हैं। वह उन्मनी अवसन्न और जड़वत् हो गई है, जैसे आसपास का वातावरण अयथार्थ है, अस्तित्व

हीन और वह स्वयं गिरी अपदार्थ बनी शून्यस्व अधर में लटकी है। पराजय और घोर पश्चात्ताप के कारण वह मृत्यु की कामना करती है—'अवनि यमहि याचति कैकेई, महि न बीच विधि मीच न देई।' कहने की आवश्यकता नहीं कि गुप्त जी का मनोवैज्ञानिक आधार हल्का साथ ही आधुनिकता के रंग में रँगा है। यों अपने नारी-पात्रों को नए साँचे में ढालकर उन्होंने उन्हें गतिमय और गुणात्मक चित्रित किया है। कैकेयी की यह उक्ति बहुत मर्मस्पर्शी है

'युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी
रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी।

परन्तु क्या उसमें तत्परता और बचाव की अपेक्षा का भाव नहीं है? साहसी उसे हम अधिक कहेंगे क्योंकि भीतर का सामना वह भले ही न कर सके पर क्या किसी का सामना होने पर वह जड़ और निस्पन्द बनी बैठी रहे? उपेक्षिता उर्मिला का चित्र भी विरहिणी नारी का अत्यन्त सजीव रूप है जो अब तक कवियों की लेखनी से अछूता ही रह गया था। विरह के प्रसंग में नारी-हृदय की समस्त कोमलता और विह्वलता मूर्तिमान् हो उठी है। करुणा से अभिभूत उर्मिला प्रोषितपतिकाओं को निमंत्रण भेजती है

'प्रोषित पतिकाएँ हों
जितनी भी सखि उन्हें निमन्त्रण दे आ
समदुःखिनी मिलें तो
दुःख बटे जा प्रणय पुरस्सर ले आ।

गुप्त जी ने प्रकृति की सहायता से उर्मिला के विरह-वर्णन में सजीवता भर दी है। विरह में पुलिन पक्ष गौण मानसिक पक्ष की प्रबलता है। विपन्न क्षणों में उर्मिला पुष्पों लताओं पशु-पक्षी और अन्यान्य प्राकृतिक उपादानों में एकात्म्य अनुभव करती है। प्रकृत रूपों और व्यापारों के समक्ष जब कभी वह अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से हटकर अपनी चित्तवृत्तियों को उनके भीतर केन्द्रित कर देती है तो उसके व्यक्त प्रेम की फुलझरियाँ छूटकर अनन्त में एकाकार-सी दीखती हैं।

'सखि! नील नभस्सर से उतरा
यह हंस अहा! तरता तरता
अब तारक मौक्तिक शेष नहीं
निकला जिनको चरता चरता।
अपने हिम बिन्दु बचे तब भी
चलता उनको धरता धरता
गड़ जाएँ न कण्टक भूतल के
कर डाल रहा डरता डरता।

पाठ्य चित्र का उपरान्त विरहिणी के प्राणों को राम-प्रतिमय प्रकाश और वह न जाने कितने उद्वेगों पीड़ाओं और मानसिक द्वन्द्वों में बसी गयी चन्ना के साथ चौदह वर्ष पूरे करती है, तिल तिल काट रही थी इस प्रकार।

'साकेत' का नवम सर्ग उर्मिला के विरह गीतों से भरा है। यहाँ-वहाँ पर इतने शृंगारिक और प्राचीन परिपाटी पर साधारण स्तर के हो गए हैं। महाकाव्य की नायिका और प्रमेय की उदात्त भावभूमि के अनुरूप नहीं हैं साधारणतः रूप धारा करते हैं।

'साकेत' का नामकरण आध्यात्मिक महत्व लिए है, यों भी समस्त कथा 'साकेत' में पूर्ण गए हैं। काव्य की नायिका उर्मिला का जीवन तो 'साकेत' में चित्रित हुआ है ही, वन में घटित अनेक घटनाएँ भी 'साकेत' में ही उपस्थित हुई हैं। सर्गे में लक्ष्मण उर्मिला के प्रेमपूर्ण संलाप से बारहवें सर्ग में उनके परस्पर मिलन की लम्बी कथा का एक ही स्थल पर सुन्दर समाहार हुआ है।

बीच में राम-तिलक कैकेयी की वरदान-याचना वन-गमन दशरथ की मृत्यु राम का चित्रकूट में वास भरत का अयोध्या-आगमन राम भरत मिलन सीता हरण लक्ष्मण-मूर्छा राम रावण युद्ध की घटनाएँ आदि प्रसंग भी सब अभि

काव्य-रचयिता—कृत्रिम परिधियाँ तोड़कर—हर स्थिति और हर विषय अपनी उन्मुक्त चेतना का विकास किया करता है। वर्तमान हो या अतीत वा हो या चिरन्तन सत्य हो या काल्पनिक आधुनिक हो या परम्परित किन्तु तत्का वातावरण से व्यक्ति-चरित्रों में परस्पर सामंजस्य स्थापित करने के लिए उसे परम्परा की प्रामाणिकता सिद्ध करनी पड़ती है।

इसमें सन्देह नहीं कि साकेतकार ने प्राचीन और अर्वाचीन दोनों परम्परा को बखूबी निभाया है। इस आस्तिक कवि द्वारा लिखा उक्त काव्यग्रन्थ नूतन युग व और आस्थाओं को लेकर नौभूमा भावना स्तर पर किया गया है। अतएव यह सामाजिक और नैतिक परिस्थितियाँ उसकी भावात्मक गहराई को काफ़ी हद तक प्रभावित करती हैं। जैसा कि स्पष्ट है—'साकेत' की समूची कहानी उर्मिला की अलौकिक पीड़ा और उसके अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों की जटिलता और वैविध्य से जुड़ी है सही पर उसकी प्रेमानुभूति की गहराई किस हद तक व्यापक परिवेश और मानवीय संवेदना को छूती है, उसके अपने सूक्ष्म चारित्रिक पहलू कितनी भूमियों पर उद्घाटित हुए हैं साथ ही हर मन-स्थिति और अनुभूति का आवेग किस प्रकार रागात्मक तथ्यों पर टिका है—यह सब देखना है।

'साकेत' की उर्मिला की व्यथा सहज संवेद्य न होकर वैयक्तिक अधिक हो गई है, वह अपने तईं ही उमड़ती-घुमड़ती है। उसके प्राण-स्पन्दन में वैसी अनुगूँज नहीं जो व्यापक स्तर पर रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर सके। चाहे कैसी ही परिस्थिति हो —पर व्यक्ति-जीवन में भावों के आरोपण की दुर्भेद्य छायाएँ घनीभूत हो जाती हैं

तो न वैसी कचोट होती है और न वैसा मर्मस्पर्शी प्रभाव। अनेक स्थलों पर उर्मिला की विकलता मन को छूती है पर मुझे लगा है कि उसके विरह के मूर्त चित्र कहीं कहीं ऐसे अन्तर्विरोधों और मुठभेड़ बने वाली ऊहात्मकता का परिचय देते हैं कि दर्द के बिन्दु पर केन्द्रित उसकी व्यथा मात्र संकीर्ण अनुभूति को प्रश्रय देती है और मूल भाव की आत्मा को आच्छन्न कर लेती है।

प्राचीन काव्यग्रन्थों की कथावस्तु दो भागों में विभक्त होती थी—आधिकारिक (मुख्य) एवं प्रासंगिक (गौण)। मुख्य कथा और चरित्रों के विकास के लिए अनेक प्रसंगों का उल्लेख होता था साथ ही ऐसे-ऐसे लघु प्रसंग एवं घटनाएँ भी उनमें जुड़ी होती थीं जो मुख्य चरित्र को उदात्त बनाने में सहायक होती थीं। उनमें ऐसे विषयों को गौण बनाकर या काट-छाँट करके रखा जाता था जो मुख्य कथा-प्रवाह की रोचकता और औचित्य के अनुकूल न होते थे या कथा-संगठन की दृष्टि से उससे तालमेल न बैठा पाते थे। श्रीवाल्मीकि या तुलसीदास ने ऐसे प्रसंगों एवं अन्तर्कथाओं का समावेश किया है जिनमें व्यापक स्तर पर मानवीय विकास की प्रेरक शक्तियाँ एक महागाथा के रूप में प्रस्तुत की गई। न केवल उनके कथा-साहित्य का आन्तरिक पक्ष ही सुदृढ़ सशक्त एवं कलात्मक उत्कर्ष में श्रेष्ठतर था अपितु चरित्र चित्रण और काव्यात्मक अभिव्यक्ति भी उनकी बड़ी ही उच्चस्तरीय थी। गुप्तजी ने सांस्कृतिक परम्पराओं की निष्ठापूर्ण आस्था के बावजूद भी आज की बौद्धिक प्रतिक्रिया को परीक्षित करके प्राचीन तथ्यों को नया रूप दिया। उर्मिला का कथानक लेकर 'साकेत' में जो उदात्त सांस्कृतिक चित्र खींचा गया है वह उस पर हावी-सा लगता है और चरित्रों की स्वाभाविकता पर भी उसका अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ा है अर्थात् जहाँ किसी एक व्यक्ति की प्रधानता होती है वहाँ व्यापक मानवीयता और भू-संस्कृति के लिए चेतना का विकास गौण हो जाता है। फिर भी अनेक परिवर्तनों से गुजर कर 'साकेत' में जो सामाजिक विघटन दर्शाया गया है वे उक्त विघटित तत्त्वों के बीच एक संतुलित भूमि खोजने के लिए क्रियाशील" है।

गुप्तजी की भाषा सुसंस्कृत प्रौढ़ और साहित्यिक होते हुए भी बोधगम्य है। प्रसंगानुकूल अलंकारों छन्दों और रसों का प्रयोग भी हुआ है। आज के युग की नवजाग्रत चेतना में गुप्त जी ने उपेक्षित उर्मिला को अपनाकर एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है।

'कामायनी'

प्रसाद की बृहत्तम कृति 'कामायनी' में न केवल कवि की सृजन-सामर्थ्य और जाग्रत चेतना के दर्शन होते हैं वरन व्यक्त अव्यक्त मानवीय मूल्यधाराओं की आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या भी मिलती है। देवसृष्टि के जल-प्लावन के दृश्य से इस काव्य का आरम्भ होता है। जल-प्लावन से बचे हुए आदि मानव वैवस्वत मनु इस विध्वंसकारी दृश्य के मध्य एकाकी चिन्तित और निराश बैठे हुए हैं। अतीत वैभव

और सुखों की याद करके उन्हें अनन्त में विषाद रेखाएँ-सी खिंची दीखती हैं। सृष्टि के दुर्जेय प्रसार का अवलोकन करते-करते जब उनका अकिंचन चैतन्य विशृंखल-सा हो रहा है, तभी सहसा उन्हें उषा का नव चारु आलोक फूटता नज़र आता है। उनमें आशा का संचार होता है और वे मानस लोक की उस मधुमती भूमिका में पहुँच जाते हैं जहाँ उन्हें ऐसी विचित्र लोकोत्तर अनुभूति होती है कि रस तो चहुँ ओर छलक रहा है ग्राहक-शक्ति होनी चाहिए। उस विराट् की अनंत सत्ता में रागात्मक वृत्तियों का लय साथ ही प्रकृति की अनिर्वचनीय सौंदर्य-सुषमा में सभी कुछ जैसे उन्हें एकाकार सा लगा। मनु की एकांत नीरसता सौंदर्य के उस मूर्तिमान विहँसते वातावरण की मनोमुग्धकारी धूप में बिखर गई। इस नये रहस्य से अभिभूत सहसा उनमें कौतूहल और जिज्ञासा जगी। तीव्र विराग से उपजी कर्म की रागमयी अंतर्प्रेरणा का साकार रूप है श्रद्धा जो उन्हें अचानक मिल जाती है और उनमें आस्था और अनुरक्ति जगाती है

'कर रही लीलामयी आनन्द
महाचिति सजग सी व्यक्त
विश्व का उन्मीलन अभिराम
इसी से सब होते अनुरक्त ।

मानव-मन जब निराशा और अवसाद के कुहरे में खो जाता है तो उसे कर्म की ओर प्रवृत्त करने की आवश्यकता होती है। श्रद्धा के साहचर्य से मनु के शुष्क हतचेत जीवन में रस की धारा बहने लगती है। कुछ दिन दोनों सुखपूर्वक रहते हैं, फिर मनु उद्विग्न रहने लगते हैं। मनु श्रद्धा के समस्त सद्भाव और प्रेम पर अपना एक-मात्र अधिकार चाहते हैं यहाँ तक कि उन्हें श्रद्धा के गर्भस्थ शिशु और पालित पशु पक्षियों से भी चिढ़ हो जाती है। एक दिन वे उसे हिमालय की निर्जन कन्दरा में छोड़कर चल देते हैं।

सारस्वत प्रदेश में मनु का इड़ा से साक्षात्कार होता है। दोनों एक-दूसरे पर आसक्त हो जाते हैं और इड़ा मनु को सारस्वत प्रदेश का शासक बना देती है। किन्तु वे अपने को स्वतन्त्र नियामक मानकर मनमानी करना चाहते हैं। इड़ा 'बुद्धि' का प्रतीक होने के कारण मनु पर नियन्त्रण करती है लेकिन मनु उसी पर बलप्रयोग करना चाहते हैं। इससे प्रजा बिगड़ जाती है और मनु पर आक्रमण कर देती है। मनु मूर्च्छित होकर गिर पड़ते हैं। इधर श्रद्धा स्वप्न में सभी घटित घटनाओं का पूर्वाभास पाकर मनु की खोज में चल पड़ती है और ऐन मौके पर घटनास्थल पर पहुँच जाती है। वह अपने कोमल कर-स्पर्श से मनु की पीड़ा हर लेती है। मनु अत्यन्त लज्जित होते हैं और पिछले उन सुखी दिनों की याद करके व्याकुल होते हैं जब श्रद्धा के साहचर्य ने उनमें नवीन स्फूर्ति और सजग कर्म-चेतना उत्पन्न कर दी थी। उनका मन ग्लानि से भर जाता है और वे रात्रि में चुपचाप उठकर चल देते हैं।

श्रद्धा अपने पुत्र 'कुमार' को इड़ा को सौंप मनु को ढूँढ़ती हुई उसी पर्वत-उपत्यका में पहुँच जाती है जहाँ मनु ध्यानमग्न चितिप्रसरित का अन्तर्नाद सुन रहे थे और नटराज शिव का नर्तन देख रहे थे। श्रद्धा आगे-आगे उनका हाथ पकड़कर हिमालय पर चढ़ा ले जाती है और अत्यन्त ऊँचे चढ़कर इच्छा कर्म ज्ञान के समन्वित ज्योतिर्मय त्रिपुर के दर्शन कराती है।

सर्वप्रथम 'इच्छा' के माया-राज्य का दर्शन होता है जहाँ पर अरुण पराग की पटल छाया में इठलाती और सिहरती कोमल ध्वनियाँ मधुर स्पन्दन-सा भर रही थीं। शब्द स्पर्श रूप रस गंध की पारदर्शिनी सुघड़ पुतलियाँ रंग-बिरंगी तितलियों-सी थिरकती हुई नर्तन कर रही थीं तथा रागारुण उषा के कन्दुक-सा आलोक पिण्ड अपनी दिव्य आभा बिखेरता हुआ भावचित्रात्मक संसृति-माया के साथ झूल रहा था। कहीं बसन्त कहीं पतझड़ कहीं सुख कहीं दुःख ऐसे विषम द्वन्द्वों की भरमार थी। वहाँ पर रागारुण चेतन की उपासना में मस्त कुछ मतवाले विहग से छायामय सुषमा में विचर रहे थे।

इसके पश्चात् धुँधला-धुँधला श्यामल कर्मलोक दीख पड़ा। वहाँ पर नियति की प्रेरणा से कर्मचक्र अनवरत घूम रहा था। कहीं क्षण भर भी विश्राम न था। तृष्णाजन्य वासना ममता कोलाहल मानसिक उत्पात एषणाएँ, संघर्ष विफलता और लालसाओं की लोहित ज्वालाएँ पंचभूत के अणु-अणु में समाहित थीं। कर्म के मनोमय राज्य में अन्ध-प्रेरणा से परिचालित समस्त प्राणी क्षणिक मोद लालसा के लिए मर रहे थ।

किन्तु इसके विपरीत ज्ञान-लोक में निरन्तर बुद्धिचक्र घूम रहा था। सुख-दुःख की अनुभूति से परे वहाँ निर्मम न्याय अनुशासन और व्यवस्था थी। न्याय तपस और ऐश्वर्य में पगे प्राणी जीवन रस के कण-कण को बटोर लेने के इच्छुक थे। वहाँ ज्ञान की गरिमा थी पर तृप्ति नहीं। वे अजर-अमर और मोक्ष के साधनों से सदैव सशंकित रहते थे सन्तुष्ट नहीं। किन्हीं दुरन्त मूल तत्त्वों का चिन्तन करते हुए वे इच्छाओं को सुलझाते और सामंजस्य के बहाने विषमता फैलाते थे।

इसके उपरान्त श्रद्धा इन तीन ज्योतिर्मय बिन्दुओं की स्थिति का बोध कराती है। ज्ञान दूरस्थ है क्रियाएँ भिन्न मन की अभीप्सा पूर्ण नहीं होती—यही जीवन की विडम्बना है।

यह कहते ही श्रद्धा के ओठों पर बिखरी मुस्कान से आलोक-रेखा फूटकर तीनों ज्योतिर्बिन्दुओं को एक में मिलाकर प्रज्वलित कर देती है और चहुँ ओर शृंग और डमरू का निनाद गूँज उठता है। इस दिव्य अनाहत नाद में मनु तन्मय हो जाते हैं।

'स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो,
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे।
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।

अन्तिम सर्ग में इड़ा और कुमार भी प्रजा के साथ मानस-तट पर मनु और श्रद्धा के पास पहुँच जाते हैं और आनन्द सागर में थाह सी लेते हुए समरस हो जाते हैं।

समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था;
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था।

'कामायनी' में मनु 'मन' श्रद्धा 'रागात्मिका वृत्ति' और इड़ा 'बुद्धि' है। मन की गति चंचल है वह सदैव उद्वेलित होता रहता है। आशा-निराशा राग-द्वेष सुख-दुख आदि भाव उसमें जगते हैं। विश्वास-समन्वित रागात्मिका वृत्ति से जब तक मन का संयोग नहीं होता तब तक आनन्द-रस की उपलब्धि नहीं होती। बुद्धि मन की अनियन्त्रित शक्तियों को अनुशासित करती है, किन्तु बिना संवेदना और कोमलता के वह निरी शुष्क और तर्कमयी है।

इस प्रकार 'कामायनी' में मनु, श्रद्धा इड़ा—इन तीन ऐतिहासिक पात्रों की कथा के साथ-साथ तीन मनों की रूपक-रचना भी प्रस्तुत की गई है। मानव इतिहास के आदि पुरुष मनु की अनेक कथाएँ ऋग्वेद छान्दोग्य-उपनिषद् शतपथ-ब्राह्मण पुराण और प्राचीन आर्यग्रन्थों आदि में बिखरी पड़ी हैं। कथा के बिखरे सूत्रों को जोड़ने के लिए प्रसाद जी ने कुछ ऐतिहासिक कुछ प्राचीन आधार और कुछ परम्परागत जनश्रुतियों का सहारा लेकर अपनी बहुमुखी प्रतिभा और कल्पना के योग से यह अभूतपूर्व काव्यात्मक अनुष्ठान प्रस्तुत किया।

कवि ने कहीं-कहीं बहुत ऊँची उड़ान भरी है और जीवन और जगत् के परोक्ष-अपरोक्ष रहस्यों का उद्घाटन किया है।

मनु के चरित्र-चित्रण में प्रसाद की भावनाएँ साकार हो उठी हैं। श्रद्धा में नारी-जीवन की समस्त कोमलता माधुर्य संवेदना और करुणा व्याप्त है। बिना प्रेम त्याग और समर्पण के स्त्रीत्व का मंगलमय पूर्णरूप व्यक्त नहीं होता। मानव की कोमल मनोवृत्तियाँ केवल बुद्धिबल से नियन्त्रित नहीं की जा सकती। यही कारण है मनु के उद्विग्न मन को श्रद्धा वश में कर सकी है इड़ा नहीं। इच्छा कर्म और ज्ञान के सामंजस्य से आनन्द की उपलब्धि होती है, केवल एकांगी दृष्टि और तर्क-वितर्क विषमता उत्पन्न करते हैं।

महाकाव्य में जिस गाम्भीर्य परिष्कृत अभिरुचि और उदात्त भावनाओं का समावेश होना चाहिए वह कामायनी में सहज रूप में विद्यमान है। प्रसाद जी ने काव्य की विस्तृत पटभूमि पर उस विराट् सधी तूलिका से अपने चित्र आँके हैं जिनके रंग न कभी धुँधले हो सकते हैं और न कभी रेखाएँ ही मिट सकती हैं।

साकेत-संत

डॉक्टर बलदेवप्रसाद मिश्र का 'साकेत-संत' काव्यग्रन्थ के रूप में हिन्दी-साहित्य

के एक नवीन आदर्शत्व को लेकर प्रकट हुआ जिसमें प्राचीनता के साथ-साथ भाव का मनोविश्लेषणवाद, सामन्त-साम्राज्यवाद और समाजवाद आदि का भी सुन्दर समन्वय किया गया। जिस प्रकार मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' में समयानुकूल और रामकथा में वर्ण हुई घटनाओं को किंचित् परिवर्तित करके नूतन रूप दिया था उसी प्रकार मिश्र जी ने भी गुप्त जी के पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए राम और भरत के प्रसंग को अपनाया। काव्य का प्रथम सर्ग भरत-माण्डवी के प्रेमपूर्ण संलाप से आरम्भ होता है। कहीं-कहीं बातचीत के सिलसिले में शृंगारिकता का किंचित पुट आ जाता है जो भरत की गम्भीर प्रकृति के अनुरूप नहीं।

द्वितीय सर्ग में भरत माण्डवी सहित अपने मामा युधाजित् के साथ कैकय देश की ओर प्रस्थान करते हैं। एक दिन वहाँ प्रकृति के रम्य प्रसार से खिंचे हुए वे युधाजित् के साथ मृगयार्थ गए। उनके अव्यर्थ तीर से एक सुन्दर मृग का वध हो गया। मर कर भी उस निरीह भोले पशु की दृष्टि में कुछ ऐसी करुणा और कातरता झलक रही थी कि भरत का हृदय द्रवित हो उठा। युधाजित् ने अवसर पाकर उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया।

संघर्ष जगत् का जय है
संघर्ष जगत् की इति है
संघर्ष केन्द्र पर निर्भर
अपनी उन्नति की स्थिति है।

युधाजित् ने बातों ही बातों में भरत को बतला दिया कि वे ही राजसिंहासन के उत्तराधिकारी हैं और कैकेयी इसी शर्त पर राजा दशरथ से ब्याही गई है। उन्होंने मंथरा की ओर भी संकेत किया जिसे उन्होंने इसी प्रयोजन से कैकेयी के पास रख छोड़ा था। भरत सारी बातें सुनकर उद्विग्न हो जाते हैं और उन्हें शंका होती है कि कहीं अयोध्या में कुछ षड्यन्त्र तो नहीं रचा जा रहा। रात्रि में भयंकर दुःस्वप्नों से उनकी चिन्ता और भी बढ़ जाती है और वे नित्य 'लौट चलें साकेत' यही सोचते रहते हैं। इसी बीच मुनि वशिष्ठ के भेजे हुए दूत उन्हें लेने के लिए आ पहुँचते हैं और भरत मरुतवेग की गति वाले घोड़े पर सवार होकर साकेत-धाम के लिए प्रस्थान करते हैं।

यहाँ यह लिखना अप्रासंगिक न होगा कि भाव या कथानक में नवीनता लाते यहाँ कई त्रुटियाँ रह गई हैं और प्रचलित कथा में भी व्याघात हुआ है। यह सर्व विदित है कि कैकय प्रदेश में भरत के साथ माण्डवी नहीं शत्रुघ्न गए थे। शत्रुघ्न सदैव भरत के साथ रहते थे और फिर राम-वनवास के समय तो वे अयोध्या में थे ही कहाँ? प्रस्तुत काव्य के प्रथम दो सर्गों में शत्रुघ्न का कहीं भी कोई उल्लेख नहीं है। फिर यदि यह मान भी लें कि भरत के साथ माण्डवी कैकय देश गई थी तो वह उनके साथ अयोध्या लौट कैसे आई? भरत तो इतनी शीघ्रता और त्वरा से अयोध्या लौटकर

आए थे कि उनके साथ माण्डवी का आना यों भी सम्भव न था। इसके अतिरिक्त भरत का केकय देश प्रस्थान करते हुए माता-पिता राम-लक्ष्मण स्वजन-सम्बन्धी आदि किसी से भी न मिलना अत्यन्त अस्वाभाविक है। मंथरा दासी भी मुखाभित् द्वारा तत्काल अयोध्या नहीं पहुँचाई गई थी। वह कैकेयी के साथ विवाह में आई थी और भरत की परिचारिका होने के कारण उनके प्रति उसका विशेष ममत्व था।

कवि ने भरत को षड्यन्त्र का पूर्वाभास कराके भी उचित नहीं किया। इससे उनके उदात्त और निर्मल चरित्र पर मैल आता है जबकि 'रामचरितमानस' में भरत कहते हैं

'तजि श्रुति पथु बाम पथ चलहीं। बंचक बिरचि बेष जगु छलहीं।
तिन्ह के गति मोहि संकर देऊ। जननी जो यहु जानौं भेऊ।'

तीसरे सर्ग की कथा सहज गति से चलती है। भरत अयोध्या आकर माता से मिलते हैं और सब घटित घटनाओं को सुनकर क्षोभ और ग्लानि से भर जाते हैं। चौथे सर्ग में भरत के अन्तर्द्वन्द्व का मार्मिक विश्लेषण हुआ है। पाँचवें सर्ग में राज मन्त्रागार में भरत राम के दर्शनों की इच्छा प्रकट करते हैं और मुनि प्रजा माताएँ सभी का अनुमोदन प्राप्त करते हैं। इधर कैकेयी अत्यन्त दुखी है उसे स्वयं ही इतना कलंक और मानसिक संक्लेश हुआ। छठे सर्ग में वह मुनि वशिष्ठ के यहाँ जाकर राजा दशरथ को योगबल से पुनर्जीवित करने की प्रार्थना करती है और उसमें असफल होकर शव के साथ सती होने को उद्यत होती है। सातवें सर्ग में दशरथ की अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न करने के पश्चात् भरत पुरजन परिजन और सैनिक समवाय के साथ वन की ओर प्रस्थान करते हैं। मार्ग में अनेक व्यक्तियों को यह भ्रम हो जाता है कि भरत राज्य के लोभ में राम का वध करने जा रहे हैं। अयोध्या के कुछ नागरिक शृंगबेरपुर के निषाद और भरद्वाज आश्रम के तपस्वी भरत के सद्भाव पर सन्देह करते हैं। उक्त तीनों स्थलों में काम क्रोध और लोभ रजोगुण तमोगुण और सतोगुण तथा क्षत्रिय शूद्र और ब्राह्मण इन तीन शक्तियों का पृथक्-पृथक् सामना करना पड़ता है। वे सभी सम-विषम परिस्थितियों को चीरते रौंदते अपने मन्तव्य की ओर बढ़ते रहते हैं और अन्त में राम के पास पहुँच कर शान्ति-लाभ करते हैं।

वन में पहुँच कर भरत राम से सीधे घर लौटने का आग्रह न करके प्रेम और कर्तव्य के संघर्षजन्य परिणाम की बात पूछते हैं। राम उन्हें इसी महान शासन व्यवस्था लोकसेवा-व्रत और चौदह वर्षों की लम्बी अवधि को शान्तिपूर्वक व्यतीत करने का उपदेश देते हैं।

सभा जुड़ती है और सभी अपना-अपना निर्णय देते हैं। भरत अपने समस्त स्वार्थ-परमार्थ को राम के चरणों में समर्पित करते हुए और उनके अयोध्या लौट जाने के आदेश को शिरोधार्य करते हुए चरण-पादुका की याचना करते हैं।

'चरण पीठ करुणा निधान के
रहें सदा आँखों के आगे
मैं समझूँगा प्रभु पदपंकज
ही हैं सिंहासन पर जागे।'

चरण-पादुका प्राप्त करके भरत नन्दिग्राम में आकर साधनारत हो जाते हैं। उनका रोम-रोम अणु-अणु राममय है। निरन्तर राम-राम की ध्वनि उनके अन्तर्बाह्य को झंकृत करती रहती है। न केवल पादुका-पूजन और आत्मचिन्तन में ही भरत रत रहते हैं वरन् शासन-व्यवस्था प्रजा के सुख-दुख और सामूहिक समुत्थान में भी भाग लेते हैं। नन्दिग्राम के प्रवास में ही उनके द्वारा हनुमान जी को मूर्च्छित करने की दुर्घटना भी घटती है, किन्तु उनसे सीताहरण लक्ष्मण-मूर्च्छा आदि समाचार जानकर वे सैन्यबल द्वारा राम के पास पहुँचने की बात सोचते हैं। उस अवसर पर वशिष्ठ उन्हें दिव्य दृष्टि प्रदान करके यथार्थ स्थिति का बोध कराते हैं। अन्तिम चौदहवें सर्ग में राम के वन से लौट आने पर भरत उन्हें उनकी धरोहर सौंप देते हैं।

'प्रभु-चरणों में अर्पित कर दी
न्यास सहित सारी थाती
भाव भरत की परम शान्ति में
शान्ति स्वयं सिमटी जाती।'

प्रस्तुत महाकाव्य में भरत के जीवन में भोग-योग का आदि अवसान देखने में आता है। अन्त में आकर उनके मन की उद्विग्नता परमशान्ति और समरसता में परिणत हो जाती है। कहीं-कहीं किन्हीं स्थलों पर भरत ऐकान्तिक से सामाजिक और प्रेमिक से व्यावहारिक अधिक हो गए हैं। उनमें तुलसीदास के भरत की-सी विह्वलता और दैन्य नहीं है—'राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात।'

'साकेत सन्त' के चरित्र-चित्रण अथवा भाव-कल्पना में कोई नवीनता नहीं है। नाटकीय संवाद और उत्तर-प्रत्युत्तर के चमत्कारपूर्ण प्रसंगों की अवतारणा भी बहुत कम हुई है। कथानक के सृजन में मिश्रजी श्रीमैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' के बहुत ऋणी हैं। उनकी पद्धति और प्रेरणा पर काव्य की रचना हुई है। नन्दिग्राम में हनुमान जी के मुख से सीताहरण लक्ष्मण-मूर्च्छा आदि का प्रसंग जानकर भरत के वन जाने की तैयारी की दृश्ययोजना जो मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' में की है उसे भी साकेतसन्तकार ने ज्यों का त्यों ले लिया है यों यदि गहराई और बारीकी से सोचा जाय तो इससे भगवान राम की भरत के लिए चौदह वर्ष की अवधि तक अयोध्या में रहने और शासन-व्यवस्था करने की आज्ञा का उल्लंघन साथ ही प्रभु के पौरुष में अविश्वास और अनास्था झलकती है।

कल्पना उदात्त न होते हुए भी काव्य की भाषा सहज और हृदयग्राहिणी है। महाकाव्य के सर्ग-बन्धादि लक्षणों के निर्वाह के साथ-साथ प्रबन्धगत विशेषताओं का समन्वय बहुत सुन्दर और युक्तिपूर्ण ढंग से हुआ है।

'रामचरित-चिन्तामणि'

श्रीवाल्मीकि रामायण के आधार पर पच्चीस सर्गों में रामकथा को लेकर उक्त महाकाव्य की रचना हुई है। खड़ीबोली के पद्य-विधान पर जो पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी का शुभ प्रभाव परिलक्षित था उसी रूप को सुस्थिर करने का प्रयास रामचरित उपाध्याय ने अपने काव्य में किया। भाषा की स्वच्छता और प्रसाद गुण पर भी इनका ध्यान केन्द्रित था। उस स्वरूप में न बँधकर, जो चिरकाल से काव्य का साध्य था इनकी भाषा बोलचाल के चलते रूपों को लेकर चली है। कथा में निगूढ़ विचार भावनाओं और वर्णन-चातुर्य की ओर ही इसमें विशेष ध्यान दिया गया। कल्पना की उड़ान पद-लालित्य भावों की वेगवती व्यंजना और शब्द-प्रयोग के वैचित्र्य में समस्त शक्ति व्यय नहीं की गई।

प्रथम सर्ग से तेईसवें सर्ग तक रामजन्म धनुर्भंग विवाह, वनवास सीता-हरण युद्ध और राज्याभिषेक आदि की छोटी-बड़ी कथाएँ विशद रूप से वर्णित हैं। कोई-कोई स्थल बड़े मर्मस्पर्शी बन पड़े हैं और कथा भी सहज निर्बाध गति से चलती रहती है। चौबीसवें सर्ग से सीता का परित्याग और लव-कुश की कथा आरम्भ होती है। दोनों कथाओं के सूत्र कवि ने इस कौशल से जोड़ दिए हैं कि कथा खण्डित नहीं हो पाती।

> 'राज करते थे अवधपुर में अमरपति से सुखी
> एक नर भी स्वप्न में भी था नहीं कोई दुखी।
> किन्तु दूतों से स्वयं रघुनाथ ने पूछा कभी
> मम विषय में बात है, क्या कह रहे हैं जन सभी।

सीता-परित्याग जैसी दारुण घटना के पश्चात् लव-कुश का जन्म और दोनों बालकों का राम से मिलन आदि का प्रसंग अत्यन्त संक्षेप में वर्णित है। सीता का पुनः राम से साक्षात्कार नहीं होता और न उनके पृथ्वी में समा जाने का ही वर्णन है, किन्तु बीच में विच्छिन्न होकर भी कथा पूर्ण सी हो गई है।

संवादों में स्वाभाविकता और प्रवाह होते हुए भी कहीं-कहीं वे अनुपयुक्त और असामयिक हो गए हैं। सीता के परित्याग जैसी कारुणिक विषम परिस्थिति में राम के ये वचन

> 'लक्ष्मण तुम्हें मेरी शपथ है बात कुछ पूछो नहीं
> जिस भाँति हो कल, गृह से सीता निकल जावे यहीं।
> दर्शन तपोवन का उसे भी इष्ट है, इस व्याज से
> उसको निकालो गेह से मुझको बचाओ लाज से।

विद्रूप वत् निर्मम अट्टहास सा करते प्रतीत होते हैं।

इसके अतिरिक्त रामकथा जैसे कथास्थल से निर्भरित होती हुई भावात्मकता और

व्यापक भावना भी इन्हें तुलसी की भाँति प्राप्त नहीं है। न 'मानस' का-सा हृदय द्रावक राग है, न तल्लीनता न भक्ति-रस की अजस्र धारा प्रवाहित हो रही है और न कहीं उद्देश्य और कला समान स्तर पर ही दिखाई देती है। आरम्भ से अन्त तक इतिवृत्तात्मक वर्णन शैली अपनाई गई है। चरित्र-सृष्टि अमनोवैज्ञानिक और अत्यन्त साधारण है और न काव्य का उदात्त सुष्ठु रूप ही कहीं प्रकट हुआ है।

'वैदेही वनवास'

हिन्दी साहित्य में काव्य-परम्परा को जीवित रखते हुए भी अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'प्रियप्रवास' के पश्चात् 'वैदेही वनवास' की रचना की और प्रबन्ध काव्य के आदर्श पर चलते हुए राम कथा में सीता-परित्याग की करुणकथा को लेकर करुणा और वियोग की अन्तर्दशाओं का विधान किया। 'वाल्मीकि-रामायण' 'रघुवंश' और भवभूति कृत 'उत्तररामचरित' में करुणा और दुखवाद को लय करके कथा को मधुमय बनाया गया। 'वैदेही वनवास' में सुख-दुख के समन्वित रूप में एक सुन्दर जीवन-मीमांसा प्रस्तुत की गई और उपाध्याय जी ने 'प्रियप्रवास' की भाँति ही इसके कथानक में भी पर्याप्त हेरफेर किया। 'वाल्मीकि-रामायण' 'रघुवंश' और 'उत्तर-रामचरित' में सीता-निर्वासन की घटना कुछ ऐसी दारुण बन गई है जो सज्जनों के हृदय को सदैव कचोटती रही है। लोक-अपवाद के फलस्वरूप जग जननी सीता का परित्याग और वह भी उनसे बिना कुछ कहे-सुने तपोवन और तपस्वियों के दर्शन के मिस लक्ष्मण द्वारा अकेले वन में छुड़वा देना कुछ ऐसी निर्मम क्रिया है जो मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम के उदात्त गम्भीर चरित्र के अनुरूप नहीं। लोगों ने इस कृत्य को असामान्य ही नहीं निंद्य भी ठहराया है। तुलसीदास जी को तो 'रामचरितमानस' में इस प्रसंग का उल्लेख तक न रुचा। किन्तु 'वैदेही वनवास' में यह घटना बहुत ही स्वाभाविक हो गई है। अयोध्या के राजमन्दिर में प्रातःकाल घूमते हुए राम दुर्मुख नामक सेवक द्वारा सीता के सम्बन्ध में फैली लोक निंदा की बात सुनते हैं। इस अप्रत्याशित चर्चा से एकबारगी धर्मधुरन्धर राम भी विचलित हो जाते हैं। उनके अन्तर्मानस में जीवन [illegible] मचता है। वे भरत लक्ष्मण शत्रुघ्न आदि अपने भाइयों से सलाह लेते हैं और गुरु वशिष्ठ की आज्ञा प्राप्त करके सीता जी को वाल्मीकि-आश्रम में छोड़ने का निश्चय करते हैं। वशिष्ठ राम से कहते हैं

"किन्तु आप से यह विशेष अनुरोध है।
सब बातें कान्ता को बतला दीजिए॥
स्वयं कहेंगी वह पतिप्राणा आप से।
लोकाराधन में विलम्ब मत कीजिए॥

'वैदेही-वनवास' में राम ने सीता को पहले ही सब कुछ बतलाकर उनके मान और गौरव को बढ़ाया है, उन्हें मिथ्या आश्वासन नहीं दिया और न उन्हें विकलती

और प्रसव-पीड़ा में तड़पती हुई अकेले जंगल में ही छोड़ा है अपितु राजकुल की मर्यादा के अनुरूप वशिष्ठ द्वारा एक ऐसी प्रथा का उल्लेख कराया है जिससे सीता का वनगमन बहुत ही स्वाभाविक और वांछनीय-सा प्रतीत होता है।

'आर्य जाति की है चिरकालिक यह प्रथा।
गर्भवती प्रिय पत्नी को प्रायः नृपति ॥
कुलपति पावन आश्रम में हैं भेजते ।
हो जिससे सब संगत प्रिय हो युक्त मति ॥

इसके अतिरिक्त 'वैदेही वनवास' में न केवल रजक और पुरवासियों की निंदा के आधार पर ही सीता का परित्याग किया गया है प्रत्युत् लवणासुर के द्वेष और गंधर्वों के प्रसंग को लेकर कुछ राजनीतिक कारणों की भी उद्भावना की गई है। राम बहुत सहज ढंग से सीता को सब बातें समझाकर उन्हें कुछ समय के लिए स्थानान्तरित करने का प्रस्ताव सामने रखते हैं।

'इच्छा है कुछ काल के लिए तुमको स्थानान्तरित करूँ।
इस प्रकार उपजा प्रतीति मैं प्रजापुंज की भ्रान्ति हरूँ॥
क्यों दूसर पिसें संकट में पड़ बहु दुख भोगते रहें।
क्यों न लोकहित के निमित्त जो सह पाएँ हम स्वयं सहें॥

अयोध्या से वन के लिए मंगलयात्रा का दृश्य भी बड़ा ही शानदार और कारुणिक है। नगर की शोभा और सीता-राम की मधुर छवि मानो सदैव के लिए अन्तर्पट पर अंकित हो जाती है, किन्तु आज के बौद्धिक युग के प्रभाव के कारण सीता-राम की विरह-वेदना और विवश भाव बहुत हल्का चित्रित किया गया है। उसमें हृदय को द्रवित कर देने वाली कोमलता और करुणा नहीं है। राम तो कर्त्तव्याभिमुख और सुस्थिरचित्त है ही सीता भी आज की संयमप्रिय नारी की भाँति सजग और क्रियाशील है। पति देवर, सास और भगिनियों से विदा लेते हुए वे स्वयं सबको ढाढ़स देती हैं।

'मत रोना भूल न जाना।
कुल-मंगल सदा मनाना॥
कर पूत साधना अनुदिन।
वसुधा पर सुधा बहाना॥

वन में सीता से विदा होते हुए जब लक्ष्मण अत्यन्त विह्वल हो उठते हैं तो वे अविचलित रह कर उन्हें कर्त्तव्य-पथ की ओर उत्प्रेरित करती हैं

'सर्वोत्तम साधन है पर में।
भव हित पूत भाव का भरना॥
स्वाभाविक सुख लिप्साओं को।
विश्व-प्रेम में परिणत करना॥'

प्रकृति-चित्रण द्वारा भी यत्र-तत्र विरह-वेदना की व्यंजना हुई है। किन्तु वह हृदय को छूनेवाला न होकर जीवन की अनेकरूपता में अधिक खो गया है।

श्याम-घटा को देखकर राम के शरीर की कान्ति स्मृति रूप में विषाद बन जाती है और सभी सुखप्रद वस्तुएँ विरूप होकर उनकी आँखों में खटकती हैं।

दिवि-दिव्यता अदिव्य बनी अब नहीं विधु हँसती थी।
निशा-सुन्दरी की सुन्दरता अब न दृगों में बसती थी ॥
कभी घन पटल के घेरे में झलक कलाधर जाता था।
कभी चन्द्रिका बदन दिखाती कभी तिमिर घिर आता था ॥

शान्तिनिकेतन के पुष्पों की छटा उनमें रागात्मक भावना जगाती है।

'शान्तिनिकेतन के सुन्दर उद्यान में ।
जनकनन्दिनी सुतों सहित थी घूमती ॥
उन्हें दिखाती थी कुसुमावलि की छटा।
बार-बार उनके मुख को थी चूमती ॥

'वैदेही-वनवास' में गांधीवाद का भी स्पष्ट प्रभाव है। भगवान् राम शान्ति और अहिंसा के जबर्दस्त समर्थक हैं। उन्हें दमन-नीति अभीष्ट नहीं है

'दमन है मुझे कदापि न इष्ट।
क्योंकि वह है भयमूलक नीति ॥
चाह है लाभ करूँ कर त्याग ।
प्रजा की सच्ची प्रीति प्रतीति ॥

रावण को एक ही सिर का बताया गया है 'एक वदन होते हुए भी जो दश वदन था। वर्तमान सभ्यता की जटिलताओं ने मनुष्य की जिज्ञासा-वृत्ति को तीव्र कर दिया है। प्रस्तुत काव्यग्रन्थ में राम-सीता विषयक लोकोत्तर कथानक होते हुए भी जिज्ञासा वृत्ति की तृप्ति का व्यापक क्षेत्र मिल जाता है। अंत दुःखमय है तो भी आनन्द में बाधक नहीं होता। सुख-दुःख से परे आत्मभाव की परिधि इतनी व्यापक हो गई है तथा 'मैं' और 'तुम' से अतीत प्रणय का भाव इतना गहरा और उच्च भावभूमि पर स्थित है कि दुःखवाद का भौतिक आधार नष्ट हो जाता है।

'ज्यों ही पतिप्राणा ने पति-पद्म का ।
स्पर्श किया निर्जीव मूर्ति सी बन गई ।
और हुए अतिरेक चित्त-उल्लास का ।
दिव्य-ज्योति में परिणत वे पल में हुई ॥

स्वार्थ-त्याग मन की वह महत् क्रिया है जो आत्मा का विस्तार करती है। सीता के उदात्त पावन चरित्र का आलोक आज भी दिग्दिगन्त में उद्भासित है—यही इस काव्य का निष्कर्ष है।

प्रस्तुत काव्य की भाषा सरल और स्वाभाविक होते हुए भी अनेक स्थलों पर संस्कृतमयी है। करुण-रस और विरह-वेदना का प्राधान्य है किन्तु दाम्पत्य-प्रेम का उत्कर्षित भाव है। प्रेम की अनन्यता परोपकार और कर्तव्य की दृढ़ता सर्वत्र विद्यमान है। खण्डकाव्य होते हुए भी यह ग्रन्थ महाकाव्य की-सी गरिमा और उदात्तता लिये है।

'सिद्धार्थ'

श्री अनूप शर्मा कृत महाकाव्य 'सिद्धार्थ' में भगवान् बुद्ध का लोकपावन चरित्र विशद रूप में वर्णित है। जन्म से लेकर निर्वाण तक का सारा आख्यान आ गया है साथ ही तत्कालीन परिस्थितियों प्रसंगों और वातावरण का भी सम्यक्रूपेण चित्रण हुआ है। कथा इस प्रकार चलती है :

प्रथम सर्ग में कपिलवस्तु नगरी वहाँ की श्री-समृद्धि और राजा शुद्धोदन का गुणवर्णन है। समस्त सुख-शान्ति और अक्षय वैभव होते हुए भी राजपरिवार में कोई सन्तति नहीं जिससे राजा प्रजा दोनों चिन्तित हैं। एक दिन रात्रि में राजा-रानी को स्वप्न होता है और गिरि-कन्दराओं से बुद्धावतार की उद्घोषणा होती है।

दूसरे और तीसरे सर्ग में महारानी माया के गर्भस्थ शिशु का प्रताप भगवान् बुद्ध का जन्म ज्योतिषियों द्वारा नवजात बालक की प्रशंसा बाल-क्रीड़ाओं का वर्णन यज्ञोपवीत-उत्सव शिक्षा-दीक्षा और मृगया आदि का वर्णन है। चतुर्थ सर्ग से ही राजकुमार सिद्धार्थ में उस वैराग्य-भावना के अंकुर प्रस्फुटित होते दीख पड़ते हैं जो उन्हें सुख-दुःखात्मक अनुभूति से परे क्रमशः कल्याण-मार्ग और निर्विशेष आनन्द-धाम तक पहुँचाकर समरस बना देते हैं। एक दिन प्रभातवेला में सिद्धार्थ अपने साथियों सहित मृगया के लिए वन में प्रस्थान करते हैं किन्तु अपने साथी के बाण से आहत हंस की दुर्दशा देखकर उन्हें मर्मान्तक पीड़ा होती है। सुख-वैभव में पले राजकुमार ने कभी दुःख की छाया भी न देखी थी। बाहर निकलकर उन्हें चहुँ ओर विषाद-ही-विषाद बिखरा दीख पड़ा। कहीं वृद्ध कृषक बैल को पीटता हुआ ले जा रहा था कहीं पक्षी अन्य छोटे जीवों का भक्षण कर रहे थे कहीं रुदन था और कहीं उत्पीड़न। इस प्रकार समस्त विश्व उन्हें त्रि-ताप से पीड़ित दीख पड़ा। तत्क्षण अंतर्ज्ञान जाग्रत हुआ सुप्त चेतना सजग हो उठी मानस-तिमिर में ज्योति-स्फुलिंग विकीर्ण हो गए और उनकी समाधि लग गई।

'दोनों लोचन मध्य दृष्टि अचला पद्मासनस्था यथा
नासा के स्वर-साम्य से सहज ही आधार है प्राण को
अंतर्भूत प्रभूत ज्योति शिशु की साकार हो आ गई
भूम्याम्भोधि-निमग्न बुद्ध जग को सद्धर्म संबोध है।

पंचम सर्ग में कुमार सिद्धार्थ के विराग को जानकर राजा शुद्धोदन को चिन्ता होती है। वे वसंतोत्सव की तैयारी करते हैं और समस्त सुन्दरी नागरिक कन्याओं को आमंत्रित करके राजकुमार के आमोद प्रमोद की व्यवस्था करते हैं। यशोधरा के

सौन्दर्य पर कुमार आसक्त हो जाते हैं।

छठे सर्ग में यशोधरा के पिता सुप्रबुद्ध स्वयम्वर में शस्त्र-स्पर्द्धा का आयोजन करते हैं, जिसमें सिद्धार्थ विजयी होते हैं। सिद्धार्थ और यशोधरा का पाणि-ग्रहण संस्कार धूमधाम से सम्पन्न हो जाता है। सातवें और आठवें सर्ग में नव-दम्पति की विविध केलि-क्रीड़ा आमोद-प्रमोद नृत्य-संगीत वाद्य और वन-उपवन-वाटिका जैसे मनोरम स्थलों में विहार विचरण आदि वर्णित है। श्रावण वर्षा आदि ऋतुओं का वैभव और प्रकृति-सौन्दर्य दम्पति के चित्त को कुछ दिन लब्ध किये रहता है। किन्तु एक दिन मध्याह्न में अलस भाव से लेटे हुए कुमार सहसा चौंक कर उठ बैठते हैं। उनके मुख पर वही दिव्य आभा और अंतर्दर्शन की रेखाएँ विकीर्ण हुई दीखती हैं जो कुछ समय पूर्व मृगया के अवसर पर फूटी थी। गवाक्ष में रखी हुई वीणा के मूक तार सहसा झंकृत हो उठते हैं। कुमार को ध्वनित तारों में से दिव्यवाणी सुन पड़ती है जो उनके अंतर्बाह्य को विचित्र संकृति से भर देती है।

नवम सर्ग में उपरामता और वैराग्य-भाव उत्तरोत्तर पुष्ट होता जाता है। महलों का अनन्त वैभव और भोग-विलास कुमार सिद्धार्थ के मन को बांधने में असमर्थ है। वे उद्विग्न हो उठते हैं और राजाज्ञा प्राप्त करके छन्दक के साथ ग्राम-दर्शन के लिए चल पड़ते हैं। कुमार के स्वागत में समस्त गृह-द्वार गली-सड़क बाजार-चौराहे आदि सजाए जाते हैं। स्त्री-पुरुष युवक-युवतियाँ सभी सुसज्जित वेष में आनन्दोत्सव मना रहे हैं किन्तु तभी न जाने कहाँ से एक नितांत जर्जर वृद्ध मनुष्य झोंपड़ी से निकल कर राजकुमार के चरणों में गिर पड़ता है और अन्न की याचना करता है। उसे देखते ही कुमार का चित्त भ्रमित हो उठता है और वे जीवन और जगत् के मिथ्यात्व की चिन्ता में विभोर हो जाते हैं। जिस प्रकार प्रकाश में पहुँचने से पूर्व अंधकार को पार करना पड़ता है उसी प्रकार किसी वस्तु की सत्ता को सिद्ध करने के पहले न जाने कितने ऊहापोहों विषम परिस्थितियों आदि का सामना करना पड़ता है। सद् विचार, विवेक सद्बुद्धि कर्तव्य-पालन सत्य की जिज्ञासा पीड़ितों और दुखियों की सहायता करने की हृदयान्तर्गत अनुभूतियों का जाग्रत करना अत्यन्त कठिन है। सुख दुख का चक्र रथ के पहिए के समान निरन्तर घूमता रहता है अतएव संसार के क्षणभंगुर वैभव पर कभी गर्व न करना चाहिए।

दशम सर्ग में राजा शुद्धोदन को अनेक रहस्यमय स्वप्नों द्वारा सिद्धार्थ के भावी जीवन का पूर्वाभास हो जाता है। कोई अपरिचित साधु स्वप्न-फल बताता है जिसे जानकर राजा और भी सतर्क हो जाते हैं और सिद्धार्थ को मायापाश में अविरत बांधने की अधिकाधिक चेष्टा करते हैं।

ग्यारहवें सर्ग में पुनः सिद्धार्थ छद्म वेष में छन्दक के साथ नगर भ्रमण के लिए निकल पड़ते हैं। वहाँ उन्हें एक और अत्यन्त कृशकाय वृद्ध मनुष्य मिलता है जो बहुविध व्याधियों से ग्रस्त मृत्यु को प्राप्त हुआ ही चाहता है। सिद्धार्थ कुमार द्रष्ट

और क्षोमवश प्रमथ से इसका कारण पूछते हैं और जीवन की अस्थिरता से विचलित हो उठते हैं। कुछ दूर चलकर उन्हें चलता हुआ शव और रुदन करते नर नारी दीख पड़ते हैं। उनमें घोर विरक्ति जगती है और बारहवें सर्ग में माता-पिता प्रिय पत्नी पुत्र तथा बालक राजपाट और समस्त सांसारिक बन्धन विच्छिन्न करके वे महा पथ की ओर अग्रसर होते हैं।

"विलोल कपि हिल वायु भी उठा
अलोल डोला बहुली वसुन्धरा
उठा जली पति बकामिनाथ का
प्रगाढ़ निद्रा तब में समा गई।

तेरहवें सर्ग में सिद्धार्थ के वियोग में राजा प्रजा और यशोधरा की दीन दशा वर्णित है। चौदहवें सर्ग में कुमार का भिक्षु-वेष में अनेक स्थलों में भ्रमण सेनाग्राम के निकट कठोर तपश्चर्या कठिन उपवास सुजाता से भेंट और अन्त में बोधिवृक्ष की ओर प्रयाण जहाँ उन्हें दिव्य ज्ञान की प्राप्ति होती है। पन्द्रहवें सर्ग में भगवान् बुद्ध को आत्मप्रेरणा होती है और वे काशी ऋषिपत्तन मगधाव और विभिन्न आश्रमों में घूम-घूम कर अपने धर्म का प्रचार करते हैं। एक दीन निराश्रिता विधवा का मृत पुत्र भी भगवान् के चरणों पर गिरते ही पुनर्जीवित हो जाता है। राजा बिम्बसार के नगर में पहुँच कर तथागत न मख में पशुबलि आदि का निषेध करके अहिंसा का भी प्रचार किया। सोलहवें सर्ग में यशोधरा का करुण विलाप और हंस द्वारा पति को संदेश भजने का वर्णन है। अन्तिम दो सर्गों में भगवान् का कपिलवस्तु में आगमन पिता पत्नी एवं नगर-वासियों से मिलन और उनके दिव्य धर्मज्ञान से प्रभावित होकर उन्हीं का अनुयायी हो जाना भगवान् का अन्तिम उपदेश देकर कपिलवस्तु से प्रस्थान पैंतीस वर्ष तक इतस्ततः पर्यटन पुनः कुशिग्राम में प्रवेश और अन्त में महासम्बोधि की दीप्ति बिखेरते हुए महानिर्वाण आदि प्रमुख प्रसंगों के बाद इस महाकाव्य का उपसंहार हो जाता है।

"नर स्वप्राय निमज्जित जीव में
मिलय जीव किया मिल रूप में
प्रदपि-वाप्य-समान अलोल में
प्रभु सनेह तिरोहित हो चले।

उक्त महाकाव्य इतिवृत्तात्मक होते हुए भी बड़ी ही रंजनकारी कल्पना और गूढ़ व्यंजना से युक्त है। भगवान् बुद्ध के रूप में मनुष्य की आत्मा का चरम विकास दिखलाया गया है जहाँ बाह्य और अन्तरंग चेतना एकाकार हो जाती है और जीवन की व्यवस्थ आयत परिधि से परे किसी अरूप रूप की सत्ता स्थापित हो जाती है। राजा शुद्धोदन यशोधरा छन्दक आदि के चरित्र बहुत ही उत्कृष्ट बन पड़े हैं कहीं-कहीं हृदयोद्गारों की व्यंजना इतनी मर्मस्पर्शी और करुणा का उद्रेक करने वाली है कि पाठक भावों के प्रवाह में बहने लगता है। नवीनता का समावेश होने पर भी

प्राचीन परम्परा संस्कृति और वातावरण की उपेक्षा नहीं की गई।

संस्कृत वर्णवृत्तों में 'प्रियप्रवास' की पद्धति पर प्रस्तुत महाकाव्य की रचना हुई है, किन्तु भाषा में वह सरसता नहीं है जो 'प्रियप्रवास' की विशेषता है। भाषा कई स्थलों पर दुर्बोध और दार्शनिक गाम्भीर्य से समाच्छन्न है।

'आर्यावर्त'

श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी' ने विश्वासघाती जयचन्द द्वारा उसकी अपनी जघन्य प्रतिहिंसा की पूर्ति के लिए मोहम्मद गोरी का साथ देकर पराक्रमी पृथ्वीराज को पराजित करना और इस प्रकार चिरकाल के लिए आर्यभूमि को परतन्त्रता की शृंखला में आबद्ध कर देने आदि की प्रसिद्ध ऐतिहासिक दुर्घटना को 'पृथ्वीराज-रासो' के कथानक के आधार पर उक्त महाकाव्य में उल्लिखित किया है। गोरी का आक्रमण और पृथ्वीराज की हार न केवल दो राजाओं की जय-पराजय का प्रश्न है, प्रत्युत् दो देशों दो प्रमुख जातियों और दो विभिन्न संस्कृतियों के ध्वंस निर्माण की करुण गाथा है। आर्यावर्त और आर्यवीरों के देशप्रेम एवं राष्ट्रीय भावनाओं की ध्वस्त नींव पर उस समय विधर्मियों के राज्य-वैभव का प्रासाद खड़ा किया गया था जिसके फलस्वरूप न जाने कितने कष्टदायक दृश्यों को आवृत और अनावृत किया गया था। तत्कालीन लोगों की रागद्वेष पूर्ण भावनाओं का यह दुखद चित्र जो हमारे सामने उपस्थित हो जाता है, एक ओर आर्यवीरों की हीनभावना का द्योतक है तो दूसरी ओर उनके धैर्य और उज्ज्वल चरित्र का परिचायक भी।

प्रथम सर्ग में ही हमें कवि चन्द और राजा समरसी जैसे दो योद्धाओं का दर्शन होता है जो रण से हताश और खिन्न महाकाली के जीर्ण मन्दिर में लौटकर विजय का वरदान चाहते हैं। यह रात बड़ी भयावह और कष्टप्रद है। इसी निःस्तब्ध निर्मम रात्रि में पृथ्वीराज और गोरी के भाग्य का निपटारा हुआ था। पृथ्वीराज पराजित होकर बन्दी बना लिए गए थे और आर्यभूमि का सौभाग्य सिन्दूर सदैव के लिए पुँछ चुका था।

प्रथम सर्ग के पश्चात् अवशिष्ट बारह सर्गों में कथा क्रमशः विकसित होती चलती है। सिंह के समान लौह-शृंखलाओं में बद्ध वीर पृथ्वीराज की आँखें फोड़ दी जाती हैं। उधर पृथ्वीराज के समकालीन सखा और सामन्त महाकवि चन्द जो इस प्रबन्धकाव्य के नायक हैं पृथ्वीराज को ढूँढ़ने के लिए युद्धभूमि का चक्कर काटते हैं किन्तु वहाँ के वीभत्स और हृदयद्रावक दृश्यों को देखकर उनके भीत-भ्रान्त मन में ज्वाला-सी भभक उठती है। वे अपने पुत्र जल्ह को महाकाव्य का रासो पूर्ण करने का आदेश देकर स्वयं महाभारत का खेल जुककर खेलने के लिए तत्पर हो जाते हैं। महारानी संयोगिता पति की पराजय के समाचार से विचलित नहीं होती वरन् क्रुद्ध सिंहनी-सी सजग होकर सभी को युद्ध के लिए ललकारती है। तत्क्षण वह अपने पिता जयचन्द को भी पत्र लिखती है और उसके कुकृत्य के लिए उसे धिक्कारती है

देशद्रोहियों को अधिकार है न जीने का
इनको मिलता है मरण भी इसीलिए
जब तक घृणित शरीर यह आपका
जीवित है, जीवित पिशाचवत् खेद है ।

कवि चन्द महारानी का पत्र लेकर जयचन्द के पास जाते हैं जहाँ उन्हें पृथ्वीराज के जीवित रहने और उनकी आँखें फोड़ दी जाने का समाचार प्राप्त होता है। हर्ष-शोक का भाव लिए वे दिल्ली लौट आते हैं और युद्ध के लिए प्रस्थान करते हैं।

भयंकर युद्ध होता है। आर्यवीर शत्रुओं की सेना से डटकर लोहा लेते हैं और उन्हें परास्त कर देते हैं। पश्चात्ताप में गलता हुआ जयचन्द समर भूमि में घाव खाकर धराशायी हो जाता है और छटपटाता हुआ प्राण छोड़ देता है। कवि चन्द मौन निःस्तब्ध से घूमते हुए घटना चक्र को देखते हैं किन्तु पृथ्वीराज के न मिलने से उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता। उनका अणु-अणु पीड़ा से कराहता रहता है। अर्द्ध रात्रि में दीपक के धुंधले प्रकाश में जब कवि चन्द व्याकुल विवश और हतचेत से बैठे थे तो अकस्मात् उन्हें देवी अम्बिका की प्रेरणा से एक मार्ग सूझ पड़ता है।

कवि चन्द शाह फकीर के वेष में गोरी को अपने वश में कर लेते हैं और इस प्रकार बन्दी पृथ्वीराज से भीषण कुम्भीपाक कारागार में मिलते हैं। पृथ्वीराज को सभी भावी व्यवस्था से अवगत कराके शाह फकीर गोरी को पृथ्वीराज से मन मन भर के सात लोहे के तवे एक शब्दवेधी तीर से तोड़ने की विद्या सीखने का आदेश देते हैं। गोरी बड़ा खुश होता है और बड़े समारोह के साथ पृथ्वीराज को दरबार में आमन्त्रित करता है। तवों पर हल्की चोट की गूंज के शब्द से पृथ्वीराज एक बाण से सातों तवे तड़ातड़ तोड़ देते हैं और जैसे ही सुलतान गोरी के मुँह से 'वाह-वाह' के शब्द निकलते हैं वे ध्वनि का अनुसरण करते हुए दूसरे बाण से उसका प्राणान्त कर देते हैं। सारे दरबार में खलबली मच जाती है। लोग भयभीत होकर इधर उधर भागते हैं और सेना छिन्नभिन्न हो जाती है। कवि चन्द दो तलवार निकालते हैं और एक तलवार पृथ्वीराज को दे देते हैं। दोनों परस्पर कट कर मातृ भूमि की रक्षा और आर्यवीरों के धर्म के पालन में अपने प्राण विसर्जित कर देते हैं। कवि द्वारा उसी समय अन्तिम पंक्ति लिखी जाती है।

उक्त महाकाव्य में सर्वत्र वीर-रस की प्रधानता है यों अन्य रस भी न्यूनाधिक रूप में समाविष्ट हुए हैं। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से महाकाव्य का महाकाव्यत्व और भी वृद्धि पर है। वीरोचित क्रियाकलाप और उदात्त चरित्र-चित्रण कवि की प्रतिभा के परिचायक हैं साथ ही सजीव वार्तालाप नाटकीय तत्त्वों को विकसित करता चलता है। नारी-चरित्र भी इतने उत्कृष्ट बन पड़े हैं जो भारतीय ललनाओं

के अनुरूप और उन्हें कर्तव्य-पथ निश्चित करने में एक नवीन प्रेरणा प्रदान करते हैं। युद्ध में पृथ्वीराज की पराजय और उनकी अनिश्चित मृत्यु का संवाद पाकर महारानी संयोगिता अपने अनुपम साहस और धैर्य का परिचय देती हुई निम्न उद्गार व्यक्त करती है जो आर्य रक्त की महानता के द्योतक हैं।

'आज पतिहीना हुई शोक नहीं इसका
अक्षय सुहाग हुआ मेरे आर्य पुत्र तो
अजर अमर हैं, सुयश के शरीर में ।
कायरों की मृत्यु साँस-साँस पर होती है
काँपता है मरण पराक्रमी की छाया से ।

कवि चन्द राणा समरसी महाराज पृथ्वीराज पराक्रमी और योद्धा कन्हदेव आदि सभी वीरता के प्रतीक और चिर समर-विजयी हैं यहाँ तक कि देशद्रोही जय चन्द का दूषित चरित्र भी पश्चात्ताप की आँच में तप कर निखर गया है। अनेक स्थलों पर उसके हृदयमंथन का बहुत ही मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है।

'जानता हूँ कल इतिहास लिखा जायगा
जब आर्य-भूमि का तो मेरे इस कृत्य का
वर्णन रहेगा वहाँ और उसे पढ़ के
युग-युग पाठक घृणा से धिक्कारेंगे ।

'हल्दीघाटी'

सत्रह सर्गों का यह महाकाव्य महाराणा प्रताप के शौर्य पराक्रम स्वातन्त्र्य प्रेम और साथ ही राजपूत वीरों के दर्प और गौरव भावना से भरा है। हल्दीघाटी की रक्त-रंजित मेदिनी जहाँ अगणित भारतीय वीरों के शोणित-कण धूलिसात हैं आज भी दर्शकों के हृदयान्तराल में नूतन उन्माद जगाती है। हल्दीघाटी का समरांगण भारतीय स्वतन्त्रता की तीर्थभूमि है और उसकी करुण गाथा वीरों के हृदय में उल्लास और अतीत स्मृति-चिन्हों को जाग्रत करती रही है।

भारत के इतिहास में यह वह समय था जबकि अकबर की धर्म सम्बन्धी कूटनीति का चक्र सारे राजपूत वीरों के सिरों पर घूम चुका था और उसकी चपेट में बड़े-बड़े वीर नतमस्तक हो मुगल सम्राट् के चरणों में बिछ चुके थे। केवल महाराणा प्रताप ही एक ऐसा सुदृढ़ सेनानी था जो उसके विरुद्ध मस्तक ऊँचा किए खड़ा था और जिसका हृदय गर्व और देश प्रेम से धधकता पड़ रहा था। अकबर उसके इस दम्भ को चूर चूर कर देना चाहता था। वह उसे धूल में मिलाकर उसके गर्वोन्नत भाल पर पदाघात करना चाहता था। महाराणा के अन्य प्रतिद्वंद्वी राजा भी उसे पराजित देखना चाहते थे। महाराणा का भाई शक्तसिंह क्षुब्ध होकर शत्रुओं से जा मिला था। राजा मानसिंह जिसके साथ महाराणा ने खाने से इन्कार कर दिया था अपनी अवमा से तिलमिला कर उस पर गहरी चोट करना चाहता था। फलस्वरूप

दोनों ओर युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं। विशाल मुगल सेना को लेकर मानसिंह ने खमनौर से थोड़ी दूर रक्त तलैया के समीप शाहीबाग में पड़ाव डाल दिया। इधर महाराणा प्रताप भी हल्दीघाटी के निकट ही उपत्यका में बाईस सहस्र राजपूत वीरों के साथ छिपे हुए युद्ध का सुअवसर ढूँढ रहे थे। एक दिन पर्वतों और जंगलों के मनोरम दृश्यों को देखते हुए मानसिंह भीलों द्वारा घेर लिया गया और वे उसे मारने को उद्यत हो गए। किन्तु राणा न जाने कहाँ से आ पहुँचे और उन्होंने उसके बन्धन खोलकर भीलों को धिक्कारा

मेवाड़ देश के भीलो
यह मानव धर्म नहीं है।
जननी-सपूत रण-कोविद
योद्धा का कर्म नहीं है।
अरि को भी धोखा देना
शूरों की रीति नहीं है।
छल से उनको वश करना
यह मेरी नीति नहीं है।

श्रावण मास में हल्दीघाटी का घमासान युद्ध प्रारम्भ हुआ। राजा मानसिंह हाथी पर और महाराणा अपने प्रिय घोड़े चेतक पर चढ़ कर युद्ध का संचालन कर रहे थे। तलवारों की चकाचौंध और वीरों की लाशों से सारी भूमि पटी थी। खून की नदियाँ बह रही थीं। शत्रु-दल आग बरसाने वाली तोपों से अग्नि वर्षा कर रही थी किन्तु राजपूत वीरों ने धधकती प्रचंड अग्नि के मुँह में घुसकर तोपों के मुखों को विपरीत दिशा में मोड़ दिया। महाराणा ने मानसिंह पर आक्रमण किया किन्तु वह कौशल से बचकर भाग निकला। शत्रु-सेना ने राणा को चारों ओर से घेर लिया। वे अपने घोड़े पर सवार अपनी सेना के व्यूह से बहुत दूर थे। काटते-काटते राणा के हाथ थक गए थे चेतक शिथिल हो गया था और मेवाड़ का सूर्य अस्त हुआ ही चाहता था। किन्तु वीर झालामान्ना घोड़ा दौड़ाते हुए वहाँ पहुँच गए और उन्होंने झटपट महाराणा का मुकुट अपने सिर पर रख लिया विजय पताका बरबस हाथों से छीन ली शत्रुओं ने उन्हें महाराणा समझकर मार डाला। महाराणा को चेतक ले दौड़ा और तब तक दौड़ता रहा जब तक कि उसके शरीर में चेतना का एक भी स्फुलिंग अवशेष था। फिर शरीर शिथिल होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा और चेतक ने दम तोड़ दिया। महाराणा का देशद्रोही भाई शक्तसिंह वीरता के इस रोमांचकारी दृश्य को दूर से देख रहा था। वह विचलित होकर भाई के चरणों पर आ गिरा और दोनों भाइयों ने गले मिल कर अपने अन्तर में घुमड़ती व्यथा को शान्त किया। चौदहवें सर्ग तक हल्दीघाटी की लड़ाई का यही करुण दृश्य अंकित है। पन्द्रहवें सर्ग में महाराणा प्रताप का दर दर भटकना राजपरिवार की दुर्दशा और अनेक आपत्ति-विपत्तियों का वर्णन है।

कई दिन तक भूखे रह कर महाराणा को सपरिवार जंगलों की खाक छाननी पड़ती है। राजमहिषी और महाराणा की अबोध कन्या जिन पर कभी स्वप्न में भी दुख की छाया न पड़ी थी भूख से तड़पते हैं। कष्टों की पराकाष्ठा हो जाती है, यहाँ तक कि एक दिन बालिका के हाथ से एक जंगली बिलाव घास की रोटी छीन ले जाता है। अपनी प्रिय पुत्री के रुदन और अश्रुओं से महाराणा का धैर्य विचलित हो जाता है। वे संधि-पत्र लिखने बैठ जाते हैं किन्तु महारानी आकर हाथ रोक देती है। क्या इतनी तपस्याओं और कष्टों का यही उपसंहार यही परिणाम वांछनीय होगा? नहीं ऐसा विधाता को मन्जूर न था।

सोलहवें और सत्रहवें सर्ग में भामाशाह की सहायता और धन-दान से महाराणा पुनः अपनी सेना संगठित करते हैं और पहले देवीर, फिर कुंभलगढ़ पर आक्रमण करके विजय प्राप्त करते हैं। मेवाड़ स्वाधीन हो जाता है।

> 'मेवाड़ हुआ, फिर राणा ने
> जय-ध्वजा किले पर फहराई।
> माँ धूल पोंछ कर राणा की
> सामोद फूल-सी मुसकाई॥

इस प्रकार प्रस्तुत महाकाव्य बड़ी ही ओजस्वी और स्फूर्त भाषा में लिखा हुआ है। राजपूत सैनिकों की बहादुरी और महाराणा का मूर्तिमान शौर्य आर्य रक्त की महानता का द्योतक है। जहाँ राष्ट्र की सुरक्षा और कर्तव्य-पालन का प्रश्न है वहाँ वैयक्तिक सुख-सुविधाओं की चाह गौण हो जाती है। महाराणा का ओजस्वी रूप आज भी शिथिल प्राणों में नवीन चेतना और उत्साह भर देता है।

काव्य के प्रारम्भ में कवि ने महाराणा का ऐसा जीता-जागता चित्र खींचा है जो न केवल अतीत की महानता का द्योतक है अपितु भविष्य के लिए भी उसमें जीवनमय व्यक्तित्व संजोया किया है। 'हल्दीघाटी' के लेखक श्यामनारायण पांडेय ने महाराणा प्रताप की टीस वेदना और निर्भीक आत्मा की पुकार का अनुभव किया है और अनुपम शक्ति से प्रस्तुत महाकाव्य में उभार कर दर्शाया है। यहाँ वर्णित ऐतिहासिक कथानक चरित्र-चित्रण संवाद और छोटे-छोटे दृश्य कवि की जागरूक चेतना और कभी न बुझ सकने वाली अग्नि से चमक रहे हैं जो आज भी मानवीय प्रच्छन्न शक्तियों को उद्बुद्ध करते हैं।

'नूरजहाँ'

'नूरजहाँ' महाकाव्य का मुख्य आधार जहाँगीर-नूरजहाँ की प्रसिद्ध ऐतिहासिक प्रेमकथा है। एक अत्यन्त छोटी सी प्रणय-घटना न उनके जीवन में जो उथल-पुथल और क्रांति सी मचा दी थी वही उनके जीवन की विकास-दिशा और आकर्षण का प्रमुख केन्द्र बन गई थी। प्रेम का न ओर-छोर कहीं है, न उसकी जिज्ञासा की कहीं तृप्ति। एक दिन दूर देश से आई उस भोली बालिका मेहरुन्निसा ने शाहजादा

सलीम के अन्तर को झकझोर दिया था। शाही उद्यान में वे दोनों खेल रहे थे। उसके निरीह सौंदर्य और अल्हड़पन में कुछ ऐसी मादकता थी जो मन को मुग्ध किये बिना नहीं रहती थी। खेलते-खेलते शाहजादा सलीम को पुष्प-कलियाँ तोड़ने की प्रेरणा हुई। तभी दो नये कबूतर उसके हाथ लगे वे उन्हें मेहर के कोमल करों में सौंपते हुए उसने कहा 'देखो जरा सँभालो कहीं उड़ न जायें। वैसे ही सलीम खबर मुड़ा कि एक कबूतर संभ्रम में उसके हाथ से छूटकर उड़ गया। इतने में सलीम ने लौटकर

> 'एक कबूतर देख हाथ में पूछा कहाँ अपर है?
> उसने कहा अपर कैसा? वह उड़ गया सत्पर है।
> उत्तेजित हो पूछा उसने उड़ा! अरे वह कैसे?
> 'फड़' से उड़ा दूसरा बोली उड़ा देखिए ऐसे।

बस उस समय की उसकी यही भोली भावभंगी सलीम के अन्तर्पट पर सदैव के लिए अंकित हो गई और वह मन प्राण उस पर न्योछावर कर बैठा। किन्तु अमीना की कुटिल और छलमयी प्रवृत्ति ने इस सुखान्त नाटक पर पर्दा डाल दिया। द्वेष और प्रतिकार भावना से प्रेरित होकर उसने मेहर और सलीम को पृथक् करने का षड्यन्त्र रचा।

अमीना के षड्यन्त्र से अकबर ने मेहर का विवाह शेर अफगन से कर दिया और दोनों को दूर भेज दिया। सलीम को यह वियोग किसी प्रकार भी सह्य न हुआ। सूनी निस्तब्ध रात्रि में वह छद्म वेष में मेहरुन्निसा के शयनागार में घुस गया और शेर अफगन को मार कर कहीं अन्यत्र भाग जाने का प्रस्ताव अपनी प्रेमिका के सम्मुख रखा। मेहर की तो इसी बीच जैसे कायापलट हो गई थी। कर्त्तव्य-वेदी पर उसने अपने प्रेम को ही नहीं वरन् अपनी समस्त आकांक्षाओं उल्लास और आनन्द को भी न्यौछावर कर दिया था। वह किंचित् भी विचलित नहीं हुई और उसने शाहजादा सलीम के प्रेम को ही नहीं ठुकराया बल्कि उसकी कड़ी भर्त्सना भी की।

किन्तु सलीम के दिल का घाव कभी न भरा। उसमें छटपटाहट तड़फन प्रणय पिपासा बनी ही रही। सम्राट् होते ही उसने शेर अफगन का वध करा दिया और मेहर को दिल्ली बुला भेजा। चार वर्षों तक मेहर के मन में द्वन्द्व मचता रहा। प्रेम और कर्त्तव्य में कशमकश सी रही किन्तु अन्त में वही हुआ जो होना था जो विधि का विधान बन चुका था। जहाँगीर और नूरजहाँ की प्रणय-कथा आज भी इतिहास के पृष्ठों में रंगीन पेन्सिल से अंकित है। इतिहास का विद्यार्थी भले ही नूरजहाँ को मुगल-सम्राट् जहाँगीर की अधीश्वरी और सूत्राधिका के रूप में जानता हो किन्तु उसके मानसिक संघात और द्वन्द्वात्मक जीवन का परिचय बहुत कम लोगों को विदित है। बालिका रूप में जो आकर्षण उसने अनुभव किया होगा वह सम्भव है दाम्पत्य जीवन में सघन होकर दुर्जेय हो गया हो। यह भी सम्भव है कि वह

अपने वैवाहिक जीवन में उन मधुर सपनों को पुनः साकार देखना चाहती हो जो नियति के क्रूर थपेड़ों से असमय में ही छिन्नभिन्न हो गए थे। शेर अफ़गन जैसे क्रूर और रूखे पति से प्यार की प्रत्याशा करना जीवन के उन एकाकी द्वन्द्वात्मक अनुभवों को संजीवन और गति देना रहा होगा जो दुर्भाग्य के अंधड़ में इतस्ततः छितरा कर बिखर गए थे। रागात्मक भाव—सामंजस्य के अभाव में—जब विशृंखल हो जाते हैं तो व्यष्टि को समष्टि में और स्वात्म को अखिलता में परिणत कर देने की आकांक्षा जगाते हैं।

विवाह के पश्चात् सुन्दरी मेहर के भीतर भी कुछ ऐसी ही आन्तरिक समरसता व सुस्थिर संतोष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अपने पति के प्रति उसमें वही अपनत्व और एकात्म्य भाव है जो किसी प्रकार भी अविश्वस्त नहीं कहा जा सकता और न मिथ्या आश्वासन ही।

दूर नगर से नदी-कूल पर पर्णकुटी हम छायेंगे।
चिड़ियों के स्वतन्त्र कलरव में गाना गाकर गायेंगे।।
जो अवसादित मुश्किल से आने पाता महलों भीतर।
उसी पवन संग वन-उपवन में अब विहरूँगी सानन्द।
दूषित वातावरण बीच यों न अब नहीं घूँटेगी अन्द।।

विवाह होते ही मनोद्वन्द्व आरम्भ हो जाता है और दाम्पत्य जीवन की अवधि में तथा उसके समाप्त होने के पश्चात् भी चार वर्षों तक मेहर के प्राणों में उथल-पुथल और हलचल सी होती रहती है। अभी का दुस्साहस पुनः उन प्रसुप्त मधुर भावों को जगाता है जो आरम्भ से सो गए थे। उसके समग्र जीवन में प्रेम एक ओर है और कर्तव्य दूसरी ओर। नूरजहाँ का मन कभी इधर मुड़ता है और कभी उधर। एक बार उसके मन में पति से सम्बन्ध-विच्छेद करने की बात भी उठती है किन्तु वह क्षणिक दुर्बलता है। वह पतिव्रता नारी सी कठोर कर्तव्य को अन्त तक निबाहती है। पति की मृत्यु के पश्चात् भी उसका संकल्प शिथिल नहीं होता। वह उसी की स्मृति को लेकर जीवित रहना चाहती है परन्तु इस मोड़ पर आकर तो उसका अन्तर्द्वन्द्व और भी तीव्र हो जाता है। जिस से वह प्रेम करती है उसी से उदासीन। जहाँ उसका मन खिंचता है वहीं से नाता तोड़ कर उपेक्षित रहना। कैसी घोर विडम्बना है? अन्त में अकस्मात् उसकी धारणा बदलती है, वह भी प्रेमी के आग्रह से और तब जबकि उसका हठीला मन विद्रोह करते-करते शांत हो जाता है।

नूरजहाँ के सजीव जीवन-नाटक को उतारने में लेखक गुरुभक्तसिंह को मानसिक वृत्तियों के सूक्ष्म विश्लेषण और विचार प्रक्रिया के ऊहापोह बड़े स्पष्ट चित्र अंकित करने पड़े हैं। जहाँगीर प्रेमी है, किन्तु ऐसा प्रेमी नहीं जो प्रेम के नाम पर तड़प-तड़प कर मर मिटे। उसे स्थूल आधार चाहिए। प्रेम उसे उत्साह-शक्ति और उद्बुद्ध कर्म-चेतना भी प्रदान करता है। अनारकली के प्रेम प्रसंग में भी वही बात

देखने को मिलती है। वह अपने प्रयत्न में हताश न होकर उसे किसी न किसी प्रकार ढूँढ लेता है और मरते दम तक साथ नहीं छोड़ता। मेहर के प्रति जब उसका आकर्षण और मन खिंचता है तो भी वह किसी की परवाह नहीं करता। शेर अफ़गन से विवाह होने के पश्चात् वह बिना भय और आशंका के मेहर के महलों में घुस जाता है और सम्राट् होने पर तो अपनी प्रेमिका तक की अप्रसन्नता पर ध्यान न देकर उसके पति को कत्ल करा देता है। मेहर की उदासीनता और उपेक्षा से भी वह हताश नहीं होता। आखिर उसके विद्रोही मन को परास्त करने में वह सफल हो ही जाता है।

जमीला इस काव्य में अत्यन्त कुटिल और नीच नारी है। वह विषमता का विष बोने में सदैव सतर्क है और मिथ्या प्रेम की भित्ति पर दूसरे के जीवन को बर्बाद कर देने में अत्यन्त निर्भीक। प्रारम्भ में वह अनारकली के प्रेम को रौंदकर विजयी बनती है और बाद में मेहर के प्रणय-स्वप्नों को क्रूरता से कुचल देती है। उसका समस्त जीवन छल और प्रपंचों से भरा है। अनारकली का प्रेम प्रसंग हृदयस्पर्शी है, किन्तु अप्रासंगिक-सा हो गया है। प्रमुख चरित्रों के अतिरिक्त दूर तक चलने वाले सामान्य चरित्र भी सुन्दर बन पड़े हैं।

पुस्तक में प्रकृति मनुष्यों की कहानी के लिए सुरम्य वातावरण बन गई है। प्रकृति और मानव जीवन में गहरा तादात्म्य है। मनुष्य दुखी है तो प्रकृति भी उदास और विषादमयी दीख पड़ती है। उनके मनोभाव परोक्ष-अपरोक्ष रूप में प्रकृति के स्पन्दनों में यत्र-तत्र मुखरित हो उठे हैं। कहीं पुष्प हँस रहे हैं कहीं भौंरे उन पर मधुर गुंजन कर रहे हैं कहीं पक्षी वृक्षों पर अठखेलियाँ करते हुए चहक रहे हैं और कहीं सुगंधित भीनी हवा मदमस्त बनाती हुई मन को झकझोर जाती है।

गुरुभक्तसिंह ने भाषा को सुघड़ता से ढाला है पर कहीं-कहीं फ़ारसी-अरबी शब्दों के प्रयोग खटकते हैं।

'कुरुक्षेत्र'

श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' का 'कुरुक्षेत्र' महाभारत के युधिष्ठिर-भीष्म संवाद को लेकर लिखा हुआ ऐतिहासिक काव्यग्रन्थ है जिसमें मानवता के रक्त रंजित इतिहास पर दृष्टिपात करते हुए युद्ध की समस्या का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। लेखक के शब्दों में— "युद्ध एक निन्दित और क्रूर कर्म है, किन्तु इसका दायित्व किस पर होना चाहिए ? उस पर जो अनीतियों का जाल बिछाकर प्रतिकार को आमन्त्रण देता है ? या उस पर, जो इस जाल को छिन्नभिन्न कर देने के लिए आतुर है ?" ये ही वे महत्त्वपूर्ण चिरन्तन प्रश्न हैं जो प्रत्येक राष्ट्र और मानवता के सम्मुख मूर्त हो उठते हैं। प्रायः प्रत्येक युद्ध में युद्ध होने के पूर्व परस्पर विरोधी वृत्तियों में संघर्ष हुआ करता है, कशमकश-सी होती है

'हर युद्ध के पहले द्विधा लड़ती उबलते क्रोध से
हर युद्ध के पहले मनुज है सोचता, क्या शस्त्र ही—

उपचार एक अमोघ है,
अन्याय का अपकर्ष का, विष का परतमय मोह का।

मनुष्य लड़ना नहीं चाहता यह मुक्त शान्ति सद्भाव और समता का इच्छुक है, किन्तु उसमें मनोग्रंथि और राग द्वेष घृणा ईर्ष्या अभिमान आदि दुष्प्रवृत्तियाँ विग्रहाग्नि और प्रतिशोध की भावना जागती है।

'विश्व-मानव के हृदय निर्दय में
मूल हो सकता नहीं द्वेषाग्नि का
चाहता लड़ना नहीं समुदाय है,
फैलती लपटें विषैली व्यक्तियों की सांस से।

आखिर विध्वंस से लाभ क्या है? मनुष्य-मनुष्य को भक्ष्य बनाकर उसका उष्ण रक्त पीकर किस चिर-पिपासा को शान्त करना चाहता है? किस आनन्द के शीतल रस से आप्लावित होकर जी की जलन मिटाना चाहता है?

कुरुक्षेत्र के भीषण रक्तपात और हृदय-विदारक दृश्यों को देखकर युधिष्ठिर के मन में भी यही एक प्रश्न बार-बार गूँजता है

'किन्तु, इस विध्वंस के उपरान्त भी
शेष क्या है? व्यंग ही तो भाग्य का?

ऊहापोह और शंकाकुल मन-स्थिति में युधिष्ठिर भीष्म के पास जाते हैं और अहिंसा का प्रतिनिधित्व करते हुए युद्ध के विरुद्ध मनोबल और आत्मिक शक्तियों का पक्ष लेते हैं।

'जानता कहीं जो परिणाम महाभारत का
तनबल छोड़ मैं मनोबल से लड़ता,
तप से सहिष्णुता से त्याग से सुयोधन को
जीत नई नींव इतिहास की मैं धरता
और कहीं वज्र गलता न मेरी आह से जो
मेरे तप से नहीं सुयोधन सुधरता
तो भी हाय यह रक्तपात नहीं करता मैं
भाइयों के संग कहीं भीख मांग मरता।

'कुरुक्षेत्र' को पढ़ते हुए हमें यह न विस्मृत कर देना चाहिए कि यह आज के युग की सृष्टि होते हुए भी महाभारतकालीन युद्ध की धारणाओं को लेकर लिखा गया है। भीष्म के युद्ध-सम्बन्धी निष्कर्ष निष्कर्ष आज के युद्ध की समस्याओं का समाधान नहीं वरन् उस युग के हिंसात्मक साधनों के अनुभवसिद्ध तथ्य हैं। उन दिनों सामाजिक समता सद्भावना और अन्याय के विरुद्ध न्यायोचित व्यवस्था के लिए युद्ध हुआ करते थे यों स्वार्थ-लालसा कुटिल द्रोहाग्नि प्रतिशोध-भावना और भीतर ही भीतर सुलगता जहर भी इसका कारण होता होगा। उन दिनों युद्ध की अनिवार्यता

बहुत कुछ प्रारब्ध और अज्ञात सत्ता के हाथों में ही थी। विध्वंसक और नीति-विरुद्ध जानते हुए भी विवश होकर समरांगण में कूदना ही पड़ता था। सामूहिक प्रतिशोध उन दिनों पापपूर्ण नहीं समझा जाता था। वह पाप-पुण्य की परिधि से परे था।

भीष्म ने प्रथम सर्ग में प्रायः इन्हीं उपर्युक्त मतवादों की पुष्टि की है। उन्होंने युद्ध की तुलना उस तूफान से की है जो प्रकृति के विस्फोटक तत्त्वों को समेटे कुछ ऐसे प्रचंड वेग से आ धमकता है और प्रकृति की विकृतियों एवं जराजीर्ण वस्तुओं को अपने साथ उड़ा ले जाता है। ऐसे तूफान से उन वृक्षों को किंचित् भी हानि नहीं होती जो सशक्त और सुस्थिर हैं। जैसे तूफान अनिवार्य और प्राकृतिक है, उसी प्रकार युद्ध का उत्तरदायित्व भी किसी एक व्यक्ति अथवा राष्ट्र पर नहीं वरन् वह सामूहिक विस्फोट है। यह किसी के रोके नहीं रुक सकता।

भीष्म के मत से तप त्याग विनम्रता अनुराग दया क्षमा मानवीय गुण होते हुए भी सामाजिक जीवन के अनुपयुक्त हैं। जब तक असत् पक्ष का प्राधान्य होगा तब तक युद्ध अवश्यम्भावी है, वह होगा ही। लेखक ने आधुनिक साम्यवादी दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया है

'जब तक मनुज-मनुज का यह
सुख भाग नहीं सम होगा।
शमित न होगा कोलाहल
संघर्ष नहीं कम होगा।

सातवें सर्ग में जीवन-दृष्टि को लेकर समता-विधायक ज्ञान और मानव-धर्म की व्याख्या की गई है। मनुष्य सदैव मनुष्य पर अविश्वास ही करता रहा है। आज तक वह कभी द्वेष-द्रोह से मुक्त न हो सका। करोड़ों मनुष्य आयु-पर्यन्त मानव का कल्याणकारी रूप खोजते रहे हैं किन्तु किसी को मनुष्यता के लिए निराश होने की आवश्यकता नहीं है। मनुष्यता का नव-विकास सदैव होता आया है। हमें निष्क्रिय नहीं सक्रिय होना चाहिए। युद्ध शमन का समाधान है—दुष्प्रवृत्तियों का दमन और सद्प्रवृत्तियों का उद्रेक।

'रण रोकना है तो उखाड़ विषदन्त फेंको
वृक व्याघ्र भीति से मही को मुक्त कर दो।

एक दूसरा समाधान भी कवि ने प्रस्तुत किया है

'अथवा अजा के छागलों को भी बनाओ व्याघ्र
दाँतों में कराल कालकूट-विष भर दो।

कवि के मत से युद्ध हिंसा और विनाश हेय है वह मनुष्यता के ह्रास और पतन का सूचक है किन्तु साथ ही वे आततायी और जन-शोषक भी असभ्य हैं जो दूसरों की सुख-शांति का अपहरण करते हैं। कवि ने इन्हीं दोनों पक्षों का जोरदार समर्थन किया है। यह आश्चर्य है कि समयुगीन होकर भी कवि ने महात्मा गांधी की

महिला दृष्टि और अवाहयोग की नीति की उपेक्षा क्यों की है। न तो आधुनिक दृष्टि से युद्ध-सम्बन्धी समाधान प्रस्तुत किए गए हैं और न महाभारत के भीष्म युधिष्ठिर संवाद को सुदृढ़ पौराणिक आधार-भूमि ही मिली है। दोनों की भवर में अटके हुए की-सी डाँवाडोल स्थिति है। इन सब असंगतियों के बावजूद भी यह काव्यग्रन्थ अपनी निजी विशेषताओं के कारण हिन्दी साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसका आख्यान प्राचीन और ऐतिहासिक तत्त्वों से पूर्ण है। अपने युग की राजनीतिक परिस्थितियों और विचारधारा को प्रस्तुत करते हुए इसमें आज के मत वादों की भी सुन्दर विवेचना हुई है। युद्ध का विषय नीरस है किन्तु इसी शुष्क और नीरस विषय को रुचिकर और जीवन-तत्त्वों से समन्वित कर दिया गया है। काव्य की भाषा भी अत्यन्त ओजपूर्ण और प्रवाहमयी है। न तो कल्पना की कोरी उड़ानें भरी गई हैं और न कृत्रिमता का सहारा लेकर पाठकों को वास्तविक तथ्य से ही दूर रखने की चेष्टा की गई है। विषय की महत्ता निरीक्षण की सूक्ष्मता और वर्णन की स्पष्टता से भी अधिक स्वाभाविकता और सरसता सराहनीय है, जो मानवीय मनोवेगों को उद्वेलित करती हुई पाठकों पर अपना स्थायी प्रभाव छोड़ जाती है।

'मेधावी'

हिन्दी के प्रगतिशील लेखक डॉक्टर रांगेय राघव का 'मेधावी' कुछ नई परम्पराओं को लेकर चला है। लेखक के शब्दों में—'प्रस्तुत काव्य इतिहास की तरह बद्ध नहीं है। अनुभूति और विचार के कारण कहीं-कहीं इतिहास की तिथियों का ध्यान नहीं रखा गया क्योंकि तिथियों का महत्त्व भी स्वयं अनुभूति में है इस प्रकार का काव्य लिखते समय मात्र। एक नायिका—एक नायक के चरित्र में इतना रूप समाना असंभव है। इस काव्य के नायक और नायिका इतिहास और गति हैं, और मेधावी के द्वारा वे प्रकट हुए हैं।

ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है कि मेधावी ही प्रस्तुत काव्यग्रन्थ का एक मात्र नायक है जिसका चैतन्य ज्ञान अणु-अणु में बिखरा है। युग-युगान्तर से मानव की तृष्णा समय के स्तर को बदकर निमम अट्टहास-सा कर रही है। न जाने कितने अरमान वासनाएँ, उन्माद जन्म मृत्यु और अपराजित जीवन-शक्तियाँ युग-युग की निर्मम गति में समाहित हो गई हैं। इतिहास परिवर्तनशील है और मानव समय की गति के साथ सापेक्ष रूप में बद्ध है। उसके व्यय का ओर-छोर अनन्त है। मेधावी उद्भ्रांत और चिंतित बैठा हुआ अनन्त प्रसार को आँखें फाड़े देख रहा है। सूर्य चन्द्र तारे, नक्षत्र सभी महातत्त्व में संलग्न हैं। निस्सीम नभ में ज्ञान-विहग कल्पना के पंखों पर उड़कर थाह पाने में असमर्थ है। रवि शशि और तारे उसकी निस्सीमता में विलुप्त हैं। ग्रह-उपग्रह सभी अविराम गति से चल रहे हैं किन्तु उसका आदि और अन्त अज्ञात ही है। मनुष्य का अहंकार शिरा-शिरा में निनादित हो रहा है, किन्तु तो भी मनुष्य को शांति और तृप्ति नहीं है।

द्वितीय सर्ग में मेधावी अगणित नक्षत्रों और सौर-चक्र के अविरत नर्तन को देखकर चकित हो जाता है

'तारों का प्रिय सुन्दर नर्तन
गति का नर्तन
नूपुर छम-छम
कितना विराट है मुग्ध खिला
जिसमें हम मधु मकरन्द समान
परिवर्तन के झोकों से यह
दिशि-दिशि में फैले हैं खिल-खिल।

तीसरे और चौथे सर्ग में मेधावी को सम्पूर्ण सृष्टि महानृत्य में संलग्न दीख पड़ती है। पृथ्वी और आकाश का अगम्य विस्तार उसके दृष्टिपथ के सम्मुख आकर खिल जाता है। पाँचवें सर्ग में मेधावी को नभमंडल में सौर-चक्र चलते दीख पड़ते हैं मानों महाशून्य में ग्रह-उपग्रहों का भीषण द्वन्द्व मचा हुआ है। उसे लगता है जैसे विराट् का अणु-अणु चैतन्य हो उठा है और पृथ्वी सूर्य को देखकर मुस्करा रही हो।

छठे सर्ग में मेधावी को पृथ्वी पर प्राणचिन्ह स्पंदित हुए दीखते हैं और अमित शक्ति शत-शत धाराओं में उच्छल हुई जान पड़ती है। यों मानव-शक्ति सदैव प्रकृति से संघर्ष करती रही है, तो भी मेधावी विस्मय-विमुग्ध हो देखता है कि मनुष्य का इतिहास कितना अल्प है, कितना नगण्य है। मानव कितना लघु है—अथाह समुद्र में केवल बिन्दुवत् किन्तु तो भी मानव होने के नाते उसमें अपने प्रति प्यार पनपता है। वह आदिम मानव से शनै: शनै: उन्नति की ओर अग्रसर होता है। उसका ज्ञान क्रमशः विकसित होता है। संघर्ष करता हुआ वह आगे बढ़ता जाता है। वह उस राह का पथिक है जहाँ कोई व्यवधान नहीं जहाँ ईश्वर और अमरत्व नहीं। जो कुछ सत्य था वह आज भी सत्य है व्यर्थ के झमेले में भूलकर प्रगति को अवरुद्ध करना है।

नवें सर्ग में मेधावी को आकाश में उषा फूटती नजर आती है। सहसा उसकी आँखों में सिहरन-सी भर जाती है और वह आनन्द विभोर हो उठता है

'व्याकुल नयनों की कारा में
यह हरित आभ क्यों जाग उठी ?

पृथ्वी के रंगमंच पर उसे रोते और हँसते मानव दृष्टिगत होते हैं। कभी प्राणों की नीरवता प्रकृति में लय होकर आँसू बहाती है और कभी अभिराम दृश्यावली की मादकता में विभोर हो चंचल हो उठती है। हेमन्त शिशिर, बसन्त ग्रीष्म वर्षा शरद् सभी महाप्रकृति में समरूप हैं किन्तु अकस्मात् मेधावी का यह स्वप्न भंग हो जाता है और वास्तविकता उसकी आँखों में नाच उठती है

'ओ धूलिकाम प्रगतिपर तू
अपनी सत्ता का खेल देख
चल पड़ा समय के बीच मार्ग
इतिहास पृष्ठ में उलट चला
रे मेधा का रोही प्रवाह
में अपनेपन की खोज चला।'

इतिहास के पृष्ठ उलटते चलते हैं और युग-युग की ऐतिहासिक घटनाएँ एक एक करके उसकी आँखों के समक्ष खिंच जाती हैं। आदिम जातियाँ द्रविड़ कोल, मंगोल तथा प्राचीन भाषा संस्कृति और कला सभी क्रुद्ध कल्पना में सजग हो उठते हैं। सोचते-सोचते मेधावी क्लांत हो जाता है उस समय में ये प्रतिध्वनि उठती है

'कौन हो तुम उन्मत्त विभोर,
दुखी होकर करते संघर्ष
पुनीतर से पथ पर चल किन्तु,
कह ही जाता विगत समय ?
'अरे मैं हूँ मानव अभिराम
चला था स्वप्नों का ले भार
किन्तु अब देख रहा हूँ आज
नहीं मिलता मुझको पुरस्कार।

अंतिम चौदहवें सर्ग में मेधावी न्याय और अन्याय के घोर संघर्ष को देख कर मुस्करा उठता है। मजदूर, भिन्न मध्यवर्ग कवि दार्शनिक वैज्ञानिक---सभी अपनी-अपनी धुन में लीन हैं और फासिस्टवाद साम्राज्यवाद प्रगतिवाद तथा भिन्न-भिन्न मत-मतांतरों का बोलबाला है। काव्य के अंत में कवि उन्मुक्त और सत्पथ जीवन की कामना करता है।

'एक दिन तो होगी यह भूमि
और भौतिक के सुख का पूर
बनायेंगे मानव यह देश
जहाँ शोषण का रहे न नाम
जहाँ का सत्य वास्तविक सत्य
जहाँ स्वातन्त्र्य साम्य सुख शांति
करेंगे निधि विन मूल्य
और परिवर्तन-पथ पर शासन
जाग का पकड़े हाथ
चलेगी जनगण मुक्त।

प्रस्तुत काव्यग्रन्थ में अनूठी कल्पना और विषयों की अनेकरूपता के साथ साथ उनके विधान का ढंग भी निराला है। कवि प्रगतिशील है और उसने पुरातन बन्धनों को विच्छिन्न करके नवीन काव्य-पद्धति अपनाई है। अभिव्यंजना की प्रगल्भता और भावनाओं की ऐसी सुकुमार योजना मिलती है कि पाठक विस्मय-विमुग्ध हो वर्णन-वैचित्र्य में खो जाता है। दर्शन भूगोल इतिहास काव्य समाजशास्त्र आदि सबका इसमें समाहार हो जाता है अतएव विषय प्रसार व्यापक है। लेखक ने लिखा है:

"मैंने किसी मत को ध्येय या लक्ष्य साबित नहीं किया—जीवन की गति ने अपने आपके निष्कर्ष प्रतिध्वनित किये हैं।

'कुणाल'

प्रस्तुत खण्डकाव्य का उद्देश्य सुप्रसिद्ध अशोक के पुत्र कुणाल का महत् चरित्र अंकित करना है। साम्राज्ञी तिष्यरक्षिता की कलंक-कालिमा कुछ ऐसी सघन होकर इतिहास के पृष्ठों में समा गई है जिसका सर्वथा लुप्त हो जाना असम्भव ही है। प्रथम तीन सर्गों में मगध की राजधानी पाटलिपुत्र का वैभव कुणाल का जन्म बालक्रीड़ा और उसके तारुण्य की लावण्यमयी छवि वर्णित है। राजकुमार अत्यन्त सौम्य और सुन्दर है। उसका अंग-प्रत्यंग सुडौल और कान्तिमय है किन्तु सबसे शोभन और विमुग्धकारी उसके विशाल नेत्र हैं जो बरबस सबका ध्यान आकर्षित कर लेते हैं।

'था सभी शोभन मनोरम
किन्तु लोचन पद्म
थे बड़े ही हृदयस्पर्शी
रूप-गुण के सद्म।

चौथे सर्ग में कलिंग देश को जीतने के उपलक्ष्य में एक बृहद् उत्सव मनाया जा रहा है। प्रशस्त ललाट विशाल नेत्र आजानु बाहु और हवा में थिरकते उत्तरीय एवं [illegible] करते आभूषणों और वस्त्रों से सुसज्जित सम्राट् अशोक इस प्रकार सिंहासनारूढ़ हैं मानों मौर्य-वंश का सौभाग्य-सूर्य अपना समस्त वैभव और कान्ति को बिखरता हुआ विराजमान हो। चहुँ ओर आनन्द और उल्लास की लहर-सी दौड़ी पड़ रही है। सभी आनन्दमग्न हैं और नृत्य गायन आदि तरह-तरह के अभिनय दिखाए जा रहे हैं। मंत्री सभासद प्रजा और समस्त रनवास भी उपस्थित है। सहसा युवराज कुणाल नाट्य-मंच पर कामदेव का वेष बनाए और हाथों में पुष्पबाण लिये प्रविष्ट होता है। उस समय की उसकी मधुर भावभंगी पर रानी तिष्यरक्षिता मुग्ध हो जाती है। गवाक्ष में से झाँकते हुए उसके नयन चंचल हो उठते हैं। हृदय विचलित हो जाता है और प्राणों में सिहरन सी भर जाती है। महलों में लौटने पर कुछ देर रानी अर्द्ध-मूर्च्छित-सी पड़ी रहती है। पाँचवें सर्ग में रानी का अंतर्द्वन्द्व बड़ी मार्मिकता से चित्रित किया गया है। प्रेम का ऊहापोह बड़ा ही स्वाभाविक है, किन्तु माता का पुत्र के प्रति ऐसी वासना का उद्रेक कुछ ऐसा घृणित और जघन्य

अपराध है जिसका मार्जन नहीं किया जा सकता। लेखक ने जितनी ही सरलता और निर्विकार भाव से रानी के उफनते कुत्सित प्रणय का प्राबल्य दिखलाया है उतनी ही तीव्रता से पाठकों के हृदय में विद्रोह और घृणा का भाव जाग्रत होता है। छठे सर्ग में प्रणय-निवेदन का प्रसंग है। रानी जब इठलाती मचलती और अपनी कंचन सी काया को नाना आभूषणों और सुन्दर वस्त्रों से आवृत करके युवराज कुणाल से प्रणय की भीख माँगती है तो स्वयं लज्जा भी लजा जाती है। राजकुमार का उत्तर कितना स्वाभाविक है साथ ही कितना सामयिक और संक्षिप्त

'मर्माहत से वे अब कुणाल
अकुलाते प्रणत बने अस्थिर।
'आर्ये! तुम हो जननी मेरी।
सोचो तो क्या कहती हो फिर?
कैसे यह साहस हुआ तुम्हें।
जाओ! अब राजभवन जाओ।
कुछ पूजन-भजन करो जिससे
हृत्तल में परम शान्ति पाओ।

मर्माहत और चोट खाई हुई सर्पिणी-सी रानी भीतर ही भीतर विष उगलती है। अपमान की आँच से उसका अन्तर धधकता है और वह प्रतिशोध के लिए सजग और सचेष्ट हो उठती है। सम्राट् अशोक से सप्ताह भर के लिए वह शासन-भार अपने हाथों में ले लेती है। राजा-रानी का मान-मनौवल का दृश्य कैकेयी-दशरथ प्रसंग से प्रेरित है उसमें किंचित् नई उद्भावना कर दी जाती तो वह शायद अधिक स्वाभाविक और हृदयस्पर्शी बन पड़ता।

वासनामिश्रित प्रतिशोध की लपटें अमद अधिक तेज हो उठती हैं

'मैं इस छल का बदला लूँगी।
प्रतिहिंसा बनकर धधकूँगी।

रानी छद्म रूप से एक पत्र लिखती है जिसमें तक्षशिला स्थित अमात्य को कुणाल की आँखें निकलवाकर पत्नी सहित निर्वासित करने का आदेश है। नवम सर्ग में चर के मन का द्वंद्व चित्रित किया गया है, किन्तु यह समझ में नहीं आता कि दन्तमुद्रा से मुद्रित और बंद पत्र को चर ने कैसे खोल कर पढ़ा होगा अथवा षड्यन्त्र की जानकारी प्राप्त करने के बाद भी वह अमात्य और राजकुमार के समक्ष मूक क्यों बना रहा। अच्छा होता यदि उसे ऐसे ही अनजान रहने दिया जाता।

दशम सर्ग में कुणाल और उनकी पत्नी कांचन का निर्वासन पढ़कर राम सीता वनगमन का प्रसंग याद आ जाता है। राजकुमार कुणाल चलते हुए अपनी बीन ले लेते हैं और वन-उपवन पर्वत-प्रदेश और बीहड़ स्थानों में पदगीत गाते हुए आगे बढ़ते रहते हैं। छोटे-छोटे गीत जीव की निस्सारता और समय-परिवर्तन का

करुण संदेश दे जाते हैं। अन्तिम चार सर्गों में राजकुमार का प्रत्यागमन सम्राट् अशोक से भेंट, पश्चात्ताप रानी को दंडाज्ञा किन्तु कुणाल के आग्रह से समाधान और फिर कुणाल के राज्याभिषेक के पश्चात् सम्राट् का काषाय वस्त्र धारण करके राजधानी से प्रस्थान आदि का प्रसंग है जिसके साथ ही साथ काव्य का उपसंहार हो जाता है।

कथानक की दृष्टि से घटनाओं का संयोजन सुन्दर हुआ है किन्तु कहीं-कहीं कैनस्य विषयों की गति विशृंखल-सी लगती है। चरित्र चित्रण की दृष्टि से रानी तिष्यरक्षिता और कुणाल के चरित्र सुन्दर उतरे हैं। रूपगर्विता उच्छृंखल प्रसाधन की पुजारिनी अतृप्त वासनाओं की समष्टि और अपनी घात-प्रतिघात कुंठित मनोवृत्तियों से घिरी नारी कितनी दुर्बल और असहाय हो जाती है इसका बारीकी से अंकन हुआ है। कुणाल का चरित्र असाधारण दृढ़ता धैर्य और सहनशक्ति का परिचायक है जो गरिमामय और उदात्त होकर उसकी गम्भीर प्रकृति के अनुरूप ही है। किन्तु सम्राट अशोक जैसे दुर्धर्ष नरेश को इतना अकर्मण्य समस्त कार्य-व्यापारों से अनभिज्ञ और स्त्रैण चित्रित करना ठीक नहीं। दूसरे सर्ग के पश्चात् कुणाल की अपनी माता का भी कहीं उल्लेख नहीं है। राजकुमार आँखें निकालने पत्नी सहित निर्वासित होने और राजा व प्रजा के बिना किसी विरोध-विग्रह के वन-वन भटकना आदि घटनाएँ कुछ ऐसी एकान्तिक हो गई हैं जो अस्वाभाविक सी लगती हैं।

श्री सोहनलाल द्विवेदी ने प्राचीन सामन्तकालीन रुचि संस्कारों और वातावरण का यथातथ्य चित्रण किया है। काव्य की भाषा सरल और प्रवाहमयी है। शान्त और करुणरस का उचित पर्यवसान साथ ही इतिहास-प्रसिद्ध घटना का काव्यगत निर्माण कुछ ऐसा अनूठा बन पड़ा है जो कवि की कलात्मक रुचि और गुणग्राही प्रतिभा का द्योतक है।

'कैकेयी'

सामाजिक धारणाओं में चाहे कोई कवि कितना ही अग्रगामी क्यों न हो किन्तु किसी भी कृतित्व में ऐतिहासिक मर्यादा और क्रमागत कथानक की परम्परा को सर्वथा विच्छिन्न करके आगे नहीं बढ़ा जा सकता। नूतनता के फेर में कवि ने जिस आधार-भूमि पर कैकेयी के चरित्र चित्रण का यह साहस किया है, वह अमनोवैज्ञानिक और समस्त रूढ़ मर्यादाओं के क्रम को उलट देने वाला है। प्रथम सर्ग में ही कैकेयी न जाने कितनी-कितनी काल्पनिक शंकाओं और अनन्त वेदनात्मक भाव-समूहों से आक्रान्त हो रही है। उसके अंग-प्रत्यंग में सिहरन है, प्राणों का अणु-अणु क्रन्दन कर रहा है, हृदय के दग्ध मरुस्थल में विप्लवकारी मौन व्यथा व्याप्त है और वह निःस्तब्ध रात्रि में रो रोकर अपनी हाहाकारमयी घुमड़ती भावनाओं का मनुहार कर रही है।

"कैसे उन भावों को बाँधू
हिमत के सुरभित तारों में

कैसे तोलूँ रागिनियों को
विह्वल आर्त्त पुकारों में।
आज आँधियों के समूह में
इच्छाएँ कम्पित-गात्र
टकराती हैं इच्छाओं से
ज्यों ग्रह से ग्रह टकराता।
ज्वालाओं के कोलाहल में
कैसे लिए रहूँ मन को
बन्द करूँ कैसे पलकों को
मोड़ूँ विह्वल चेतन को।

प्रथम तीन सर्गों तक रानी की इस अज्ञात छटपटाहट का कोई कारण उल्लिखित नहीं किया गया। यह भी स्पष्ट नहीं है कि रानी क्या चाहती है और उसमें किस दैवी प्रेरणा से ये मनोभाव जाग्रत [illegible] हैं। चतुर्थ सर्ग में राम के राज्याभिषेक की तैयारी है, अयोध्या में आनन्द उमड़ा पड़ रहा है, नगर का कोना-कोना प्रकाश से जगमगा रहा है। सहसा कैकेयी के सूने अन्धकारमय हृदय में भी आशा का दीपक टिमटिमा उठता है और वह जैसे भीतर ही भीतर अपने को टटोलती है। उसके मन में भीषण द्वंद्व होता है।

कर्तव्य! तुम्हारी वाणी
जगती है अब भी मन में
पर एक करुणतम ममता
पथ रोक खड़ी जीवन में।

रानी का वरदान माँगने का ढंग भी निराला है।

"राजतिलक एक बार राम का
हो साकेत अयोध्या छोड़ें
राजतिलक की बेला में वे
सिंहासन का बन्धन तोड़ें।"

अन्तिम सर्गों में राम का वन-गमन, दशरथ की मृत्यु और भरत का अयोध्या लौटने आदि का प्रकरण बिल्कुल एक नये रूप में प्रस्तुत किया गया है जो अत्यन्त अस्वाभाविक और विचित्र-सा लगता है। क्या ही अच्छा होता कवि ने इस शास्त्रसिद्ध वृत्त के मोह में न पड़कर अपनी प्रतिभा का रामायण की कैकेयी को ही मनोवैज्ञानिक पद्धति से चित्रित करने में उपयोग किया होता। सौतिया डाह की तीव्र ज्वाला, दुर्दम कुत्सित मोह, अभाग्य नारी की जलती आकांक्षाएँ उसे अनचाहे ही कितने निम्न स्तर पर ले आती हैं—इसका मार्मिक विश्लेषण अधिक समीचीन ही

अजस्र सेवाश्रित पाद युग्म थे।
मनोरमा आनन की प्रसन्नता
अवर्णनीया छवि युक्त सोहती
अनूप लावण्य स्वयं की प्रभा
प्रतीत प्रत्यंग विराजती हुई।"

ऐसा लगता था मानो भगवान का प्राकट्य—

"हृदय की प्रतिमूर्ति वहिर्गता
भवन की सुषमा, छवि ईश की
तनय हो अवतीर्ण हुई अहो।
शुभ विदेह धरातिप-धाम में।"

समग्र महाकाव्य के आठवें सर्ग में बालक महावीर ने जन्म लिया। जन्म पूर्व के कथानक और प्रसंग में राजा सिद्धार्थ और महारानी त्रिशला (भगवान के माता-पिता) को मुख्य नायक-नायिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिससे पूर्वार्द्ध के समक्ष उत्तरार्द्ध का कथा-भाग गौण-सा लगता है। मुख्य प्रसंग के लिए जिस परिपाटी का निर्वाह आज तक महाकाव्यों में किया जाता है उसमें गौण विषय और आख्यानों को इस ढंग से संश्लिष्ट किया जाता है जो प्रतिपाद्य प्रकरण को अधिकाधिक उभार कर रखने में सहायक होता है। दूसरे शब्दों में समूची प्रबन्ध कल्पना का केन्द्रबिन्दु जहाँ कोई मुख्य चरित्र होता है उसी के संदर्भ में अथवा उसी के संस्कारों रुचि और जीवन-गति को दिशा देने के लिए अन्य चरित्रों की अवतारणा की जाती है। किन्तु प्रारम्भिक सर्गों में महारानी त्रिशला के मातृ रूप की गरिमा को भंग कर उसे प्रणयिनी के रूप में चित्रित करना शृंगारिक रस की विडम्बना ही कहा जा सकता है।

"शरीर की यष्टि लता समान थी
उरोज थे श्रीफल से लसे जहाँ
प्रसून से अंग विलोक भूप भी
निमित्त से मुग्ध बने अहर्निशा।

नितम्ब से स्थूल कृशा सुमध्य से
उरोज से उन्नत भार लसता
समायता लोचन युग्म से
सुरांगना सी त्रिशला मनोरमा।"

जहाँ तक जैन धर्म के सर्वोच्च सिद्धान्त तत्त्वज्ञान और आचार-परम्परा का प्रश्न है उस दृष्टि से भी अनेक सर्गों तक इस प्रकार की केलि-क्रीड़ा और विलास विभ्रम सर्वथा अनुपयुक्त है। ऐसे रूमानी चित्र यथार्थ को एक नये सिरे से पकड़ने की चेष्टा करते हैं और शुद्ध आधुनिक धरातल पर आ टिकते हैं। महान तपस्वी त्यागी

और संयमी महावीर की जननी के वर्णन में ऐसा उन्मुक्त भाव और खुलापन इस लिए भी निषिद्ध है चूंकि मातृकुक्षि में जहाँ ऐसी चिन्मय प्राणसत्ता का विकास होता है और जो नौ-दस मास तक अनन्य भाव से दिव्य शरीर के संस्थान को प्रश्रय देती है उसकी एक सीमा और मर्यादा है। मन और पंचभूतों के एकीकरण से ही शरीर का निर्माण होता है। विश्व में शक्ति के जितने स्वरूप हैं उन सब में विशिष्ट और रहस्यमयी मातृशक्ति है जो बाहर से नया जीवन रस डालकर उसके अपने शरीर के भीतर जो चैतन्ययुक्त प्राण शक्ति है उसका नित नया पावन और संवर्द्धन करती है। अतएव इसमें मोहक और हृदय को आलोड़ित करने वाले अभिराम चित्रों के अस्वम के समस्त पाठकों को अभिभूत करने वाली रचना न होकर मातृत्व की महिमा को प्रतिष्ठित करने वाला सम्पूर्ण मातृत्व मधुर होना चाहिए।

यों भी भगवान महावीर के माता-पिता तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ की परम्परा के अनुयायी थे। अहिंसा त्याग अपरिग्रह और सांसारिक प्रपंच की विडम्बनाओं से परे उन्होंने अनासक्ति और संयमशीलता का ऐसा वातावरण सृष्ट किया था जहाँ उनकी समूची आंतरिक शुचिता के उपलब्ध प्रमाण स्वरूप भगवान् महावीर का प्राकट्य हुआ।

बाल्यावस्था से ही उनके जीवन का ध्येय सुखोपभोग नहीं बल्कि ज्ञान की पिपासा ज्ञान की खोज और ज्ञान की चरम साधना थी। अपने उद्दाम यौवन काल में भी वे कभी ऐहिक सुखों के व्यामोह में नहीं पड़े और उनकी जन्मजात सात्विक प्रवृत्ति उन्हें अधिकाधिक अलिप्तता और अनासक्ति की ओर ले गयी।

"बाला गया शैशव सर्वकाल को
प्रवृत्त कौमार्य हुआ जिनेन्द्र का
परन्तु आसी तब यौवनाग्नि को
विचार में या अवसर आ गया।

प्रकाशिता यद्यपि ज्ञान-दीप्तियाँ
जिनेन्द्र यौवन्य प्रभूत हो गईं
परन्तु कादम्बिनी काम मेघ की
सम-प्रभा के हृदयाब्धि में उठी।"

उस समय जबकि सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियाँ अन्धानुकरण के गर्त में और भी वैदिक कर्मकाण्डों ने हिंसा और अतिचार का रूप धारण कर लिया था तब भगवान् महावीर ने ही आत्मचिंतन और जीवनमुक्ति द्वारा आत्मा और ब्रह्म का अद्वैत सिद्ध किया। अर्थात् आत्मा क्या है ब्रह्म क्या है, परलोक क्या है, निर्वाण क्या है—इसी के समाधान में उन्होंने उस तात्विक चिंतन को प्रश्रय दिया जिसमें आत्मा अमरत्व प्राप्त करती है। मनुष्य को बहुत-सी बातों की जानकारी तो है पर उसका ज्ञान अज्ञान से आच्छादित है। उसका अहंकार फलासक्ति के कारण उसे कर्म की

ओर प्रेरित करता है और इसी चक्रव्यूह में फँसा वह निरन्तर कर्मजनित भोगों का शिकार बना रहता है। किन्तु जीवन की तुच्छातुच्छ आकांक्षाओं से मुक्त जो शाश्वत और चिरंतन आत्मरस के छलकते प्याले का आकण्ठ पान कर लेता है वह काल-भँवर के परे उस कूल-किनारे पर आ लगता है जहाँ संसार-सागर की उत्ताल तरंगें टकराकर उसे विचलित नहीं करतीं। ज्वाज्वल्यमान ज्योति-समुद्र की आलोकमयी अनंतता के मंथर मंद तालमेल के माधुर्य में डूबे उसके चित्तचक्र के रुकने पर कालचक्र भी अनायास थम जाता है अर्थात् अंतःकरण में जब सम्यक् दर्शन की उपलब्धि होती है तो अनादिकालीन अंधकार मिट जाता है और समग्र तत्त्व यथार्थ रूप में उद्भासित होने लगते हैं। ऐहिक सुख और ऐन्द्रिय भोग नीरस प्रतीत होने लगते हैं और निवृत्ति की अविचल आस्था का पथ प्रशस्त हो जाता है।

तेजस्वी तरुण राजकुमार अपने असाधारण तपश्चरण द्वारा अल्पकाल में ही तत्त्वज्ञान का निरूपण करते हैं और एक सच्चे साधक की भाँति बाहर-भीतर सर्वत्र एक ही बोधस्थिति में रमण करते हुए कभी भी तत्त्वच्युत नहीं होते। यहाँ तक कि कलकलनिनादिनी महानदी की पावन धारा उनके मन में कोई भी विकार उत्पन्न नहीं करती अपितु उसकी पारद जैसी धवल फेनराशि मन-बुद्धि-हृदय के अभेद भाव और आत्यन्तिक आनन्द की चरम परिणति को उजागर करती है

"कुमार प्रायः उसके समीप जा
विलोकते तुङ्ग-तरंग-भंगिमा
प्रतीत होती शुभ्र फेन बिम्ब से
सरोज शोभा जल में प्रफुल्लिता।
मनुष्य-साधारण-जन से कहीं
महानदी की सुषमा सुखाम्ब की
तटस्थ-साक्षी-सम देख देख को
अपार लाली इस तत्त्व के छुये।
नितान्त एकान्त निवास संस्पृही
कुमार को थी सरि मोद-दायिनी
कभी-कभी आ उसके समीप वे
विचारते जीवन का रहस्य थे।
कुमार निस्संग नदी समीप में
सदा महा चिन्तनशील-भाव से
विरक्त निःश्वास समेत देखते
तटस्थ पुष्पावलि म्लान-मूर्च्छिता।"

समूचे सर्ग क्रम में राजकुमार की उत्तरोत्तर बढ़ती वय के समानान्तर उनके मनन चिन्तन निदिध्यासन और निष्काम भाव की संस्थिति का दिग्दर्शन कराया गया है—जिसमें स्वतः प्रश्न उठते हैं और उनके समाधान का भी स्वतः प्रयत्न किया

गया है। जीव और ईश्वर का स्वरूप क्या है ? जीवात्मा किस तत्त्व से बना ? क्या ईश्वरत्व से भी उसका कुछ संयोग है ? देह और देही जन्म मृत्यु, काल-कर्म नियति स्वभाव लोकवाद-आत्मवाद, कर्मवाद-क्रियावाद—इन सबमें मध्यस्थ भाव कौन है ? कैसे उसका कल्याण हो सकता है ? समता वैराग्य उपशम निर्वाण शौच ऋजुता निरभिमान कषाय अप्रमाद निर्भर, अपरिग्रह आदि गुणों के विकास के लिए उसे क्या करना चाहिए। ऐहिक सुखों के पीछे दौड़ना एक शाश्वत स्वभाव है और अनेक महत्वाकांक्षाओं झूठे सुखों और बड़ा बनने की ख्वाहिश लिये वह भिन्न-भिन्न मिथ्या वादों और कुप्रवृत्तियों की साधना करता है। त्याग और अहिंसा ही सर्वोपरि है। मारो हमें—किसी को न सताओ और आचार में अहिंसा बुद्धि में समन्वय और व्यवहार में अपरिग्रह का आदर्श साकार करते हुए अहंकार का दमन और व्यामोह का गला घोंटना ही श्रेयस्कर है। सोलह वर्ष की कोमल अल्पायु में ही—जबकि तारुण्य की उद्दाम तरंगें चित्त को डाँवाडोल करती रहती हैं—उन्होंने विश्व प्रपंच से परे सम्यक दर्शन प्राप्त कर लिया था

"कुमार को षोडश वर्ष हो गये
विलोकते सब प्रपंच विश्व के,
मनुष्य के जीवन की प्रतिक्रिया
हुई तदा मानस-मध्य विचिन्ता।

ज्यों-ज्यों कुमार की उम्र बढ़ती है उसकी मनोमय अनुभूति और आंतरिक संघात का सम्मोहन भी बढ़ता जाता है। चूँकि आत्मा ज्ञानमय है और ज्ञान चैतन्य स्वरूप है अतएव आत्मा और ज्ञान का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। आत्मा ज्ञाता तो है ही अपने ज्ञान गुण से अभिन्न होने के कारण ज्ञान रूप भी है साथ ही स्वप्रकाश्य होने से ज्ञेय भी है। कठिन संयम और इन्द्रिय-निग्रह द्वारा कर्म से आच्छादित मिथ्या आवरण जब हट जाता है तो ज्ञान का प्रकाश बढ़ता जाता है और अन्ततः आत्मा का सर्वज्ञ रूप प्रकट होता है। भगवान् महावीर ने इन्द्रियजन्य और मनोजन्य सारी कम-जोरियों को जीतकर आत्म-मन्थन द्वारा मस्ति-साधना का पथ प्रशस्त किया था। जीवन की सीमाओं में क्षण प्रतिक्षण उपस्थित होने वाले भावावेग जब मन को दोलायमान करते हैं तब आग्रह की जड़ता और भेदकारी वृत्ति का परित्याग करके जो आत्मोपलब्धि के प्रति सचेष्ट और मुखर बना रहता है वही दरअसल निर्मुक्त और सर्वदर्शी है।

"मनुष्य तू मर्त्य अतः विचार के
अवश्य तेरी कल ही समाप्ति है,
परन्तु धर्माचरणार्थ लोक तू
अवश्य तेरी शत वर्ष आयु है।
बरसती है बुदबुद और बीच का
प्रदीप है जीवन दीप काल है

तरंग में केवल तुल्य व्यर्थ है
मधुरवर्ती नर की क्रिया सभी ।
स्वकर्म ही किन्तु न मात्र वप है
विचार ही किन्तु न श्वास मात्र है,
विभावना ही न कि मूर्त देह है
मनुष्य का जीवन मापदण्ड है ।
विचार में जो सब भाँति लीन हो
निगूढ़ हो सतत स्वानुभूति में
सदैव जो उत्तम कार्य लग्न हो,
प्रशस्त जीना उसका यथार्थ है ।"

मनुष्य के क्षण भंगुर जीवन की मीमांसा में कहा गया है—

"मनुष्य का जीवन एक पुष्प है
प्रफुल्ल होता यह है प्रभात में
परन्तु छाया जब सांध्यकाल की
विलीन होके गिरता दिगन्त में ।
मनुष्य का जीवन रंगभूमि है,
जहाँ दिखाते सब पात्र खेल हैं
कभी हिलाया कर सूत्रधार ने
हुआ पटाक्षेप तुरन्त मृत्यु का ।
नितान्त ने दिव्य विभूति जीव को
प्रदान की जीवन की अमीयता
परन्तु जो जीवन मृत्यु न दिया
सुदीर्घ है शाश्वत है समस्त है ।

ग्यारहवें सर्ग से तेरहवें सर्गों तक भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित दर्शन और तत्त्व-विवेचन उस सतह पर आ खड़ा हुआ है जहाँ सैद्धान्तिक चेतना और व्यावहारिक चेतना—दोनों के परे अंतर्जिज्ञासा की बहुत ही गहरी अनुभूति है । श्रमण संस्कृति की मूल प्रेरणा और अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह तथा तृष्णा निवृत्ति साथ ही अनेकान्तवाद का सिद्धान्त तथा पवित्र द्वादश भावनाओं का उदय—यों स्वयकथित या स्वानुभव-वर्णन में उनकी आत्मा के तार जिस निष्ठा से बज उठे हैं उनमें मनुष्य-जीवन का सच्चा मूल्यांकन करने की सामग्री मिल जाती है ।

बाद के सर्गों में *वैवाहिक प्रसंग किन्तु उसका आध्यात्मिक समाधान* प्रसन्न होकर ऐसे समारोह के साथ गृह त्याग मानों मोक्ष रूपी वधू के परिणय [illegible] उन्होंने प्रयाण किया हो

"साजे हुए भूषण और मालिका
पवित्र पाटाम्बर युक्त देह में

प्रतीत थे भीतर-से कुमार यों
चले कभी मोक्ष-वधू बिवाहने।"

फिर भगवान् की कठोर तपश्चर्या श्रम और अहिंसा का सन्देश देते हुए देश देशान्तरों का भ्रमण याज्ञिक हिंसा पशुबलि जातिवाद और उस समय फैली धार्मिक विडम्बनाओं से परित्राण पाने के लिए विश्व की संत्रस्त मानवता को आत्म-शासन का सम्बल प्रदान करना ध्यान में लीन भीगती मन-वचन-कर्म से साधना योगमय आचरण करते हुए, ध्यान की भूमिकाओं और सर्वोच्च स्थिति में पैठ संघ-स्थापना और भग वित दिव्य प्रतिपत्तियों द्वारा धर्म का व्यापक प्रसार—इस प्रकार प्रस्तुत महाकाव्य में भगवान महावीर की समग्र जीवन-कथा और साधना-कथा का बड़ा ही सुन्दर विशद वर्णन है। जैन धर्म में बौद्ध धर्म से भी अधिक देह-दमन और कठोर व्रतों का परि पालन है। भगवान् महावीर का दीक्षा लेकर प्रव्रज्या का महान् संकल्प उनकी चित्त क्षण प्रभा उनकी उच्च मानसिक भूमिका वासनाओं के तुमुल द्वन्द्व में स समाधान कारक निष्कर्ष तथा समस्त पूर्वाग्रहों से मुक्त भीतर-बाहर की आध्यात्मिक शुद्धि का बड़ा ही रोमांचकारी और कलामय चित्र खींचा गया है।

प्राचीन काव्य-परम्परा का निर्वाह करते हुए 'वर्द्धमान' के कवि श्री अनूप शर्मा ने यद्यपि कल्पनाओं और मौलिक प्रतीकों का सहारा लिया है तथापि काव्य की उदात्तता तथा उपलब्धियों का जहाँ तक सवाल है उसमें न सिर्फ गम्भीर बौद्धिक मंथन वरन् अनेक कोष और अनेक ग्रन्थों के सन्दर्भ में विविध रंगों को पकड़ने और उनकी सांकेतिक अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया है। जैन धर्म सम्बन्धी विभिन्न मत मतान्तर और दिगम्बर-श्वेताम्बर विचारधारा में समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने की भी भरसक चेष्टा की गई है।

काव्य का रसास्वादन करते हुए अनेक बार पाठक उदात्त भाव-धारा में मग्न होने का अवसर पाता है। विशेषकर बाद के सर्गों में आत्म-विस्मृति और महान् सत्ता का सा आभास होने लगता है। पाठक के मन को पवित्र धरातल पर ला टिकाना यही इसकी खूबी है जो निःसन्देह काव्य के यथार्थवाद से बहुत ऊपर की वस्तु है।

'अङ्गराज'

उक्त महाकाव्य महाभारत के महादानी कर्ण के जीवन प्रसंग को लेकर लिखी गई २५ सर्गों की प्रौढ़ काव्यकृति है। अपनी चारित्रिक विशेषताओं के कारण कर्ण का व्यक्तित्व-निरूपण स्वयं महाभारत में भी आकर्षण का केन्द्रबिन्दु रहा है। पर उक्त काव्यग्रन्थ की कथा उसके अंतरंग जीवन का पूरी उसके अनेक प्रसंगों में नय मर्म भरती और प्रतिपाद्य विषय एवं विचारों को अधिकाधिक प्राणवान बनाती चलती है।

कर्ण का जन्म प्रसंग ही ऐसा है जो मन को पीड़ा पहुँचाता है और विवश नारी की करुण दशा के एक सर्वाधिक मर्मस्पर्शी पहलू को सामने उभार कर रखता है। महाभारत के अनुसार कर्ण कुंती के गर्भ से उसकी अविवाहितावस्था में ही उत्पन्न

हुए थे। भयंकर अँधियारी रात्रि में जब सघन तमिसा ने समस्त भूमण्डल को ढक लिया था तब कुंती ने तड़पते दिल से लोक लज्जावश अपने सद्यःजात शिशु को गंगा की उत्ताल तरंगों में फेंक दिया था। सारथि अधिरथ की पत्नी निःसंतान राधा ने बड़े ही लाड़-प्यार से बच्चे का लालन-पालन किया पर वह उस कलंक को न धो सकी जिसने उच्च कुलोत्पन्न राजवंशीय बालक की पद प्रतिष्ठा पर सूत-पुत्र के रूप में—इन अपूर्व परिस्थितियों में—सहसा वज्रपात किया था। इसका दुष्परिणाम बालक के भावी उत्थान और जीवन के विकास में रोड़े अटकाता रहा किन्तु फिर भी हर प्रतिकूल परिस्थिति ने हिमालय की तरह अडिग कर्ण के हृदय को अमर शौर्य का दर्प प्रदान किया था। अपनी जननी की भीरुता के विष को वीर कर्ण ने अपनी साहसिकता और ओजस्विता के अमृत से उज्ज्वल बनाया था। यही कारण है कि महाभारत के संग्राम के पूर्व जब कुंती ने अपनी असहाय ममता की कहानी कर्ण के सम्मुख रखी तो साम्राज्य की लिप्सा और जय-पराजय से परे छाती खोलकर और अन्त तक उसने वीरतापूर्ण मृत्यु को वरण करने की ही इच्छा व्यक्त की।

यों आप मर्यादा के प्रतीक कर्ण की कथा उक्त काव्यग्रन्थ में विस्तार से वर्णित है यद्यपि अनेक स्थलों पर घटनाओं के क्रम विन्यास-विधान और संवाद एवं कथोपकथन में मौलिक आख्यानों से बेहद वैषम्य और विपर्यय है। अपने आर्योचित आचरण पौरुष एवं पराक्रम तथा अपनी सत्यवादिता और ओजस्विता के कारण वीर व सत्यवादी कर्ण सूर्य-पुत्र कहलाए। अतएव 'अंगराज' की कथा का सूत्रपात सूर्यलोक की स्वर्णमंडित आलोकधारा की असीम तेजोमयी भव्य उज्ज्वलता के देदीप्यमान प्रकाश में होता है।

"निश्चय मानो वत्स, सदन है यह सविता का।
मुख्य मूर्ति प्रत्यक्ष देवता जीव पिता का॥
लोक बन्धु का आलोकित यह दिव्यलोक है।
तिमिर अज्ञानहारी हरि का सत्यलोक है॥
प्राचीपति का विभव-विभूषित राज्य यही है।
महाकाल शासित अनन्त साम्राज्य यही है॥
जगज्जन्य नारायण का यह क्रीड़ास्थल है।
आविर्भाव का कर्मक्षेत्र यह रविमंडल है।

कर्ण की जन्म-कथा से लेकर अर्थात् कुमारी कुन्ती द्वारा तुरन्त पैदा हुए बालक को पेटिका में रखकर गंगा में जल प्रवाह अधिरथ-राधा द्वारा कर्ण का पुत्रवत् पालन द्रोणाचार्य के गुरुकुल में आगमन कौरव-पांडव राजकुमारों से टक्कर, अंगराज्य की प्राप्ति और कर्ण-दुर्योधन-मित्रता तत्पश्चात् कर्ण का विप्र वेष में महेन्द्र पर्वत पर परशुराम से धनुर्विद्या सीखना कर्ण के बाण से अकस्मात् तपस्वी की गाय का प्राणान्त मद सतन पर ... परशुराम का शाप कलिंग का स्वयंवर वर्णन कर्ण से शिशुपाल और जरा

वध आदि का घोर संग्राम कर्ण-जरासन्ध का महायुद्ध दुर्योधन का राज्याभिषेक लाक्षागृह दाह, द्रौपदी स्वयंवर, युधिष्ठिर का इन्द्रप्रस्थ में राज्य सिंहासनारूढ़ होना जरासन्ध-वध राजसूय यज्ञ दुर्योधन का अपमान द्यूत का दृश्य और पांडव-वनवास गंगा-तट पर कर्ण का याचकों को मुक्तहस्त दान विप्र-वेष में भगवान् कृष्ण द्वारा कठिन परीक्षा और बाद में सुरराज इन्द्र का कवच-कुंडल के पाने का कुचक्र और बदले में एकघ्नी शक्ति देना पांडवों के वनवास की अवधि समाप्त होते ही दोनों पक्षों में सनातनी युद्ध का निश्चय सन्धि हेतु कृष्ण का दूत-वेष में हस्तिनापुर-आगमन वाद-विवाद, असफल होकर कृष्ण का लौटना मार्ग में कृष्ण और कर्ण की भेंट, क्रीड़ांगन में कर्ण और पत्नी की विनोद-वार्ता कुन्ती की पुत्र से भेंट और बदले में अर्जुन को छोड़कर चार पांडवों का जीवन-दान भीष्म-कर्ण विवाद कुरुक्षेत्र में भीष्म पितामह के नायकत्व में युद्ध जयद्रथ-वध घटोत्कच-वध द्रोण-वध कर्ण के नायकत्व में महाभारत का घोर संहार, कर्ण-पार्थ का द्वैरथ युद्ध कर्ण का वीरगति प्राप्त करना समरांगण में कर्ण-पत्नी का विलाप शल्य के नायकत्व में युद्ध दुर्योधन भीम का गदा-युद्ध दुर्योधन की मृत्यु अश्वत्थामा का पराभव कर्ण के जन्म का रहस्य जानकर युधिष्ठिर का पश्चात्ताप और सिंहासनासीन होना कृष्ण का द्वारिका-गमन, अन्त में कर्ण की नैतिक विजय युद्ध के प्रसंग में कर्ण को सूर्य का उपदेश महाभारत की संरचना आत्मविजय का महत्त्व पांडवों का देह-विसर्जन आदि—इन सभी प्रमुख आख्यानों और कथा-प्रसंगों को बड़े ही श्रम और कौशल से इस महाकाव्य के कलेवर में समेटा गया है। अनेक स्थल बड़े ही मार्मिक और हृदयस्पर्शी बन पड़े हैं। अनब्याही माँ का करुण चित्र कितना सजीव है:

"मधु मास में कर में शिशु, अन्तर में ज्वाला।
लेकर निकली वह करवीरा वह नरपति बाला॥
बाल रूप को अंक में लिये चली द्रुतगामिनी।
कौन कलाधर मुख क्यों आती प्रात यामिनी॥
शंकित कम्पित व्यथित कुमारी जननी।
अश्व नदी तट पर आई अंचल लिपि अपनी॥
वहाँ कालिन्दी के अंचल में एक वटिका।
खड़ी हुई थी लिये एक नव काष्ठ पेटिका॥
बार-बार मुख देखती चुम्बित करती भाल को।
मंजूषा-शायित किया कुन्ती ने निज बाल को॥"

पन्द्रहवें सर्ग में माँ का एक दूसरा ही चित्र देखने को मिलता है। महाभारत का युद्ध होने वाला है। प्रतिहिंसा की ज्वाला भाई-भाई को सर्वनाश की ओर ठेल रही है। विदुर, वृद्धा कुंती माँ का हृदय दहल उठता है। इस घोर संकट के समय वह अपने बिछुड़े खोये बालक को हृदय से लगा लेने को तड़प रही है।

"थी जिसका गति से वह प्रस्फुट नीरज-सी उसकी अभिलाषा।
धूप-समान खिली वन में वह भी उसकी कुसुमस्य सुराशा॥
संभव था न परन्तु अकारणमयी वह भी सुत को प्रतिभाषा।
इंगित थी सबसे अनुमानित निष्फलता भवितव्य निराशा॥
विह्वलतामय वेग भरी वह पुष्टिकरी सब प्रसर भाईं।
धम्बुद राशि यहाँ सिकता पर बंधित भी सब ओर बिछाईं॥
यौवन था सितिधगुल छार समान पड़ी रसधार दिखाईं।
और यहीं सुरसिन्धु अनूप सुकुम्भ हुआ उसको सुखदायी॥"

मुझे यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य और क्षोभ हुआ है कि 'अङ्गराज' का लेखक न सिर्फ भाषा और काव्य-रूढ़ियों में एक संकीर्ण आदर्श को लेकर चला है, अपितु महाभारत के उदात्त चरित्रों और कथा-प्रसंगों को भी उसने बड़ी ही बेरुखाई और दुस्साहसिकता से एकदम उलट-पलट दिया है। महाभारत की ऐतिहासिक कथा में कौरव-पाण्डवों का प्रारम्भ से ही द्वन्द्व-संघर्ष है। समूचा राजकुल एक है सभी में एक रक्त एक प्राणधारा प्रवहमान है पर जैसा कि सृष्टि का नियम है सहोदर भ्राताओं तक की सन्तति तक में अनेक मतभेद और स्वभाव-वैपरीत्य होता है। दुर्योधन प्रारम्भ से ही कुटिल और षड्यन्त्रकारी मनोवृत्ति का है। उसकी हिंसा भावना राज्याधिकार की अनधिकार चेष्टा दुर्नीति और अदूरदर्शिता न पाण्डवों को अनेक कष्ट और घात मारे दीं जिसका अन्तिम दुष्परिणाम महाभारत का भयंकर और विनाशक युद्ध था। ऐसे प्रामाणिक इतिहास-प्रसिद्ध पुराण को सुपात्र दर्शाना और सभी पाण्डवों के कथा-चरित्रों में विपर्यय उपस्थित करना नितान्त हास्यास्पद और अशोभनीय है। लेखक का सबसे अधिक आघात युधिष्ठिर पर है। धर्मराज के उज्ज्वल चरित्र पर कीचड़ उछालकर लेखक ने भयंकर अपराध किया है, यहाँ तक कि द्यूत-क्रीड़ा—जो उन दिनों राजाओं के आमोद-प्रमोद का एक सहज निर्दोष साधन था और पूर्व दुर्योधन की कुटिल नीति ने जिसका आयोजन कर युधिष्ठिर को फँसाया था—इस सबके लिए पाण्डवों के नैतिक चरित्र पर भीषण कुठाराघात किया गया है। द्रौपदी के चीरहरण की कहानी को इतनी मर्मभेदक और स्वच्छाचारी प्रवृत्ति से प्रस्तुत किया गया है कि देखकर अवाक् रह जाना पड़ता है। आर्यमर्यादा के प्रतीक महावीर, महादानी कर्ण के मुख से क्या ये शब्द शोभा दे सकते हैं

'सुनकर नृप भारती कर्ण ने कहा—सुनो हे मित्र।
नारी का आचरण वस्तुतः होता गूढ़ चरित्र॥
स्त्रियाँ मोहिनी बनकर जितने व्यवहार करें मन।
प्रकट महामना होती और अधिक क्या मन॥"

किसी भी दीन हीन संकटापन्न नारी की आर्त पुकार सुनकर विवेकी और सज्जन का बिना सोचे विचारे उसकी रक्षा करना धर्म हो जाता है। किन्तु द्रौपदी की

हीन भावना और असहायावस्था को ठुकराकर जो कर्ण के मुख से कठोर और अकथनीय वचन कहाये गये हैं वे किसी भी पाठक को लज्जा और संकोच के गर्त में डाल देते हैं—

'उपहास तब कहा कर्ण ने—री अमर्यादिता मूर्ति।
कुरु गृह से कभी न होगी तेरी इच्छापूर्ति॥
होती यदि तू सत्य ही तो वह सूतकुमार।
तेरा प्रथम सहायक होता सुनकर आर्त पुकार॥

री पंचजना सती नाम का व्यर्थ न कर उपहास
तव चरित्र में कहीं न मिलता है सतीत्व आभास
पंच भोगिनी तू वेश्या है, कुल मर्यादा-भ्रष्ट
और युधिष्ठिर भीम पार्थ सब मूढ़ षंढ है स्पष्ट।"

ऐसा प्रतीत होता है लेखक अपने कथा-चरित नायक के विपक्षी दल को नीचा दिखाने के लिए इतना कटिबद्ध और तत्पर है कि उसने उत्साह में महाभारत के उदात्त चरित्रों का बेमतलब शीलभंग किया है। हीनत्व भावना से पीड़ित उसके भीतर की दुर्दम्य उच्छृंखलता और भयंकर विष आदि से अंत तक इस काव्य-ग्रन्थ में व्याप्त है जिसने इसके काव्य रस को विषाक्त बना दिया है। क्या सचमुच किसी लेखक को इस प्रकार के ऐतिहासिक कथास्थानों को विकृत बनाकर प्रस्तुत करने का अधिकार है? क्या इससे किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति संभव हो सकती है? किन्हीं भी ऐतिहासिक प्रसंगों पर कलम उठाते हुए लेखक को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह युगधर्म के अनुकूल हो साथ ही हमारी सभ्यता और संस्कृति में आस्था रखने वालों को उससे प्रोत्साहन मिले। आसुरी प्रवृत्तियों के दमन और अनाचार के समूलोच्छेद के लिए उदात्त चरित वाले महामानवों की अवतारणा हुआ करती है। 'अङ्गराज' के लेखक ने इन सभी चरित्रों के प्रति घोर अनास्था और विष-वमन करके जो कर्ण का चित्र उभारा है उससे हित नहीं वरन् जबर्दस्त अहित हुआ है। यह काव्यग्रन्थ न सिर्फ युवक-पीढ़ियों को गुमराह करेगा बल्कि आस्थावान लोगों की कोमल भावनाओं पर भी कुठाराघात करता रहेगा।

'रश्मिरथी

शिल्प-विधान और भाव-व्यंजना की दृष्टि से 'रश्मिरथी' कर्ण पर लिखे काव्य-ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ है। आज जबकि इतिहास अपने भीतर ही सिमटता जा रहा है जिसकी कोई सार्थकता नहीं और आगत जैसे नियन्त्रण से दूर—बहुत दूर हटता जा रहा है तो ऐतिहासिक पात्र भी भ्रान्तियों के शिकार बन हुए हैं। जीवन की निरर्थक रस्साकशी की होड़ में उनके अस्तित्व की सार्थकता के तत्त्व भीतर ही भीतर पतित और निष्प्राण से हैं। 'दिनकर' ने भ्रान्ति की इस लीक से हटकर महाभारत का एक ऐसा उद्दाम और ओजस्वी व्यक्तित्व उभार कर सामने रखा है जिसने विषम परि-

स्थितियों में भी एक महान् नैतिक क्रान्ति की अवतारणा की, एक ऐसी क्रान्ति जो जीवन में एक नये अर्थ की खोज में सदा निरत है।

जाति, वर्ण और कुल परम्परा की झूठी प्रतिष्ठा का पर्दाफ़ाश करके कर्ण ने यथार्थ का—असली रूप में—सामना किया उस कटु यथार्थ का जो उसके अपने जीवन की समस्या था और जिसे इस जानकारी के बावजूद अपने अकेलेपन में बड़ी आत्म-तुष्टि के साथ सहज जीना सीखा।

"तेजस्वी सम्मान खोजते नहीं गोत्र बतलाके,
पाते हैं जग से प्रशस्ति अपना करतब दिखलाके।
हीन मूल की ओर देख जग गलत कहे या ठीक
वीर खींचकर ही रहते हैं इतिहासों में लीक।
मूल जानना बड़ा कठिन है नदियों का, वीरों का
धनुष छोड़कर और गोत्र क्या होता रणधीरों का।
पाते हैं सम्मान तपोबल से भूतल पर शूर
जाति-जाति का शोर मचाते केवल कायर, क्रूर।

मानव जीवन की समस्याएँ कुछ ऐसी हैं जो सर्वकालव्यापी और चिरन्तन हैं। चूँकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है देश काल की परिस्थितियाँ और कुल-मर्यादाएँ उसके लिए विशेष महत्त्व रखती हैं। कुंती के गर्भ से कर्ण का जन्म कुमारी अवस्था में हुआ और उसने अपनी लज्जा को ढकने के लिए उस सद्यःजात बालक को जल में प्रवाहित कर दिया। इस असंगत व्यवस्था से आहत अज्ञात कुलशील व्यक्ति की अनुभूति और प्रतिक्रिया कैसी होती है? उसका मनोविज्ञान क्या है? उसके मन सम्बन्धों का मूल्य कहाँ तक है जो उसके तात्कालिक अस्तित्व के सत्य को प्रकाश में लाता है? राधेय को (जो वस्तुतः कौन्तेय है) इस अपमान की विभीषिका में—बाल्यावस्था से ही—तपना पड़ता है। रंगभूमि में एक दिन कौरव-पाण्डवों की परस्पर शस्त्रास्त्र प्रतियोगिता में जब अर्जुन अपना हस्त-कौशल दिखा रहा था और चतुर्दिक अनोखा समाँ बँधा था तो उसी समय अपने पौरुष और वीरत्व के दर्प को समेटे कर्ण सामने आ खड़ा हुआ। उसने ललकार कर अर्जुन को जबर्दस्त चुनौती देते हुए कहा—

"तूने जो जो किया उसे मैं भी दिखला सकता हूँ
चाहे तो कुछ नई कलाएँ भी सिखला सकता हूँ।
आँख खोलकर देख कर्ण के हाथों का व्यापार,
फूले सस्ता सुयश प्राप्त कर उस नर को धिक्कार।
इस प्रकार कह लगा दिखाने कर्ण कलाएँ रण की
सभा स्तब्ध रह गई गई रह आँख टँगी जन जन की।
मन्त्रमुग्ध सा मौन चतुर्दिक जन का पारावार
गूँज रही थी सिर्फ कर्ण की धन्वा की टंकार।"

किन्तु इस शौर्य के प्रदर्शन और उपस्थित जनसमूह के अभिनन्दन के बीच जब कर्ण ने द्वन्द्व-युद्ध के लिए पार्थ का आह्वान किया तो किशोर बालक के समस्त उत्साह और कोमल भावनाओं को मसोसने वाला भीषण व्यंग-विद्रूप का निर्मम प्रहार भी उसे सहना पड़ा जिसने सहसा उसकी यथार्थ स्थिति को नग्न रूप में उघाड़ कर सामने रख दिया।

कृपाचार्य ने कहा—"सुनो हे वीर युवक अनजान !
भरत-वंश-अवतंस पांडु की अर्जुन है संतान ।
क्षत्रिय है, यह राजपुत्र है, यों ही नहीं लड़ेगा
जिस-तिससे हाथापाई में कैसे कूद पड़ेगा !
अर्जुन से लड़ना हो तो मत गहो सभा में मौन
नाम-धाम कुछ कहो बताओ कि तुम जाति हो कौन !

दूसरे सर्ग में महत्त्वाकांक्षी और जिज्ञासु कर्ण को हम परशुराम के शिष्य के रूप में पाते हैं। हरे-भरे विशाल वन प्रान्तर मध्य—जहाँ शुभ्र निर्झर, दूर तक लहलहाते खेत पशु-पक्षियों का मधुर कोलाहल और यज्ञ-धूम की भीनी-भीनी गन्ध से समूचा वातावरण सराबोर और प्राणों में मादकता उँडेल रहा है, परशुराम की कुटिया का दृश्य बड़ा ही मनोरम और चित्ताकर्षक है। एक ओर तो कमण्डल तथा और हवन-सामग्री रखी है, दूसरी ओर धनुष-बाण-तूणीर, भीषण तीर-बरछे और तलवारें लटक रही हैं।

"आई है वीरता तपोवन में क्या पुण्य कमाने को ?
या संन्यास साधना में है दैहिक शक्ति जगाने को ?
मन ने तन का सिद्धि-यन्त्र अथवा शस्त्रों में पाया है ?
या कि वीर कोई योगी से युक्ति सीखने आया है ?"

यहाँ कर्ण की जंघा पर मस्तक रखकर वृक्ष की छाया तले महामुनि परशुराम सोये पड़े हैं। कर्ण मुग्ध और तन्मय भाव से गुरु की सेवा में तत्पर है। विषम परिस्थितियों में अक्षय यश-कीर्ति कमाने और धनुर्विद्या सीखने की लालसा में छद्म ब्राह्मण कुमार के रूप में वह अनवरत शौर्य-साधना में लगा है। मन में जबर्दस्त महत्त्वाकांक्षा किन्तु उधर गुरु से छल करने की ग्लानि और पश्चात्ताप है। इसी बीच एक विषैला कीड़ा कर्ण की जंघा के मांस को कुतर-कुतर कर खाने लगता है और भीतर घाव बनाकर घुसता जाता है।

"किन्तु पाँव के हिलते ही गुरुवर की नींद उचट जाती
सहम गई यह सोच कर्ण की भक्तिपूर्ण विह्वल छाती।
सोचा उसने अतः, कीट यह पिये रक्त पीने दूँगा
गुरु की कच्ची नींद तोड़ने का पर पाप नहीं लूँगा।
बैठा रहा अचल आसन से कर्ण बहुत मन को मारे
आह निकाले बिना शिला-सी सहनशीलता को धारे।

किन्तु, जहू की मम धार जो सहसा जान लगी तन में
परशुराम जग पड़े रक्त को देख हुए विस्मित मन में।"

परशुराम को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि क्या कोई ब्राह्मणकुमार सचमुच ऐसी असह्य पीड़ा को सहता हुआ चुपचाप देर तक बैठा रह सकता है। उस महा-मनीषी के मन में फौरन बात कौंध गई—हो न हो इसमें कोई रहस्य है? तभी भेद खुल गया। साधना अधूरी रह गई। कर्ण को शापग्रस्त भी होना पड़ा और ब्रह्मास्त्र के परम तेज से वंचित भी। जीवन में यह एक और दारुण चोट थी

परशुराम के चरण की धूलि लेकर, उन्हें अपने हृदय की भक्ति देकर,
निराशा से विकल टूटा हुआ सा किसी गिरि शृंग से छूटा हुआ सा

चला खोया हुआ सा कर्ण मन में
कि जैसे चाँद चलता हो गगन में।"

तीसरे सर्ग में भगवान् श्रीकृष्ण के साथ भेंट में कर्ण को अपने जन्म का रहस्य ज्ञात होता है। वह दरअसल राधेय नहीं कौन्तेय है, राजवंशी और पांडवों का ज्येष्ठ भ्राता। यह बात यदि युधिष्ठिर को विदित हो जाय तो इस साम्राज्य का अधिकारी कर्ण ही होगा और दुर्योधन की समूची युद्ध-योजना उलट पलट जायगी। पर राज्य का यह प्रलोभन उसके अडिग मन को विचलित न कर सका और किन्हीं भी परिस्थितियों में उसने संकट के समय मित्र के साथ विश्वासघात करने से इंकार कर दिया। इतनी दूर—मँझधार में आकर—फिर वापिस लौटना समझदारों का काम नहीं है।

'यह बीच नदी की धारा है
सूझता न कुछ किनारा है
ले लील भले यह धार मुझे
लौटना नहीं स्वीकार मुझे।

मैत्री की बड़ी सुखद छाया
शीतल हो जाती है काया
धिक्कार-योग्य होगा वह नर
जो पाकर भी ऐसा तरुवर,

हो अलग खड़ा कटवाता है
खुद आप नहीं कट जाता है।

चौथे सर्ग में और भी कठिन परीक्षा के क्षण आ उपस्थित होते हैं। कसौटी पर खरा उतरना ही असली मनुष्य की पहचान है। अमोघ व्रतधारी वीर पराक्रमी कर्ण का चिरकाल से यह प्रण था कि सूर्य-आराधना के समय कोई याचक उसके सम्मुख आकर यदि किसी वस्तु की याचना करता था तो वह तुरन्त मुँह माँगा वर

दान पाता था। कर्ण की इस दानशीलता की ख्याति दूर-दूर तक फैल चुकी थी। सुरराज इन्द्र ने इसका अनुचित लाभ उठाया और विप्र-याचक के छद्म वेष में उसका जन्मजात कुंडल और कवच माँग लिया। सुरपति को पहचान कर और उसकी समस्त कपट-लीला को समझ लेने के पश्चात् भी कर्ण किंचित् नहीं हिचका। बड़े ही उदात्त भाव और गौरवान्वित स्वाभिमान के साथ उसने जीवन-संरक्षक कवच और कुंडल का भी परित्याग कर दिया।

"यह ही था अपवाद आज वह भी विजय चुका हूँ
कवच छोड़ अपना शरीर सबके समान करता हूँ।
अच्छा किया कि आप मुझे समतल पर लाने आये
हर तनुज दैवीय मनुज सामान्य बनाने आये।

अब न कहेगा जगत् कर्ण को ईश्वरीय भी बल था
जीता वह इसलिए कि उसके पास कवच-कुंडल था।
यह कह उठा कृपाण कर्ण ने त्वचा छील क्षण भर में
कवच और कुंडल उतार धर दिया इन्द्र के कर में।"

कर्ण का यह अपूर्व दान सुरराज को भी विस्मित कर देता है। उसका अन्तर मनुजत्व के सामने पराजय स्वीकार करता है। स्वर्ग से पृथ्वी श्रेष्ठ है; देवता से मानव कहीं बढ़कर है।

"तेरे महातेज के आगे मलिन हुआ जाता हूँ
कर्ण! सत्य ही आज स्वयं को बड़ा क्षुद्र पाता हूँ।
आह! खली थी कभी नहीं मुझको यों लघुता मेरी
दानी! कहीं दिव्य है मुझसे आज छाँह भी तेरी।

तू दानी, मैं कुटिल प्रवंचक तू पवित्र मैं पापी
तू देकर भी सुखी और मैं लेकर भी परितापी।
तू पहुँचा है जहाँ कर्ण देवत्व न जा सकता है,
इस महान् पद को कोई मानव ही पा सकता है।"

पाँचवें सर्ग में उस विवश माँ की अनूठी करुणा और अंतर्व्यथा मुखर हो आई है जो किसी अँधियारी रात्रि की शून्यता में अपनी कलंक-कालिमा को छिपाने के लिए अपने हृदय के टुकड़े और प्राणों के अंश नवजात बालक को काष्ठ मंजूषा में रख जल-प्रवाह में छोड़ देती है और पश्चात्ताप की अग्नि में जन्म भर जलती रहती है। निर्दोष वाणीविहीन नन्हें शिशु की स्मृति मातृत्व के रोम-रोम में पैठकर—सतत अविराम उठते-बैठते—उसकी अंतरात्मा को कचोटती रहती है और किसी प्रकार भी चैन नहीं लेने देती। कितनी करुण है ऐसी माँ की कहानी! उस कलंकित मातृत्व की तस्वीर को उस शून्य अँधियारी रात्रि से भी अधिक भयानक काली परछाइयाँ पसारती है।

"क्या समाधान होगा दुष्कृति के क्रम का ?
उत्तर तू ही क्या निज आचरण विषम का ?
किस तरह कहूँगी पुत्र ! गोद में आ तू,
इस पापाणी जननी का हृदय जुड़ा तू ?"

माता का छलछलाता प्रेम बालक के लिए अमृत है, पर जब वह उसी के कुकृत्य से संहारक और जहर बन जाता है तो मर्माहत माता के हृदय की वेदना का क्या ठिकाना ? शक्ति और तेजस की प्रतीक नारी तब कितनी दीन-हीन हो जाती है ? उसके मन के विकल्प जब उसकी भीरुता का उपहास करते हैं, वात्सल्य भीषण चीत्कार कर उठता है और अन्तर की फूटती रसधारा कटु-सत्यों प्रचंड कुत्सा की विषधारा में परिणत हो जाती है तब नारी के हृदय की मर्मान्तक टीस और प्राणों की कचोट को कौन समझ सकता है ?

"बेटा ! धरती पर बड़ी दीन है नारी
अबला होती सचमुच योषिता कुमारी ।
है कठिन बन्द करना समाज के मुख को
सिर उठा न पा सकती पतिता निज सुख को ।"

किन्तु कर्ण अवसरवादी नहीं है । माँ की करुण लाचार दीनता भी उसे कर्त्तव्य-पथ से विचलित नहीं करती । उसका दुर्दम्य पौरुष अजय और अपराजेय है इतने दिन तक जिस रास्ते पर चला वो रास्ता उसने स्वयं—अपने पुरुषार्थ से—तय किया वहाँ से मुँह मोड़ना असम्भव है । नारी अपने स्वार्थ के लिए, भावी जीवन को सुखमय बनाने के लिए, गार्हस्थ्य सुख और दूसरों की नजरों में सती-साध्वी कुल-वधू बनने के लिए उस अबोध दुधमुँहे के साथ अनाचार करती है जो उसके समस्त पापों और दुष्कर्मों से परे नितांत निर्दोष और पवित्र है । क्या कोई अनब्याही माँ इतना साहस बटोरकर कह सकती है ?

"तुम हो समाज के प्रमुख धर्म-ध्वज-धारी
सुतवती हो गई मैं अनब्याही नारी ।
अब चाहो तो रहने दो मुझे भवन में
या आलिंगित कर मुझे भेज दो वन में ।

पर मैं न प्राण की इस भक्ति को छोड़ूँगी
मातृत्व धर्म से मुख न कभी मोड़ूँगी ।
यह बड़े विषम उन्मुक्त प्रेम का फल है,
जैसा भी हो बेटा माँ का संबल है ।"

कर्ण जैसे वीर पुत्र की माँ भीरु क्यों हुई ? क्यों नहीं वीरमाता के रूप में आगे बढ़कर उसने अपने चरित्र को उजागर किया ? कर्ण के सम्बन्ध म

“पर, हाय हुआ ऐसा क्यों वाम विधाता ?
मद और पय को मिली भीख क्यों माता ?
जो जमकर पत्थर हुई जाति के भय से
सम्बन्ध तोड़ भागी रहती है तनय से।”

छठ और सातवें सर्ग में महाभारत के अनेक दृश्यचित्र सामने से गुजरते हैं। कवि ने बड़ी ही परिपक्व सुष्ठु शैली में जीवन के अनेक व्यावहारिक पहलुओं की मीमांसा प्रस्तुत की है। मानव-विकास की गति कितनी धीमी है ? लगता है जैसे सहस्रों वर्ष पूर्व आदिम गुफावासियों की सभ्यता भी वहीं ज्यों की त्यों—उसी स्तर पर—आज भी मनुष्य खड़ा है। वह आगे बढ़ने को आकुल-व्याकुल तो है पर वासनाएँ और दुष्प्रवृत्तियाँ पग-पग पर अवरोध उपस्थित करती हैं। दर्प-दम्भ हिंसा-प्रतिहिंसा कलह-विग्रह और पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता ने राम-रूप में हर युग हर काल में युद्ध को उकसाया है। युद्ध का विस्फोट कब होगा विनाश की लपलपाती जिह्वाएँ कब मानवता को निगल जाएँगी दुर्दम पाशविकता उभरकर किस समय उसके मानसिक सन्तुलन और धर्म भावना को डाँवाडोल कर देगी—कहा नहीं जा सकता। धर्म क्या है ? वह कौन से सामने न निहित है ? हिंसा विग्रह या युद्ध—यह धर्म का साध्य नहीं हो सकता। युद्ध तो मनुष्य को विचलित कर तत्क्षण अधर्म-पथ पर ले जाता है।

“हो जिसे धर्म से प्रेम कभी
वह कुत्सित कर्म करेगा क्या ?
बर्बर, कराल दंष्ट्री बन कर
मारेगा और मरेगा क्या ?”

हार और जीत जय और पराजय—आखिर यह सब है क्या ? इसकी परिसीमा कहाँ तक है ? इससे हासिल ही क्या होता है ? कवि अन्ततः इस निष्कर्ष पर पहुँचता है

“नहीं पुरुषार्थ केवल जीत में है
विभा का सार शील पुनीत में है।
विजय क्या जानिए बसती कहाँ है ?
विभा उसकी अजय हँसती कहाँ है ?
भरी वह जीत के हुंकार में है,
छिपी अथवा लहू की धार में है ?”

‘पार्वती’

भगवान अर्धनारीश्वर्रस्वरूपी शिव की आद्या शक्ति श्री पार्वती के चरित्र-योग की सार्थकता के सम्बन्ध में अनेक व्यापक तत्त्वों का समन्वय और भावीकरण की एक निष्ठ चरम परिणति है। पार्थिव भूमिका पर उनकी सम्पूर्ण सर्वातोष निष्ठा क्रियात्मक रूप में हमेशा एक नया अर्थ एक नया महत्त्व प्राप्त करती गई है। नटेश्वर

नारी के बिना अर्धाङ्ग है अर्थात् प्राणदायी और सृष्टि के सृजन-कार्य को सुचारु रूप से संचालित करने वाली वे ही जगज्जननी जगदम्बिका हैं। द्वैत में अद्वैत की भावना अथवा पुरुष एवं प्रकृति के अन्तराय को मिटाने के लिए या कहें कि कालजयीन निरन्तर अन्तर्भाव के कारण वैशिष्ट्य प्रदायिनी महाशक्ति का मातृ-रूप इतना वंदनीय हुआ जो कालान्तर में सौंदर्य माधुर्य एवं ऐश्वर्य का सम्पुंजन बन कर महामायी आद्याशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। सृष्टि स्थिति एवं प्रलयंकरी—उसके त्रिविध रूप हैं अतएव उसके विराट् विग्रह में महादुर्गा महालक्ष्मी महासरस्वती—तीनों का रूप साथ ही जिसकी विभिन्न अन्तर्भूत सर्वमा शक्तियाँ न केवल रूपान्तरित मन प्राण शरीर में सामञ्जस्य और ऐक्य का अनुष्ठान करने वाली सिद्ध हुईं, अपितु उसके इस त्रिधा रूप में पार्थिव लीला के सभी क्रीड़ा-कौतुक अवहित हो गई शक्ति और प्रेरणा के उत्स बने। शनैः-शनैः उसकी चैतन्य स्पंदित ऊर्जस्वी प्राणधारा भगवती के अपरिमित बहुविध और विमण्डित सौंदर्य के समवाय का एकत्र और पुंजीभूत प्रतीक बनती गई जिसके परिणामस्वरूप आज के भयाक्रान्त आणविकारी युग में भी उसका उदात्त रूप उसी प्रकार सर्वजन संवेद्य भाव लिये हुए है।

इसी अनन्यता और निष्ठा से प्रेरित 'पार्वती' महाकाव्य के लेखक श्री रामानन्द तिवारी ने अत्यन्त परिश्रम और प्रयत्न से पार्वती की शान्त और सदैव प्रतिमा गढ़ी है जो अनन्त और सर्वत्र व्याप्त पूर्णता की रूप-श्री के अर्थ में अपने अंतरंग पुंजीभूत शक्ति-स्रोत से पुनर्जीवन देने वाली प्यार के साथ सृष्टि माया के साथ निर्माण अपनी अशेष क्षमता से संरक्षण और पालन करने वाली प्रकृति के रूपान्तर और नव-निर्माण को ग्रहण करने वाली एकत्व के संस्पर्श से अखिल विश्व ब्रह्माण्ड को धारण करने वाली, जीव-जगत् के गुण-दोष जिसके प्राण तन्तुओं में समन्वित हैं और दोनों को एक साथ समेट लेने की विस्मय अद्भुत क्षमता और भावप्रवणता है—इस रूप में भिन्न भिन्न रूप धरणाएँ, आदान-प्रदान प्रवृत्ति-निवृत्ति शक्ति-सामर्थ्य—सभी की आश्रय या अधिष्ठात्री बनी क्योंकि वह निरन्तर दूसरों के लिए मंगल-साधना में लय होकर अपनी परिस्थितियों से संघर्ष करती रहती है। इस ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर उसके व्यष्टि और समष्टि रूप की अभ्यर्थना की गई है

"दिव्य शक्ति का तेज अग्नि बन उतरा रवि मंडल से
प्राण वायु संचारित हो उठी स्पन्दन के सम्बल से;
श्री की प्राण विभूति विश्व में पंचभूत बन आई
काल गति में जीवन ने अपनी संज्ञा पाई।

स्मृति के सागर के तट पर आदि सृष्टि की उषा,
विहग बोलती पूर्व क्षितिज पर जीवन की मनुषा;
जिसे अपूर्व रहस्य राग से रंजित रत्न निचय से
पल्लवित हो उठी प्रकृति चित वसुधा के विस्मय से।

जीवन की जागृति के अविचित पावन प्रणय प्रहर में
छवि के कनक कमल खिल उठे ससृति के सागर में
जीवन की विभूति बन श्री के रूप राग रस बिखरे,
उनकी आभा में संसृति के तत्त्व पूत हो निखरे।
श्री के तन का तेज रूप बन खिला विश्व की छवि में
अंतर का स्वर अमृत छन्द बन जगा विहग के कवि में
आत्मा का रस मधु मरन्द-रूप से बना अमृत की धारा
हुआ प्रेम के सुरभि राग से आमोदित जग सारा।"

मंगलाचरण और वन्दना के पश्चात् प्रथम सर्ग में हिमालय की शोभा श्री और वहाँ की वनावली की मनोरम छटा दूसरे सर्ग में हिमाचल-कुमारी श्री पार्वती जी की जन्म-कथा तीसरे सर्ग में योगीश्वर श्री शिव का अविकल्प और निर्विकार रूप चौथे सर्ग में स्वर्ग की पुकार अर्थात् तारक असुर के दुर्दमनीय अत्याचारों से त्रस्त देवताओं गन्धर्वों किन्नरों को ब्रह्मा का वरदान पाँचवें सर्ग में काम-दहन अर्थात् कामदेव का शिवजी के तीसरे नेत्र से भस्म किये जाने का प्रसंग छठे सर्ग में तपस्विनी उमा सातवें सर्ग में शिव-दर्शन आठवें सर्ग में शिव-पार्वती का परिणय प्रस्ताव नौवें सर्ग में परिणय समारोह दसवें सर्ग में शिव-समाज प्रयाण अर्थात् शिव की विचित्र बारात का वर्णन ग्यारहवें सर्ग में पार्वती-परिणय बारहवें सर्ग में विवाह के बाद कैलाश प्रयाण तेरहवें सर्ग में स्नेह-विहार अर्थात् वर्षों बाद अनादि दम्पति का पुनर्मिलन और प्रणय प्रसंग चौदहवें सर्ग में षडानन कुमार कार्तिकेय का जन्म पन्द्रहवें सर्ग में कुमार-दीक्षा सोलहवें सर्ग में देवोद्बोधन सत्रहवें सर्ग में तारक-वध अर्थात् कार्तिकेय द्वारा अत्याचारी और महाबलशाली अवध्य तारकासुर को मार कर देवताओं को निर्भय करने का प्रसंग अठारहवें सर्ग में वसन्त-अभिषेक अर्थात् तारकासुर की मृत्यु के पश्चात् शोणितपुर में इन्द्र एवं शचीयुत वसन्त के राज्यसिंहासनासीन होने का वृत्तान्त उन्नीसवें सर्ग में विजय-पर्व बीसवें सर्ग में राजतपुर वर्णन इक्कीसवें सर्ग में आयसपुर वर्णन बाईसवें सर्ग में काञ्चनपुर-वर्णन अर्थात् उक्त तीनों सर्गों में तारक असुर के तीन औरस पुत्रों का ऐश्वर्य-वर्णन और पिता-वध के प्रतिशोध के लिए तैयारी तेईसवें सर्ग में त्रिपुर-अत्याचार अर्थात् असुरों की शक्ति और प्रचण्डता देख कर वसन्त का ब्रह्माजी के आदेश से कैलाश की ओर प्रयाण और राक्षसों की अनीति अधम दर्प अतिचार और मद-विमोह को नष्ट करने की शिव-पार्वती से शक्ति एवं प्रेरणा ग्रहण करना चौबीसवें सर्ग में त्रिपुर-उद्धार पच्चीसवें सर्ग में शिव धर्म कथन छब्बीसवें सर्ग में शिव-नीति वर्णन सत्ताईसवें सर्ग में शिव-संस्कृति वर्णन—इस प्रकार उक्त महाग्रन्थ में शिव-पार्वती का माहात्म्य चित्रित कर अपनी अंतरात्मा के निवेदन को वैराग्य से कविता और कथा के संगम पर नवीन कथानक द्वारा व्यक्त किया है। काव्य की आत्मा के रूप में यथाप्राप्य रस अलंकार रीति और रस-व्यंजना और नाट्यशास्त्रीय

निरूपण की बहुरूपता दृष्टिगत होती है।

छन्दों में एक प्रकार की शिथिल स्वरमयता है तथापि तथ्यकथन में विचार गत प्रौढ़ता और अलंकृति में सादगी व सचाई है। बालक कुमार के चपल क्रीड़ा-कौतुक की कुछ पंक्तियाँ

"मुक्त क्रीड़ा से विचरता भुवन में आनन्द
रुचिर रोदन-हास-रव में घूमते मधु छन्द-
सरल मुख की श्यामता में विश्व का विश्वास
स्वप्न-स्मिति में स्वर्ग के आलोक का उल्लास।
लगा घुटनों से विचरने भूमी में स्वच्छन्द
मोद भर माता-पिता के हृदय में प्रिय स्पन्द।
पास आते पुत्र की सुन हर्षमय किलकार
उमड़ता उनके हृदय में प्रेम पारावार।
सहज लीला में जगाकर नया नित्य विनोद
स्फुरण भरता हृदय में सबके अपूर्व प्रमोद
विविध क्रीड़ायें कुतूहल पूर्ण औ' स्वच्छन्द,
भर रही मन में भवन में, विपिन में आनन्द।"

पार्वती के सम्पूर्ण विकसित व्यक्तित्व में संकल्प विकल्प भगवान् शिव की निर्विशेष सत्ता का सहज समाहार भी है। वस्तुतः भावों के एकात्म्य अविच्छिन्न संयोग से देवी के क्रियाकलापों का प्रवर्तन और सञ्चालन होता है। अनन्त अव्यय भाव की यह ऐसी अभिन्न इकाई है जिसमें निःश्रेयस की प्राप्ति का आनन्दोल्लास और मानवगत समन्वय-निगम का अगम्य रहस्य छिपा है। गौरी का अतिमर्दन भयंकर रूप ही कालिका चण्डी के नाम से विख्यात हुआ। उन्होंने धूम्रलोचन चण्डमुण्ड रक्तबीज निशुम्भ-शुम्भ आदि बड़े-बड़े दैत्यों का संहार करके सम्पूर्ण जगत् का कल्याण किया इसलिए वे आदिशक्ति महामाया भी कहलाईं।

"जब शिव के तप-योग-प्रेम से विधिवत् युता भवानी
करती सुत स्वर्ग-जननी के तारक सेनानी;
प्रलय शिखा-सी कभी तेज से होकर दीप्त कराली
असुरों के विनाश हित बनती काल-निशा सी काली।
रणचण्डी दुर्गा बन करती ध्वंस असुर का रण में
ज्ञानवती लक्ष्मी बन गिरती बन्धु सपुष्प पाहुन में
जिन हाथों में रही सुशोभित जीवन की जयमाला
हुई दीप्त करवाल उन्हीं में बन प्रलयंकर ज्वाला।
अर्पित देवताओं के अर्जित दिव्य तेज की सारी,
एकीभूत समष्टि धारित न छवि दुर्गा की भारी

अखिल देवताओं के दीपित दिव्य तेज से ढाली
एक मूर्ति वह बनी अकल्पित श्री-सरस्वती-काली।"

इस ग्रन्थ में कलात्मक उपलब्धि के अतिरिक्त नये भावबोध के उन्मेष के साथ साथ काव्य-शिल्प की अनेक दिशाओं और संभावनाओं का भी संकेत मिलता है। हिन्दी में इस विषय पर इससे अधिक महत्त्वपूर्ण और उत्कृष्ट काव्यकृति नहीं है। आज के आस्थाहीन युग में जबकि वैज्ञानिक और यथार्थवादी जीवन-दर्शन अधिकाधिक विकसित हो रहा है भगवती पार्वती का आदर्श—अपने ऊर्ध्वगामी विकास के सूक्ष्मात्मक पक्ष से बढ़कर—आने वाली पीढ़ियों की आस्था और प्राणवत्ता को खंडित न होने देगा। समय की रगड़ खाकर यद्यपि धर्म की मर्यादाएँ शिथिल पड़ गई हैं और विश्वास के बाँध टूट गए हैं पर कवि ने अपने श्रम और अध्यवसाय से इस विश्वास को पुनर्जीवित किया है जिससे इस महाशक्ति रूपिणी माँ भगवती का रूप सदैव अक्षुण्ण है और सनातन है।

मीरा

परमेश्वर द्विरेफ' कृत 'मीरा' महाकाव्य की कथा का प्रारम्भ बालिका मीरा के बाल्यकाल की कुछ ऐसी अविस्मरणीय घटनाओं से होता है जिन्होंने कृष्ण-भक्ति के अमिट संस्कार उसके कोमल मन और अन्तर्प्राणों में जागृत किये थे। धूल धूसरित आँगन में मीरा अपने छोटे-छोटे पैरों में नूपुर बाँधे और भीगे रेशमी वस्त्रों को मलिन बनाती हुई तथा हाथों में बजते कंगनों की मधुर झंकार के साथ मिट्टी का घर बना रही थी

"कितना सुन्दर था वह लघु घर
वह नहीं कहा जा सकता पर
सब कुछ भूली उसको पाकर
वह बाला।
वह भाव भरा है अन्तराल
करती थी प्रतिपल वैसा भाल
ऊपर रवि भीतर तिमिर जाल
सपुल्कित।
आमें क्यों फिर उसमें पग धर
घर दिया बाहर अपना पर।
जो गई नींद में फिर सोकर
ज्यों हाला।"

मीरा की माँ मीरा सहित पड़ोस के विवाह में सम्मिलित होने गई। भोली बालिका वहाँ की धूमधाम क्रीड़ा-कौतुक नाच-गान और समूची चहल-पहल को देखकर इतनी अभिभूत हो गई कि वह अकस्मात अपनी बाल-सुलभ जिज्ञासा से माँ

से पूछ उठी

"है कौन कहाँ मां ! मेरा वर ?
मैं किसकी दुल्हिन बनी अमर ?
यों सुन माया माँ का जी भर
रोमांचित ।

इकलौती बच्ची के इस प्रश्न से माँ सहसा कुछ गम्भीर हो उठी । किन्तु उसे तो कुछ बताना ही था

"जिस नारी के हो एक सुता
केवल वह क्या रे, सके बता
वर कहाँ चिरन्तन कौन पता ?
भावुकता ।
फिर सहसा हँसते हुए, मधुर
दे दिया स्वरों में यह उत्तर
तेरा पति तो नटवर नागर
गो-पालक ।"

इतना सुनते ही बालिका के मन-पटल पर नटवर-नागर की मूर्ति अमिट बन कर समा गई । यद्यपि मीरा के अंतरंग हृदय में भगवान् कृष्ण का प्रेम और आकर्षण बहुत बचपन से ही—न केवल अपनी सीमा के अंतर्गत कोमल आवेगों और अति सुकुमार भावनाओं के विस्तृत धरातल को परिव्याप्त करता है अपितु इस अमृततत्त्व की उपलब्धि अर्थात् दैवी नित्य विभाव की पुष्टि भी करता है । किन्तु प्रेम की एक खास स्थिति और उसकी सबसे सघन एवं विशिष्ट व्यक्ति-केन्द्रित भावना का भी कोई समय या परिसीमा होनी चाहिए । प्रेम के अनुभव की क्रमिक प्रक्रिया में—जिसमें कि अकस्मात् किसी कल्पना-चित्र से मुग्ध व मनोग्रस्त होने की अनिवार्यता आ जाती है—लेखक ने बालिका के मानसिक संघर्षों में जिन नैतिक निर्णयों की स्थापना की है वह बड़ी ही बेतुकी और अस्वाभाविक बन पड़ी है । मीरा की कान्तासक्ति आन्तरिक द्वन्द्व-संघर्ष का प्रतिफलन तो हो सकता है, पर उसमें सच्ची निष्ठा आत्मसमर्पण की भावना और तन-मन से एकीकरण की अछूती भावना ही निहित है । इसके विपरीत शैशव की अपरिपक्वावस्था में ही प्रेम की नई अनुभूति के रूप में उसका असमय ही अनधिकार प्रवेश अथवा व्यावहारिक व्यवस्था में मस्लिष्ट न होने वाली बुद्धि की सीमा और तर्क के दायरे के पर की चीज बड़ी ही छिछली और बचकानी होकर उभरी है । मानो अल्हड़ बच्ची की मस्त और चपल बाल्यावस्था में ही कुछ ऐसा चित्र उभारा गया है या उसके अचेतन की अविकसित मन स्थिति में अतिरंजित संवेदनाओं का स्फुरण मात्र है

"पर वह बाला तल्लीन हुई
मिल गई उसे अनुभूति नई

यह नटनागर चौगान मयी
चिर चित्रित।

दिन गया निशा भी गई बीत
खोये मन में भी प्रणय गीत
पर उसकी निश्छल प्रणय प्रीत
परिवर्द्धित।

सोते चिन्तन जगते चिन्तन
नटनागर में उलझा था मन
जग से उदास घर से उन्मन
अन्तर्तम।

अस्पष्ट रूपरेखा सुन्दर
नयनों के आगे रह रह कर
देती थी भावों से भर भर
अनवरत।

कवि को शायद इस बात का ज्ञान नहीं है कि विशुद्ध प्रेम की अनुभूति और कामावेगों के उमड़े जवानी फितूर में कितना अन्तर होता है तिस पर भी इतनी छोटी अवस्था में अपरिहार्य रूप में अनर्गल इच्छाओं और प्यार की मादक रंगीनियाँ उभारना किसी भी प्रकार शोभनीय नहीं है।

इसमें सन्देह नहीं कि मीरा के ऊहापोह भरे जीवन के साथ अनेक असंगतियाँ भी जुड़ी हैं तथापि कितने ही स्थलों पर कवि का नया भाव और नया अवसर मन मीरा के संयत आचरण को उसकी एकरस भीतरी निष्ठा से एकाकार नहीं कर पाया है। इसके विपरीत जहाँ कहीं उच्छृंखल आचरण और अतिपातकीय क्रिया-व्यापार हैं वह कवि की अतिशय रूमानी कल्पना प्रियता का परिणाम है। उदाहरणार्थ—मीरा के माता-पिता के प्रसंग में निष्प्रयोजन ही प्रेम की यह उद्दामता दर्शाना—

"मन पायों न बढ़ कर लिया
कहकर यों लिपटया बस को।"

मीरा का प्रेम कुछ ऐसा अनन्य और लोकोत्तर है कि उसने अपने प्रणय-देवता को रिझाने के लिए कुछ उठा न रखा पर फिर भी वह पूरी तरह स्वयं उसके रहस्य को कभी समझ न पाई। मन की विरह भावना के शृंगार में वह निरन्तर मिलन मुहूर्त की बाट जोहती रही पर फिर भी उसकी आकांक्षाएँ अतृप्त बनी रहीं। समाज धर्म और आचार-मर्यादाएँ पग-पग पर अवरोध होने से उसे रोक न सकीं फिर भी न जाने कितनी ठोकरें उसे खानी पड़ीं। कभी-कभी ऐसी उत्ताल तरंगें मीरा के मन में उठती हैं जिसके जीवन का आधार ही यह छोटे-छोटे स्वप्न और अनुभूतियाँ हों उसकी हर घड़ी की उपासना से मन की वृत्ति उस गूढ़ तत्त्व से मिलकर तन्मय हो जाती है।

श्रीकृष्ण स्वरूप की आह्लाद-शक्ति के संयोग से शुद्ध सत्त्व का आविर्भाव होता है और यह तथाकथित अगम्य प्रेम ही गाढ़ होता हुआ उत्कर्ष की ओर बढ़ता हुआ क्रमशः स्नेह मान प्रणय राग अनुराग के रूप में परिणत होता है। इस अनुराग की चरम परिणति ही मीरा की वाणी का परम पुरुषार्थ है। उसकी घनीभूत अनुभूति के सहज उद्गारों और एकमात्र श्रीकृष्ण-प्रेम की रसभीनी शत-सहस्र आनन्दधाराओं के उन्मेष को दर्शाने के लिए बड़ी ही दक्षता और रचना चातुरी की अपेक्षा है। प्रस्तुत पुस्तक को पढ़कर मुझे लगा कि कवि की भाषा में मसृणता और प्रवाह तो है पर उस महाभाव की छाया तक को भी वह छू नहीं पाया है। शृंगार और रूमानी भावुकता को चित्रित करने के चाव में कवि ने अनुचित आचार-मर्यादाओं का उल्लंघन किया है।

"व्यथित सारस से निरंतर नवलतम घनश्याम
श्रान्त होकर भी गगन में लें न कुछ विश्राम
निरख आ चुपके सिहरता के स्पर्श करते गात
कौंधती विद्युत् हँसि कुछ मुँह खोल बात।

हस्त-कुच-मर्दन सुलक्षित कुछ सी मत्त वाम
भू लगे ज्यों स्मर प्रपीड़ित नवल प्रियतम वाम
देख प्रिय के पास भू को बोलती हँस मोर
व्योम में अविरल चिढ़ाते प्रखर करती शोर।

मीरा के पति को आवश्यकता से अधिक भोगलिप्सु और उन्मादी चेष्टाओं का व्यक्ति दिखलाया गया है। उसके शब्दों में

"ऊषा की लाली सा जीवन
तूफान सा यौवन है
अलि के गुंजन सी तन्मयता
मृग तृष्णा सा मन है।

आओ आओ यों न गँवाओ
थोड़े से यौवन को
छोड़ चला जाएगा यों ही
एक दिवस इस तन को।

प्रकृति-वर्णन राजस्थान मरुभूमि के दृश्यांकनों के चित्र सुन्दर उतरे हैं। कवि की भावमुग्ध कल्पना प्रवण और कोमल अनुभूति ने कहीं-कहीं जीवन की समस्याओं पर भी दृष्टिपात किया है। राजस्थानी रीति-रिवाज आचार-मर्यादाएँ और सामाजिक रीति-रूढ़ियों का भी चित्रण है किन्तु उनमें आधुनिक पुट अधिक है। मीरा राजकुल की इकलौती बालिका थी। उसके माता-पिता के समक्ष पुत्री के जन्म और दान-दहेज की समस्या उतनी उग्र नहीं हो सकती जितनी कि सामान्य स्थिति वाले परिवारों में।

मनोवैज्ञानिक भूमिका पर लेखक को देशकाल और समयोचित विवरणों का सदैव ध्यान रखना चाहिए। फिर भी तरह वर्षों के इस महाकाव्य में कवि ने अपनी विरोध मुक्त यथार्थवादी धारणाओं को मीरा के कथानक के समन्वय सामंजस्य में गूँथकर उसे अनूठी और आकर्षक पद्धति में काव्यगत सौन्दर्य से मंडित किया है।

तारक-वध

गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' का उक्त महाकाव्य मौलिक जीवनानुभूतियों का ऐसा सुगठित और सुव्यवस्थित एकीकरण है जिसमें कथा-प्रवाह की एकोन्मुखता मिलती है। वर्तमान समय में कितनी ही बड़ी-बड़ी समस्याएँ नित्य जन्म ले रही हैं। काव्य के माध्यम से इन स्थितियों का यथातथ्य चित्रण उपस्थित करते हुए उनमें एक नई संवेदना विकसित की गई है।

काव्य का कथानक षण्मुख कार्तिकेय के माहात्म्य और अत्याचारी तारकासुर के हनन को एक दूसरे ही ढंग में सामने रखता है। वर्णित घटनाओं एवं पात्रों का रूपान्तर भी कुकल्पित ढंग में होता है—जैसे ब्रह्मा के आत्मसमर्पण से उत्पन्न कार्तिकेय और शारदा चिर युगल हैं पर भ्रम वश कार्तिकेय अपनी युग-युगान्तर की सहचरी प्रिया का स्वयं अपने हाथों ही सर्वनाश करते हैं। जब उन्हें इस बात का एहसास होता है तो उनमें गहरी अंतर्व्यथा जगती है और अमर लोक से मर्त्यलोक में आना पड़ता है।

कार्तिकेय और शारदा—दो पृथक् सत्ताएँ होने के बावजूद ऐसी अविभाज्य इकाई हैं जिसमें पूर्ण एकात्म्य और अंतरंग भावात्मकता है। उनका स्थायी संयोग और व्यक्तियों की चरम परिणति अंततः द्वन्द्वातीत भक्तिभूमि में पहुँच जाती है जिसका मानव-संस्करण शृंगी ऋषि और शान्ता का पुनर्मिलन है। दोनों के मन प्राणों का एकत्व और तादात्म्य भाव की निष्ठा समन्वय समवाय और सम्प्रीति के मूलमंत्र का प्रतीक है। शारदा रुद्र की महाशक्ति की अंशीभूता वह शक्ति है जिसमें कारणभूत माया शक्ति के समस्त सत्वगुण विद्यमान हैं। स्थूल-सूक्ष्म दृश्य प्रकाश और स्पन्दन सम्भवतः साथ ही शक्ति के बंधन को मूल मंत्र राम्य-भावना है वह शृंगी ऋषि और शान्ता के विछोह और उनके मिलने की आकुलता की दैहिक चेतना से परे की अगम्य प्रेम समाधि है उनका भी एक ऐसा आयाम स्पष्ट हुआ है जिसने नानाविध भावबिम्बों के पारस्परिक प्रभाव को सुदृढ़ आधार प्रदान किया है।

"यह वह खोह यह शृंगी ऋषि मिलन ओर में भाने।
अविरल चाहित मधुधार में लहित सनेह अन्हाने।
रहे भजाएँ फलाय वे जिनमें प्रिया न आती।
ज्यों ज्यों वे आये आगे को वह पीछे को पाती।
जब तीरथ से बढ़े मिला तब अरुण कमलवत उपवन।
'शान्ता-शान्ता' सम्बोधन कर शिथिल किया निज तन मन।

प्रति पुकार में अधिकाधिक थी व्याप्ति प्यास की तड़पन।
प्रतिध्वनि में होता था उत्तर 'शांता-शांता' क्षण क्षण।

समय स्थान और घटना के ऐक्य को इस प्रकार संश्लिष्ट किया गया है कि अनेक युग एवं कल्पान्तों को सम्बन्ध-सूत्र में बाँधकर तरह-तरह की उद्भावनाएँ की गई हैं। समूची प्रकृति को मानवीय व्यापारों की पृष्ठाधार मानकर सानुकूल रहस्यात्मकों में अधिकतर आलम्बन रूप में ग्रहण किया गया है। विरहिणी शान्ता प्रियतम की अभ्यर्थना में मानसिक संघर्षों में तपकर जीवन-सत्य का उद्घाटन करती हुई विभिन्न मार्मिक घटनाओं तथा परिस्थितियों का तारतम्य मिलाती चलती है और कितने ही ऊहापोह संश्लेषण-विश्लेषण घात प्रतिघात जड़-चेतन सम्बन्धी धारणाएँ और क्लिष्ट गुत्थियों को सजीव कथानक में गूँथकर यह कल्पना-पट बुना गया है।

"मधुप्लावित वैचित्र्यमयी वह नव-नव चित्र बनाती।
किसी भाव के वश होकर फिर उन्हें तुरन्त मिटाती।
क्यों उजाड़ देती है पौधे जिन्हें प्रेम से पाले।
जाने कौन रहस्यमयी के भेद अतीव निराले।"

अनेक स्थलों पर विरह और आकुल भावावेगों की बड़ी ही अलौकिक रहस्यमयी व्यंजना है। वनदेव पत्नी और शृंगी ऋषि की भार्या शान्ता को तारकासुर अपहरण कर ले जाता है और कारागार में बन्दी बनाकर रखता है। वियोग की इस स्थिति में उदात्त प्रेम का पूर्ण परिपाक हुआ है। शान्ता की स्वयम्भू मनोवृत्तियों और आकुल प्राणों की अव्यक्त चेतना के महत्तत्व का उदय होता है। तब उसकी विरह वेदना में डूबी कितनी ही रहस्यात्मक भावनाओं का उद्घाटन होता है।

"प्रबल चित्त विक्षेप दृष्टि जब लाया।
जड़ भी चेतन रूप सहज हो आया।"

प्रियतम के अभिन्न एकात्म मिलन की चाह दिव्य प्रेम को जाग्रत करती है और उसके लीलामाधुर्य की प्रत्येक चेष्टा और भावभंगी में विस्तार पाती है। आकाश पर्वत सूर्य चन्द्र पुष्प-लताएँ, पशु-पक्षी यहाँ तक कि भ्रमर जैसे छोटे से जीव तक को सम्बोधित कर चहुँ ओर प्रणय भावनाएँ निनादित हो रही हैं। शान्ता मन-ही मन कलपती है

"मैं प्रियतम के पास कौन विधि जाऊँ।
सन्देशा ही जाय पहुँचता पाऊँ।
मधुकर! विरह विषाद सहज अवसादित।
प्रिय देखेंगे हृदय मम उन्मादित।
पायेंगे सन्देश आप ही मेरा।
जानेंगे सब क्लेश आप ही मेरा।
क्रमशः व्यथा से व्यथित सहज देखेंगे।

मुझको भी यों विकल व्यस्त सतायेंगे ।
घेरेंगे जब मेघ तुम्हें घिर घिर कर ।
देखेंगे वे आप विकल हो प्रियवर ।”

इधर भृंगी ऋषि के प्राण भी अपनी प्राणाधिक प्रिया के लिए छटपटा रहे हैं । प्रणय-सत्ता से सिक्त हो भावसिन्धु में तरंगें उठने लगती हैं और भाव के आवर्त बन जाते हैं । दरअसल अनुराग की चरम परिणति ही 'भाव' है और उसके आवर्त प्रेम-विभावित उमड़न को मानों अपने आप में समेट नहीं पाते हैं । अतएव इस भाव सिन्धु में अगणित हिलोरें-सी उठती हैं और जड़ चेतन व चराचर के अजस्र प्रसार में अपनी व्यथा अंकित हो रही है । ऋषि की विरहाकुल वेदना और मानवेतर प्रकृति में पूर्ण साम्य दर्शाया गया है । व्याकुल मन की मन्मथा की तड़प से विश्व अनाहत निनाद फैल जाता है और वातावरण से व्यक्त प्रेम-रहस्यों को अधिकाधिक उद्भासित करता चलता है । वस्तुतः उनके प्रेम की परिधि इन सभी दृश्य वस्तुओं को अपनी सीमा में आ घेरती है ।

“अब रहो की सीख देख यह दृश्य अवश उर धारक ।
दिखलाते उसको भी मोहित नभ वारिकण तारक ।
अन्धकार ने काला पर्दा छवि शरीर पर डाला ।
रहा अभागा पड़ा वहीं पर परम प्रेम मतवाला ।”

भावाकुलता और स्वानुभूति के कारण यथार्थ की पकड़ इतनी दृढ़ है कि सर्वत्र चैतन्य की अव्याहत सत्ता प्रकट होकर प्राणभाव और मन का अधिष्ठान करती है । धर्म और सत्य की मूर्तिमान् संस्कृति के लिए विस्तार की अनन्त सीमाएँ हैं । परम सत्य में विलय के लिए उन्मत्त होता हुआ शिवत्व जगता है तो उसका तन दिग्दिगन्त को आलोकित करता हुआ सबल हो जाता है । किन्तु विकृत हिंसा का परिणाम या दानव की परम्परा को सदा अक्षुण्ण बनाये रखता है उसका संहार करने वाली रुद्र-वर्णित विलोम स्थिति में अत्यन्त सक्रिय और भयावह रूप धारण कर लेती है । ये सब स्वयं बलशाली और शक्तिपुंज हैं पर रक्तपात हिंसा आदि अपहरण और पर-पीड़ा के निमित्त इनकी शक्ति का दुरुपयोग होता है । दानवता का जड़ मूल से संहार करने के लिए रुद्र के महाकाव्य भिन्न भिन्न उपचारों की योजना करते हैं पर उक्त ग्रन्थ में तारकासुर का वध नहीं वरन् हृदय-परिवर्तन द्वारा उसे अद्वैत साधना का भार सम्पन्न किया गया है । दनुज अंत में पश्चात्ताप करता हुआ दर्शाया गया है ।

“लाखों ही के प्राण सताये निशिदिन मैंने ।
लाखों ही को हाय रुलाये निशिदिन मैंने ।
दुर्जन ही को नित्य चढ़ाया सिर पर मैंने ।
नित्य सुजन अपमान कराया हँसकर मन ।
चिंतन यह अविकार हृदय मंथन करता था ।
पग पग के सब कलुष सहज सत्वर हरता था ।

चमत्कार जो बंद आग पानी में सोती।
तारक नयन करतल आज बरसता मोती।

सच पूछा जाय तो वैयक्त्य और सामष्ट्य का संघर्ष केवल आज की ही समस्या नहीं बल्कि चिरपुरातन है। भीतरी कुत्सा या अहंभाव सम्पूर्ण चेतना से अलग कटकर जब अपने तईं सीमाबद्ध अथवा दूसरे शब्दों में उसकी व्यक्तिगत चेतना बन जाता है तो इसी कुत्सा व अहं की पूजयात्मिका चेतना-चरम बिन्दु पर पहुँचकर—इन सीमाओं को भंग करती हुई—एकमेव अखंड चेतना के साथ पुनः एकत्व स्थापित करती है। ग्रन्थ में मूलतः सर्वत्र इसी एक चेतना को उस अखंड चेतना से एकाकार कर व्यष्टि का समष्टि में विलय दर्शाया गया है। भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है। पर कहीं-कहीं क्लिष्ट कल्पना और विभिन्न प्रकार की मूर्तिमान विचित्र अभिव्यक्तियों के कारण दुरूहता आ गई है। रचना समयानुकूल भावों को सम्मुख रखकर की गई है पर रहस्यवादी व्यंजनाएँ उतनी स्वाभाविक नहीं बल्कि आयासपूर्ण और अतिरंजित-सी लगती हैं।

'दमयन्ती'

ताराचन्द्र हारीत का 'दमयन्ती' महाकाव्य नल-दमयन्ती की प्रसिद्ध भावाधार सम्पत्ति की लोकाभिव्यक्ति को प्रस्तुत करता है। चौदह सर्गों में अतीत की इस ऐतिहासिक महागाथा को वर्तमान में मूर्तिमान कर सर्वथा नये और मौलिक ढंग से प्राणवंत बनाया गया है। भाषा में सहज आकर्षण है और कवि की भावना से ओतप्रोत काव्यचित्र उतरते चलते हैं। विदर्भ देश के राजा भीष्मक की राजकन्या दमयन्ती के अप्रतिम रूप और सौन्दर्य यौवन और तरुणावस्था के साथ-साथ निषध नरेश नल के प्रति उसका आकृष्ट होना उधर दिव्य हंस द्वारा राजा नल के समक्ष दमयन्ती का बखान और प्रणय-संदेश तत्पश्चात् दमयन्ती के पास उद्यान वापी में जाकर हंस का मानवी भाषा में नल का नख-कथन दोनों की परस्पर अनुरक्ति और गहरा आकर्षण विवाहयोग्य पुत्री को जानकर विदर्भ नरेश द्वारा दमयन्ती की स्वयंवर योजना समाचार पाकर इन्द्र वरुण यम अग्नि का बिना निमन्त्रण के ही स्वर्ग से पृथ्वी लोक पर अवतरण और दिव्य कान्ति व लोकोत्तर शक्ति सम्पन्न नल को देखकर उन्हें प्रतिज्ञा में आबद्ध कर इस बात के लिए विवश करना कि वे देवदूत बनकर राजमहल में जायें और दमयन्ती को देवताओं में से ही पति चयन को बाध्य करें देवताओं से अन्तर्धान विद्या सीखकर राजा नल का बरोकटोक महल में प्रवेश और दमयन्ती से साक्षात्कार, राजा का दमयन्ती से देवताओं को वरण करने का आग्रह पर उसकी निष्ठा और गहरे प्रेम से प्रभावित होकर लौटना और देवताओं से सभी ठीक-ठीक बातें बताना विवाह-मंच पर इन चारों देवताओं का नल के रूप में उपस्थित होकर भ्रम में डालना किन्तु अन्ततः अपने अटूट अनुराग दृढ़ निश्चय सत्य प्रेम और आत्मशुद्धि द्वारा असली नल को पहचान लेना और पति रूप में वरण करना आदि पूर्वार्द्ध के इन कथा प्रसंगों को विस्तारपूर्वक सात सर्गों में वर्णित किया गया है।

उत्तरार्द्ध के सात सर्गों में उतने ही विस्तार और कौशल से राजा नल की कथा के उस सुप्रसिद्ध अंश की भी नियोजना है जिसमें नल का राजैश्वर्य दम्पति का सुख-भोग किन्तु बाद में कलियुग की प्रेरणा से जुए में राजपाट और सर्वस्व हारकर वन में दर-दर भटकना और एक दिन सोती दमयन्ती को छोड़कर राजा नल का चले जाना विरह-कातर दमयन्ती की करुणदशा व्याध से मुठभेड़ तदनन्तर अनेक प्रकार के कष्ट भोगती और संकटों को पार करती दैवयोग से पहले चेदिराज्य और पुनः अपने पितृगृह पहुँच जाना राजा नल की खोज बाहुक के रूप में साकेतपुरी के राजा ऋतुपर्ण के यहाँ राजा नल का छिपकर सेवा-कार्य किन्तु अन्ततोगत्वा दमयन्ती को सब बातों का पता लग जाना और स्वयंवर के बहाने उन्हें पुनः भेजने की योजना बनाना फिर अन्त में दोनों के मिलन की बड़ी ही अपूर्व करुणा विगलित झाँकी प्रस्तुत की गई है।

देखे थे बाहुक तभी सामने देखा—
आती है कम्पित किसी स्वर्ण की रेखा।
वे उठे कि जब तक नेत्र सुधा से सींचें—
तब तक छाया आ रुकी स्वप्न-तरु के नीचे।

नत वदन सती का उठा दृष्टि अंजन सी—
वह तपोपूत निष्पाप, ताप-भंजन सी—
बाहुक मुख पर पड़ी कुतूहल जागा
सब भूल उठे थे स्वयं भीत मन भागा।

बाहुक हो गये विलीन प्रगट अब नल थे
उस सती-दृष्टि से धुले महीपम छल थे।
नृप वदन पुण्यमय हुआ पाप थे सुखमय
करती थी अम्बर तक सती की जय जय।

विरहावस्था में प्रेम और भी अधिक पल्लवित होता है। प्रेम की एकान्त विमूर्च्छना में जो भाव अब तक मनहोश न न हुलंधी के किंचित् भी स्पर्श से जाग उठते हैं और उनकी अनुभूत दिग्दिगन्त में व्याप्त होकर समा जाती है। आलिंगन पाश में बद्ध दो प्रेमी समस्त बन्धनों से परे अखण्ड ऊर्ध्वगामी स्थिति में पहुँच जाते हैं।

"करती विरहानल शान्त अश्रु जल से ही
थे स्नेह सिन्धु में मग्न युगल वे स्नेही।
मिल गए परस्पर हृदय भव्यता जागी
बह स्नेह धार बह चली ज्योति सी जागी।"

प्रारम्भ से लेकर अन्त तक रचना-शैली में एक स्थिरता है। यद्यपि कहीं-कहीं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि से कथोपकथनों में अस्वाभाविकता आ गई है किन्तु चरित्र का प्रतिपादन यथातथ्य हुआ है। ऐसे बहुत से पात्र हैं जो दमयन्ती और राजा नल के चरित्र को विकसित करने में सहायक होते हैं। प्रकृति मानव-सहचरी और हृदयगत भावों की प्रतिरूप होने के कारण उस क्रियाकलाप का भरित करती है जिसके

फलस्वरूप भजन-सादृश्य द्वारा प्रस्तुत विषय नेत्रों के समक्ष चित्रवत् खिंच जाते हैं। दमयन्ती उद्यान में हंस के क्रीड़ाकौतुक को देखकर पूछती है

"हे सखी ! यह हंस देखो तो सही
चलती अब तक कि मैं जिसको रही
हंसनी उस ओर जाती दौड़कर।
और यह इस ओर आता मोड़कर
दे रहा इस भाँति उसको कष्ट है,
क्या कहूँ कितना अरी ! यह धृष्ट है।"

सखि के इस उत्तर से प्रेम की बड़ी ही सुन्दर, उन्मुक्त व्यंजना होती है

"प्रेम का यह खेल आलि ! न कष्ट है
सजनी ! इस युगल का सुख स्पष्ट है।
है सुभगे ! नियम यह अभिसार का
मौन है संकेत स्वीकृत प्यार का।

न केवल परम्परागत काव्यशास्त्रीय मूल्यों की सम्यक् स्थापना अपितु मौलिक अन्तःस्पर्श और नवोन्मेष की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ उपादेय है।

'उर्वशी'

'उर्वशी' न केवल दिनकर की तेजोद्दीप्त अन्तर्निहित कल्पना-शक्ति एवं काव्य शिल्प की जीवन्त अभिव्यक्ति है, अपितु लगता है कि कोई ऐसी दुर्निवार और विदग्ध आकुलता कवि के प्राणों में जाग उठी है जिसके संस्पर्श और रसानुभूति के अद्भुत योग से समस्त विश्व भावनाराशि को अन्तर के किसी गूढ़ प्रदेश में पुंजीभूत कर वह सार्वभौम मानव-आत्मा के एकत्व और मिलन की परम आनन्दमयी भूमिका का स्पर्श किया चाहता है। शाश्वत जगत का यह परम मिलन ही कहीं शृंगार और कहीं प्रेमयोग की समाधि है। मनुष्य की जिज्ञासा और चेष्टारत दृष्टि ने इन प्रेम-रहस्यों में पैठते हुए जिन सूक्ष्म विपर्ययों और विचित्र गूढ़ सामंजस्यों के सूत्र पाये हैं उनकी सहज मीमांसा और विश्लेषण अन्तश्चेतना के गुह्यतम स्तरों में झाँककर ही उक्त काव्य ग्रन्थ में हुआ है।

उर्वशी जैसी नारी का अपरूप रूप और विचित्र तरंग भंग देखकर कवि की कल्पना अनायास विस्मय-विमुग्ध उस मोहकसत्ता पर जा टिकती है जिससे प्रतीत एक *अभिनव आत्मविह्वल समर्पण का आवेश हुआ है। प्रेमासक्ति में मन के संघर्षों को* छिन्न करने वाले बहिरंग प्रश्नों की व्याख्या और चिरन्तन समस्याओं का समाधान नहीं होता। प्रेम प्रस्रविणी की रसधारा की उन्मद लहरियों में स्पन्दन जागी होती है उनके लय का विन्यास चाहे जितना भी कोमल क्यों न हो, पर अन्तर की गहराइयों से टकराती-लहराती वे बरछी की नोंक सी भीतर धँस कर मानस-पटलों को उकसाती हैं। प्रणय का ऐसा कसमसाता तूफान भी—यदि अपराध के बोध से परे है—तो वह

निष्पाप और निरापद है। प्रेम धर्म की पराकाष्ठा अर्थात् मानव-चित्त की निर्द्वन्द्व स्थिति में जब समूचे रस एक कान्त मधुर रस के पारावार में निमग्न हो जाते हैं तब मानवात्मा विश्वात्मा के साथ लय होकर देह प्राण इन्द्रिय मन की भोग सीमा का अतिक्रमण करती हुई अपनी ही भीतरी उद्दामता से ऊर्ध्वस्थ हो आत्म चेतना के स्तर पर अमर अनन्त मिलन की अभीप्सा से सम्पूर्ण हो उठती है।

राजा पुरूरवा और उर्वशी के आकुल उन्मेष और तदाकार परिणति के रूप में नर-नारी की मिलन-उत्कण्ठा की अनायास अनुभूति और संवेदना का जो निरन्तर योग चल रहा है उसको किस कौशल से शब्दों में बाँधा गया है साथ ही यह काव्य शिल्प किस कोटि का है उस पर दो कोणों से यहाँ दृष्टिपात किया जा सकता है— ऐहिक या पार्थिव आध्यात्मिक या अलौकिक।

सामान्य भावभूमि पर ऋग्वेद शतपथ ब्राह्मण पुराण आदि प्राचीन धर्म-ग्रन्थों और तत्पश्चात् महाकवि कालिदास श्री अरविन्द और टगोर रचित कथाख्यान से प्रेरित जो मौलिक उद्भावना कवि को हुई उसी के आधार पर बड़ा ही सीधा-सादा संक्षिप्त विवरण उक्त ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय के रूप में पाँच अंकों में प्रस्तुत किया गया है। स्वर्गलोक में एक दिन कुबेर के घर से लौटते हुए एक भयंकर दैत्य उर्वशी पर झपटा और अप्सराओं के बीच से उठा ले गया। उसकी करुण चीत्कार सुनकर राजा पुरूरवा ने उर्वशी की रक्षा की किन्तु इस प्रक्रिया में दोनों में परस्पर प्रेम और आकर्षण हो गया। स्वर्ग-सुखों को लात मार कर इस नव मोह से खिंची उर्वशी पृथ्वी पर उतरी और एक वर्ष तक दोनों गन्धमादन पर्वत पर विचरण करते रहे। इस दौरान उर्वशी के एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ किन्तु महर्षि भरत के शापवश पति और पुत्र के एक साथ सुख से वंचित होने के कारण उर्वशी ने च्यवन ऋषि की पत्नी सुकन्या को पालन पोषण के लिए उसे चुपके से सौंप दिया जहाँ सोलह वर्ष तक राजा से छिपाकर उसे रखा गया। इतने वर्ष बाद अकस्मात् एक युवक के रूप में राजा पुत्र को पाकर जब हर्षमग्न और प्रणय-विह्वल हो रहा है तभी उर्वशी सहसा भूलोक छोड़कर अन्तरिक्ष में अन्तर्धान हो जाती है। राजा पुरूरवा भी उसकी वियोग-व्यथा न सह सकने के कारण समूचा राजपाट पुत्र को सौंप नगर से अन्य प्रदेश की ओर चल देता है। राज महिषी औशीनरी के दर्द और परिताप की हूक और मधुर टीस भी प्रारंभ और अन्त के अंकों में द्रष्टव्य है।

इस तथ्य रूप में कितनी ही मनओजी अनगामी अनुभूतियों के वातायन कवि ने खोल दिए हैं और कितने ही छिपे तथ्य प्रकाश में आए हैं। रूपी सौन्दर्य का अतह्य उल्लास लिए उर्वशी मानव-चित्त के लयमुक्त कान्तिकालीन पलों के अमर्त्त रूप का साकार चित्र है। यौवन के सपन से दूर प्रियतम के एकाकी सान्निध्य में उसकी आत्मा इस तरह छटपटा उठी है जहाँ जड़ता की सीमा को छू आकर ही प्रेम आत्म में घुल लेता है और व्याकुल अतृप्त 'अहं' अपने विराट् रूप में लय होने के लिए टकराता और निरन्तर संघर्ष करता रहता है। इस आनन्द संस्पर्श के उन्मादकारी

मधु शब्दों में प्रेम, सौंदर्य और रमणीयता की जो त्रिवेणी लहरा रही है उससे रसभीना उसका रोम-रोम अभिसिंचित हो उठा है। पुरुरवा के शब्दों में

'आरती की ज्योति को भुज में समेटे
मैं तुम्हारी ओर अपलक देखता एकान्त मन से
रूप के उद्गम अगम का भेद गुनता हूँ।
साँस में सौरभ, तुम्हारे वर्ण में गायन भरा है,
सीखता हूँ प्राण को इस गन्ध की भीनी लहर से
और अंगों की विभा की वीचियों से एक होकर
मैं तुम्हारे रंग का संगीत सुनता हूँ।"

अन्तर में विस्तार की कर-श्री का असर उतर आया तो फिर रह क्या गया? उसे फिर स्वर्गाहित ही किस बात की है?

"कौन कहता है
तुम्हें मैं छोड़कर आकाश में विचरण करूँगा?

यह प्रणयजन्य आत्मविस्मृति की दशा स्पष्ट सीमा, परिवर्तन और भिन्नताओं से परे वास्तविक आत्मसत्ता का साक्षात्कार है। प्राणों के रोम-रोम में ओतप्रोत उसका निजी अस्तित्व भी उसी अपार आनन्दराशि में लय हो जाना चाहता है

'यह अगाध सुषमा अनन्तता की प्रशान्त धारा में
लगता है, निस्सीम कहीं हम बहे चले जाते हैं।

गन्धमादन पर्वत की उपत्यकाओं और विशाल प्रान्तर के अंचल में प्रणयराग के ये मदहोश अभिसार लहराते रहते हैं। अद्वितीय रूपसी उर्वशी की छवि को आँकने वाली रूप-रेखाएँ बड़ी ही प्रखर व प्रौढ़ हैं। उसकी भावभंगिमा, मुद्राएँ, शरीर की सर्वांग सुकुमारता छन्दमय और चमत्कारी चित्रण इतना सजीव और जादू का सा आकर्षण लिये है कि भौतिक स्तर से उठकर कल्पना आकाश में मँडराने लगती है।

"लाल-लाल वे चरण कमल से, कुंकुम से, जावक से,
तन की रक्तिम कान्ति शुद्ध, ज्यों धुली हुई पावक से।
जग भर की माधुरी अरुण अधरों में धरी हुई सी।
आँखों में वारुणी-रंग निद्रा कुछ भरी हुई सी।
तन प्रकाशित मुकुलित अनन्त ऊषाओं की लाली सी
नूतनता सम्पूर्ण जगत की संचित हरियाली सी।
पग पड़ते ही फूट पड़ें विद्रुम प्रवाल धूलों से
जहाँ खड़ी हो वहीं व्योम भर जाय श्वेत फूलों से।

उर्वशी साधारण नारी नहीं अपितु जन-जन में सहृदयता का राग जगाने वाली ऐसी मोहक छवि है जो सम्मिलित नारी-श्री का प्रतीक है।

"दर्पण जिसमें प्रकृति रूप अपना देखा करती है
वह सौन्दर्य कला जिसका सपना देखा करती है
नहीं उर्वशी नारी नहीं आभा है निखिल भुवन की
रूप नहीं निष्कलुष कल्पना है स्रष्टा के मन की ।

मनोवैज्ञानिक स्तर पर प्रेम की बड़ी ही गूढ़ अभिव्यंजनाएँ इसमें मिलती हैं। मानवी प्रेम क्या है, उसमें कितना छिछलापन और उद्विग्नता है पर साथ ही कितनी गहरी कचोट और छटपटाहट। उसकी तुलना में दैवी प्रेम निरुद्विग्न है पर उस निरामय एकरस स्थिति में तीव्र संघातों की उद्दामता कहाँ है। प्रेयसी नारी पतिप्राणा नारी साध्वी नारी और वात्सल्य व अपत्य स्नेह की साक्षात् प्रतीक जननी के रूप में नारी के विभिन्न चित्रों की व्यंजना बड़ी ही अपूर्व है। जिस किसी भी स्तर में उसका अन्तर्साक्ष्य होते ही नई सम्भावनाओं का उद्घाटन हुआ है।

'उर्वशी' महाकाव्य कवि के 'स्व' की मौलिक और यथासाध्य परिणति है। कहीं-कहीं कथोपकथनों में अतिरंजना तो है पर काव्यबोध की मर्मज्ञता अंतिम सीमा को स्पर्श कर रही है। भाषा के मार्दव परिष्कार और शिल्प ने लेखक की संवेदनाओं को प्रतिफलित किया है लगता है एक-एक शब्द जैसे खराद पर गढ़ा गया हो। ऐसी सूक्ष्मानुभूतियाँ जो अतिशय मादक और उन्मत्त करने वाली हैं उसमें गरिमा और प्रभविष्णुता के साथ कवि का अनाहत 'अहं' विराट् का अवगाहन करता हुआ जैसे मचल रहा है।

खड़ी बोली के उपर्युक्त प्रमुख काव्य-ग्रन्थों के अतिरिक्त मैथिलीशरण गुप्त का 'यशोधरा' 'द्वापर' 'नहुष' और 'सिद्धराज' गुरुभक्तसिंह के प्रसिद्ध 'नूरजहाँ' के अलावा 'विक्रमादित्य' प्रतापनारायण पुरोहित का 'नल नरेश' उदयशंकर भट्ट का 'तक्षशिला' मोहनलाल द्विवेदी का 'वासवदत्ता' राजेश्वर नारायणसिंह का 'अम्बपाली' पोद्दार रामावतार अरुण का 'विदेह' पीताम्बर त्रिपाठी 'प्रवासी' का 'छत्रसाल' और विद्याधर महाजन का 'श्रीगांधी चरित मानस' तथा आचार्य विनयमोहन शर्मा का अनूदित 'गीत गोविन्द' आदि प्रबन्धकाव्य भी विशेष उल्लेखनीय हैं। ऐतिहासिक और पौराणिक उपाख्यानों का आश्रय लेकर इनकी रचना की गई है। संत-चरित परम्परा में सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' का 'तुलसीदास' उच्चकोटि का काव्य-ग्रंथ है जिसमें इस महाप्राण कलाकार की विराट् चेतना मूर्त हो उठी है।

ब्रजभाषा के काव्य-ग्रंथों में बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर का 'उद्धवशतक' और 'गंगावतरण' तथा रामचन्द्र शुक्ल का 'बुद्धचरित' उत्कृष्ट काव्य कृतियाँ हैं। जिन दिनों खड़ीबोली में अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'प्रिय प्रवास' प्रसिद्ध हुआ उन्हीं दिनों रत्नाकर जी के 'उद्धव शतक' का भी दिल खोलकर स्वागत किया गया। गोपी-उद्धव संवाद की कथा भक्तिकालीन कवियों द्वारा पिष्टपेषित होते हुए भी अलौकिक बन पड़ी है। श्याम के बिछुड़ने पर गोपियों की जो दशा है और उद्धव के ज्ञानोपदेश से

उनमें जो करुणा और विह्वलता फूट पड़ी है उसका विदर्शन सुन्दर ढंग से हुआ है।

"सहिहैं तिहारे कहैं साँसति सबै पै बस
एती कहि देहु कै कन्हैया मिल जायगो।

टूक-टूक ह्वै है मन मुकुर हमारो हाय
चूकि हू कठोर बैन पाहन चलावो ना।

एक मन मोहन तो बसिकै उजार्यो मोहि
हिय में अनेक मनमोहन बसावो ना।"

निम्न पंक्तियों में गोपियों का दैन्य और पीड़ा कितनी गहरी हो उठी है

"उमकि-उमकि पद-कंजनि के पंजनि पै
पेखि-पेखि पाती छाती छोहनि छबै लगीं।
हमको लिख्यौ है कहा, हमको लिख्यौ है कहा
हमको लिख्यौ है कहा कहन सबै लगीं।"

'उद्धव शतक' में गोपियों के रागात्मक आलोड़न और भाव-विह्वल कोमलता उच्छल नानाविध भावावेगों की ऊर्जस्वी प्रावेगवती धारा और भावोल्लास की उन्मद लहरियाँ तरंगित हो रही हैं। यह प्रमुग्ध भावनाओं को मुखरित करती हुई माया ब्रह्म पुरुष-प्रकृति तथा जड़ चेतन के द्वैत का समाहार कर भक्ति की सुरसरि बह जन मानस को सराबोर कर देती है।

रत्नाकर जी की व्यंजक शक्ति भी अपूर्व है। उन्होंने रूपात्मक कल्पन लाक्षणिक प्रयोग नए-नए अलंकार, चमत्कार-प्रदर्शन वाले छंद अनरंजनकारी भा और हास्य-व्यंग्य का भी अनूठा पुट दिया है। दृश्यों की संश्लिष्ट योजना द्वारा व्य मूलवर्ती व्यापारों की मनोमय सृष्टि हुई है। 'गंगावतरण' की यह चित्रोपमता कित मनोरम है?

"जाल सो जल दलरात कहूँ उच्छलत उमंगत।
पुनि नीचे गिरि मांहि बहत उतरत तरंगत॥
मनु कामदी कपोत गोल के गोल उड़ावे।
सरि अति कर के उलटी गोलति पुनि बरसत सुहावे॥
कबहुँ सुधार अपार वेग नीचे को धावे।
हरहराति लहराति सहस योजन चलि आवे॥
मन विधि चतुर किसान पौन निज मन को पावत।
पुन्य खेत उत्पन्न हीर की रास उसावत।"

रामचन्द्र शुक्ल ने 'बुद्ध चरित' प्रबन्धकाव्य की रचना 'द लाइट ऑफ एशिया' (The Light of Asia) के आधार पर की और अपनी आंतरिक गरिमा को बुद्ध अवतार के निरपेक्ष सत्य में ढालकर शाश्वत बनाया।

'कृष्णायन'

कृष्ण भक्तिपरक काव्य-ग्रन्थों में द्वारिकाप्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन' आज के युग की एक बृहद् कृति है जिसमें काव्योत्कर्ष और प्रबन्धगत व्यापकता है। अब तक भगवान श्रीकृष्ण की किन्हीं विशिष्ट जीवन-कथाओं, उप-कथाओं को लेकर ही काव्य लिखे गये थे उनमें सम्पूर्ण जीवन-वृत्त न आ पाया था किन्तु 'कृष्णायन' में पहली बार महाभारत के आधार पर विच्छिन्न कथा-सूत्रों को ग्रथित किया गया और इस प्रकार विषय और कलेवर की दृष्टि से भी यह बृहत्तर काव्य बन गया।

'कृष्णायन' की सब से बड़ी विशेषता जो ग्रंथ पर दृष्टि पड़ते ही मस्तिष्क में आ कौंधती है वह यह कि तुलसीदास की रामायण से प्रभावित उसी आकार, उसी पद्धति, अवधी भाषा, शिल्प-मुद्रता, वस्तुविन्यास एवं भाव-व्यंजना और उसी के अनुकरण पर दोहे-चौपाई-सोरठा आदि छंदों में लिखा यह महाकाव्य ऐसा लगता है जिससे बरबस इसे देख पढ़, सुनकर उक्त दोनों ग्रंथों का परस्पर तुलनात्मक भाव मन में जाग्रत हो जाता है। पाण्डित्य, अनुशीलन, बहुज्ञता, चरित्र-कल्पना और कथा-सृष्टि की दृष्टि से ठोस होते हुए भी इसमें रामायण जैसा भक्ति-प्रवाह, सरलता और तल्लीनता नहीं है। रामायण की स्मृति आते ही यह ग्रंथ फीका लगता है और मन के साथ कोई लगाव नहीं हो पाता। यह भी एक प्रमुख कारण है जिससे 'कृष्णायन' का विशद प्रचार न हो सका। अन्य विषय, भाषा और पद्धति में लिखा यह महाकाव्य अधिक उपादेय और लोकप्रिय हो सकता था। अनेक प्रयोजक विषय, विशाल कलेवर, बहुसंख्यक घटनाओं, पिष्टपेषित व जाने-बूझे विषयों और ऊहापोह भरे चिन्तनों से भी जो एक बौद्धिक काठिन्य इस काव्य में आ गया है उससे इसे पढ़ना अथवा आसानी से इसके कथा-प्रसंगों से गुजरना बड़ा ही कष्टकर प्रतीत होता है।

प्रथम काण्ड में बाल-वर्णन और राधा-कृष्ण की रास-लीला के विविध प्रसंग, द्वितीय मथुरा काण्ड में कंस-वध और जरासंध का कथा-विस्तार, तृतीय द्वारिका काण्ड में श्रीकृष्ण के विवाह प्रसंग और गीता का उपदेश, चतुर्थ पूजा-काण्ड में राजसूय-यज्ञ और श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य-वर्णन, पंचम जय काण्ड में महाभारत का युद्ध प्रसार, समर-भूमि में अस्त्र-शस्त्र के विविध प्रयोग, छल-प्रपंच और रणकौशल, अन्तिम आरोहण काण्ड में भीष्म का शर-शैय्या-शयन और उनके द्वारा दिए गए उपदेश—इस प्रकार इस महाग्रन्थ में राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और व्यावहारिक पहलुओं का सम्यक विवेचन, भारतीय जीवन-दर्शन, रीति-नीति और विविध घटनाओं, परिस्थितियों, प्रसंगों का उचित समाहार हुआ है। अलंकार, छंद, रस, ध्वनि की ओज शक्ति, विषय-विभाजन और विभिन्न काव्य-पक्षों का भी अपूर्व संघटन इसमें देखने को मिलता है पर इस सब के बावजूद भी इसमें हृदय को रमानेवाला वह गुण नहीं है जो तुलसीदास की रामायण में है। अनेक स्थलों पर ऊब सी होती है और धैर्य छूट जाता है।

'कृष्णायन' की विशेषता है कि इसमें न सिर्फ श्री कृष्ण चरितांकन और भक्ति का उन्मेष है, अपितु उनके ऐश्वर्य तेज मय उनके पारिवारिक सामाजिक और राजनीतिक जीवन तथा अन्य सभी प्रकार की मनोमुग्धकारी प्रचुर लीलाओं का विशद वर्णन किया गया है। राधा और कृष्ण का प्रेम सनातन है, उनके मन और प्राण एक दूसरे में समाये हैं जन्म-जन्मान्तर से वे एक दूसरे के साथी हैं, पर भटके हुए हैं। अचानक इन बिछड़े बाल साथियों की जब रास्ते में मुठभेड़ होती है तो दोनों के प्रणय-तार झनझना उठते हैं। उनके प्रथम मिलन का एक दृश्य

'एक दिवस खेलत ब्रज खोरी
देखो श्याम राधिका गोरी।
जनु कछु और सिन्धु सुधि जागी
चौचक मोहित भये कन्हाई।
पूछत श्याम— काह तुव नामा ?
को तुव पिता ? कवन तुम ग्रामा ?
पहिले कबहुँ न परी लखायी
आज कहाँ ब्रज खेलन आयी ?"
"पितु वृषभानु विदित ब्रज नामा
बरसाना कछु दूरि न ग्रामा
राधा न तुम कहँ मन भाता
चोर! चोर! कहि जग पहिचाना!
मुदित श्याम कछु मनु मुसकायी—
"कीन्हेउँ काह तुम्हार चोरायी ?"
समुझे वचन न राधिका, लखति हरिहिं अनिमेष
बूड़ति उतरति दृष्टि जनु, सुषमा सिन्धु अशेष।"

बालक कृष्ण के अकृत्रिम सरल व्यवहार पर भोली राधा मुग्ध हो गईं। जीवन के इस नये अनुभव ने उस में प्रणयाकांक्षा भर दी और मनमोहन चितचोर ने सचमुच ही उसका मन चुरा लिया

"बरजति जननी कुँअरि नहिं मानी
श्याम मूर्ति हिय माहिं समानी।
मधुर पहुँची ललित किशोरी,
लखे न श्याम विकल मति भोरी।
कबहुँ इत कबहुँ उत डोलति
लेति उसांस कृष्ण मुख बोलति।

वस्तुतः राधा कृष्ण में कोई अन्तर नहीं है दोनों के प्रेम की परिणति दैहिक चेतना से परे अचिन्त्य और अगोचर है। राधा योगमाया हैं और हरि सच्चिदानन्द

बन परब्रह्म परमेस्वर। दोनों एक हैं

"राधा माधव मिलन अनूपा
हरि राधा राधा हरि रूपा।"

भगवान् श्रीकृष्ण की समस्त विभूतियों का बड़ा ही व्यापक और कलात्मक समावेश इस ग्रन्थ में मिलता है। वीर रस और शृंगार रस की प्रधानता के साथ-साथ सभी रसों का सुन्दर समन्वय और परिपाक इसमें दृष्टव्य है। श्रीकृष्ण की चारित्रिक विशेषताओं और उनकी बहुमुखी प्रवृत्तियों का इतना सम्यक विवेचन इसमें मिलता है कि कवि के इस वृहद् प्रयास के अन्तर्गत कोई भी पहलू अछूता नहीं रह गया है। भगवान् नटनागर की बाल लीलाओं के साथ उनके विवाह, राजसी ठाठबाट और विलास-वैभव का वर्णन है। किन्तु श्रीकृष्ण केवल प्रेमिक और रसिक ही नहीं हैं बल्कि एक महान् नीतिज्ञ कर्मनिष्ठ योगी और गीता प्रवक्ता भी हैं। मिश्र जी की मर्मभेदी दृष्टि ने इन सभी मार्मिक स्थलों पर दृष्टिपात किया है जो उनकी अनोखी सूझों मौलिक उद्भावनाओं अपूर्व कथन और विलक्षण कल्पनाओं का परिणाम है। महाभारत कालीन राजनीति और समस्याओं का निदान भी इस में हुआ है। एक स्थल पर मृत्यु के सम्बन्ध में कितनी सहज पर कितनी ऊँची बात कह दी गई है

"निश्चित मृत्यु मुहूर्त जो सकत ताहि को टारि ?
जो नहिं निश्चित जानि जो तब केहि सक है मारि ?

पुनि विधि व्यर्थ मृत्यु हित सोचू,
भरत भीति उर मनुजहि पोचू
तेज भीति धृतिपुत नरराशी
काल्हु सकल समुचित हराओ।"

आत्मतोष संयम और इन्द्रिय-निग्रह यही मनुष्य को ऊँचा उठाता है और भगवान् की ओर ले जाता है। आध्यात्मिक आनन्द नित्य और शाश्वत है। चैतन्य के ऊर्ध्व गमन की वृत्ति ही विवेक जगाती है। आत्मा को कर्मावियों ने आच्छादित कर लिया है। इन कर्म-बन्धनों के मिथ्यावरण को पहचानो और तोड़ दो।

"नित्य तृप्त आश्रय रहित जो न कर्मफल राग
करत कबहुँ कछु नाहि सो कर्मन यदपि निमग्न।

चित्त संयमन जाहि निज कीन्हा,
आशा सकल त्यागि सब दीन्हा।
देहहि लागु कर्म अनुरागी
होत कबहुँ नहि सो भय भागी।
द्वन्द्व विहीन विमत्सर जोई
करत जो तुष्ट ताहि मँह होई।

सिद्धि-असिद्धिहु दोउ सम जाहो
फल-कर्महु बाँधत नाहिं ताही।"

मनुष्य की इच्छा-आकांक्षाओं का उद्दाम वेग असीम और अनन्त है। वह उनकी पूर्ति की लालसा में उनके पीछे दौड़ता है और दौड़ता ही रहता है। उसका मरघट कभी-कभी इतना प्रचण्ड रूप धारण कर बैठता है कि इस भाग-दौड़ में उसकी अंतर्ज्योति बुझ जाती है और वह आत्मस्वरूप को पहचानने से वंचित रह जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण पार्थ से कहते हैं

"योगाभ्यास-विशुद्ध चित्त लहत जहाँ विश्राम
आत्मा करि आत्मा लखहिं आत्म तोष जहिं ठाम

बुद्धिगम्य इन्द्रिय अतही
सुख अत्यंत मिलत जहँ तही
मन सो थिर जहँ एकहु बारा,
डगत तत्त्व ते पुनि नहिं टारा।

संकल्पज वासना अनेका
कीजे त्याग रहहि नहिं एका।

मन बल निखिलेन्द्रिय समुदायी
सर्वं विषय ते नियम मन लायी
बुद्धि धृत संयुक्त गुहासी
क्रम क्रम शान्त होत नित आपी

सम्यक्शान्ति! निज आत्महि, आत्महि आत्मस माहिं
आत्म देख विचार पुनि अन्य कोउ मन नाहिं।"

जो भगवान् में निष्काम तल्लीनता और विश्वास करता है उसकी आत्मा निर्मल निष्कलुष और निर्विकार हो जाती है। भक्ति-तत्त्व की मीमांसा करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण पार्थ से कहते हैं

"पार्थ! अष्टतम युक्त योगि युग हू माहिं सो
जो श्रद्धा संयुत भजत मोहिं लवलीन ह्वै।

मन आसक्त माहिं यहँ कीन्हे
साधत योग मदाश्रय लीन्हे।

संशय हीन पूर्ण मम जाना
जाहि हो जेहि विधि कहउँ बखाना।

कहहुँ ज्ञान विज्ञान अशेषा
जानि जाहि कछु भ्रम न लेशा ।

मनुज सहस्रन महँ इक कोई
करत प्रयत्न सिद्धि हित सोई ।

सिद्धहु करत यत्न जे महँ हित
जानत तत्त्व रूप मोहिं कश्चित ।"

ज्ञान और भक्ति के इस विवेचन को पढ़कर तुलसीकृत 'श्रीरामचरित मानस' के उत्तर काण्ड की याद आ जाती है। आज के कवि की आस्था और विश्वास भावना व शिल्प प्रवृत्ति-निवृत्ति राग-विराग संस्कार और सौंदर्य-चेतना की गहरी अनुभूतियों से लिखा गया यह महाकाव्य किसी से पीछे नहीं है।

निःसंदेह, मिश्र जी ने विलक्षण प्रतिभा और समन्वित बुद्धि से जो यह काव्यात्मक अनुष्ठान प्रस्तुत किया है वह परिमाणतः मौलिक और उनकी अद्भुत सृजन सामर्थ्य का द्योतक है जिससे पाठक को आश्चर्य हुए बगैर नहीं रहता। 'कृष्णायन' इस युग की बेजोड़ और विस्मयकारी कृति है जिसका अभी तक उतना प्रचार नहीं होसका जितना अपेक्षित है।

'श्रीभागवत चरित'

भगवान् श्रीकृष्ण की अचिन्त्य लीलाओं की कोई थाह नहीं है। समस्त रूढ़ियों वर्जनाओं बाधाओं मिथ्याचरणों अतिरेकों से परे मुक्त भावधारा के चिर चैतन्य और चिर प्रवहमान प्रेरणा के स्रोत बंशीधर श्याम की लीलाओं से कवि उल्लसित होते रहे हैं। आज भी वे उसी प्रकार तन्मय और रस-विभोर कर देते हैं। भक्तों ने उन्हें अपने-अपने निराले ढंग से गाया है। श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी लिखित उक्त काव्य ग्रन्थ में कोरा पांडित्य-प्रदर्शन नहीं प्रत्युत् मनोगत भावनाओं की निश्छल और अकृत्रिम अभिव्यक्ति है। जिस गुण-कीर्तन से भक्त का हृदय पवित्र हो जाता है वही उपास्य व इष्टदेव की आदर्श भक्ति है। उसके कथानुसार से उसकी कभी तृप्ति नहीं होती। किन्हीं साहित्यगत विशेषताओं अथवा काव्यात्मक सौंदर्य को प्रकट करना ही उक्त ग्रन्थ का उद्देश्य नहीं है, वरन् इसके विपरीत सीधीसादी बातचीत और सरस गीति-पद्धति में स्वच्छन्द भक्ति प्रवाह है जिसमें अलंकरण या सावधानता की आयास चेष्टा नहीं बल्कि वे स्वतः ही उसमें सन्निविष्ट हैं। फलतः इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय को काव्यकला के आडम्बर से मुक्त कहा जा सकता है।

शुद्ध ब्रजभाषा में आदि से अन्त तक भगवान् की कथा सरस पदों में चलती रहती है। अधिकतर दोहा और छप्पयों का प्रयोग किया गया है। साप्ताहिक, पाक्षिक तथा मासिक पारायण के दृष्टिकोण से इसे लिखा गया यही कारण है कि इसमें क्लिष्ट शब्दों भाषागत रूढ़ियों और सामासिक पदों की नीरसता नहीं है। इसमें बड़े

ग्रन्थ में बड़े ही विस्तार के साथ प्रायः सभी वर्णित कथाओं-उपकथाओं में मर्मस्पर्श और प्रवाह है। कहीं-कहीं रात-दिन बोलचाल की भाषा के प्रयोग से बड़ी ही स्वाभाविकता और सहज आकर्षण आ गया है। ध्रुव की माँ के ये शब्द

"बोली इक दिन मातु—बहू अब देख भाय।
मेरे पूत पैर तोड़ भोजन करवावै।।
ठगमगु ठगुमगु करहि फिरै मम मोद बढ़ावै।
बहू सग करि तोहि सफल जीवन हूँ आय।।
हँसि बतनि ममता सनी मुदित मातु मन अति भयो।
कन्या भ्रमि शिशुमार की सघ ब्याह ध्रुव करि लयो।।"

शारदीय रासोत्सव के अवसर पर शीतल स्निग्ध चन्द्र-ज्योत्स्ना स्नात मध्य रात्रि में नटनागर श्री कृष्ण जब सहसा राधा की दृष्टि से ओझल हो जाते हैं तो उस समय नृत्य में थिरकती मतवाली और प्रियतम के प्रेमासव में बेसुध उस भोली बाला के मन में गर्व का उदय होता है।

"उनके हू मन मान बढ्यो सोचें हूँ सरवस।
त्यागि भुवनपति श्याम करें अब मेरे नित बस।।
जहाँ मान तहँ वास करें कैसे गिरधारी।
परखत तब घनश्याम कहे तब बोली प्यारी।।
पैदर अब नहीं चलि सकौं, जिनाय कहूँ लै जात हैं?
पग थाको थोड़ा चलो, प्यारे! गैह विराम है।।"

पर भगवान् तो बड़े खिलाड़ी हैं। तरह-तरह के क्रीड़ा-कौतुक और लीला लास्य द्वारा प्रेम और भक्ति की अजस्र स्रोतस्विनी बहाते रहते हैं। अचानक अंतर्धान होकर वे राधा को छकाते हैं। प्राणप्यारी को प्राणवल्लभ का एक क्षण के लिए भी ओझल होना अखरता है। प्रणय की रसभीगी मनुहारों के मध्य

"तब हँसि बोले श्याम—चढ़ो कन्धा प प्यारी।
सुनि अति हर्षित भई चढ़न की करी तय्यारी।।
त्यों ही अंतर्धान भये हरि है पछतावें।
इत उत खोजहि फिरहि डरहि रोवहि बिलखावें।।
नाथ! रमन! प्रियतम परम! जीवन धन! अशरण शरण!
देहु दरस मम दुख हरन त्रिभुवन! भव भय हरन!
हाय कहाँ तजि चल रमन! मुख कमल दिखाओ।
भयो दग्ध मम बदन दयानिधि आओ आओ।।
भ्रमरी भूली फिरहि कमल! मधु अधर पियाओ।
मरत चातकी प्यास श्याम घन रस बरसाओ।।

यों प्यारी प्रिय विरह महँ कुररी सम रोवति फिरति।
सम्मुख निरखति चर अचर, पूछति पति बिलखति गिरति॥

राधा के व्याकुल प्राण विरह से छटपटा रहे हैं। कृष्ण के मोहपाश में उस महाप्राण राधा को घात-प्रात बन्धनों में जकड़ रखा है। उसका समूचा अपनापन उसका निजत्व तो हरि में ही समाया है, अतएव उनके बिना सब कुछ सूना और बीरान है। उनकी अनुपस्थिति में प्रणयोन्माद सा उस पर सवार हो गया। तन ढूँढने लगा मन ढूँढने लगा और देखते-देखते उसकी दशा बदल गई।

"करि करि सुमिरन सब स्याम को रोवति राधा।
बन बन बिहरत विकल विरह की बाढ़ी व्याधा॥

डोलति बनमी यथा दुखी दरसन बिनु प्यारी।
व्याकुल बिलखति विरह माँहि तनु दसा बिसारी॥

इव प्यारी मूर्छित परी उत आईं ढूँढत सखी।
अति अचत आकुल अधिक राधा की सखन लखी॥"

मूपस लीला की पर्यावसी उस महान् नृत्य-नर्तक से तदाकार और उनके प्राणों में समानी मुग्ध मानिनी व्याकुल है। सरदोत चाँदनी से फेनिल और पुष्प गन्ध से सुवासित इस शुभ बेला में जबकि मिलन का महारास चल रहा है ऐहिक-प्राणिक भूमिका से परे आत्मदान की लौ अनुराग के अतिचार वश से ऊर्ध्वस्थ होकर आनन्द के प्रकाश से दीप्त हो उठी है तभी सहगा यह वज्रपात कैसा? इस राम्य चोट से राधा सम्हल नहीं पा रही है और गोपियाँ अपनी विरह-वेदना को भूल राधा की सेवा सुश्रूषा में लगी हुई हैं

"गोपी सखी परि प्रिया के तब समुझावें।
धोवो बाँह सिखाई कमल-दल व्यजन डुलावें॥

कछु चतना भई रसिक को बात बतावैं।
अनु बोली सब बात दुखित ह्वै प्रिया बतावैं॥

एक प्राण मन मिलि सकल भाव रहित अति दीन तब।
पावन पुन गोविन्द के भई स्याम महँ लीन सब॥"

भगवान् श्री कृष्ण की कथा के साथ-साथ उक्त ग्रन्थ में भी अध्यायों में श्री राम चरित का भी विस्तार से वर्णन है। इसके अतिरिक्त अनेक पौराणिक कथाख्यान और धार्मिक प्रसंग—जैसे कपिल चरित सती कथा ध्रुव-चरित वन चरित पृथु-राज्या भिषेक परंजन-माख्य प्रचेता चरित भरत चरित, जड़ भरत चरित अजामिल चरित दधीचि प्रसंग वृत्र चरित,चित्रकेतु चरित मरुत चरित प्रह्लाद चरित समुद्र मंथन वामन

मनावतार, उपेन्द्रावतार, मत्स्यावतार, रुक्मिणी का प्रद्युम्न चरित च्यवन सुकन्या चरित त्रिशंकु कथा-प्रसंग हरिश्चन्द्र चरित श्री गंगावतरण—आदि सभी विवरणों में उचित मर्यादा का निर्वाह किया गया है। कहीं भी लेखक की भावना व्यक्तिनिष्ठ या भक्तों के वर्ग तक ही सिमट कर नहीं रह गई है, अपितु साहित्यिक कसौटी पर भी यह ग्रन्थ उन सगुण भक्तिमार्गी परम्परा में समयोचित निखार और उदात्त व्यंजना प्रणाली द्वारा असाधारण गौरव प्रदान करने वाला है।

भगवान की लोकरंजनकारी लीलाओं की कथा उन्हीं की भावनारूपिणी सरस प्रांजल भाषा में जो कि इतने परिश्रम और मनोयोग से लिखी गई है भक्तों के हृदय को तन्मय करने वाली और किसी भी क्षण किसी भी स्थिति में उनकी चिरन्तन भावना को सतत प्रेरित करने वाली है।

'दैत्यवंश'

ब्रज भाषा में अठारह सर्गों में हरदयालसिंह लिखित 'दैत्यवंश' दैत्यों के जीवन पर हिन्दी में एक नव्यतम प्रयोग है। दैवी और आसुरी शक्तियों का द्वन्द्व हमारे प्राचीन धर्मग्रन्थों की विशेषता रही है। जिस प्रकार जीवन के हर क्षेत्र में कर्म और त्याग प्रवृत्ति और निवृत्ति भय और द्वेष का समन्वय रहा है, उसी प्रकार युगानुरूप समस्त अन्तर्बाह्य विधान में सात्विक और तामसी तत्त्वों ने उभरकर आकर्षण और विकर्षणमय विरोधाभास उत्पन्न किया है। 'भिन्न रुचिर्हि लोका' की उक्ति चरितार्थ करते हुए लेखक ने तस्वीर के दूसरे पहलू को चुना। भयंकर और विकराल दानवों और राक्षसों को जिनके बड़े ही दुर्दम और वीभत्स चित्र रामायण आदि में मिलते हैं, उनमें शौर्य साहस एवं अपराजेय पौरुष आदि लोकोत्तर गुणों का समावेश करके एक दूसरे ही रूप में उन्हें प्रस्तुत किया गया है।

मानव और दानव की परिभाषा से व्यक्ति के स्वभाव और व्यवहार का गहरा सम्बन्ध जुड़ा है। दुराग्रही सहानुभूतिहीन और परपीड़क प्रवृत्ति जिनमें भयंकर यौन विकृतियाँ दुर्लालसाओं के पैशाचिक अनुष्ठान की पूर्ति और अनैतिक कृत्यों को जन्म देती हैं, दानवों की श्रेणी के अन्तर्गत परिगणित होते हैं। 'रामचरित मानस' में राक्षसों की बहुत सुन्दर संक्षिप्त व्याख्या की गई है

[1]मानहिं मातु-पिता नहिं देवा, साधुन सन करवावहिं सेवा।
जिनके यह आचरन भवानी ते जानहु निसिचर सब प्रानी॥

दैत्यवंश के कथानक की समूची पृष्ठभूमि में असुर-सृष्टि का विकास और उत्कर्ष दिखाया गया है। कश्यप की दिति-अदिति दोनों पत्नियों से जो सन्तान हुई तो सतोगुण प्रधान होने से अदिति की सन्तान देव और तमोगुण प्रधान होने से दिति की सन्तान दैत्य कहलाई। प्रारम्भ से ही दोनों में घोर संघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता हो गई। प्रमुख रूप से इसमें हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु भक्त प्रह्लाद राजा बली महाबली बाणासुर, राजा स्कन्द दैत्यवंश के गुरु शुक्राचार्य तथा नारी पात्रों में सिंहिका और

१

उमा आदि के चरित्र वर्णित हैं।

प्रकृति-चित्रण के अन्तर्गत उक्त महाकाव्य में कितने ही स्थलों पर प्राकृतिक उपादानों की मनोरम छटा के साथ-साथ छओं ऋतुएँ और बारहमासा भी आया गया है। शृंगार, वीर, करुण हास्य रौद्र वीभत्स आदि सभी रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है। समूचे वर्णनों में प्राचीन परिपाटी का निर्वाह किया गया है और किसी न किसी पुराने कवि की उक्ति या कथन-शैली का अवश्य प्रभाव पड़ा है। यथा निम्न पद तुलसीकृत रामायण में भूत प्रेत पिशाच-पिशाचिनियों के वर्णन का एकदम भाष्य-सा लगता है

"जोगिनि भूत पिसाच पिसाची नाच करहु मुनि बोलहिं नाची।
नाचहिं मांस रुधिर पुनि पीवहिं भाजिन देहिं वीर कोउ कीर्बहिं॥
कोऊ हार मांस के धारत
कोऊ करे को फारि निकारत।
कोऊ मुण्डन की माल बनावत
कोऊ कपाल चरबी तन लावत।"

जनक-सभा में स्वयंवर के समय लक्ष्मण-परशुराम के संवाद से प्रभावित कुछ पंक्तियाँ

"तोरि धरी सिव बल्लिम चन्द
कही मुख ठोंकि सुमेरु हलक्क।
मारे सुरारि समूहनि को
अब ही रन आगम न निघलक्क।
जो न करी हतो कारज तो
तुहि कोटि न आवन भातु रिसक्कें।"

और रामायण के किष्किन्धा काण्ड की वर्णन-पद्धति पर

"बरषा बिगत सरद ऋतु आई।
नचे मान कहुँ ओर सुहाई॥
कहुँ दिसि असत धवल छवि कासा।
घन विहीन भी निर्मल अकासा।"

शृंगार और वियोग वर्णन में प्रायः रीतिकालीन कथन-पद्धति अपनाई गई है। प्रिय-वियोग में ऊषा छटपटा रही है और उसका हाल बेहाल है

"परयंक प लोटे बिहाल उषा,
मुरझाय गई मानों फूल छरी।
घनसार उसीर को लेप दियो
तिम कुंकुम सोसो परी बिसरी।

सिसका करती रही, सीसहिं लाई
गुलाब को माह नई सिपरी

मनि धूम उड़यो सोई फूल्यो हरी
सिंहासन में दुति वास करी ।"

कुछ स्थलों पर नितान्त मौलिक अभिव्यंजना और शब्दों में सजीव चित्र उभर आए हैं। बालिका सुधा की चंचल बालसरलता और हठीली भंगिमा के दर्शन निम्न पद में होते हैं

"एक ही साथ बताशा लई कछो मिसरी को चाखी मति थोरे,
बांसुरी सों पटिया पै लिखै कारिया लैहि माहि मिठास के घोरे ।
मन भुलाये न बोलै कछो कछो जीति कैसो मचावती सोरे
मूरति सी गढ़ी रही, पै पुकार सुने ही भर्यो भर भोरै ।।"

'रावण'

ब्रजभाषा में इन्हीं कवि महानुभाव द्वारा दूसरे महाकाव्य 'रावण' की सत्रह सर्गों में रचना की गई। जैसा कि नाम से स्पष्ट है दैत्यकुल शिरोमणि रावण की कथा और जीवन-संघर्ष को इस काव्य का विषय बनाया गया। यों रावण का चरित्र एक बड़ी ही हिमाकत और हठधर्मी का प्रतीक कहा जा सकता है पर काम की चाहनाहीन विरोधी परिस्थितियों में अपने निरपेक्ष संकल्प के अनुसार हर इंसान स्वतन्त्र है। वह अपना मार्ग अपना गन्तव्य स्वयं निश्चित करता है। मानव-मन की असंगत प्रक्रियाओं सूक्ष्मतम वृत्तियों और ऐसे आत्मघातक तत्त्वों का भी उद्घाटन करना चाहता है जो किसी भी समकक्ष बुद्धिजीवी की जिज्ञासा का विषय हो सकता है। ऐसे चरित्रों का जब समाज के संदर्भ में नियोजन किया जाता है तो लेखक को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ऐसे व्यक्ति-चरित्रों का वह किस सीमा तक नया उत्कर्ष दिखा सका है। सामाजिक और वैचारिक समस्या के रूप में वे हमारे मन में जितनी जगह अब तक घेरे हुए थे वे अब निजी और वैयक्तिक रूप में कितनी प्राणान्वित शक्ति को लेकर उभर उठे हैं? उनमें उभारे गए चारित्रिक तत्त्व किसी दिशा या भावना का रूप तो धारण नहीं कर गए हैं? प्रायः ऐसी परिस्थिति में लेखक संतुलन खो बैठता है और अनेक अतिवादिताओं का शिकार बनकर औचित्य की परिसीमा का उल्लंघन कर जाता है।

प्रस्तुत महाकाव्य में लेखक द्वारा अपने कथा चरित्र नायक रावण का उत्कर्ष दिखाने के चाव में मुख्य प्रखर विभीषण और सुग्रीव के चरित्रों का अपकर्ष दिखाया गया है। यहाँ तक कि रावण के अनाचार और दुर्नीति में सहायक न बनकर राम के शरण में जाने तक की घटना को विश्वासघात कुचक्र और बन्धु-विद्रोह बताया गया है। आत्मीय स्वजन परिजन बन्धु-बांधव और नाते-रिश्तेदार इन सभी का निर्वाह

करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसके साथ ही अनीति और कुपथ्य का मार्ग अपना लिया जाय अथवा आतंकमयी विचारधारा के भय से उचित-अनुचित विधि निषेधों का उल्लंघन किया जाय। यदि कोई भाई चोर-डाकू है अथवा प्रतिकूल परिस्थिति में फँसकर कुराह पर चल पड़ा है तो अच्छे या विचारवान भाई का यह कदापि फर्ज नहीं है कि वह उसके चरण-चिह्नों पर चलने को बाध्य हो। समझाने बुझाने या उसकी कुप्रवृत्तियों को बदल देने के अनथक प्रयत्नों में असफल होने पर तो अन्ततोगत्वा उसका परित्याग करना ही श्रेयस्कर और मर्यादा विहित है।

"जाके प्रिय न राम बैदेही—
तजिए ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।"

विभीषण के विषय में अपने मतवाद की एकांगिता पर स्थिर रहने के लिए शस्त्र रूप अपनाया गया है। महाबली पवनकुमार सीता की खोज के दौरान लंका का भारी अहित करके जब भगवान श्रीराम के पास लौट आते हैं तो दूसरे दिन प्रातः अचानक विभीषण रावण की सभा में समझाने के लिए पहुँच जाता है। आठ पदों में बड़ी ही नीरस और अमनोवैज्ञानिक पद्धति अपनाकर—इस कथा-प्रसंग को विरूप करके पेश किया गया है।

"प्रातै रावण सभा में प्रातहि विभीषन जाय।
कहन लागे बैन इमि दसकंध को समुझाय॥
राम की घरबाम तुमने हरी है छल छद्म।
अहुत का हम कहौं जाको देहु अब लौटाय॥
अपर जब्यो जदपि कीन्ह्यो तासु प्रबल विरोध।
करत तौहूँ रहे बारम्बार मैं अनुरोध॥

लंक के आतप की है जिती यामें हानि।
जान तौहूँ निज हिये नहिं करत रंचक ग्लानि॥
चुपे हो तुम कहत ऐसो राम को भय त्याग।
रहो सी नृप के सभा मत जनि बिचारहु भाग॥
कह्यो तब दसकन्ध ने निज भ्रात सौं यह बात।
करत प्रबल विरोध पै नहिं नेक हिये सकात॥"

मदांध और अर्थपरक प्राणी जब मर्यादा च्युत हो जाते हैं तो सज्जन लोग दुष्टों का साथ छोड़ देते हैं। दुष्ट प्रकृति और महा अभिमानी रावण से पादताड़ित विभीषण जब लंकापुरी छोड़कर भगवान राम की शरण में जाता है तो उसका चरित्र न्यायोचित और समयानुरूप मर्यादा के ज्वलन्त प्रतीक के रूप में उभर उठ जाता है। उस समय संसारासक्ति से परे त्याग प्रेम धर्म नीति ज्ञान-वैराग्य—सब उसमें पूर्ण है। किन्तु गुप्तवर जी मनगढ़ंत कल्पना द्वारा उसके भागने के प्रसंग को बड़े

ही अपमानजनक और बेढंगे तरीके से इस पुस्तक में प्रस्तुत किया गया है

"गुप्तचर हनुमत विभीषण मैं भई जो बात।
आय रावन सों बताई कुटिल वाकी घात॥
सुनत प्रबल प्रसन्न दशमुख तब रह्यो नहिं मौन।
जानि कै मध्यान आयो लौटि सों निज भौन॥

कह्यो काल कोटि के तब लंकपति सों जाय।
भगि गयो निसि मे विभीषण लंक-सौध विहाय॥
रहे सरमा और तरनीसेन असि घबराय।
अबहिं आयो हौं इतै प्रभु तिनहिं धीर बधाय॥
राम और विभीषण की भेंट और शरणागति प्रसंग को भी अत्यन्त विकृत रूप में प्रस्तुत किया गया है

"उत विभीषण राति ही मे कियो सागर पार।
बहु, सजात डरात आयो राम-सेन मंझार॥

मिलि गये हनुमान यासौं बनि गयौ सब रंग।
लै गए रघुबीर कै ढिग ताहि अपने संग॥

जानि रावण बन्धु प्रभु ने कियो तेहि बहु मान।
तिलक दै तेहि आशु लंकापति कियो भगवान॥

अब बंधायो सिन्धु पै इक सेतु राम उदार।
कियो सेना सहित या विधि अम्बुनिधि को पार॥"

इसी प्रकार रावण की कुलघ्न और षड्यन्त्रकारी बहिन शूर्पणखा के चरित्र को भी बड़ा ही तूल देकर एक सर्वथा दूसरा रूप दे दिया गया है। समस्त वनवासी ऋषि मुनियों और राम-लक्ष्मण पर [illegible] आरोप लगाया गया है कि वे शूर्पणखा और राक्षसों से प्रतिशोध लेने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील हुए उचित-अनुचित और तरीके को अपनाने के लिए तत्पर रहते थे। शूर्पणखा में कोई कुत्सित भावना-पूर्ति या चारित्र्य-दोष नहीं था बल्कि लक्ष्मण ने जानबूझकर उसके विरूपीकरण की योजना बनाई थी।

"इहरन चली सुपनखा निसि न अंग-रसकन बिहाई।
मारग भूलि राम कुटिया लौं मन-मन चलि आई॥

दूरहि तै पूमत लखि वाको लखन लियो पहचानी।
और सुनारि कटारि आपनी कह्यो कड़क इमि बानी॥

'अधमा! लंकक असाउ सहायक काल आयगो तेरो।
भूलहि गयो तोहि कुलटारी! कियो गयो भ्रम मेरी॥

यों कहि बधि मृगपति कौ सहसा बीरबृता ताहि पछारी ।
ताहि निपातन हेतु हाथ में लीन्हौं कोपि कटारी ॥"

किसी भी मौलिक लेखक को विचार-स्वातन्त्र्य और अपने दृष्टिकोण से प्रतिपाद्य विषय को प्रस्तुत करने का तो अधिकार है पर बिना कारण परम्परा विहित और लोक प्रचलित दुष्ट पात्रों–(जैसे कि पूतना का चरित्र) को अतिरंजित दर्शाना उचित नहीं है । इससे लेखक के किसी मंतव्य की पूर्ति भी संभव नहीं है ।

जहाँ तक भाव और भाषा का प्रश्न है लेखक ने अनेक स्थलों पर निस्संकोच दूसरे कवियों के भावों और रचना-शैली को अपहृत किया है यह अवश्य है कि उनमें मौलिक व्यंजना का सा आनन्द आता है । छन्द अलंकार और रस-नियोजन की दृष्टि से रीतिकालीन पद्धति अपनाई गई है । चन्द्रोदय संध्या प्रभात आदि के भी इसी प्राचीन परिपाटी पर कुछ सुन्दर चित्रण हुए हैं । प्रभात पर लिखी पंक्तियों में सरसता के साथ-साथ नूतनता और अनूठापन है

"चन्द्रिका सों ससि पीरो भयो
छमता छम में अब चाहत चाली ।
लाग विहंगम-वृन्द उड़ान
चहूँ दिसि वृन्द उठि चटकाली ॥
मन्द बही लागी सीरी समीर
त्यों व्योम में छाय रही कछु लाली ।
भाल पै प्राची दिसा के मनौ
धरि सिन्दुर बिन्दु दियो ऊषा-आली ॥"

कवि ने प्रकृति को जिस दृष्टिकोण से देखा है उसमें रचना-चातुर्य और भाषा लालित्य तो है, पर अनोखी सूझें और विभिन्न कल्पनात्मक कथन उतने हृदयस्पर्शी और स्वाभाविक नहीं बन पड़े हैं । पलाश-पुष्प का वर्णन जरा देखिए

"ताहि छिन सोहत पलास को प्रसून लाल
बींधत वियोगिनी मदन तन जारो है ।
मद्य भरा विसिख समान ही लखात कोई,
कामिनी करेजहि विरच करि डारो है ॥
धायो भरि पेट मांस जैसे क्रूर पंछिन को
याही ते पलास निज नाम इन धारो है ॥
होत है कठोर अति जानि मन माँहि मनो
यह पल खण्ड नाहि काढ़यो विचारो है ॥"

सेमल के वृक्ष की परछाई जल में पड़ रही है । उसके हिलने-डुलने की क्रिया

और लहरों के मध्य अठखेलियाँ करती डालियाँ और पत्त कवि के मन में एक दूसरे प्रकार की कल्पना जगाते हैं

'जदपि समान बाही सर के निकट लाग्यौ
सिमर बिटप एक परत लखाई है॥
बाके बारि बारन के प्रसर प्रवाहनि में
तरु प्रतिबिम्ब यों परत जब आई है॥
मानो मनमाख महीधर सरनागत की
सायर ने लीन्हो निज हीतल छिपाई है।
कबहूँ सुराधिप के कुलिश प्रहारनि सौं
मानो भय मानि रही पंखनि हिलाई है।'

उपर्युक्त काव्य और काव्य-ग्रंथों के विवेचन से स्पष्ट है कि जो कवि जितना ही सौंदर्य के शाश्वत स्वरूप को हृदयगम कर पाता है वह उतनी ही खूबी से अपनी प्रतिभा और कल्प शक्ति का उपयोग करता है। चूँकि भावनाओं का संचरण सर्वदेशीय है, अतएव काव्य के विषय भी सर्वदेशीय और समान महत्ता वाले होते हैं। कवि अपनी मौलिक प्रतिभा एवं कल्प-शक्ति से निर्जीव को भी सजीव और साधारण को भी लोकोत्तर बना सकता है। आज महाकाव्य का स्तर अपेक्षाकृत घट गया है। उक्त सभी महाकाव्य जिनका विवेचन हम ऊपर कर चुके हैं सही मानों में महाकाव्य कहलाने के अधिकारी नहीं हैं। रामायण-महाभारत जैसे संस्कृत महाकाव्यों की सी उदात्तता उनमें नहीं आ पाई है तो भी इस वैज्ञानिक युग के शुष्क मरुस्थल में जो सरस भावधारा की स्रोतस्विनी बहा सके हैं हिंदी संसार उनका चिर ऋणी रहेगा।

६

शरच्चन्द्र के नारी पात्र

यथार्थ का तकाजा है कि उपन्यासों में जिन परिस्थितियों और वातावरण का चित्रण हो वह जीवन की खुली धूप हवा और मिट्टी से निखरा गया हो। शरच्चन्द्र अपनी पीढ़ी के अकेले ही ऐसे लेखक थे जिन्होंने मानव अंतश्चेतना को सर्वथा नये स्तर पर स्थापित करने का प्रयास किया साथ ही अत्यन्त साधारण रोजमर्रा के जीवन से अपने उपन्यासों के प्लाट से यथार्थ व्यवहार-चेष्टाओं का उद्घाटन किया। आकाश को आच्छन्न करने वाले बादल जिस वेग से उमड़ते-घुमड़ते हैं ठीक वैसी ही उद्दाम वैयक्तिकता का विस्फोट और हर रहस्य एवं अज्ञेय को चुनौती के रूप में चीरफाड़ कर देखने की उनकी जबर्दस्त एषणा थी। प्राचीन संस्कार एवं मर्यादाओं के छिछले भावावेगों की क्षणिक लहरों और बुदबुदों की पकड़ में आते-आते स्वयं फिसल कर गिर पड़ने वालों में से वे नहीं थे अपितु उनकी लेखनी की आघातिक चोट से कितनी ही प्राचीन मान्यताएँ खण्ड-खण्ड हो गई, असमान्य और अतिरंजित—जिसने मनुष्य की प्रवृत्तियों और वासनाओं पर मुलम्मा चढ़ा रखा था—चकनाचूर हो गया कुतूहल के भाण्डार खुले पड़ गए और चिरकाल से आत्मा को जकड़ने वाले बंधन तार-तार हो गये।

अपने उपन्यासों के नारी-पात्रों में भी उन्होंने 'वास्तव' को ही अपनी कल्पना अपनी रूमानियत का प्रखर आधार बनाया। समकालीन आलोचकों ने ऐसे चरित्र और प्रसंगों की कड़ी भर्त्सना की और उन पर एक अनपढ़ जबर्दस्ती का आरोप लगाया पर व्यक्ति और परिस्थितियों को जीवन-सत्य के दो पहलू मानकर वे सदा आगे बढ़े। परिणाम यह हुआ कि सद्-असद्, अच्छा-बुरा, लायक-बेलायक भव्य और बहिष्कृत तथा औसत दर्जे के पतितों एवं पापियों को उन्होंने अपनी व्यापक मानवीयता और सहानुभूति से कला की परिधि में समेट लेने की सतत चेष्टा की। उन्होंने स्वयं लिखा है— 'नाना परिस्थितियों के विपर्यय में एक समय नाना व्यक्तियों के सम्पर्क में आना पड़ा था। उसमें कोई क्षति नहीं हुई है, ऐसी बात नहीं। मगर उस समय जिन्हें देखा था उन्होंने मेरी सारी क्षति की पूर्ति कर दी है। वे मेरे मन में इस उपलब्धि को छोड़ गये हैं कि कोई भी त्रुटि विच्युति अपराध अधम ही मनुष्य का सब कुछ नहीं है। बीच में उनमें जो वस्तु यथार्थ में मनुष्य है जिसे आत्मा ही

कहा जा सकता है, वह उसके सभी अपराधों से बड़ी है। अपनी साहित्य सेवा में उसका अपमान न करूं। कारण—जितना भी बड़ा क्यों न हो मनुष्य के प्रति मनुष्य में घृणा उत्पन्न हो मेरी रचना में कभी इस बात को बढ़ावा न मिले। लेकिन बहुतेरे लोगों ने इसे मेरा अपराध मान लिया है और जिस अपराध के लिए मुझे सबसे अधिक लज्जित होना पड़ा है वह मेरा यही अपराध है। मेरी तूलिका से पापों का चित्र मनोरम हो उठा है, मेरे विरुद्ध उनका यही सबसे बड़ा अभियोग है।

इस प्रकार अपनी ज्वलंत प्रेरणा के साथ उठ खड़ा होने वाला शरच्चन्द्र का अहंकारी व्यक्तित्व कुछ लोगों को बड़ा ही अजीबोगरीब लगा क्योंकि उन्होंने धर्म-नीति आचार-विचार समाज और संस्कृति की नई व्याख्याओं का एक क्रान्तिकारी प्रश्न उठाया था साथ ही यथार्थ अनुभूति से उपजा होने के कारण उनका कृतित्व सभी से भिन्न और सर्वथा नई लीक का हामी था। उनके सबसे प्रसिद्ध उपन्यास 'चरित्रहीन' की नायिका—सावित्री—एक बाल-विधवा है जो कुलीन वंश की होने पर भी एक 'मेस' में नौकरानी है और मेस में ठहरे हुए सतीश नामक युवक से गम्भीर प्रेम करती है। कितने ही प्रासंगिक व्यवधानों के बीच भी उनका प्रेम चलता रहता है, पर अन्त में सरोजिनी के आने से त्रिकोण उपस्थित हो जाता है।

इसके विपरीत किरणमयी एक बड़ी ही विचित्र उच्छृंखल नारी है। जैसे बरबस अंधकार और प्रकाश का योग हो जाए वैसे ही उसका वैवाहिक गठबंधन है। पति मृत्युशैया पर पड़ा है पर उसमें आनन्द-भोग की फुलझड़ियाँ उठ रही हैं। बातचीत के दौरान वह खुद कहती है—"मैंने उनसे कभी प्रेम न किया न उन्होंने कभी मुझे। वे बीमार पड़े तो महीनों पड़े रहे। ऐसे समय में डाक्टर आए मेरा हृदय प्रेम का भूखा था जो भी उसने दिया वह प्रेम नहीं हलाहल था किन्तु मैंने उसी का आकंठ पान किया। मैं हलाहल पीती ही जाती। किन्तु ऐसे समय में ही मुझे अमृत का पता लगा। अमृत से किरणमयी का संकेत उपेन्द्र से हुए प्रेम की ओर है। तत्पश्चात् वह दिवाकर के साथ बर्मा भाग गई। इस प्रकार विश्रृंखल भावनाओं के संयोजन द्वारा एक कामासक्त नारी के चरित्र को अधिकाधिक पैना और मर्मस्पर्शी करके दर्शाया गया।

'देवदास' की पार्वती चंद्रा और चन्द्रमुखी 'पथेरदावी' की भारती और सुमित्रा 'शेष प्रश्न' की कमल शिवनाथ' की अचला और राजलक्ष्मी 'वामुनेर मेये' (अर्थात् ब्राह्मण की लड़की) की सन्ध्या 'गृहदाह' की अचला 'पल्ली समाज' की रमा और 'बड़ी दीदी' की माधवी शरच्चन्द्र की ऐसी नारी-सृष्टियाँ हैं जो तमाम परम्पराओं अंधविश्वासों और रूढ़ियों के पदचिह्नों की लीक से अलग हटकर स्वयमेव नई राह का निर्माण करती हैं। चित्रात्मक सृजन के लिए कला को ऐसी निर्बाध कल्पना की आवश्यकता है जो उन्मुक्त हो जिस पर जोर-जबर्दस्ती या विधि-निषेध का दमन न हो। शरच्चन्द्र के नारी पात्र उनके अपने भीतरी विप्लव और उथल-पुथल का चित्र हैं। फलतः उनके सम्वेदनशील हृदय की प्रतिध्वनि हैं।

स्पष्ट शब्दों में—शरच्चन्द्र की नारियाँ सीमित मतवादों और संकुचित सिद्धान्तों की जकड़बन्दी में नहीं बंधना चाहतीं। वे उस परवश पंछी की तरह नहीं हैं जो आकाश में उड़ान भरना चाहकर भी पंख फड़फड़ाकर रह जाता है। इसके विपरीत वे निर्बंध हवा में विचरना चाहती हैं। 'ब्राह्मण की लड़की' में जब संध्या वर के पीढ़े से उठा लिये जाने के कारण कुचक्रित वेष में तूफान की तरह अपने प्रेमी अरुण के पास जाती और याचना करती है—'तुम्हारे अलावा मेरा आज कोई नहीं है अरुण।' तो अरुण पूछता है 'कहाँ?' संध्या कहती है—'यहाँ से एक व्यक्ति अभी उठ गया, यहीं अरुण।' अरुण ने सकुचाते हुए कहा—'किन्तु तुम्हारे साथ तो मैं नहीं जा सकता।' संध्या कातर हो उठी—'फिर मैं कहाँ किसके यहाँ होऊँगी, जीऊँगी कैसे?' पर जब अरुण ने अनिच्छा व्यक्त की तो नारी का सहज अभिमान मुखर हो उठा।

वह आँधी की तरह जैसे आई थी वैसे ही लौट गई। दूसरे दिन जब अरुण गया तो वह दूसरा ही रास्ता अपना चुकी थी। अरुण अवाक् रह गया—"संध्या तुम जा रही हो। मैं उस दिन अपना चित्त स्थिर नहीं कर पाया था किन्तु मैंने निश्चय किया है कि मैं तुम्हारी बात में ही राजी हो जाऊँगा। संध्या बोली— उस दिन मेरा भी चित्त स्थिर न था अरुण जी किन्तु आज मेरा चित्त स्थिर हो गया है। मैं पिताजी के साथ यही बात जानने जा रही हूँ कि नारी के लिए शादी करने के अतिरिक्त कोई काम है भी कि नहीं। मूक अभिराम व्यर्थ नहीं जाता, अतः शरच्चन्द्र के उपन्यासों में जब-जब ऐसे प्रसंग आए हैं वे पाठकों को रुला देते हैं।

सबसे बड़ी विशेषता है कि उनके द्वारा सृजित नारियाँ व्यक्तित्वहीन और नितान्त चेतनाशून्य नहीं हैं वे वैचारिक क्रान्ति उत्पन्न करने में सफल हुई हैं। कोई कठोर स्वभाव की शासनप्रिय और हठ को सीमा तक निभाने वाली है तो कोई निरीह दीनता और आत्म प्रवंचना से दूर है। कोई संन्यासी नैष्ठिक या कट्टर परम्पराओं की प्रतीक हैं तो कोई ऐसी उच्छृंखल नारियाँ भी हैं जो ऐन्द्रिय सुख की तृप्ति के लिए अपने आप को मिटा देने वाली हैं। पर अपने तई मिटा देने वाली इन नारियों में भी एक सगर्व आग्रह और अनमना कौतुक है। लगता है जैसे उनके संवेदनशील अन्तर में मध्यवर्गीय कुंठाग्रस्त संस्कारों की ऐसी बन्द अतृप्ति भरी पड़ी है जो असमय वार्धक्य के यातनापूर्ण या उच्छ्वास भरे चित्र उपस्थित करती है। कहीं प्रणयावेगों से आविल तो कहीं स्वयं की प्रतीति एवं परितुष्टि के लिए अनधिकार लिप्साओं से उत्तेजित, कहीं अतृप्त प्यार के तनाव से छिन्नभिन्न तो कहीं सहज संयम के दायित्व से अवसन्न या एकान्त गरिमा की साधना से संत्रस्त कहीं बेबसी से कातर तो कहीं आन्तरिक आवेगों की तीव्रतम पिपासा से उद्विग्न इसके अतिरिक्त किसी में सहज वितृष्णा जगाने वाला अवसाद और ऊब तो किसी में निःस्वार्थ गौरव से उपजा विराग और पलायन किसी में प्रेम-मर्यादा का द्वन्द्व तो किसी में मोहभंग और दिल की तड़पन का वज्रपात—यों शरच्चन्द्र की ये कथा-नायिकाएँ बड़ी ही अजीबोगरीब और विचित्र मानसिकताओं से भरी हैं जिनके मानसिक ऊहा

पोंगों और 'मूढ़ों' का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। अनेक बार पाठकों का मन उनकी भावनाओं से एकाकार नहीं हो पाता। कारण—उनकी मस्तिष्क की कृति निधियाँ निरी कल्पनामूलक नहीं वे विभिन्न परिस्थितियों और अनुभूतियों में ढाली गई हैं। मनोभावों का अंकन चारित्रिक विकास और कितनी ही भीतरी उलझनपूर्ण प्रक्रियाओं का मार्मिक विश्लेषण ऐसे-ऐसे कोण उभारता है जो एक सामान्य मनुष्य की बुद्धि में स्वभावतः बँध नहीं सकते। बुद्धि की अस्वीकृति का अर्थ है मूल प्रवृत्तियों में विपर्यय जो किसी प्रकार तालमेल नहीं बैठा पाता पर इसी आधार पर समस्याओं को आगे ठेल कर विभिन्न संघर्षों के वात्याचक्र में उनकी कुण्ठाओं की परिणति वितर्क बुद्धि पर हावी हो जाती है। अनेक बार मूलभूत धारणाओं को ध्वस्त करने के प्रयास में वे गुमराह भी हुए, पर इस प्रकार की अवान्तर स्थापनाओं और मूल प्रवृत्तियों में अन्ततः उन्होंने तादात्म्य स्थापित किया। शरत्चन्द्र ने स्वयं स्वीकार किया है—"समाज-संस्कार की कोई भी दुरभिसन्धि मुझ में नहीं है इसलिये मेरी पुस्तकों में मनुष्य के दुःख-दर्दों का विवरण है, शायद समस्याएँ भी हैं किन्तु समाधान नहीं है। यह काम तो दूसरों का है मैं तो केवल गल्प-लेखक हूँ इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं।

एक मोटा-सा सवाल है—सच्ची कला क्या है, किसके लिए है और कौन उसका आनन्द उठाता है—सृष्टा भोक्ता या भुक्तभोगी। इसका उत्तर भी उन्होंने स्वयं दिया है—"सृजन करना शक्ति है यह दिखाई नहीं पड़ती और इस शक्ति का आधार है अपने प्रति विश्वास आत्मनिर्भरता। यही शायद उनका मूलमन्त्र था जिसकी साहित्य-सृजन में उन्होंने अव्याहत गति मानी। एक अन्य स्थल पर इसी का स्पष्टीकरण करते हुए वे लिखते हैं—"मैं जानता हूँ कि मेरे चरित्रों का निर्माण कैसे होता है। यथार्थ अनुभवों की उपेक्षा मैं नहीं करता। मगर यथार्थ और अयथार्थ के सम्मिश्रण से ये कितनी पीड़ा कितनी सहानुभूति कलेजे के कितने खून से ये धीरे-धीरे बड़े होकर फूलते हैं इस ओर कोई भले ही न जाने मैं तो जानता हूँ। सुनीति और दुर्नीति का स्थान इसमें है लेकिन विवाद की गुंजाइश इसमें नहीं है। यह वस्तु इससे बहुत ऊँची है।"

एक जबर्दस्त झटापेल में बाद शरत्चन्द्र के प्रति जब बुद्धिजीवियों की रुचि बढ़ने लगी तो उनका औपन्यासिक कौशल मानसिक विकास के शिखर पर पहुँच गया। अपनी रंग-रेखाओं और अछूती अभिव्यक्ति में वे हर वर्ग की नारियों की ऐसी अतलस्पर्शी मूर्ति भर सके जो देश काल और परिस्थितियों से ऊपर उठकर चिर चिरन्तन तक अमिट लकीर छोड़ गई। कितने ही मतभेदों के बावजूद विश्वकवि टैगोर ने इनकी मृत्यु के पश्चात् अभ्यर्थना में लिखा था

"जाहार अमर स्थान प्रेमेर आसने
क्षति तार क्षति नय मृत्युर शासने।

रत्न के मारी पाव

देशेर माटिर थेके निलो जारे हरि
देशेर हृदय तारे राखियाछे धरि।"

अर्थात् प्रेम के आसन में जिनका अमर स्थान है मृत्यु के शासन में उन्हें खोना कोई खोना नहीं है। देश की मिट्टी से जिनका अपहरण कर लिया देश के हृदय ने उनको वरण कर रख छोड़ा है।

७

टैगोर के नारी पात्र

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के चरित्र-चित्रण का मूल स्वर है एक अति व्यापक मानवता वाद जो विगत अर्द्ध शताब्दी के समाज धर्म संघर्ष कुल एवं परिवार, बाह्य घटनाएँ, सामयिक वातावरण व्यक्ति और उसके चहुँ ओर की परिस्थितियों के संदर्भ में चित्रा गया पर अन्ततः जिसकी चरम परिणति नारी पात्रों में जाकर हुई । 'सुन्दर' के उपासक कवि ने 'सत्य' और 'शिव' के सम्मिश्रण से नई भाव भूमि पर नये सौन्दर्यबोध एवं कलात्मक उत्कर्ष के साथ एक विशिष्ट वातावरण में कुछ ऐसे *अभूतपूर्व चित्र आँके जिन्होंने न केवल एक विशिष्ट भावों का उद्रेक किया बल्कि* अन्तःस्वरों को छूकर अपनी कला की व्यापकता और भावनाओं की सचाई की छाप छोड़ गया।

टैगोर के नारी पात्र भले ही न किसी सुदूर कल्पना लोक की सृष्टि हों एक गहरा नाता हम से कायम कर लेते हैं जिन्हें जीवन में भुलाना कभी सम्भव नहीं । उनके रचना काल के प्रथम दौर में जब तारुण्य की माँग है, भाव-बाहुल्य में अतृप्त कामना का असीम आग्रह है तब भी अन्धकार की मसिरेखा को ज्योति की लीक बनाकर कवि की वाणी जीवन आदर्शों में युगान्तर लाने में सफल हुई है । सौन्दर्यबोध की व्याख्या करते हुए एक स्थल पर वे लिखते हैं

'जिस प्रकार सौन्दर्य हमें कोमलता की ओर तथा शनैः-शनैः संयम की ओर खींच ले जाता है संयम भी उसी प्रकार हमारे सौन्दर्य बोध की गम्भीरता एवं गरिमा में अभिवृद्धि करता है । सम्यक भाव से मनोयोग देना न जानने पर हम सौन्दर्य के मर्म में पैठ उससे रस प्राप्त नहीं कर सकते । एक परायण सती स्त्री ही तो प्रेम के यथार्थ सौन्दर्य की उपलब्धि कर सकती है दुराचारिणी या पथभ्रष्ट स्त्री थोड़े ही कर सकती है । सतीत्व नहीं चांचल्य रहित संयम है जिसके द्वारा गम्भीर रूप से प्रेम के निगूढ़ रस को प्राप्त किया जा सकता है ।

कवि का यह अदम्य स्वर ही पश्चकाल की बद्धमूल धारणाओं उनकी मन की जड़ता मतानुगतिकता की परिधि को तोड़कर नई विचारधारा नये जीवन-दर्शन और चिर वरेण्य आदर्शों की स्थापना करता रहा । उनके मत में केवल नयनों के द्वारा नहीं वरन् उसके पीछे यदि मन की दृष्टि मिली हुई न हो तो सौन्दर्य को अच्छी

तरह देखा-परखा नहीं जा सकता। यही कारण है कि उनकी जीवन्त कल्पना अनुपम लोक की कुहेलिका चीर कर ऐसे-ऐसे रूपरंगों से मानवी चित्रों को सजीव एवं साकार करती गई है जो अधिक पूर्ण और वास्तविक हैं जिसमें प्राण-ज्वार का प्लावन है, निर्भीक और ओजस्वी आत्मा की अनुगूँज है और नित नये चरित्र चित्रों के विस्तार रंग-वैभव आकर्षणों और बहुविध तत्त्वों में सारी सम्पूर्णता को समेट कर ऐसी महत् सृष्टि की गई है जिसमें अदम्य शक्ति चेतना और एक तत्त्वदर्शी जिज्ञासु दार्शनिक की सफलतम अभिव्यक्ति हुई है। एक अन्य स्थल पर कवि ने लिखा है

"वास्तव में सौन्दर्य जिस स्थान पर पूर्ण विकसित होता है वहीं अपनी प्रग ल्भता को छोड़ देता है। वहीं पर फूल अपनी वर्णगन्ध की अधिकता को फल की गम्भीर मधुरता में परिणत कर देता है और उसी परिणति में उसी चरम विकास में सौन्दर्य और मंगल का समन्वय हो जाता है।

इनके प्रारम्भिक उपन्यासों 'करुणा' और 'बहू ठाकुरानी हाट' में एक प्रकार का युवकोचित आकर्षण और कल्पनारंजित वातावरण अधिक है जिससे इस वय:सन्धि में सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक गुत्थियों के विश्लेषण की प्रवृत्ति कम दीख पड़ती है। पर 'चोखेरबालि' और 'नौका डूबी' में कल्पना समृद्ध हो जाने के कारण इन्होंने जिन विविध मुद्राओं एवं भंगिमाओं में भावों को ग्रहण किया उसमें कितने ही नये भावार्थों पर नये-नये संकेत व अर्थों का संसार खुल पड़ा कितने ही पारदर्शी एवं रंगीन छाया चित्र उभरे और जीवन-वीणा के अगणित तार सहसा झंकृत हो उठे।

इन दोनों मनोविश्लेषण पूर्ण उपन्यासों में जिनमें घटनाओं की विविधता ही प्रधान है—ऐसी नारियाँ चित्रित की गई हैं जो अपने आदर्शवाद पर टिक कर भी अपनी प्रकृति चरित्र और प्रेम के ऐकान्तिक पहलू को बड़े ही स्वस्थ रूप में प्रस्तुत करती हैं। 'चोखेरबाली' की विनोदिनी के भावुक और बौद्धिक रुझान के पक्ष इतने सशक्त होकर उभरे हैं कि निरन्तर संघर्ष और असमञ्जस की स्थिति बनी रहती है। विधवा होने के बाद इच्छा खामोशी और निरीह स्वच्छता में बपी भावना उसे अतीत के उस काल में पहुँचा देती है जहाँ उसमें महेन्द्र से—जिससे कि उसका पहले विवाह होने वाला था—बदला लेने की लपट सवार होती है। नारी के मन का सूक्ष्म विचित्रता गुम्फता उलझना और आवेश भरे वासनापूर्ण चित्र अन्ततः उसी समाधान के बिन्दु पर आकर टिकते हैं जहाँ जीवन और संघर्ष की कहानी के अधिक सन्तुलित परिप्रेक्ष्य सामने आते हैं। 'नौका डूबी' में अचानक आँधी के कारण नौकाएँ डूबने की दुर्घटना जब नवपरिणीता को किसी अन्य युवक से जा मिलाती है और वह उसे भूल से पति मान बैठती है तो उसमें एक आदर्श कुलवधू की सी स्वर्गिक पवित्रता की गरिमा है जो इस वाम विडम्बना और प्रतिकूल परिस्थितियों में भी उसके सतीत्व की कवच बनी रहती है। युवक का अन्तर्द्वन्द्व और परिस्थितियों की अधिकाधिक उसे उसके निकट लाती जा रही हैं "उससे मर्यादित और शिष्टोचित व्यवहार के सम्मुख उसे दिया नहीं पाते और इस प्रकार शील या आचरण भंग का साहस वह नहीं कर पाता।

पर ज्यों ही नववधू को यह ज्ञात होता है कि युवक उसका असली पति नहीं है तो नारी के चरम सतीत्व की साधना प्रारम्भ हो जाती है। अधिक परिचय और सान्निध्य में एक व्यक्तित्व दूसरे व्यक्तित्व पर हावी हो जाता है, वरन् कभी-कभी तो अन्तरंग भावनाओं को आलोड़ित करता हुआ एक मनोरम प्रक्षेप भी बन जाता है पर पति-पत्नी के प्रेम का तो एक विशिष्ट गतिपथ है। कुछ विशेष परिवेश एवं परिस्थितियाँ भले ही अनुकूल साबित न हों किन्तु परस्पर मुक्त हृदय और सम्पूर्ण ग्रहण एवं समर्पण की प्रक्रिया अनेक विषमताओं में से भी समझौते का मार्ग खोज लेती है। यही कारण है कि कितने ही ऊहापोहों और उलझनों के पश्चात् जब चिरमिलन होता है तो उसमें किसी तरह के शक-शुबहे नहीं हैं अनास्था या अविश्वास के सौदे नहीं हैं और न ही उनके दिलों में फ़र्क डालने वाली दरारें हैं। दोनों की प्राणात्माएँ मिलकर दूध-पानी की भाँति एकमेक हो जाती हैं।

इनके सुप्रसिद्ध उपन्यास 'गोरा' में नारी के बहुपक्ष चित्रित हुए हैं। सुचरिता ललिता आनन्दमयी आदि प्राचीन और नव्य आदर्शों की प्रतीक बनकर कितने ही विचार कोणों और चारित्रिक पहलुओं को सामने लाती हैं। युग के बदलते परिवेश में अनुभूति सदा सापेक्ष्य होती है, अतएव कथाकार की महानता तभी है जबकि वह निर्बाध जीवन को समझने का अवसर दे और उसके विशाल वैविध्य में तात्कालिक परिस्थितियों को एकाकार कर कितनी ही दुर्बोध गूढ़ जटिलताओं का समाधान प्रस्तुत करे। उक्त उपन्यास में टैगोर ने नारी चरित्र को निजस्वता और वैयक्तिकता प्रदान की है, यही कारण है कि विभिन्न परिस्थितियों में नाना परिवेशों के बीच कितने ही ताने-बाने से घिरी और जीवन के उतार चढ़ावों के झंझावात में हिलकोरें लेता उसके व्यक्तित्व का अन्तर्बाह्य रूप ऐसे भव्य चित्रों और बिम्ब-प्रतिबिम्बों को उभारता है जो जीवन और चारित्र्य की कसौटी है।

अपने मध्याह्न काल में 'चतुरंग' और 'घरे बाहिरे' में कवि ने नारी के मर्यादित आदर्शवाद के साथ उसके नैसर्गिक रुझानों का भी दिग्दर्शन कराया है। 'दोष' की विधवा दामिनी जिसमें तरुणाई की आशा अभी बुझी नहीं है वह वीतराग या मुमुक्षुभक्ति में लीन नहीं बल्कि उसके हृदय में कसमसाता प्रणय का कम्पन है जो सारे बंधनों और अवरोधों को तोड़कर जीवन की सरसता का उपभोग करना चाहता है। वह विद्रोहिणी हो जाती है और अन्त में अपने प्रणयी से ठुकराये जाने पर दूसरे से विवाह कर लेती है। इसके विपरीत 'घरे बाहिरे' की समस्या है कि वैवाहिक प्रेम रूढ़ है या स्वतः स्फूरित प्रेम। इसके नायक निखिल का एक स्वतन्त्र दृष्टिकोण है जिससे उसकी पतिपरायण पत्नी बिमला का मतभेद है। परिस्थिति-वश दोनों के बीच पार्थक्य रेखा खिचती जाती है किन्तु समय का व्यवधान जो एक लम्बी दूरी तय कर चुका है, बहुत कुछ रहस्योद्घाटन करता है। अंधकार की कुहेलिका में प्रेम की अतल गहराइयाँ उजागर होती हैं और अन्त में दोनों जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं वह यह कि वैवाहिक प्रेम की सीमाहीनता ही असीमता है। कारण—सीमाहीनता वस्तुतः किसी

की सीमा के मिट जाने में अर्थात् उसके एकीकरण में है।

विवाह क्या है—दो अलग कड़ियों को जोड़ने वाला एक ऐसा सूत्र जिसमें गहरी आत्मीयता और अन्तरंग तादात्म्यता है। विवाह है—आत्मिक सम्मिलन दो का विलय विशृंखल वृत्तियों का सामंजस्य दो हृदय दो आत्माओं को निःशेष सम और दो पृथक् जीवन और व्यक्तित्वों की चरम परिणति।

यों इनके समस्यामूलक उपन्यासों में नारी का रूप और भी भव्य और भी परिपक्व होता गया है। पूर्व निर्धारित योजना का स्थान यादृच्छिकता ने ले लिया है। कवि की नितान्त पुष्ट और शक्तिमती कल्पना में अनेक बार द्वन्द्व और गम्भीर संघात उत्पन्न हो जाता है कहीं आदर्शवाद की कृत्रिम ऊपर से थोपी गई और विकृत रंग रेखाओं में प्रतिगामी रोमांस उभरता है तो कहीं कल्पना की कोरी उड़ानें अपनी ही सीमा-सीमाओं से टकराने लगती है। कहीं उनकी कला वस्तुवाद की ओर उन्मुख है तो कहीं धर्म नीति दर्शन और आचार-मर्यादाओं के संघर्ष में जीवन का उच्छल प्रत्यावेग दबता पड़ रहा है।

फिर भी टैगोर के नारी-चरित्र की इस अवतारणा के संघर्ष की दिशा की निर्धारक उनकी रूमानी कल्पना नहीं वरन् मानवतावादी दृष्टि है जो जीवन-सत्य में पैठने को सदैव सचेष्ट रही है। एक बार कवि से किसी ने पूछा

"महामना जीवन-संध्या समीप है, पथ ढल चली है, क्या अब भी आपको अपने एकान्त चिन्तन में पारलौकिक सन्देश सुनाई पड़ता है?" कवि ने उत्तर दिया

"सन्ध्या का समय है और मैं कान लगाये बैठा हूँ विलम्ब से ही सही शायद कोई पुकार ले।"

कहना न होगा—कवि देश काल की सीमाओं से परे और महाकाल के नीलाम्बर में भूत वर्तमान और अतीत की विरासत को अपनी झोली में समेट एक युगदर्शी दार्शनिक थे। जीवन की विषम से विषम परिस्थितियों में भी—कितनी ही दारुण प्रतिकूलता से टकराकर भी—उनका जीवन चमत्कार अधिकाधिक प्रशान्त और सन्तुलित बनता गया। महिमामयी नारी की परिचर्या के वे इतने कायल थे कि उन्होंने स्त्री पुरुष के उन्मत्त संघात की तो सदैव भर्त्सना की ही पर उसकी वासना की चपलता जब वेदना की परिणति में एकात्म्य हो गई अथवा अनुराग के साथ क्षमा आ मिली तभी उनके दाम्पत्य प्रेम की पराकाष्ठा चिरमिलन में प्रतिष्ठित हुई। कवि ने अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद लिखा था

"तुमि मोर जीवनेर माझे
मिशाये छो मृत्युर माधुरी।
चिर विदायेर आभा दिया
रांगाये गियेछ मोर हिया॥"

उपन्यास में अनेक पात्र एक साथ मिलते हैं, किन्तु सब का व्यक्तित्व पृथक् और अपनी निजी विशेषता लिये दृष्टिगत होता है। उन्होंने अपने यथार्थ चित्रण के बल से उनकी व्यक्तिगत रुचि, आदर्श भावना तथा उनके स्वभाव की विशेष प्रवृत्तियों के, उनके बातचीत, रहन-सहन, रंग-ढंग, चाल-ढाल और उनके क्लिष्ट अवसरों के चित्रण द्वारा उनका सच्चा चित्र पाठकों के समक्ष उपस्थित कर दिया है। हमें ऐसा प्रतीत होने लगता है कि ये सजीव चलते-फिरते नर-नारी, बालक-बालिकाएँ, वृद्ध-तरुण अथवा अपने ही संगी व सहयोगी हैं, उनसे हमारा निकट का सम्पर्क है, हमारे हृदय को ये आकर्षित कर लेते हैं, अपनी ओर बरबस खींचते हैं, हम उनसे प्रसंगानुसार प्रेम तथा द्वेष करते हैं, उनकी हँसी के साथ हमारा आह्लाद फूट पड़ता है, उनके आँसुओं के साथ हमारे अश्रु भी ढुलक पड़ते हैं। ये हमारी राग-विराग की वृत्तियों से इतना गहरा सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं, हमारे जीवन में इतने घुलमिल जाते हैं, हम पर अपना इतना व्यापक और स्थायी प्रभाव छोड़ जाते हैं कि हम उन्हें आजन्म नहीं भूल पाते।

प्रेमचन्द जी की कहानी कहने की प्रणाली भी अत्यन्त रोचक और सारगर्भित है। कथा में कल्पना की योजना, वाग्वैचित्र्य और नए-नए प्रसंगों की उद्भावना भी बड़े ही कौशल और सुन्दर ढंग से हुई है। प्रत्येक घटना और दृश्य की अपनी-अपनी विशेषता है और वे विशृंखल होते हुए भी एक ऐसे सूत्र में बँधे चलते हैं कि उनमें पृथक्त्व का आभास ही नहीं होने पाता। कभी-कभी तो पाठक को ऐसा भान होने लगता है कि ये सभी लघु-कथाएँ महत्त्वपूर्ण जीवन-विश्लेषक चित्र हैं, जिन्हें एक सूत्र में बाँधकर लेखक ने अपने बुद्धि-बल से एक विशद कथानक के रूप में प्रस्तुत कर दिया है।

प्रेमचन्द जी को मानव-चरित्र का भी अत्यधिक ज्ञान है और उनका विवेचन भी बड़ी सफलता के साथ हुआ है। किसान-जमींदार, मजदूर-मिलमालिक, शिक्षित-अशिक्षित, सच्चरित्र-दुश्चरित्र, स्त्री-पुरुष, सभ्य-ग्रामीण, बालक-बालिकाएँ आदि सभी पात्रों का वर्णन इतना आकर्षक और पूर्ण है कि वे उपन्यासों के रंगमंच पर अभिनय करके अपना स्थायी प्रभाव हमारे हृदय-पटल पर अंकित कर जाते हैं। मानसिक वृत्तियों के सूक्ष्म विश्लेषण और उनके उत्थान-पतन के चित्र अंकित करने में भी प्रेमचन्द जी ने कमाल कर दिखाया है।

उदाहरणार्थ—'प्रेमाश्रम' में से ज्ञानशंकर, 'रंगभूमि' में से सूरदास और विनय, 'सेवासदन' में से पद्मसिंह और सुमन, 'गोदान' में से होरी-धनिया, गोबर-झुनिया, मातादीन-सिलिया, मेहता-मालती, खन्ना-गोविंदी और 'गबन' में से रमानाथ और जालपा के चरित्रों को ले लीजिए। अपने नित्यप्रति के जीवन-क्षेत्र में हमें जिस प्रकार के मनुष्य मिलते हैं, उनकी ठीक प्रतिकृति उन्होंने खींच दी है।

"चुहिया दोहरी देह की काली-कलूटी नाटी, कुरूपा, बड़े बड़े स्तनों वाली स्त्री थी।" "गोबर साँवला लम्बा एकहरा युवक था।" "बड़ी लड़की सोना लज्जाशीला कुमारी थी, साँवली, सुडौल, प्रसन्न और चपल। गाढ़े की लाल साड़ी जिसे

वह घुटनों से मोड़कर कमर में बाँधे हुए थी उसके हल्के शरीर पर कसी हुई सी थी और उसे प्रौढ़ता की गरिमा दे रही थी। छोटी कन्या पाँच-छः साल की छोकरी थी मैली सिर पर बालों का एक घोंसला-सा बना हुआ एक लंगोटी कमर में बाँधे बहुत ही ढीठ और रोनी।" झींगुरीसिंह नाटे, मोटे सफाचट चाँद लम्बी नाक और बड़ी-बड़ी मूँछोंवाले आदमी थे—बिल्कुल विदूषक जैसे। इसी प्रकार 'रंगभूमि' में "सूरदास एक बहुत ही क्षीणकाय दुर्बल और सरल व्यक्ति था। उसे दैव ने कदाचित् भीख माँगने के लिए ही बनाया था। जनसेवक दुहरे बदन के गोरे-चिट्टे आदमी थे। बुढ़ापे में भी चेहरा लाल था। मुख की आकृति से गरूर और आत्मविश्वास झलकता था। "मिसेज सेवक के चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गई थी जिनसे उनके हृदय की संकीर्णता टपकती थी। प्रेमचन्द जी के इन चित्रों में जो स्वाभाविकता और सादगी है—उसका प्रमुख कारण है—मानव-स्वभाव की उनकी गहरी परख और जीवन की सच्ची परिस्थितियों का मार्मिक अनुभव। अपने उदार और ऊँचे हृदय को संसार के वास्तविक व्यवहारों के बीच रख कर उन्होंने जो संवेदना प्राप्त की है—उसी की व्यंजना उनके उपन्यासों में जब-तब बिखरी पड़ी है। इसके अलावा उन्हें ग्राम्य-जीवन वहाँ के दृश्यों लोगों पुरुष तथा स्त्रियों के स्वभावों का उनके सामाजिक नैतिक और पारिवारिक जीवन की विशेषताओं का बहुत ही निकट परिचय प्राप्त था। उनके कुछ पात्रों में ऐसी स्वाभाविक गरचना की व्यक्तिगत विशेषताएँ मिलती हैं कि जिन्हें सामने पाकर हमें यह भ्रम होने लगता है कि इनका और हमारा कहीं न कहीं साक्षात्कार हुआ है। निःसन्देह उनके मनोहर और रस छलकाते चित्र बिल्कुल सच्चे और खरे उतरे हैं। उनमें मार्मिकता और अनूठी व्यंजना है। उनके भीतर से एक सच्चा हृदय झाँक रहा है।

प्रेमचन्द जी आदर्शवादी कलाकार हैं। उनका मत है कि कला जीवन के लिए है न कि केवल कला के लिए। उनके यथार्थवाद पर आदर्शवाद का मानो मुलम्मा चढ़ा रहता है, किन्तु कहीं भी आदर्श के लिए कला की हत्या नहीं की गई। आदर्शवाद एवं कला का बहुत सुन्दर समन्वय उनके उपन्यासों की विशेषता है।

प्रेमचन्दजी की एक दूसरी विशेषता है कि कथानक सामान्य होते हुए भी व अपनी वर्णन-पटुता एवं आकर्षक शैली से उसे सजीव बना देते हैं। जीवन का इतना रहस्यमय गूढ़ और रंजनकारी चित्रण बाह्य और अन्तर की समान कौशल से चित्रित करने की उनकी पटुता तथा हृदयगत भावनाओं को बड़ी सुन्दरता से प्रदर्शित करने की उनकी प्रणाली देख कर विस्मय-विमुग्ध हो जाना पड़ता है। समयानुकूल आकांक्षा प्रेम क्षोभ क्रोध चिंता प्रतीक्षा आत्मग्लानि घबराहट, उदासीनता विह्वलता सहृदयता कोमलता उदारता आदि दर्शानेवाले शब्द-चित्र बहुत ही सुन्दर उतरते हैं। आशा-निराशा के मानसिक द्वन्द्व का एक चित्र देखिए

'धनिया सन्नाटे में आ गई। एक ही क्षण में उसके जीवन का मृदु स्वप्न जैसे टूट गया। अब तक वह मन में प्रसन्न थी कि उसका दुख-दरिद्र सब दूर हो

गया। जब से गोबर घर आया उसके मुख पर हास की एक छटा खिली रहती थी। उसकी वाणी में मृदुता और व्यवहारों में उदारता आ गई। भगवान् ने उस पर दया की है तो उसे सिर झुका कर चलना चाहिए। भीतर की शांति बाहर सौजन्य बन गई थी। ये शब्द तपते [illegible] बाण की तरह हृदय पर पड़े और घने की भाँति सारे अरमान झुलस गये। उसका सारा घमंड चूर चूर हो गया। इतना सुन लेने के बाद जीवन में क्या रह गया। जिस नौका पर बैठ कर इस जीवन-सागर को पार करना चाहती थी वही टूट गई तो किस सुख के लिए जिये।

ईर्ष्याग्नि नारी की कोमल भावनाओं को झुलसा कर उसकी मृदुता को सुखा कर कितना भीषण रूप धारण कर लेती है इसका एक उदाहरण देखिए

"देखो सिल्लो मुझसे साफ-साफ बता दो नहीं तो मैं तुम्हारे सामने यहीं अपनी गरदन पर गँड़ासा मार लूँगी। फिर तुम मेरी सौत बनकर राज करना। देखो वह गँड़ासा सामने पड़ा है। एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं।

सवेदना हृदय को द्रवित करके मोम-सा पिघला देती है। सहृदयता से सहृदयता उत्पन्न होती है। निम्नलिखित पंक्तियों में न जाने कितने दिनों की कितनी भारी प्रणय-ममता उभरी पड़ रही है

"जब गोबर उसके चरणों पर झुका तो होरी रो पड़ा मानो फिर उसे पुत्र के दर्शन न होंगे। उसकी आत्मा में उल्लास था गर्व था संकल्प था। पुत्र से श्रद्धा और स्नेह पाकर वह तेजवान् हो गया है विशाल हो गया है। कई दिन पहले उस पर जो अवसाद-सा छा गया था एक अंधकार-सा जहाँ वह अपना मार्ग भूल जाता था वहाँ अब उत्साह है और प्रकाश है।

करुणा का कितना मार्मिक चित्रण हुआ है—देखिए

"धनिया को दीन आँखों से देखा दोनों कोनों से आँसू की दो बूँदें ढुलक पड़ीं। क्षीण स्वर में बोला—मेरा कहा-सुना माफ करना धनिया! अब जाता हूँ। गाय की लालसा मन में ही रह गई। रो मत धनिया अब कब तक जिलायेगी। सब दुर्दशा तो हो गई। अब मरने दे।

वर्णन-शक्ति भी उनकी बड़ी ही प्रबल है। नीचे के उद्धरणों को पढ़कर दृश्य चित्र बिल्कुल नयनों के समक्ष आ जाता है

"जनता बूढ़े कुलेलों पर हँसती थी तालियाँ बजाती थी गालियाँ देती थी ललकारती थी बाजियाँ लगाती थी। वाह! जरा इन बूढ़े बाबा को देखो। किस शान से जा रहे हैं जैसे सबको मार कर ही लौटेंगे। अच्छा! दूसरी तरफ से भी उन्हीं के बड़े भाई निकले। दोनों कैसे पैंतरे बदल रहे हैं। इन हड्डियों में अभी बहुत जान है भाई! इन लोगों ने जितना घी खाया है उतना अब हमें पानी भी मयस्सर नहीं। लोग कहते हैं भारत धनी हो रहा है। होता होगा। हम तो यही देखते हैं कि इन बुड्ढों-जैसे जीवट के जवान भी आज मुश्किल से निकलेंगे। वह उधर वाले बुड्ढे

ने इसे दबोच लिया। बेचारा छूट निकलने के लिए कितना ज़ोर मार रहा है। मगर अब नहीं जा सकता बच्चा! एक को तीन लिपट गए।"

"वही रुपहली चाँदनी अब भी छाई हुई थी। नदी की लहरें अब भी चाँद की किरणों में नहा रही थीं और सिरकी विक्षिप्त-सी स्वप्न-छाया की भाँति नदी में चली जा रही थी।"

प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में कथोपकथन भी एक मुख्य तत्त्व है जिसके द्वारा उन्होंने अपने विचारों आदर्शों और सिद्धान्तों को प्रकट किया है। उनके कथोपकथन बहुत ही सजीव पात्रों के अनुकूल स्वाभाविक और प्रभावशाली होते हैं। वे नपे-तुले अधिक बड़े न अधिक छोटे और व्यर्थ के शब्दाडम्बर से विनिर्मुक्त होते हैं।

आरोप-प्रत्यारोप का एक दृश्य चित्र देखिये
मिस मालती ने खन्ना को तिरस्कार भरी आँखों से देखा।
"आप लोग इतने कायर हैं यह मैं न समझती थी।"

"मैं भी यह न समझता था कि आपको रुपये इतने प्यारे हैं और वह भी मुफ्त के।

"जब आप लोग मेरा अपमान देख सकते हैं तो अपने घर की स्त्रियों का भी अपमान देख सकते होंगे?"

"तो आप भी पैसे के लिए घर के पुरुषों को होम करने में संकोच न करेंगी।"

एक औपन्यासिक के लिए जिस प्रकार की भाषा वांछनीय है वैसी ही प्रेमचन्द जी को प्राप्त है। उनमें ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा है और वह सृजनात्मक कल्पना है जिसके फलस्वरूप उनकी भाषा अत्यन्त मधुर, ओजपूर्ण मुहावरेदार और रचना-कौशल एवं आकर्षक शब्दावली से युक्त है। ऐसा प्रतीत होता है मानो उसमें नैसर्गिक प्रवाह है और वह स्वयमेव अजस्र रूप से फिसलती चलती है। प्रत्येक पात्र की चारित्रिक विशेषताओं योग्यता परिस्थिति और अवस्था के अनुरूप कहीं तो भाषा अत्यन्त परिमार्जित कहीं स्वाभाविक कहीं साहित्यिक और कहीं संस्कृतमय हो गई है:

'वैवाहिक जीवन के प्रभात में लालसा अपनी गुलाबी मादकता के साथ उदय होती है और हृदय के सारे आकाश को अपने माधुर्य की सुनहरी किरणों से रंजित कर देती है। फिर मध्याह्न का प्रखर ताप आता है क्षण-क्षण पर बगूले उठते हैं और पृथ्वी काँपने लगती है। लालसा का सुनहरा आवरण हट जाता है और वास्तविकता अपने नग्न रूप में सामने आ खड़ी होती है। उसके बाद विश्राममय संध्या आती है, शीतल और शान्त जब हम थके हुए पथिकों की भाँति दिन भर की यात्रा का वृत्तान्त कहते और सुनते हैं तटस्थ भाव से मानों हम किसी ऊँचे शिखर पर जा बैठे हैं जहाँ नीचे का जनरव हम तक नहीं पहुँचता।"

कहीं इतनी उर्दूमय हो गई है जिसका आशय उर्दू के अच्छे जानकार ही समझ सकते हैं।

"मैं इसराज की तहरीक पर एतराज करने की जुरअत कर सकता हूँ।" कहीं सरल कहीं क्लिष्ट कहीं उर्दूमय कहीं संस्कृतगर्भित कहीं परिमार्जित तो कहीं ग्रामीण—कहने का तात्पर्य यह है कि अपनी भाषा को पात्र परिस्थिति और प्रसंगानुकूल मोड़ने-तोड़ने में वे अत्यन्त सिद्धहस्त थे। हिंदी-उर्दू की उन्हें पूर्ण जानकारी थी।

कुछ साहित्यिक विद्वानों के मतानुसार प्रेमचन्द जी नारी के चरित्र-चित्रण में असफल हुए हैं किन्तु हमें तो लगता है कि नारी की शक्ति और दुर्बलताओं का उसके सामाजिक नैतिक और प्रकृत स्वभाव एवं विशेषताओं का उसकी रुचि आदर्श भावना तथा चारित्रिक उत्थान-पतन आदि का जितना मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रेमचन्द जी ने किया है उतना अन्य किसी आधुनिक उपन्यासकार ने नहीं। नारी कब प्रेम करती है कब द्वेष करती है कब उसके हृदय के तार सहसा झनझना उठते हैं कब वह पश्चात्ताप और आत्मग्लानि से भर जाती है प्रेम में वह कितनी द्रवीभूत हो उठती है क्रोध और प्रतिशोध के समय वह किस प्रकार चण्डी का रूप धारण कर लेती है लज्जा से वह कितनी मर-सी जाती है और गर्वोन्मत्त वह कितनी उज्ज्वल और गौरवमयी हो उठती है—इसका जितना ज्ञान प्रेमचन्द जी को था उतना कदाचित् ही अन्य किसी को। सुमन धनिया जालपा निर्मला अमिया सिलिया गोविंदी आदि के चरित्र क्या भुलाए जा सकते हैं?

कहानी-क्षेत्र में भी प्रेमचन्द जी ने अद्वितीय कार्य किया है। उनकी कहानियों में मार्मिक प्रसंगों और दृश्यों का चुनाव प्रभाव की व्यंजना एवं निगूढ़ मनोवृत्तियों का निदर्शन हुआ है। वस्तुतः यदि मार्मिकता एवं प्रभाव की दृष्टि से देखा जाय तो उनका महत्त्व उपन्यासों से कम नहीं है। वरन् यों कहना चाहिए कि उनकी कहानियों में जो जीवन-सम्पर्क और सहानुभूति है कल्पना की मनोरमता के साथ-साथ मानव स्वभाव का सूक्ष्म विश्लेषण और वैचित्र्य है तथा कहानी कहने के ढंग में जो नैसर्गिक प्रवाह एवं प्रतिभा है—उसी के कारण वे हिंदी-कहानी के जन्मदाता कहे गये हैं और उसी का परिणाम है कि हमारा कहानी-साहित्य विश्व-साहित्य में कुछ स्थान पा सका है।

उनकी कई कहानियों के अनुवाद जापानी अंग्रेजी रूसी तथा कई भारतीय भाषाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। ग्राम्य-जीवन का जो यथार्थ एवं स्वाभाविक चित्रण वस्तुविन्यास की अकृत्रिमता एवं अनुभूति-प्रवणता जो हमें उनके उपन्यासों और कहानियों में मिलती है—वह बेजोड़ है। निःसंदेह हिंदी-कथा-साहित्य में एक वे ही ऐसे मन्तर्द्रष्टा कलाकार हुए हैं जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त है और जो निर्विवाद रूप से भारतीय उपन्यास तथा कहानी-साहित्य के प्रतिनिधि माने गये हैं।

९

जैनेन्द्र का मनोवैज्ञानिक अतिवाद

आधुनिक यूरोपीय मनोविज्ञान में अचेतन को ही जब मानव की समस्त मूल प्रवृत्तियों का कोष माना है तो विचारधारा के कतिपय तर्कों का आधार लेकर नैतिक मूल्यों के निर्धारण के परम्परागत प्रतिमानों में भी आकाश-पाताल का अन्तर हो गया है। अन्तर्विरोधों से परिचालित सेक्स-चेतना सहसा मुक्त होकर नई-नई भूमियों को छूती हुई अन्त में उन असंख्य विरोधाभासों के मूल में निहित विविध और विराट् सामंजस्य के सूत्र खोज लेने में सतत चेष्टाशील है जहाँ एक अजीब-सी घुटन और जड़ मूर्च्छना के शिकार अन्तर्मुखी स्वप्नदर्शियों के मनोग्रस्त मानसिक उद्वेगों का उफान कसमसाता रहा है। साथ ही शुष्क बौद्धिकता के ऊबड़-खाबड़ मैदान में विविध नयी कल्पना की 'लेफ्टराइट' चल रही है।

कहना न होगा कि तुलनात्मक दृष्टि से जैनेन्द्र की औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ प्रायः वे ही हैं जिनके बीज मौजूदा बुद्धिवादी युग में बोए गए हैं। भेद मुख्यतः अनुभूत विषय तत्वों और आनुपातिक महत्त्व की भावना में है। जहाँ तक सैद्धान्तिक तथ्य-ग्रहण का प्रश्न है एक कुशल तार्किक की हैसियत से उनकी दृष्टि में वस्तुस्थिति को भाँपने की क्षमता है, वर्तमान परिस्थितियाँ किस गति से आगे बढ़ रही हैं उनका पता है और वह किन रूपों में उभरती आ रही है—इसकी समझदारी भी मौजूद है बल्कि यहाँ कि ये परिस्थितियाँ और समस्याएँ उन्हें उद्बुद्ध करती रही हैं किन्तु वे जिन्दगी के तुच्छ से तुच्छ पहलू की गहन अनुभूति पर अपने मतवादों एवं विश्वासों की छाप लगाना चाहते हैं परिणामस्वरूप उनके उपन्यास जीवन-प्रवाह के इन्द्रिय संवेद्य भावात्मक बनकर रह गए हैं। एक विशिष्ट कल्पनात्मक बौद्धिक रुचि में नई जिज्ञासापूर्ण स्थिति मनगढ़न्त आदर्श विरोध भ्रम का द्वन्द्व और कृत्रिम जीवन आकांक्षा और अनुभूति जीवन-संवेग आत्मपरक और अतिवादी विचारणाओं के कारण न तो उनमें स्वाभाविकता मिल पाती है और न उतनी तल्लीनता के साथ ही संलग्न होते हैं कि जिनकी व्यक्ति और अभिव्यक्ति जीवन-पर्यन्त गूँजती रहे।

इसके विपरीत जिन आदर्शों एवं मान्यताओं को लेकर उनके उपन्यासों की रचना हुई है उनके मेरुदण्ड हैं—

(क) टेकनीक की मूल प्रवृत्ति स्वामी मूल ग्रन्थि काम अहं और वासना क

हम की—जिसमें विशाल 'कैन्वास' पर विविध परिस्थितियों से जूझने वाले व्यक्तियों उनके परिवेश और सामाजिक सम्बन्धों की कहानी न हो कर कुण्ठाग्रस्त और किसी एक वृत्ति या 'मूड' के वशीभूत आत्मकेन्द्रित लोगों के व्यक्तित्व उभारे गए हैं, जहाँ परिस्थितियाँ वहीं से स्वयं उपजती हैं और कथा-सूत्रों को थामे रहती हैं बौद्धिक तर्कों और विचार वितर्कों से कथा का मंथर विकास स्वीकृत मतवादिता थोपने के कारण कथाकार उपभोक्ता से अपने को पृथक नहीं कर पाता बल्कि उसमें प्रच्छन्न दुराग्रह है कि उसके अनुभवों विचारकोणों और मूल्यों को लोग उतना ही आँकें जितना कि मूल्य उसकी अपनी दृष्टि में उसका है ।

(ख) उक्त उपन्यासों की विडम्बना है कि वे इस कदर मतवादी रूढ़िवादिता और विचारों के आवर्त में आबद्ध हैं कि कहीं भी उनसे मुक्ति नहीं । प्रायः सभी में स्त्रैण पति हैं जिनके लिए पत्नी का 'सेक्सिफ्लोर्ड' प्रेम तक भी तिरस्करणीय नहीं मानो ऐसे अपौरुषेय नर-कंकाल मात्र हैं वे सब जिनमें उष्णता खून और प्राणों के स्पन्दन का सर्वथा अभाव है । लेकिन इसके विपरीत पत्नियों में उद्दाम वासना का प्रवहमान वेग है जो महज पति से तृप्त नहीं होता दूसरे पुरुष की ओर बरबस अनुधावित होता है । वे ऐसी नहीं हैं जिनमें झंझा के झकोरों का उन्माद जगा और शान्त हो गया । हिलोरें उठीं कुमकुमे कसमसाये और विलीन हो गए । इच्छा-वासना के आवेग उफने और बुद्धि एवं विवेक द्वारा उनका उपशमन कर दिया गया । नहीं उनमें ऐसी कोई बाध्यता या मजबूरी नहीं है । वे जीवन में अलस जड़ता को प्रश्रय नहीं देतीं उन्हें भीतर ही भीतर मधुर दाह का आभास होता है वे चाहती हैं—उन्हें कोई समझे उनके रूप को परखे उनके सौंदर्य की कोई प्रशंसा करे और उसके प्रेमपाश में आबद्ध हो जाए, क्योंकि जैनेन्द्र के मत से 'पानी कहीं बहते बहते रुक गया है तो उसे खुलना चाहिए, बहिर्गमन मिलना चाहिए, उन्हें भय है कि हृदय सम्पूर्ण वृत्त की भाँति हो तो शून्य हो जाय । उस हृदय को अपेक्षा रहती है कि कोई भिन्न पात्र मिले जिसमें वह अपने को उँडेल सके । इस प्रकार वह रिक्त नहीं होता और भरता ही है ।' पत्नियों के प्रेमी पात्र भी किसी व्यावहारिक आचरण के नियन्त्रण में नहीं हैं । यों तो वे सभी इतने महान् दर्शाये गए हैं कि उनके चरित्र क्रिया-प्रक्रिया और अन्तश्चेतना की गहराइयों को सहज मापा नहीं जा सकता किंतु समस्त [illegible] परे मानवेतर अवस्था में ऐसी अनुभूतिजन्य भावना और निरीह संस्कारों द्वारा अनुप्राणित हैं वे सब—कि जैसे अशरीरी हों अनुपमेय अथवा अपर प्रत्यक्ष भूमिका में स्थित जिन्हें कुछ छू न पाता हो और जिनका मन कहीं ठहर न पाता हो फिर भी आश्चर्य कि सामाजिक संबंधों की धार्मिक पाबन्दी के विरुद्ध किसी भी सीमारेखा को अपने आन्तरिक प्रवेग से मटियामेट कर देने वाली भावुकता के सभी नैतिक नियमों और आचरण की उपेक्षा करने वाले मग्न भावुक और अतृप्त तत्त्वों से निर्मित साथ ही अवगाह्यजन्य ऐकान्तिकता का निराकरण करने के लिए सदा तत्पर और उन्मत्त गहरे और चिन्तनशील होकर भी कामावेगों की विद्युत्तरंग अथवा प्रणयोन्माद के प्रकम्पन से सहसा उमड़ना उठने

जाते और जब जिन्हें किसी भी निषेध अथवा व्यवस्था में न बाँधा जा सकता हो। एक निश्छल भोलेपन के साथ-साथ उनमें अबूझ उन्माद भी है विराग या उपरामता के साथ-साथ किसी की रूपशिखा में पतंगे की तरह जल मरने की अमिट आकांक्षा भी है और नैतिक सदाचरण के साथ-साथ उच्छृंखलता और स्वेच्छाचरण के ऐसे कायल कि जिनकी कुंठित स्वातन्त्र्य भावना को एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक अतिचार अथवा ऐन्द्रिय चेतना का आत्यन्तिक विघटन कहा जा सकता है।

(ग) प्रेम वासना और आसक्ति का ज्वार उन्हें कभी-कभी इतनी दूर ठेल ले जाता है कि कामजन्य चेष्टाओं की अनुवर्तिता ही प्रमुख और उपन्यास के सहज रसबोध की मुखर चेष्टा गौण पड़ गई है। प्रेम की जिस धारा—एक नये स्वामी एवं दार्शनिक आतंक में—तीव्र भावावेगों से प्रेरित समझौते के सूत्र खोजती हुई औपन्यासिक विकास की नई संभावनाओं को सामने लाती है सही लेकिन समस्त आटिल तारों विषमताओं और उलझनों के बावजूद एक कृत्रिम रंगीनी नमों के समक्ष स्वप्न सा बुनती है और अस्पष्ट आंतरिक चिन्तना में आधार तो ग्रहण करती है, पर बौद्धिक अवसाद के धुंधलके में भटक जाती है।

इस प्रकार पति पत्नी और पत्नी के प्रेमी की द्वन्द्वात्मक रोमांचक कहानी अन्त में पूर्णता तक तो पहुँच जाती है किन्तु उसमें उठाई गई सामाजिक समस्याओं का समाधान नहीं हो पाता। यह सही है कि मनुष्य की गहन रहस्यमयी चमित अंतर्प्रवृत्तियों का विश्लेषण कर जैनेन्द्र ने फ्रायड से प्रभावित पश्चिमी औपन्यासिक परम्परा से नाता जोड़ा है मगर उनके कथानकों की प्रमुख कमजोरी यह रही है कि जीवन के किसी चरम लक्ष्य या अर्थ की निष्पत्ति उनसे नहीं होती अपितु महत्त्वाकांक्षी पराजित और प्रेम में हताश व्यक्तियों की विकृत कुण्ठा नैतिकता से ध्वस्त स्त्री-पुरुष के नये यौन-सम्बन्धों की आस्थाहीन धरती पर वे मँडराते रहते हैं। विषय और दृष्टिकोण सीमित है मुख्यतः उन्हें तीन पात्र चाहिए—एक नारी जिसमें दुर्निवार आकांक्षा और 'सेक्स' सम्बन्धी विस्फोटक विकृतियाँ हों कुछ ऐसे अनीश्वरोदीप्त तत्त्व जो हर कदम पर जिन्दगी की नई मंजिल सामने हों उसके बाद फिर एक नई राह और तब मानो आगे का मार्ग सहसा खुल पड़ता हो ऐसा वेग जो व्यवस्था या अवरोध नहीं चाहता वरन् एक जबर्दस्त निषेधात्मक स्वीकृति में रक्त-मांस शिरा-उपशिरा में व्याप्त हो जाना चाहता हो और जिसके कारण जीवन थकना नहीं थमता नहीं और कभी हार न मानता हो। बाह्य में समाज-प्रतिष्ठा की दृष्टि से व्यावहारिक प्रयोजन की पूर्ति की कामना चाहे कितनी ही हो पर अन्तरंग में उनके एक विप्लव या विलोड़न है कि अतर्पित कामना एवं काम्य के संगम से व सहज आत्मघातिसीम हो उठी हैं। मंग लिप्सा उनके स्वभाव की प्रधान वृत्ति है और ज्यों ज्यों वह बढ़ती जाती है वे व्यक्ति से निजत्व से अहं से ऊपर उठकर अपरम परिमाण में रसानन्द की ओर अग्रसर होते हैं। कुछ प्रश्न सुलझते हैं तो कितने ही तथ्य उलझते हैं मानो जीवन से अब विद उनमें शून्य एक निस्सीम सूनेपन में खो जाते हैं। महत्व पति को वे जीवन-मंथर

नहीं मान बैठती उनकी आँखों के आगे सत्य के नग्न आलोक में जैसे उनकी अपनी बीतती तपन की मरुभूमि का विस्तृत उजाड़ साकार हो जाता है और तब उन्हें लगता है कि अपने आप में पुंजीभूत रहकर वे औत्सुक्य या विस्मय जाग्रत नहीं कर सकतीं। वे पति की अन्धी दासता को एक मात्र समाधान मानकर निष्क्रिय नहीं होतीं क्योंकि उनमें कुछ ऐसी त्वरा और अनन्यता है कि पति जैसे साधारण जीव पर वे निर्भर नहीं हैं दोनों एक नहीं हो सकते एक दूसरे के लिए विधाता का विधान एक नियति के दो पूरक एक इकाई के दो खण्ड जो मिले हैं तो मिले ही रहें और कभी पृथक न हों—इस बात की सतर्कता या सतत भाव उनकी दृष्टि में थोथा और बेमानी है। वे पति को अपने प्रेमपाश में बाँधने के लिए मनचली बाली युवती के सदृश कुछ समय तक उससे खेलकर भावोन्माद वश पर आकर्षण का सब अनुभव करती हैं और इस प्रकार उनमें एक अनवरत कौतुक भीतर ही भीतर लहराता रहता है। सामाजिक जवाबदेही को वे महसूस नहीं करतीं कारण—उनके जीवन-यापन का एक नवीन और निजी ढंग है। गहरा प्रतिवाद और घुटन संघर्ष है उनके मन में जो उनकी प्रेरणा का मूल तत्त्व है और उनके अन्तर को अनवरत आलोड़ित करता है। एक मात्र निज को लेकर रिक्तता को नहीं भरा जा सकता न ही यह प्रेम यह आमिक मोह उनके जीवन का लक्ष्य बन सकता है, अतएव अपर मन के साथ संयुक्त हुए बिना उनकी सम्पूर्णता प्रतिफलित नहीं हो पाती। कट्टो सुनीता मृणाल कल्याणी मुग्धा मुखर मोहिनी वनिता और उनके परवर्ती उपन्यास 'जयवर्द्धन' की इला पूरी ही नारियाँ हैं जो अनियन्त्रित कामवासना और उद्दीपक यौनाकर्षण से आक्रान्त मानदण्ड की सीमाबद्धता अथवा किसी एक व्यक्तित्व के वशिष्ट प्रणय में आस्वाधीन नहीं हो पातीं।

इसके साथ ही एक और विचित्र बात है कि ज्यों-ज्यों इन पत्नियों में स्वकीय व्यग्रता एवं इच्छाओं की स्वसत्ता तीव्रतम होती जाती है इनके पति उनकी प्रकृति की दुर्दम्य शक्ति एवं बहुविध विस्फुरता के समक्ष उतने ही नत होते जाते हैं बल्कि यहाँ कि उपेक्षा और विषम द्विविधा में वे अत्यन्त दीन और दयनीय बन जाते हैं। पत्नियों के प्रेमी पात्रों को प्राय: क्रान्तिकारी और विद्रोही दर्शाया गया है पर उनके क्रान्तिकारी न होकर वे काम-कुण्ठित और अतृप्ति से पीड़ित विप्लवी और विध्वंसक आतंकवादी सिद्ध होते हैं। उनमें देशभक्ति का उन्माद कम प्रेम की चाह अधिक है बल्कि प्रेम करना ही उनका प्रमुख व्यवसाय है। उनमें आत्महनन स्वरति विलगाव और मान-सिक विरोधियाँ हैं वे अहं की तुष्टि के लिए असामाजिक कृत्य करते हैं और आर्थिक दृष्टि से दूसरों पर आश्रित हैं। यह आर्थिक समस्या सभी मान्यताओं से परे इस क़दर उभर आती है कि उक्त अर्थ-संघर्ष ने उनके मन को इतना शून्य और विक्षिप्त कर दिया है कि उनकी वैचारिक शान्ति मरीचिका बन जाती है और मानव-समाज के अन्त वैयक्तिक सम्बन्ध मध्यवर्गीय ह्रास की धूप से विपाक्त हो उठते हैं। लेखक की उत्कट निष्ठा के फलस्वरूप जहाँ-जहाँ तो वे कटे और प्रतिहिंसक से प्रतीत होते हैं। बाबू

या लुटेरे अपनी अन्तरंग भावनाओं का दमन नहीं करते वे खुलकर जीते हैं और बिना रोकटोक जीवन की सभी कटुताओं या रस का निरवशेष पान करते हैं, पर जैनेन्द्र के ये शिष्ट लुटेरे अपनी मूल वृत्तियों और कामोद्वेगों को अनुभूति की जड़ता में लपेटते हैं और कुंठित जीवन-यापन करते हैं जो व्यक्तिवादी आत्म-जागृति और मान्यताओं की दृष्टि से मर्मनाशक चीज है। इससे उनकी वैयक्तिकता अराजकतावादी निर्वैयक्तिकता पर हावी हो जाती है।

क्रान्ति के क्षेत्र में रचनात्मक आदर्शवाद की उपयोगिता असंदिग्ध है और मानव-जीवनोत्थान पोषक तत्त्वों को समाविष्ट करके ही उसका प्रतिनिधित्व किया जा सकता है। मगर थोथे अजान आदर्शों को छाती से चिपटाए रहकर वे स्वयं ओज हीन एवं सामर्थ्यहीन तो हो ही जाते हैं साथ ही गत्यवरोध के गड्ढे में गिरकर समाज कल्याण के विघातक तत्त्वों को पोषक भी बना देते हैं।

सबसे आपत्तिजनक और विवादास्पद है उक्त चरित्रों की आत्यन्तिक आत्म केन्द्रिकता। वैयक्तिक और चमत्कारिक होने के बावजूद कोई भी चरित्र सम्भाव्य और विश्वसनीय मनोवैज्ञानिक तथ्यों की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए। प्रभाव के मूल में लेखक की क्षमता उसकी अपनी भावात्मक प्रतिक्रियाओं में व्यक्त न होकर चित्रित पात्रों को स्वतन्त्र चेतना एवं व्यक्तित्व देने में उजागर होनी चाहिए अर्थात् वे जिस किसी भी समाज या वर्ग के व्यक्ति हैं उनकी संवेदनाओं या विशिष्ट संस्कारों का सच्चा और प्रामाणिक चित्रण होना चाहिए। परन्तु जैनेन्द्र की वे कौनसी कसौटियाँ और सूक्ष्म दर्शन हैं जो चरित्र-निर्माण की ओर अग्रसर होते-होते अपने चारों ओर के विशृंखल को जीवन का अर्थ देना चाहते हैं और जिनके आर-पार नहीं झाँका जा सकता? क्या वैयक्तिक अनुभूतियों के माध्यम से मानववाद की व्याख्या सम्भव है?

जहाँ तक स्त्री पात्रों के चरित्रांकन का प्रश्न है उनमें वैयक्तिक कुण्ठाएँ, असंतुलन और अतिवादी संकीर्ण दर्शन की परिणति फ्रायडीय मान्यताओं के आधार पर हुई है। इसी प्रतिच्छन्न प्रक्रिया का परिणाम है कि संस्कारगत संभ्रम और अपवाद पूर्ण दुरभिमतों का आरोपण उनमें थोथे तर्कजाल और वैचारिक कलाबाजियों से उपजा है। इन तर्कों में उतनी गहराई नहीं जितनी आपाततः जान पड़ती है। दर असल कितनी ही उलझन भरी जटिलताओं में मानवीय मूल्य-मर्यादा को स्थापित और विकसित करके स्वातन्त्र्यपूर्ण दायित्व की स्वीकृति का साहस एक हद तक ही उचित कहा जा सकता है। इससे भावोन्माद के वशीभूत हो सामान्य को—कोरे सम्भाव्यता से—असामान्य दर्शाना जीवन के मूल संस्कारों के विरुद्ध है। जैनेन्द्र के उपन्यासों की नायिकाएँ अपने दुराग्रह के कारण जीवन की विविध विरोधी परिस्थितियों में निम्न गामी और अप्रभावित स्तर पर उतर आती हैं साथ ही कुण्ठा अहं की मानसिकता और रूमानी अनास्था से उत्पन्न अन्तर्द्वन्द्व के फलस्वरूप उनके सामाजिक सम्बन्ध विषय और स्थिति विशेष को निर्धारित करने वाले व्यक्तित्व गठित हैं और उनका

उच्च वर्ग की व्यापक हीनता की चौहद्दी में उन्हें अधिक वैयक्तिक और अन्तर्मुख दर्शाया गया है। जीवन का ग्राह्य नैसर्गिक सत्य जब किसी के विशेष संस्कारों की परिधि में नहीं सिमट पाता तो वह विरूप और बेमानी हो जाता है। अपनी इस प्रवृत्ति के कारण जीवन में सामाजिक मान्यताओं की अवहेलना कर जो निजी अव्यावहारिकता एवं क्षुद्रता में सिमटकर संकीर्ण हो जाते हैं साथ ही मनोविश्लेषणवादी आधार पर यौन-प्रक्रियाओं और वर्जनीय चेष्टाओं की अभिव्यक्ति में ही रस-ग्रहण करते हैं वे मानव-स्वभाव के प्रकृत रूप से स्वभावतः विकृति और मनोविकार की ओर अग्रसर होते हैं।

सूक्ष्म मनोविश्लेषण जैनेन्द्र की खूबी है, लेकिन मानव-मन के सीमान्त और अगणित सूक्ष्म प्रक्रियाओं का मूल खोजते हुए वे प्रायः उन आत्मसंहारक तत्वों के विघटन में बहक जाते हैं जो असाधारण अपवादस्वरूप विकृत चरित्रों की सृष्टि करते हैं। नारियों को ही लें तो क्या उनमें समाधानकारी नैसर्गिक तत्वों का उद्घाटन हुआ है? यह सही है कि आज के फ्रायडीय मनोविश्लेषणवादी लेखक सामान्य जीवन में न दिखाई पड़ने वाले किसी एक विशिष्ट 'टाइप' या 'मूड' के विकृत चरित्रों को अपनाकर उनके अन्तर्मन की द्वन्द्वात्मक स्थितियों का उद्घाटन करते हैं तथापि उनके कार्य-व्यापार, इच्छा-आकांक्षा चिन्तन और अन्तरात्मा की कोटियों के निर्धारण में सहज सामान्य जीवन की मौलिकता के निर्णायक संकेत तो मिलने ही चाहिए, अन्यथा कीचड़ में धँसकर और पथभ्रष्ट होकर समाज के सामने ये चरित्र नई समस्या बनकर खड़े हो जाते हैं।

जैनेन्द्र के चरित्रों की वक्र रेखाएँ व्यक्तिवादी संस्कृति से खिंची हैं। उनकी नायिकाएँ मध्यवर्गीय मान और मान्यताओं में पली साधारण घरेलू ढंग पढ़ी लिखी नारियाँ हैं घर और गृहस्थी के दायित्वों तथा पति एवं परिवार की नैतिक आस्था को भी स्वीकार करने वाली हैं किन्तु न जाने किन कारणों और परिस्थितियों से उनमें इतनी प्रचण्ड झुँझलाहट, साहसिक आक्रोश खिंचाव और असन्तोष भरा पड़ा है कि वे अनायास भटकाव और उन्मुक्त काम-प्रेरणाओं से छटपटाकर रह जाती हैं। उनकी स्वप्निल कल्पना में कौनसा उन्मादक मायालोक घूमा करता है और एकान्त में वे क्यों कभी-कभी गहरे अवसाद, खीझभरी अनुभूति या किसी अजाने अप्राप्य को पाने की बेतुकी चाह से भर जाती हैं? अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए सुविधापूर्वक और बड़े ही सहज ढंग से निजी तौर तरीकों पर काबू पाने की दुश्चिन्ता किये बगैर वे अपने अभीप्सित पथ पर चल पड़ती हैं। जोखिम उन्हें अच्छा लगता है और मन में न जाने कैसी-कैसी अचिन्त्य चाहनाएँ पला करती हैं। बच्चों का बन्धन पति का खौफ और पारिवारिक परिवेश उन्हें जरा भी त्रस्त नहीं करता। वैसे कूल-किनारों के बीच बहते चले जाने की परिपाटी उन्हें मान्य नहीं अतएव जीवन के विषम छोरों पर जो टकराहट या हलचल होती है वे भले ही समस्याएँ उत्पन्न करे, पर ये समस्याएँ भी उनमें मधुर-मधुर सिहरन जगाती हैं बाहरी समाज उन्हें और भी सामर्थ्यवान और

गतिशील बनाते हैं, क्योंकि बासीपन तो जैसे उनकी प्रकृति में है ही नहीं। वे अपने मनोनुकूल निश्चय एवं निर्णय करके कार्य करने वाली महिलाएँ हैं ऐसी सामाजिक सापेक्षता की वे कायल नहीं जो विवशता या नियन्त्रण बनकर उन पर हावी हो जाए।

निश्चय ही उनके दृष्टिकोण की एक अपनी सीमा है। आखिर जीवन एक खेल ही तो है, एक ड्रामा—जैसा मजा है इसमें कि कोई न कोई नाटक चलता रहे। जीवन का सूनापन और एकान्त की पीड़ा का आवेग जब जोर से हिलोरें मारता है तो उनके साथ हँसने रोनेवाला उनके दुख-दर्द और आँसुओं में सहानुभूति की धुन हिलाने वाला भी तो कोई होना चाहिए, अपना नहीं कोई गैर, क्योंकि अपने में तो बासीपन की बू आती है। विधि-निषेधों की जकड़ के बीच जीना दुर्वह है, जीवन के साथ फीके पड़ जाते हैं और प्रकृत मर्यादाओं की भी क्षति होती है। पति उनके सम्पूर्ण अस्तित्व का 'अथ' और 'इति' नहीं हो सकता मानो वह स्वतन्त्र इकाई नहीं पत्नी का दास है, उन्हीं की कृपा पर निर्भर और आश्रित। जैनेन्द्र के उपन्यास का हर पति अपने आपको सौभाग्यशाली मानता है कि उसे ऐसी सुयोग्य और सुन्दर पत्नी मिली किन्तु इसके विपरीत पत्नी के द्वन्द्व का मूल यही है कि जीवन साथी उसके मनोनुकूल नहीं परस्पर उनके कार्यों और सिद्धान्तों में संगति नहीं आकांक्षाएँ सर्वथा भिन्न जीवन-दृष्टि पृथक एक बनावटी गृहस्थी—यही उनके जीवन की 'ट्रेजेडी' है। विवाह की सीमारेखा पर टिक कर नजर फैलाती हैं तो जीवन उन्हें एक विराट् शून्य बेहद मन्द, बहुत दर्दनाक और पीड़ा तड़प घुटा और घुटन से रुँधा हुआ सा प्रतीत होता है पर विवाह निभाना उनके लिए लाचारी नहीं है और पति नामक व्यक्ति के हर गुण-दुर्गुण और खुशामदपसन्दगी के साथ ही उनकी इच्छा-आकांक्षाएँ नहीं लिपटी चिपटी हैं। इस लीक के बाहर झाँक पाती हैं तो उन्हें लगता है कि उस पार इतना कुछ है कि जिसे न तो एक नजर में देखा जा सकता है और चाह कर भी न एक बार में सहेजा जा सकता है। सुखदा के शब्दों में—"धीरे-धीरे मैं अपने पति के प्रेम और आदर को अनायास भाव से स्वीकार करने लगी मानों वह मेरा भाग ही हो। मैं ऐसी मानिनी बनी मानों वह समादर और सम्भ्रम मेरा सदा का हक हो। उनमें से फिर कोई रस नहीं मिलने लगा और तब अपनी स्थिति में तरह-तरह के अभाव नजर आने लगे।"

एक अन्य स्थल पर सुखदा कहती है—"इस बीच जाने किस एक अनिर्दिष्ट क्षण से मैं पति से स्वाधीन होती चली गई। जीवन के रोज के कामों के लिए ही हमारी गृहस्थी संयुक्त थी। एक घर में खाते थे एक घर में सोते और रहते थे एक बच्चे के माता और पिता थे। एक जगह से आने वाली आमदनी में से दोनों खर्च करते थे। यह था लेकिन फिर भीतर ही भीतर यह संयुक्तता बँटकर स्पष्टतया दो धाराओं में बहने लगी थी। उस जगह उनमें लेन-देन नहीं था। मेरा विचार और जीवन अलग था। सामाजिक जीवन अलग था। मुझे पता भी नहीं रहने लगा था।

पता रखने की उस समय चिन्ता भी नहीं रही थी कि पति क्या चाहते हैं क्या सोचते विचारते हैं मैं क्या चाहती हूँ। क्या सोचती-विचारती हूँ—यही बात मेरे लिए अत्यन्त प्रमुख थी।

यों विरोधी भावनाएँ उनके दाम्पत्य जीवन के पारस्परिक संतुलन को डगमगा देती हैं लेकिन जब कभी घटनाओं और क्रियाओं के संयोग से मतैक्य स्थापित होने के कारण उनके अभावों की खाई पटी-पटी सी लगती है तभी कहीं से कोई नया या पुराना प्रेमी आ टपकता है और अनायास एक नई 'ट्रेजडी' का जन्म होता है।

पति-पात्रों के चरित्र-विकास के प्रसंग में उनके अधिकार और प्रेम के गूढ़ एवं अदृश्य भाव की व्यंजना की वास्तविकता और प्रामाणिकता का आभास उत्पन्न करने के लिए लेखक ने अनेक कौशलों का सहारा लिया है पर चूँकि उक्त चरित्रों के जीवन में भी अन्तर्मन की प्रतारणाएँ प्रचुर परिमाण में मौजूद हैं अतएव उनके मनोविश्लेषण का आधार क्या है? बात और व्यवहार में ऊपरी तौर पर पर्दानशी निभाते हुए भी भीतर से वे नितान्त खोखले और बेदम क्यों हैं?

कहने की आवश्यकता नहीं कि चरित्रों में औचित्य आवश्यक है अर्थात् उपन्यास में कथानक और परिस्थितियों के अनुकूल जिस वर्ग का व्यक्ति हो उसकी विशेषताएँ उसमें परिलक्षित होनी चाहिए। उनके व्यवहार और वाणी में भी अनुभूति जन्य गहराइयों विशिष्टताओं और सूक्ष्मताओं का उद्घाटन होना चाहिए। पर क्या जीवन की सामान्य अनुभूति में वे कसौटियाँ और मानदण्ड उपयुक्त कहे जा सकते हैं जो महज विकृतियों को छिपाने के लिए पुरातनवादी हठयोग दूसरी नैतिकता और जिसके बाह्याडम्बर का पर्याय बनकर रह गए हैं? ऐसे चरित्रों के पीछे असामाजिक स्वीकारोक्ति है जो भ्रामक तर्कों से ऐन्द्रिकता या कुरुचि को जन्म देती है।

अनिवार्यतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैनेन्द्र के पति-पात्रों में मुख्यतः दो प्रवृत्तियों का द्वन्द्व है—एक तो पत्नी के आगे उनका व्यक्तित्व कुण्ठित है दूसरे वे इतने निरीह और न्यौछावर हैं कि अपनी अदम्य जीवनी-शक्ति को पत्नी की हसीन हस्ती में खो बैठे हैं। परन्तु व्यक्ति मूलतः मानव है वह स्वतन्त्र रहना चाहता है, उसका सहज स्वभाव है कि निजी विराट् 'स्व' को वह परिसीमित नहीं करना चाहता वह निपट स्वीकृति या विनिमय की इच्छा किए बगैर नहीं जी सकता। जीवन के मूलगत संस्कारों का आधार भी उसके वे कार्य-कलाप नहीं हो सकते कि उसके अधिकार छीने जाएँ और माथे पर किंचित् भी शिकन न पड़े। पुरुष हो कर जैनेन्द्र ने पुरुष जाति का क्यों उपहास किया है? पति बेचारे—जिनकी सरलता से उनकी पत्नियाँ तक त्रस्त हैं क्यों इतने समर्पित और विपन्न हैं? क्यों अपने समग्र अस्तित्व से अनस्तित्व बन गए हैं कि उन्हें अपनी इस दुर्भाग्यपूर्ण विरासत में भी सौभाग्य की सम्भावनाएँ नज़र आती हैं? उत्साह और उमंग व धड़कते दिल लिये बेहयाई के कोड़े खाकर वे चुप भी सहमते या उद्धत नहीं। कोई असहमति झुंझलाहट क्रोध या तनाव

मलामत भी नहीं है उसमें। आखिर उनकी नजरों में उनकी खूबसूरत पत्नी एसी हैं जो सभी की प्रेमपात्री बनें! शमा एक होती है पर बेशुमार परवाने उस पर प्रेम पिपासा की परिपूर्ति के लिए न्यौछावर होते हैं। काश! प्रेम का दायित्व या पुरस्कार उन्हें पति के नाते मिला है तो क्यों न वे इस सुखदायी सम्भार को खुशी से सँभालें और वाचक सहृय एवं स्वीकार्य बन।

परन्तु मस्तिष्क का यह कृत्रिम सकल्प उस एकनिष्ठ आत्मस्थिति में संभव है जहाँ विकल्प नहीं होते और पार्थिव आवरण की तह के भीतर निर्द्वन्द्व सुख-शान्ति का अनुभव होता है। विरले ही एसे मनुष्य होते हैं जो ईर्ष्या या व्यामोह की विडम्बना से हटकर अपनी निरीह दृष्टि को बाहर से भीतर की ओर मूक भाव से मोड़ लेते हैं और अपने आप को संयत रखते हैं।

पर प्रवचना की ये लीकें कैसी तूल देकर खींची गई हैं ? 'विवर्त' में रौबीले सहज प्रयासप्रिय बैरिस्टर नरेश के मुँह से ये शब्द कितने अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं—

"वह पहले प्रमी था लेकिन बाद में भी प्रेमी हो निरन्तर प्रेमी हो तो मुझ उसमें क्या कहना है ? क्या मेरा आशीर्वाद है कि ऐसा हो ? हाँ है आशीर्वाद मेरी मोहिनी को सबका प्रेम मिले। सब ही का प्रेम मिले क्या उसके मेरी होने की सार्थकता तभी नहीं है कि अभिन्नता इतनी हो कि मेरा आरोप उस पर न आए ? यही है मोहिनी यही है वेलोपी कि मेरी ओर से तुम पर आरोप आन की आवश्यकता कहीं रह गई है। हे ईश्वर ! तू हो तो तुझसे मेरी यही याचना है।"

मोहिनी और नरेश का यह वार्तालाप—

"नरेश ने ठोड़ी में हाथ लगाकर मोहिनी के चेहरे को ऊपर उठाया कहा—"मुझ पर विश्वास नहीं करोगी ? हाँ एसे ही" "अब कहो क्या बात है ?"

वह उठे चेहरे से पति को देखती रही और हठते-देखते एक साथ मुड़कर उनके अंक में फिर छिप रही।

"नहीं नहीं ऐसे काम नहीं चलेगा मेरी रानी !", अंक में लिये-लिये कुछ कम चलकर नरेश ने पत्नी को आराम कुर्सी में बैठा दिया और सामने कुर्सी बैठते हुए कहा—"कुछ बात जरूर है लोपकर न कहोगी तो मैं क्या समझूँगा ?

मोहिनी ने उत्तर में अपना मुँह हाथों में छिपा लिया।

नरेश कोई एक मिनट उस तरह बैठे रह फिर उठकर कमरे में टहलने लगे। दो-एक मिनट चुपचाप-से उधर इधर करते रहक वह कुर्सी के सामने कोई दो गज दूर खड़े होकर बोले—'मोहिनी मुँह छिपाने की तुम्हारे लिए कोई बात नहीं। प्यार का हक सबको है। तुम्हारा मेरा उसका सबका" अच्छा में चलूँ ?"

'सुनदा' उपन्यास में सुनदा के पति के ये शब्द—

"तुम्हारा मुझ से विवाह हुआ है हरण तो नहीं। विवाह में जो दिया जाता है वही जाता है पराधीनता किसी ओर नहीं आती। सुनो सुखदा! स्वतन्त्रता तुम्हारी अपनी है और कहीं आने-जाने में मेरे समाज के रोक-टोक मानना मुझ पर आरोप डालना है। मुझ से पूछो तो तुम्हें अपने प्रतिरोध लाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

सुखदा तक को जब पति के अभिमत पर आश्चर्य होता है तो उसकी स्वच्छन्दता को और भी बढ़ देता हुआ वह अपनी बात की पुष्टि में कहता है—

'विवाह क्या चीज है मैं अक्सर सोचता हूँ। क्या वह स्वत्व को बन्धक रख देना है। स्वत्व का अपहरण कर लेना है? समर्पण में तो सार्थकता है लेकिन समर्पण का तो व्यक्ति को पता ही नहीं रहता।

'व्यतीत' में अनिता और जयन्त का पारस्परिक प्रणय-व्यापार जानते हुए भी मनीमानी मिस्टर पुरी का अपनी पत्नी को स्वेच्छया उसके प्रेमी को सौंप जाना या हर बात में इतनी उदारता बरतना कुछ जँचता नहीं।

"हैट पुट की ओर कौतिकल न होता जरूरी तो मैं न जाता। लेकिन आपके जयन्त हजरत कभी अनमने हैं। यकीन है तुम पीछे उन्हें मना भी लोगी।"

और सुनीता के पति श्रीकान्त के आग्रह भरे पत्र की ये प्रसिद्ध पंक्तियाँ—

"सुनीता मुझे उसकी भीतर की प्रकृति की बात नहीं मालूम। तो भी तुमसे कहता हूँ कि तुम इन दिनों के लिए अपने को उसकी इच्छा के नीचे छोड़ देना। यह समझना कि मैं नहीं हूँ तुम हो और तुम्हारे लिए काम्य कर्म कोई नहीं है। इस भाँति निषिद्ध कर्म भी कोई नहीं रहेगा। तुम उसकी बैरागी वृत्ति को किसी तरह कम कर सको, उसमें कहीं बाँधकर बैठने की चाह जगा सको तो शुभ हो।"

इन्हीं पंक्तियों की प्रेरणा से सुनीता अपने सतीत्व तक को हरिप्रसन्न को सौंप देने में नहीं हिचकती। लौट आने पर श्रीकान्त सब कुछ समझ जाता है पर आश्चर्य कि उसे इस पर रोष नहीं अपितु प्रसन्नता होती है और अपनी पत्नी के इस कृत्य पर कृतज्ञता प्रकट करता है—

"आज क्या मैं नहीं जानता कि वह गाँठ उसके भीतर से खींच निकालने में उपकरण तुम बनीं? हाँ तुम। मैं इसके लिए तुम्हारा चिरऋणी हूँ सुनीता! दुनिया जब यह जानेगी वह भी तुम्हारी कृतज्ञ बनेगी। मुझे ऐसा मालूम होता है कि तुम्हारे सम्बन्ध में मेरा परिचय इस कृतज्ञता में मेरी व्यथा के समक्ष मात्र थोथा ही तो कहीं नहीं है। ..."

सुनीता ने अपने स्वामी के वक्ष में मुँह टिका लिया।

"सुनीता अब भी क्या हरिप्रसन्न में ग्रन्थि अवशिष्ट है? उसे क्या फिर बुलाने का साहस नहीं हो सकेगा?

सुनीता ने कहा "मैं तुमसे सच कहती हूँ कि मैंने उनसे यही कहा कि वह जाएँ नहीं रुकें। सच कहती हूँ मैंने अपने को नहीं बचाया। जाने वह कहाँ गए हैं।

मुझे लगता है ....."

"देखना होगा कहाँ गया है। बट अगर क्वीन कैन टू नो रोग ।"

इसी अभिमत को बार-बार दुहराना उसे जैनेन्द्र की प्रधान निष्ठा बन गई है। दस वर्ष के मौन के बाद उन्होंने 'सुखदा' 'विवर्त' और 'व्यतीत' में यही 'सुनीता' की कहानी दोहराई और अब परवर्ती कृति 'जयवर्द्धन' में भी यही चरित्रधर्म है मानों तर्क से परे यह विश्वास इतना जमकर बैठ गया है उनके मन में कि इस परिपक्व इकसठी वय में भी वे रंच मात्र इससे आगे नहीं सरक सके हैं। 'जयवर्द्धन' में लिज़ा का अपने पति के सम्बन्ध में मि. हुस्टन से वार्तालाप देखिए—

"मैं अपनी जगह खड़ा हुआ कहा "पति पर तुम्हारा इतना स्वत्व है ?"

"जाने क्यों है। मैं उसकी पात्र तो नहीं हूँ लेकिन "और लिज़ा के चेहरे पर जैसे एक तीव्र वेदना की छाया आई और चली गई।

"तुम्हारे दुःख को समझ सकता हूँ लिज़ा ! मने कहा "पति तुम्हें मान्य नहीं है कुछ बाधित है। इस दुःख को समझ सकता हूँ लेकिन लिज़ा इसी से तुम्हारी जिम्मेदारी बड़ी है जानती तो हो—? लिज़ा भी उठ आई बोली—"विवाह को निभाऊँ, यही न ? लेकिन फिर क्या करूँ ? मनन को न निभाऊँ ? मिस्टर ! अधिक काल इस विवाह को ठिकाना मेरे लिए सम्भव न होगा।

मन उठकर लिज़ा को कन्धे पर से थाम लिया कहा 'पागल न बनो लिज़ा ! यदि जानती हो कि अन्दर तुम में उनके लिए आश्रय नहीं है फिर नाथ को एक क्षण के लिए भी तुम भुलावे में रखती हो तो क्या यह विश्वासघात नहीं है ?

है" मेरे साथ पलंग पर बैठती हुई बोली 'लेकिन वह स्वयं अपने को छलना चाहते हैं जानते हैं अब जो है मेरी ओर से किंचित् अनुग्रह है फिर भी खीज सकते हैं, लेकिन मेरे प्रति अपने लोभ को जीत नहीं सकते। और यह भी कहती हूँ मिस्टर ! कि मन के भीतर मेरे कुछ भी हो पर विवाहिता हूँ तब तक अपनी परिणीत स्वामिनी के प्रति मैं उन्हें तनिक भी असन्तोष का अवसर नहीं देती....क्या यह तपस्या नहीं है ? बलिदान नहीं है ? तुम कहोगे कि उसी बलिदान को मैं अनन्त बनाए रखूँ ? कितना घोर पाप होगा यह सोचो तो आज भी किंचित् उन्हें इसका अनुमान हो तो हो सकता है यद्यपि भरसक अपने व्यवहार में उनके लिए कहीं अवकाश न नहीं देती लेकिन सत्य पर संयम कब तक चल सकता है, और क्या यह पति नामक व्यक्ति के प्रति अन्याय न होगा ?

मन उसे अपने अंक में निपट लिया और हौले से कहा—"अब भी क्या अन्याय नहीं है ?"

"हाँ लेकिन जो वह पाते हैं उनका मूल्य उन्हीं के निकट उस अन्याय से अधिक है, तब मैं क्या कर सकती हूँ ? जबरदस्ती उनकी आँख खोलना भी क्या अन्याय न होगा ?"

मुनमा और मुझे भी ही छेया। इस अपेक्षा को ही नहीं मैं दोहराती चली गई, हाथों के बर्तन से सामने वाले को हटाती और बुलाती चली गई ।

और निर्मम विवेक की कसौटी पर जैनेन्द्र ने नारी के उस अंतर्गूढ़ अतिसूक्ष्म मनस्तत्त्वों को उद्घाटित कर करारी चोट की है जिसे वह स्वयं अपने सम्मुख खोलने तक में सकुचाती है—

'तब से कभी मैंने उन्हें अलग नहीं पाया है । अपनी ओर से चेष्टा की है। धृष्टता की है निर्लज्जता की है, पर नहीं कुछ नहीं हुआ है पूछती हूँ यह प्रेम है ?"

वह कहती गई, "बीस साल हो गए, शायद अधिक" आँखें मेरी उठी हैं और सामने की आँखों में मैंने चाह चीन्ही है, पर तभी वे आँखें मुँद गई हैं और मुँदी रही हैं। उँगलियों के पोरों में लालसा लहकी दीखी है कि वे अब बढ़ेंगी लेकिन नहीं नाम के जाप में उन्हें अपनी ही ओर फेर लिया गया है ! मैं समझ हूँ और सवेरे का तड़क अबेरा है, कोई पास नहीं और कहते हैं, अब भजन हर सवेरे, हर शाम यही कि 'अब भजन' दिन में देखती हूँ समय नहीं मिलता पर इस समय न मिलने को देखती तो हूँ ही पास दूर रहते हैं वे दूर रहती हूँ।

यों इसी तरह के भाव और वातावरण को बार-बार दोहराया गया है मानो सभी नारियों के हृदय को एक तार से बँधा गया है जो जरा-सी चोट से झनझना उठता है और जिसमें केवल एक ही झंकार होती है। क्यों अनाचार और द्वेषमूलक मानस हनन को अनेक पुनरावर्तनों के साथ नारी का नारकीय उत्पीड़न बताकर नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया गया है ?

जब लाल मुखदा के आलिंगन पाश की जकड़ खोल और उसे सोफे पर जबर्दस्ती धकेल चल देता है तो जैनेन्द्र की परिचित शब्दावली में नारी का अन्तर्मन जरा देखिए—

'स्त्री का यह क्या हाल है ? क्या है जो उसको ऐसा अवश कर जाता है कि वह स्वयं नहीं रह जाती गलकर पानी बन जाती है ! पुरुष उसे लेने उसकी ओर आता है तब वह उसे इतना समझती है कि समझ को कुछ बाकी नहीं रहता कुछ चुनौती नहीं रहती। पर जब वह नहीं आता उसमें बल्कि या तो उसे लाँघकर या उससे खींचकर जाता वह कहीं किसी मनधूम में है जहाँ जहाँ उसे कुछ पकड़ने को मिलता ही नहीं तब स्त्री को एक साथ क्या हो जाता है ? जैसे इस असह्य अपमान की बराबरी करने को उसका सारा मान एक ही साथ आकर पकड़े में झुक पड़ने को आतुर हो जाता हो ! उस मनधूम की तरफ बढ़ते हुए पुरुष का पीछा करके एक बार तो उसका मुँह अपनी ओर कर देखने की आस पर जैसे वह प्राणपण से तुल जाती है ! तब कहीं कुछ उसके लिए नहीं रह पाता। न कहीं धर्म रहता है न ध्यान रहता है, न समाज रहता है मानो वह होती है और सामने चुनौती। तब अपने में

वह रह नहीं पाती अपने को अतिक्रमण उस करना पड़ता है। स्त्री इस चुनौती के जवाब पर देवी बन जाती है डायन बन जाती है और स्वयं देखकर विस्मय में रह जाती है कि वह कब स्त्री नहीं रही।"

इस प्रकार मदमूहस्य नारी की सुरुचि और उच्च संस्कारिता को घोर कुत्सा और जघन्य यौनकुण्ठा में परिणत कर दर्शाया गया है। वरप्रमत्त आज के काम मनोविज्ञान ने नारी-पुरुष के यौन-सम्बन्धों को इतना आसान बना दिया है कि न कोई पाप-पुण्य की सीमा है और न किसी बीबी-बनाई पारिवारिक परिपाटी का लिहाज। जैनेन्द्र इस मत के हामी हैं। 'व्यतीत' में अनिता के मुख से कहलाया गया है—

"चयन्द्र क्यों डरते हो? कौन किसमें लिप्त रहता है। सब एक दूसरे के सुभीते के लिए हैं। क्या अपने में रहना नहीं है? यह सच नहीं, भ्रम है। होता तो नहीं पाप होता दूसरा पाप मैंने बहुत ढूँढ़ा मुझे नहीं मिला। तुम स्त्री नहीं हो इसलिए न तुम्हें पुरुषत्व का मान है पर अपने स्त्रीत्व पुरुषत्व को अखंड रखने के लिए हम नहीं सिरजे गए हैं। हमें एक दूसरे में अपना विलय खोजना होगा। नहीं तो अनन्त सफलता नहीं परिपूर्णता नहीं है। भगवान् अर्धनारीश्वर हैं तो क्यों? इसी लिए कि कोई अपने को बचाने में बन्द न रहे। इसीलिए कि नियता हमारी हठात् टूटे और यह परम्परा का पाठ सीखें अनन्त स्त्री-देह को तुमने नहीं जाना है तो यह मैं हूँ। ब्याहता हूँ पति की भक्ति करती हूँ फिर भी हूँ। कहती हूँ किनारा लेकर तुम कहीं नहीं कहीं न जा सकोगे ।"

प्रश्न है—अनैतिकता की यह प्रवृत्ति आज क्यों इस हद तक बढ़ गई है और वह कहाँ तक मान्य या अमान्य हो सकती है। पुरानी वर्जनाओं को मौजूदा आचारिक नियन्त्रणों से हटा देना हमारे सभ्य जीवन की बहुत बड़ी व्याधि है जो अतिशय मग्न एन्द्रिकता की प्रवृत्ति को अधिकाधिक पुष्ट कर रही है। यह सच है कि निश्चित कानूनों से कोई महान् कलाकृति नहीं सिरजी जा सकती प्रबुद्ध लेखक की मौलिक प्रतिभा परम्परा लकीरों को तोड़कर आगे कदम बढ़ाती है पर इतना ही यह भी सच है कि बाह्यारोपित मान्यताओं से किन्हीं भी नए जीवन-मूल्यों को विकसित नहीं किया जा सकता। चूँकि मनुष्य का विवेकपूर्ण आचरण उसकी जीवन प्रगति का विधायक है अतएव उसे पलायनवादी बनाकर महज मर्यादाओं को कैसे अतिक्रम किया जा सकता है?

विवाह तक को जैनेन्द्र न मिथ्या मर्यादाओं की एक बाहरी नकाब माना है जिसके भीतर मनुष्य एकदम नंगा है और जिसकी ओट में उसे और भी खुलकर खेलने का मौका मिलता है। 'जयवर्धन' में—

"विवाह यों प्रतिज्ञा है पर प्रेम चाहिए मार्मिक मर्यादा से वह अधिक है? प्रेम तो उसमें भाग देता नहीं प्रेम मुक्त है विवाह आबद्ध है अन्त में विवाह बस निर्वाह हो रहता है ईर्ष्या से बाँधे तभी बँधा रहता है विवाह टिकाने को ईर्ष्या जरूरी

द्वार पर पहरे के लिए ईर्ष्या को बिठाकर ही मानो विवाह की सुरक्षा में रखा जा सकता है। यह सब बेकार है, अड़चन भी है; उपभोग में अड़चन है और स्वतन्त्रता में और पूर्णता में।

अतः जैनेन्द्र के लिए विवाह भी एक उलझी हुई बौद्धिक समस्या है। वे इसके मूलवर्ती आधारों में परिवर्तन और इसकी सहज मर्यादाओं से संघर्ष करते हैं।

जैनेन्द्र की भाषा नुकीले सूत्रों और सूक्तियों में अधिक सधी है पर जहाँ तक शब्द-विन्यास की योजना की गई है उनमें व्यंजक अर्थ की दुरूहता है। उनमें पाण्डित्य के कण ही छितराये हैं, रस की बूँदें बिखरती नहीं। कहीं-कहीं लगता है लेखक का साध्य भाव न होकर भाषा ही है। एक खास परिमाणबद्ध 'पेटर्न' में भरना से बहना किसी नदी रहने वाली उपान्त भावनाएँ वृत्ताकार रूप धारण करती हैं और गहराई में न डूबकर मर्यादावादी दृष्टिकोण से बँधी रहती हैं जिसके कारण उनमें बाह्य व्यवस्था तो है पर भाव-साहचर्य के बिना असंगत और असम्बद्ध विचार प्रवाह सी आगे-पीछे अलग-अलग इतस्ततः कितनी ही धाराओं में विभक्त क्रमहीन और बिखराहट लिए मानव-बुद्धि को चुनौती सी देती है। घटनाओं की शृंखला से अलग छिटककर और गहनतम अनुभूतियों की उँगली छोड़कर वे मानसिक प्रक्रियाओं के ताने-बाने में उलझी पुलझी सामने आती हैं फलतः अनुभूति की मार्मिकता और सहज संवेदनीयता के बदले जैनेन्द्र का प्रयोगात्मक शब्द चयन बौद्धिक दुरूहता और नये अभिव्यंजक शब्द समूह की विलक्षणता में ही सीमित है। 'लज्जित हो पड़कर' 'पलक गिरा लेकर कहा' 'खोया सा क्या हो पड़ा है,' 'मन में सुनीता फँस-सी पड़ी' 'बड़ा वाक्य किया' 'अप्रसन्न हो आई'—आदि प्रयोग मुझे बड़ा भौंडे और बेतुके से लगे हैं। ऐसी भाषा एक सीध में नहीं चलती और व्यर्थ के शब्द ठूँस लाकर उसमें विचित्रता की सृष्टि की जाती है।

जैसा कि हमने पहले स्वीकार किया है जैनेन्द्र में निरीक्षण की बारीकी है। पर मुझे देखकर ताज्जुब हुआ है कि उनसे भी कई जगह असम्य चूकें हुई हैं। 'सुनीता' उपन्यास के १२ वें पृष्ठ पर हरिप्रसन्न के आतिथ्य के लिए जब पति-पत्नी अर्थात् सुनीता और श्रीकान्त में पूरी-सब्जी बना लेने का पूरा-पक्का निश्चय हो जाता है तो पता नहीं क्यों दो-चार पृष्ठों के बाद ही जैनेन्द्र यह बात भूल जाते हैं और बिना किसी कारण का उल्लेख किए पूरी-सब्जी फुलकी रोटी और दाल में बदल जाती है। 'विवर्त' में पृष्ठ १४ पर जब मोहिनी की डाक आती है तो उसमें उसे जितेन का का एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण पत्र मिलता है। "क्षण भर इस पत्र को वह हाथ में लिए रही फिर उसने उसे जोर से फाड़कर बारीक चीर दिया और रद्दी की टोकरी में फेंक दिया।" लेकिन पृष्ठ १४६ पर इसी पत्र का हवाला देते हुए—"मोहिनी ने वह पत्र निकाला और नरेश को दिया आज आया दूसरा पत्र भी उसके हाथों में थमा दिया।"

किसी भी पात्र की विशिष्ट भाव-भूमि और जीवन-स्थिति के आधार पर उसके विचार और आदर्श स्थिर होने चाहिए, किन्तु जैनेन्द्र ने चिन्तन के घनीभूत क्षणों में पात्रों के परोक्ष कथ्य को अनेक स्थलों पर असम्भव और अयथार्थ सा बनाकर रखा है। 'विवर्त' की इंगलिश नर्स मैथिल्ड हिन्दी बिल्कुल नहीं समझती फिर कैसे वह जितेन और भुवनमोहिनी के पारस्परिक कथोपकथन यहाँ तक कि उनके सांकेतिक शब्दों तक के मर्म में बड़ी आसानी से पैठ जाती है। 'जयवर्धन' में मि० हुस्टन के मुख से 'चिर-चिर' और इंग्लिश लिज़ा के मुख से ये शब्द कहलाये गए हैं— 'इला भी सीता के समान हो सकती है लेकिन उन्हें अनुमान है उस परिस्थिति का जो फंदा बनकर किसी समय जय को घोट सकती है? सहधर्मिणीपना ठीक लेकिन क्या वह काफ़ी है?

यह बहुत ही आमफहम बात है कि ईसाई धर्मावलम्बियों में मूर्तिपूजा का घोर निषेध है पर ज़रा मि० हुस्टन और लिज़ा का पृष्ठ २५५ पर वार्तालाप देखिए—

"पूछा—"मामला क्या है?"

बोली "ईर्ष्या निरी और केवल ईर्ष्या।

"ईर्ष्या जय से?

वह बोली—"मैं तो चाह तक नहीं सकती हूँ कि ईर्ष्या का कारण होता पर जय—उनसे अप्राप्य भला क्या है?

मैं हँसा बोला "अप्राप्य क्यों?"

बोली "पूछते हैं आप—आप पूछते हैं?

"अप्राप्य भगवान भी नहीं है मैंने कहा—"भक्ति चाहिए।

"भक्ति पत्थर की?

"भगवान् पत्थर के सिवाय और क्या भी हैं? वह पत्थर के ही हो सकते हैं।"

जैनेन्द्र के उपन्यास मुख्यतः एक ही मूल भाव को बार-बार दोहराते और प्रसारित करते हैं। उनके मानस के कुछ ऐसे अतीन्द्रिय मोड़ हैं जो राग-विराग अथवा उनकी सहज प्रतिक्रिया को वाणी देते हैं। निश्चय ही उनका प्रखर चिन्तन मर्म को छूता है परन्तु वह हमारे अन्तर को किसी उमंग या भावोद्वेलन से नहीं भर पाता। कारण उनकी चेतना प्रयोजन-परिधि को लाँघकर आगे नहीं बढ़ पाई है। उनके उपन्यासों की प्रमुख विशेषता—राग और कामना का द्वन्द्व—जो नारी में अदम्य लालसा और उसकी मार्मिक हलचलों का साम्य बनकर प्रकट हुआ है प्रेमी में समस्त प्रतिबन्धों को तोड़कर नवीन आदर्शों का नीड़ बनाता है पर नारि का गृहस्वामी या पति में पत्नी की उद्दाम और असन्तुलित कामवासना उसके शारीरिक और प्रतिदान शून्य प्रेम में परिणत हो गई है—जो नया मानव-मूल्यों को—बौद्धिक विडम्बना

परे—इन संभ्रमक तत्त्वों से ऊपर उठकर नहीं देखा जा सकता था ? यों तो औपन्यासिक सृष्टि अनेक जटिल प्रभावों तथा मनस्तत्त्वों का घात-प्रतिघात है जिसमें ही 'कम्पलेक्सेज' और रहस्यात्मक वर्जनाओं की अवतारणा उसमें की जा सकती है पर उसके निराकरण का प्रबल विविध अहेतुक और अपन तर्कों की लाचारी का अभाव नहीं होना चाहिए । मानव मूल्यों के सर्वव्यापक सत्य से आत्मसंस्कार करना अथवा उसे मनःप्राण में उतार लेना ही उपन्यासकार की खूबी है क्योंकि देशकालातीत इस महत् सत्य के विकासशील पहलू ही उसकी अभिव्यक्ति प्रतिफलित किया करते हैं । कितना अच्छा हो कि जैनेन्द्र अपनी भावी कृतियों में अतिरंजित से हट कर अधिक स्पृहणीय प्रवृत्ति का परिचय दें साथ ही अन्य प्रतिगामी मान्यताओं का मोह छोड़ अपनी लेखनी को नई समाजोन्मुख मर्यादा की अपराजेय तेजस्विता से अभिषिक्त कर उपन्यास के समस्त संभावित विकास को नया मोड़ दें ।

१०

'अज्ञेय' के उपन्यासों में आचरण स्वातन्त्र्य के नैतिक मान

'अज्ञेय' के कृतित्व में नवीनता का उन्मेष और परम्पराविच्छिन्न प्रयोगों की आस्था हमें प्राप्त हुई है, पर मनोविश्लेषण की दृष्टि से चारित्रिक व्यक्तित्वों को जिन नियुक्त खण्डों में विभाजित किया गया है वह रोमानी चौखटे में भले ही 'फिट' बैठें पर सत्साहित्य की लोकतांत्रिक या व्यावहारिक कसौटी पर खरे नहीं उतर सकते।

दरअसल साहित्य को किन्हीं निश्चित सीमाओं या धाराओं में नहीं बाँधा जा सकता अतः यदाकदा प्रतिक्रियावादी या प्रतिद्वन्द्वी फूट जाने अनजाने चिन्तन की मूल धारा को नए रुख की ओर बरबस मोड़ दिया करते हैं। सृजन की प्रकृति चेतना में ऐसा मोड़ क्रांति का सूचक है। परन्तु जो प्रतिमान या अर्थ नयेपन की अदम्य आकांक्षा से खिरते जाते हैं उनमें चिन्तामूलक संस्कृति के सारभूत तत्त्व और अंतर्दृष्टि के सत्य का शाश्वत स्पन्दन तो होना ही चाहिए। अन्यथा नित्यप्रति के जीवन से दूर चरित्र-चित्रण की उक्त कसौटी मिथ्या और उथली साबित होती है।

'अज्ञेय' के चरित्र-चित्रण और मनोविश्लेषण में एक सुनिश्चित रूप-विधान है जो अभिनव है किन्तु उनका जीवन-दर्शन जिन विभाजक और विध्वंसकारी उद्भाव भावों पर आश्रित है वह अनवरत स्वप्नमय संस्थिति की ओर उत्प्रेरित कर यथार्थ से विमुख और वंचित करने वाला है। प्रायः जटिल वक्र रेखाओं से उनके चरित्र निर्मित हुए हैं। क्षणिक मनोरंजन की प्रवृत्ति से जो नारी-पुरुष के गर्हित सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं वे अन्ततः आन्तरिक उत्तेजना और पागलपन के कारण विवेकरहित संदर्भों मात्रा भेदों बाह्य हिप्नाटिक प्रभावों और ऐन्द्रजालिक अन्तर्विरोधों से परिचालित एवं असंस्कृत असामाजिक मनोवृत्ति में परिणत हो जाते हैं। गन्दी वासना से प्रमत्त परस्पर विरोधी परमाणु जीवन-अस्तित्व के सूक्ष्म से सूक्ष्म तन्तुओं में पैठ मानव के मर्यादित निष्ठापूर्ण आचरण को रुग्ण और जर्जर बना डालते हैं। अर्थरहित प्रतीक भग्न छाया-चित्र उनकी पुरानी अर्थग्रस्त निष्क्रियता भावावेश और मूर्च्छना से विषाक्त प्रणयाकांक्षाएँ स्वस्थ समाज को भीतरी निराशा पीड़ा अकेलापन और पलायन की मदिरा बनाकर पिलाते रहते हैं जिससे उनके मनुष्य अस्थिर कदम लड़खड़ा जाते हैं।

'अज्ञेय' के औपन्यासिक पात्र मानवीय आशा और आकांक्षाओं के प्रतीक न होकर

असंगत चेतना की परतों और गतियों पर आश्रित हैं। किसी भी कृतिकार के अनुभव को जीवन के रागात्मक मूल्यों अथवा उपलब्ध सत्य से संश्लिष्ट कर विकृति या उन्माद का हेतु बनाना उसका अहित उपयोग तो है ही उसकी एकांत अहंगत चेतना द्वारा मानवत्व के मूल तत्त्वों को छिन्न करके उसे संकीर्ण दायरे में बन्दी भी बनाना है।

क्या साहित्य और कला बौद्धिक अतिचार और अनैतिकता के वातावरण में रूप के हाट की उच्छृंखल नायिका सी कुछ प्रयोग-प्रेमियों की क्रीड़ाकामिनी बनकर जीवित रह सकती है? क्या रोमांस की वे रंगीन तस्वीरें विह्वलता से काँपते आत्मीय फ्रेम नहीं हैं जिन पर धूम्रमिश्रित धुंध की मुर्दनी छायी है? अतः तर्क द्वारा किन्हीं अनुभूतियों के बीच के व्यवधान को भरने का बोध लेखक में सही पर दुरूहता के पेंच बोझिल और अप्रयोज्य बनकर उदात्त भावों का गला घोंटते हैं। उदाहरणार्थ—शेखर को लें—उसके चरित्र द्वारा वह तो व्यक्त होता है जो लेखक का आकांक्षित है, पर साथ ही वह अगम्य और अमानुषिक भी है।

इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं कि 'शेखर— एक जीवनी' का नायक शेखर एक अत्यन्त सबल पात्र है जिसमें आकर्षण और विकर्षण दोनों हैं और जो आत्मरत निर्लिप्त भावनाओं के युग में भाव की दृष्टि और टेकनीक की दृष्टि से भी लेखक द्वारा अत्यधिक सधे और सँवरे रूप में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु इसके विपरीत उसके जीवन में प्रारम्भ से ही अन्तर्मुखता की ओर ले जाने वाली एक अद्भुत असंयत तटस्थता है जिसने उसकी चेतना को विकसित ही नहीं किया अपितु व्यक्तित्व के प्रति समर्पणात्मक असहनशील अनुरक्ति के कारण प्रखर और दुराग्रही भी बना दिया है। बाल्यावस्था से ही उसमें विद्रोह का अनवरत उद्वेग और कसमसाता मचलता आकुल उफान है जो परिस्थितियों के अपरिवर्तनीय तर्क वितर्क घटना विघटना और अनेक प्रकार के प्रश्न दुविधाओं व दुश्चिन्ताओं के मध्य भीतर ही भीतर उमड़ता-घुमड़ता रहता है।

शेखर का स्वभाव औरों की भाँति साधारण नहीं है। इसके विपरीत उसमें एक गहरा आत्मविश्वास और बोध है जो भीतर की प्राणवत्ता के साथ तदाकार हुआ सा लगता है। जीवन के अगणित सूत्र उलझ-उलझ कर उसके सामने आते हैं और भीतर और बाहर के संयोजन में अन्तरंग अभिन्नता खोजता हुआ अपनी अनुभूतियों कुण्ठाओं अभावों और उलझनों के प्रति वह अत्यन्त सजग है। व्यक्ति के लिए, समाज के लिए, बल्कि कहना चाहिए कि समूची मानवता के लिए उसमें एक अनाहूत निर्ममता विध्वंस का भाव बरन् कहें कि घोर बौद्धिक प्रतिक्रिया है जिससे वह नितान्त परिस्थितियों के साथ सामंजस्य नहीं कर पाता है। शेखर स्वयं स्वीकार करता है— मेरे भीतर जन्मतः ही कोई शक्ति थी—या शक्ति का अंकुर था जो मुझे अब मन्द गति से इधर ही प्रेरित कर रहा था। आगे वह कहता है 'मुझे विश्वास है कि विद्रोही बनते नहीं उत्पन्न होते हैं। विद्रोह बुद्धि परिस्थितियों से संघर्ष की सामर्थ्य जीवन की जिज्ञासा से परिस्थितियों के घात प्रतिघात से नहीं निर्मित होती। वह आत्मा का कृत्रिम परिवेष्टन नहीं है उसका अभिन्नतम अंग है।

तो शेखर क्रमशः विद्रोही है, प्रतिक्रियावादी। माता पिता भाई-बहिन मित्र सखा—सभी के प्रति उसमें अविश्वास है दूरी है तटस्थता है। एक दिन जब वह बहुत छोटा था आहत अभिमान लिये घर से निकल पड़ता है। परन्तु जब झुँझलाहट कम होती है और विचारशीलता जगती है तब वह पुनः घर लौट आता है। किन्तु आत्मव्यामोह-जनित भावनाएँ, जो दुर्निवार अंतःशक्ति से उस पर हावी हो जाती हैं उससे वह कभी मुक्त नहीं हो पाता।

एक और घटना। कुछ दिन बाद वह अपने पिता के साथ सारनाथ जाता है। चुपचाप बिना किसी से कहे-सुने वह अजायबघर देखने चल पड़ता है। उस समय उसके बन्द होने का समय था पर शेखर को वहाँ का एकान्त शान्त वातावरण वहाँ की अनभ्यस्त नीरवता अभिभूत कर लेती है। वह एक भग्न नारी प्रतिमा के सौन्दर्य में डूबा हुआ वैसे ही खड़ा रह जाता है और बाहर का द्वार बन्द हो जाता है। आनन्दमयी विमुग्ध आत्मविस्मृत स्वीकृति में वह निश्चिन्त है सारी हलचलों और कोलाहल से परे पर सहसा उसके नाम की पुकार और पिता की उपस्थिति उसे यथार्थ में घसीट ले आती है।

इस प्रकार शेखर आत्मसम्मोहन की स्थिति में अछूते कल्पनावादी असंभव स्वप्नों में सदा रमता रहा है। उसकी उक्त अवस्था जब गहरी मानसिकता में स्थिर हो जाती है तो आगे चलकर अधिकाधिक आत्मरति की प्रवृत्ति उसमें घर कर जाती है। पग पग पर वह अपनी परिस्थितियों से असहनशील हो उठता है और आत्मरत व्यक्ति की भाँति पलायन ढूँढ़ता रहता है यहाँ तक कि आसानी से सुलझने वाली समस्याओं को भी वह अपने अनुकूल नहीं बना पाता बल्कि उसकी प्रत्येक आकांक्षा की पृष्ठभूमि में स्वमता की भावना ही तीव्रतम होकर पीड़ा पहुँचाती है।

ऐसे व्यक्ति का अज्ञात मन ही उसकी समूची बाह्य एवं आन्तरिक क्रियाओं का प्रवर्तक होता है। वह अन्तर्संघर्षमय भीतरी प्रक्रियाओं प्रच्छन्न गोपन रहस्यों और परोक्ष-अपरोक्ष इच्छा-आकांक्षाओं को परिचालित करता है साथ ही उसके अन्तर्मन का यह संघर्ष इतना तीखा हो जाता है कि बाहर तो उसका प्रकटन नहीं होता किन्तु भीतर ही भीतर मनोलोक में उसकी ये अव्यक्त इच्छाएँ उद्दाम रूप में भीषण द्वन्द्व मचाया करती हैं। ऐसी स्थिति में नैसर्गिक प्रवृत्तियों से पृथक आत्म स्थापन (self assertion) ही उसकी मूल प्रवृत्ति बन जाती है। उसके आंतरिक मन की कल्पना अनुभव और निरीक्षण उसके बाह्य मन या यहाँ कि चेतन मन के ढाँचे से भिन्न होती है। सामान्य तर्क नहीं बल्कि उसका अन्तर्दर्शन घोर संवेग ही उसके अविच्छिन्न और निरवधि चेतना-स्तरों को नियमित करते हैं फलतः उसके नियम क्रम या मनोव्यापार एक नव सिद्धांत या दर्शन का प्रतिपादन करते हैं जिसके कारण उसका स्वभाव गुण और रुचियाँ दूसरे ढंग की दीख जाती हैं।

ऐसे व्यक्ति का वैयक्तिक चेतन मन अधिक विकसित नहीं होता बल्कि उसके

ज्ञानबोध से दूर अज्ञात भाव-लहरियाँ अवचेतन मन में हिलकोरें लेती रहती है। कभी-कभी तीव्र कशाघात में ऐसी संधि अस्थिर, कार्य-कारण रहित तथा अनियन्त्रित हो जाते हैं जिससे विसंगति या वैषम्य उत्पन्न होता है। प्रकट इच्छाओं के निरन्तर दमन से वे उसके अज्ञात मन की कुंठाएँ बन जाती हैं और उसमें जबर्दस्त अहंकार या हीनत्व की भावना घर कर जाती है। वह संकोची और आत्मभीरु तो होता ही है, साथ ही सामाजिक दृष्टि से अवांछनीय प्रवृत्तियों को प्रश्रय देने से अथवा प्रकट वासनाओं के अवरोध से उसमें कामजनित लक्षण या विशेषताएँ भी अनुपात में अधिक उभरती हैं। बाहरी तौर पर उसके व्यक्तित्व का संतुलन भंग न हो यह अपने साथ हमेशा जोर-जबर्दस्ती और खींचतान सा करता है। चूँकि उसके ज्ञात और अज्ञात मन में सामंजस्य या तारतम्य स्थापित नहीं हो पाता इसलिए यदाकदा ऐसे व्यक्ति असाधारण आचरण भी कर बैठते हैं। ऐसे आचरण के लिए, वास्तव में उसका अज्ञात मन ही उत्तरदायी होता है।

शेखर के अपने अस्तित्व की इच्छा अदमनीय होने के कारण कोई भी अनिवार्य बाह्य परिस्थिति अथवा उस परिस्थिति से अंगांगि रूप से जुड़ी घटनाओं से वह किसी भी समय सच्चा सुख निर्द्वन्द्व विश्राम अथवा आंतरिक सन्तोष नहीं पा सका है। उस की आत्मरत प्रवृत्ति जब बहुत बढ़कर उसके व्यक्तित्व का अंग बन जाती है तो अपने आप पर और अनुर्वरक परिस्थितियों पर काबू पाना भी उसकी शक्ति से परे हो जाता है।

आत्मरत व्यक्ति स्व-संभोगी नहीं होता अपितु भिन्नलिंगी अथवा समलिंगी में उसके चित्त की अवस्थिति हो जाती है। उसकी दुर्बल प्रवृत्तियाँ विद्रोह की स्थिति की आड़ में प्रच्छन्न रूप से काम करती रहती हैं। उसे अपनी स्वच्छता पर मिथ्या अहंकार है तो यह निश्चित है कि इच्छाओं के ऊहापोह अथवा आलोड़न को वह भीतर ही आत्मसात् कर लेता है, अपने तईं सीमित रहता है, खुलता नहीं बिखरता नहीं। वह प्रायः अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करने वाली वस्तुओं का चिन्तन करता है। तब उनके अति निकट जाने अथवा उन्हें प्राप्त करने की कामना उत्पन्न होती है परन्तु उनकी प्राप्ति में बाधा उपस्थित करने वाली घटनाएँ उसके मानस को विक्षिप्त बना देती हैं। फलतः वह अनपेक्षित वैविध्य अवांछनीय शून्यता एवं असामाजिक भावनाओं को प्रश्रय देता है। चूँकि 'अज्ञेय' फ्रायडीय मनोविज्ञान से प्रभावित हैं, अतएव उन्होंने अवचेतन मन और अन्तर्प्रदेश में विचरने वाली छायामयी प्रवृत्तियों अन्तर्द्वन्द्व और भीतरी संघर्षों से उत्पन्न अनेक अस्पष्ट चिन्तनाओं को आकार देने का प्रयत्न किया है। उसमें लेखक की निजी कुंठाएँ निहित हैं इस कारण वह अधिक [मार्मिक बन पड़ा है।

शेखर का शिशु-मानस भी यौन तथा अन्य मनोविकृतियों से ग्रस्त है। स्वप्न मीमांसा से प्रसिद्ध अज्ञात अन्तर्जगत में यह प्रक्रिया स्वयंचालित है—इसकी अमूल पर इन्द्रियसंपर्क रि उसके अचेतन पर अनिवार्यतः छायी रहती है। क्रमशः उसके अन्य

ईश्वर की विकृत परिणति अपमान अथवा यौन-वर्जना की असम्बद्ध विशृंखल काव्यात्मक अभिव्यक्ति में बिखर जाती है जिसे तर्क का जामा पहनाकर प्रतीक-व्यंजना के सहारे उभारा गया है। लेखक कहता है— "ऐसी-ऐसी स्मृतियाँ या अर्द्ध-स्मृतियाँ तो अनन्त हैं किन्तु यह एक विचित्र बात है कि उसके जीवन की जो सबसे पहली दो-एक घटनाएँ उसे ठीक तौर पर अपनी अनुभूति सी याद हैं वे उन तीनों महती प्रेरणाओं का चित्रण करती हैं जो प्रत्येक मानव-जीवन का अनुशासन करती हैं

अहम्, भय और सेक्स

क्यों? इन तीन शक्तियों में उसका विद्यमान होना यह बताता है कि वे कितनी महत्त्वपूर्ण हैं, कि मानव उन्हें अपनी मानवता के साथ ही पाता है बाद की परिस्थिति या व्यवहार से नहीं।

शेखर की उक्त प्रेरणा का स्रोत व्यापक व विस्तृत है। इन्हीं यौन-वर्जनाओं और अतृप्त काम-वासनाओं के फलस्वरूप उसे बचपन से ही अज्ञात प्रेम की तरलता आ घेरती है। उन्माद, विकलता, अनियंत्रित आवेग और अनिरुद्ध पागलपन की कितनी ही प्रतिक्रियाएँ उसके दिल-दिमाग पर सदैव छायी रहती हैं कि शेखर को प्रतीत होता है मानों उसके भीतर उसके सिद्धान्तों और मान्यताओं के विरुद्ध भीषण संघर्ष छिड़ा है। परिवेदना की असंख्य लहरियों को मथकर अगणित अनुभूतियाँ उमड़ती हैं—विशृंखल और अस्तव्यस्त—फिर किशोरावस्था में ही अनेक समवयस्क लड़कियों का आकर्षण उसे डाँवाडोल करता रहता है। शारदा, शशि, शान्ति, मणिका सभी उसे खींचती हैं पर शशि को छोड़कर कोई भी उसके संकोचशील विचित्र स्वभाव के कारण उसकी रुचियों और भावनाओं से सामंजस्य नहीं कर पातीं। शशि का स्वभाव भी बहुत कुछ वैसा सा ही है। शेखर विचित्र 'अहं' से आक्रान्त है तो शशि अपने संकुचित संस्कारों से ग्रस्त है। शेखर के प्रति उसका अगाध अनुराग भीतर ही भीतर पुष्ट होता रहता है। शेखर का उद्भ्रान्त मस्तिष्क इन सारी व्यथा और प्रबल आकर्षण को भुलाने के लिए कोई आधार चाहता है—ऐसा आधार जिसमें वह स्वयं को डुबा दे—अपने आपको विस्मृत कर दे। अतः शेखर जब जेल में है तब विवाह की विवशता को भी वह चुपचाप स्वीकार कर लेती है। पति से उसे प्रेम नहीं। सन्देह में पति जब उसे लात मारकर घर से निकाल देता है तब शेखर के आश्रय में उसका सख्य भाव अन्तरंग अभिन्नता में और धीरे-धीरे प्रेम की तन्मयता में परिणत हो जाता है। शशि रुग्ण है पर दोनों का परस्पर आकर्षण एक लोकातीत स्वप्नमय अशरीरी स्नेहासक्त तरलता में अनन्त प्यार की अनुभूति जगाता है। दोनों की कामाग्नि और सम्पूर्ण विशृंखलता के मूल में अतृप्त ऐन्द्रिक वासना है किन्तु रोग की लाचारी के कारण एक अव्यक्त कोमलता उन्हें संयत रखती है। शारीरिक सायुज्य का तो अवसर नहीं मिलता पर प्रणय की निर्बाध गरिमा में स्नायविक प्रकम्पन और भीषण संघात है। आवेग उमड़ता है तो बौद्धिक उत्तेजना अथवा मनोवैज्ञानिक जटिलताओं में उलझाकर उसके वेग एवं तीव्रता को कम कर देता है। फिर भी

बीमारी की वजह गर्हणीय स्थिति का माध्यम लेकर अपनी वासना और प्रेम चेष्टाओं की परिपूर्ति का मौका नहीं चूकता। एक उदाहरण—"फिर एक बार उसके भीतर उमड़ आती है और वह मन उठे हुए अर्धमुकुलित ओठों की ओर झुकता है—मुझे मुझे उसकी आक्रमणकारी आतुरता ही उसे संयत कर देती है। एक मांसल कोमलता उसमें जागती है कि उसके अधखिले सम्पुट को स्निग्धतम स्पर्श से ही छूना चाहिए, और ओठों के निकट पहुँचते-पहुँचते वह ग्रीवा कुछ मोड़कर अपना कनपुक सधि के ओठों से छुआ देता है। ओठ तप्त है—ऊपर से उस रोमिल स्पर्श से एक सिहरन सी उसके माथे में दौड़ जाती है तब चेतना की एक नई लहर से बाधित वह फिर मुड़ता है और शशि के स्निग्ध स्तब्ध किन्तु वासित ओठ चूम लेता है—निर्द्वन्द्व गहरा दीर्घ चुम्बन।"

यों प्रसार-वृत्ति के वातावरण और आंतरिक विक्षोभ में विसंगति दर्शाने के लिए उपन्यासकार ने स्वप्न-पद्धति का सहारा लिया है और उसके माध्यम से अपेक्षित तीव्रता और गहराई से उसके मन के लिए अपने मन के प्रच्छन्न स्तरों को खोलने का प्रयास किया है। वह स्वयं स्वीकार करता है— मैं शेखर की कहानी लिख रहा हूँ क्योंकि मुझे उसमें से जीवन के अर्थ के सूत्र पाने हैं किन्तु एक सीमा ऐसी आती है जिससे आगे मैं अपनी और शेखर की दूरी बनाए नहीं रख सकता—उस दिन का सोचने वाला और आज का वृत्ताकार दोनों एक हो जाते हैं क्योंकि अन्ततः उसके जीवन का अर्थ मेरे ही जीवन का तो अर्थ है।"

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब मनुष्य निजी आकांक्षाओं को दमित होते देखता है तो वह मानसिक विभ्रम की स्थिति में उन आकांक्षाओं की बलपूर्वक परिपूर्ति खोजता है। आज के सामाजिक गठन में व्यक्ति का स्वातन्त्र्य एक बहुत बड़ी समस्या बन गया है। इसी कारण शेखर की मनोग्रंथियाँ और अनुभूतियाँ केवल विकृति के रूप में ही व्यक्त होकर उभरी हैं। उसकी बुद्धि और विवेक का द्वन्द्व समस्त पूर्वाग्रहों एवं परम्पराओं का उपहास कर अन्तहीन ऊहापोहों और अन्तर्भूत स्थापनाओं में खोया रहता है। संत्रस्त मनःस्थिति में वह न तो नये उभरते जीवन-सत्यों को पकड़ सका है और न सामाजिक वातावरणों के प्रति खुलकर विद्रोह ही कर पाता है।

जहाँ तक उपन्यास के कथानक का प्रश्न है, वह उपन्यासकार की आंतरिक मानसिक अस्वस्थता के कारण घुटकर रह गया है। कहा जा सकता है कि उसमें जीवन के कतिपय विरोधी पक्षों का समग्र दृष्टिकोण और गहरी संवेदनशीलता से उभारा है किन्तु पात्र और घटनाएँ लेखक की अवचेतन दृष्टि से इस प्रकार लिए हैं कि उनकी किसी प्रकार निष्पत्ति नहीं है। समूची कृति में ऐसे अनेक आवश्यक हैं। विशेषतः दुर्बोधता के कारण पूर्णरूपेण विकसित नहीं हो पाए।

शेखर मध्यवर्गीय समाज के एक विशिष्ट वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है

और उसी के अनुसार आचरण भी करता है। पर प्रश्न है कि क्या मध्यवर्ग में इस तरह के व्यक्ति होते हैं ? शेखर के व्यक्तित्व की ग्रान्थिक गति का विश्लेषण करने पर वह एक असाधारण 'टाइप' प्रतीत होता है जो परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से नये-नये सत्यज्ञान की प्राप्ति करता है तथा जिसमें नई-नई व्यवस्थाओं से नई-नई विचारधारा और सापेक्षिक दृष्टिकोणों की उत्पत्ति होती है। अनेक स्थलों पर शेखर का अन्तर्निहित द्वन्द्व क्रान्ति के रूप में उठ खड़ा हुआ है पर उसके इस मनोद्वन्द्व और आभ्यन्तरिक आलोड़न में जो तिलमिला देने वाली भीतरी कचोट है उसे लेखक ने गूढ़ एवं सुनिश्चित संकल्पशीलता से व्यक्त किया है। व्यक्ति चरित्र के सूक्ष्म से सूक्ष्म पहलुओं को इस तलस्पर्शिनी दृष्टि से आँका गया है कि अलक्ष्य स्वीकृत या वर्जित स्थापनाओं का मार्मिक उद्घाटन हुआ है।

फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक कृत्रिम कल्पना के सहारे शेखर के चरित्र को अवश घुमाता गया है और परिस्थितियों की जटिल पतियाँ उसके अन्त विकारों के उद्घाटन को यत्र-तत्र पकड़-सी लेती है।

इस कसौटी पर कोई भी जीवन्त सूक्ष्म बौद्धिक विशृंखलता अथवा बहिष्कारवादी आस्था को एक सत्य की भाँति अपनाकर दूर तक नहीं चल सकता। हठवादिता की चौहद्दी में लेखक की दृष्टि भले ही अन्वयी हो पर उसमें सहजता नहीं आ पाती न जीवन हर स्तर पर और हर रूप में उसके अस्तित्व में स्वीकृति ही पा सकता है। कारण—एक समग्र सत्य के संश्लिष्ट जीवनानुभव व्यक्तिगत आत्मग्लानि के ऊपर है। औपन्यासिक कला का लिप्त निरा वैयक्तिक सत्य नहीं है। जीवन की समग्रता में न वह केवल अनचीन्हा तिलमिलाता आंतरिक उफान और क्रमशः क्रम द्वारा अपरिहार्य रूप में व्यंजना की दुरूहता पैदा करना जिसमें प्रतिक्रिया के परस्पर-विरोधी असम्पृक्त छोरों से टकराते रहना तथा आत्मघातक प्रतीक बिम्बों एवं अहंतुष्टि की कल्पनामूलक कामनाओं तक ही सिमट कर रह जाना क्या निरी एकांगिता अथवा संकीर्णशीलता नहीं है ?

शेखर उपन्यास में उठाए गए प्रश्न और उनका समाधान आँकना कठिन है। अतएव इसका धरातल दूसरा है। एक मौलिक अन्तर यह भी है कि घटनाओं और संयोजन की अपेक्षा विघटन और बिखराव अधिक है। सब कुछ मानो शेष यदि द्वारा तर्क पर तौल कर मानव की महत्ता को चुनौती दी गई है। शेखर का जीवन अतिरेकों के बीच झूल रहा है। प्रतिरूप घटनाएँ उसके जीवन के रूप को आगे या पीछे ढकेलती भर हैं वे किसी निश्चित दिशा में अप्रत्यक्ष उत्पन्न करती हैं अतएव चरित्र विकास की दृष्टि से भी हम इसे असफल कृति ही कहेंगे—मनोव्यथा के अति में रूपी भावनाओं उत्कट अनुभूतियों एवं विकल्पों का इसमें प्रखर परिपाक हुआ है।

'नदी के द्वीप' में व्यक्तिवाद के चरम उभार ने लेखक की पहली आस्था

और बौद्धिक चेतना को अपेक्षाकृत मन धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। 'शेखर' में तर्कपुष्ट सूत्रों की असंगत स्थापना है तो इस उपन्यास में चेतन मन के ऊपरी तल से उतरकर अवचेतन के विरोधाभासपूर्ण अर्धस्फुट विचार प्रवाह में उसके अनुभूत की आंतरिकता ही अधिक व्याप्त हुई दीख पड़ती है। सामाजिक आचार की सीमाएँ प्राणियों के मनोव्यापारों को कहाँ तक छूती हैं, मन क्या है और वह किस प्रकार क्रियाशील होता है, स्नायविक विकारों से हृदय एवं मस्तिष्क के सामान्य सूक्ष्म स्पन्दनों में कैसे तीव्रता आ जाती है—यही ऊहापोह और इस उपन्यासकार के कथन और कथ्य की नवीनता के आकर्षण का हेतु बन गया है।

पहले उपन्यास की भाँति इसमें भी आत्मविश्लेषण पद्धति पर प्रज्ञासूत्रों में परम्परागत भ्रम-ग्रंथियों को खोला गया है। प्रायः वे ही ह्रासशील कायकीय वेदना कुंठा विषाद उद्वेलन और विकृतियाँ इसमें मौजूद हैं जिसके फलस्वरूप भोगेच्छा की अतृप्त लालसा से सिहरती प्रणयाकांक्षाओं के जज़्बात दिलोदिमाग पर छा जाते हैं और रक्तवाहिनी रगों में खौलते खून की सरसिज बहा देते हैं।

अतएव 'अज्ञेय' के 'नदी के द्वीप' की कहानी का हरि-भुवन भी जिन्दगी की मस्त रवानियों से गुज़रता प्यार और मुहब्बत के कयाफ़िज़ाम में झुलाने लगता है। भुवन और रेखा का औपचारिक शिष्टाचार धीमे धीमे प्रेम की लाचारी बनकर उनकी एकान्त घड़ियों को उद्दीपित करता हुआ कालान्तर में संयोग वियोग की न जाने कितनी सुख-दुःख भरी वैकल्पिक व्याख्याएँ प्रस्तुत करता है। आकर्षण की प्रारम्भिक प्रक्रिया मन का मन से एकात्म एक दूसरे में समाहित होने की बलवती आकांक्षा अपने-पराये का अभेद अर्थात् तन-मन की वह समोष्ण स्थिति जो शरीर मद से परे प्रेम का एहसास कराती है, बेताब जवानी की मस्ती और अपरिमित अनासक्त मनुहारों और मदोल्लासपूर्ण रजत-फेनों की भीनभूम का कसमसाता तूफ़ान जिसमें परस्पर सम्मोहन का अनुपालन उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है—यों उनकी मदभरी छाती की धड़कनों के भीतर से उनकी प्रेम की मजबूरियों और हसरतों के स्पन्दन फूट पड़े हैं।

कहना न होगा कि निर्बाध प्रेम और मुक्त भोग की स्फुरित चेतना ही वे दमित कुंठाएँ हैं जो कल्पना के छद्म जगत में तृप्ति लाभ कराती हैं। फलतः इसमें लेखक ने विधि-निषेध तत्त्व को अपने ढंग से आँक कर नया आकार प्रकार दिया है, परिस्थितियों से मोर्चा लेते हुए अभिनव जीवन-कला को उजागर किया है अन्यथा इन अन्तश्चेतनावादियों के मत से साहित्य की नई गतिविधि कैसे मिले, एक अजीब मनःस्थिति कैसे पैदा हो और नये आवर्तनों-प्रत्यावर्तनों अथवा नये मन्तव्यों एवं विचारों को ठुकराकर क्योंकर आगे बढ़ाया जाय।

उक्त उपन्यास के कथानक की टेक्नीक शिल्प सौन्दर्य संवेदना वर्णन की चुस्ती और भाषा के निखार का जहाँ तक प्रश्न है हम लेखक की सशक्त कल्पना के

कायम हैं, मानो किसी कल्पनाप्रवण रेखांकनकार द्वारा बरबस काँपते रंगों को सजीव आकार मिला हो और तरंगित भाव-वायव्य की बूँदें इन आकारों में जैसे स्वयमेव ढल गई हों। अनेक स्थलों पर कहानी अन्तर को छूकर तिलमिला देती है, कारण—लेखक ने इसे केवल अपनी कल्पना से नहीं गढ़ा बल्कि यह उसके अपने जीवन की अनुभूत कहानी है। अतः परिवेश की नवीनता के साथ-साथ उक्त कहानी में उस भाव बोध का भी तर्कसंगत योग है जो उसके जीवन-तथ्यों से लिपटा-चिपटा स्थान-स्थान पर उभर-उभर कर झलक दिखाता है।

लगता है कहानी में निहित सत्य को लेखक ने अपने अन्तर में काफी अर्से तक पचाया है। वह उसकी सहज कल्पना द्वारा सम्भव न था अपितु अपने विश्वासों और मतवादों की गहरी छाप उस पर पड़ी। लेखक जिन्दगी का एक निरपेक्ष द्रष्टा मात्र नहीं भुक्तभोगी है यही कारण है संयोग-वियोग प्रेम-विवाह कितनी ही खूबियों-खामियों और भाव-अभाव के उथल-पुथल भरे मंथन के स्वर और प्रश्नोत्तर भी कहानी में सशक्त हो उठे हैं। अपने पात्रों के दिलोदिमाग की तहों में उतर कर उनके विचार-वितर्कों क्रिया-कलापों का ऐसा मार्मिक चित्रण किया गया है कि लेखक ने उनकी हर साँसों और धड़कनों को मानो महसूस किया है बल्कि उसका स्वयं का व्यक्तित्व उनसे कितना दूर और अलग है—इसमें सन्देह होने लगता है।

ऐसी स्थिति में लेखक की एक जीवन-दृष्टि है और उसके सामाजिक चिंतन की अपनी सीमाएँ हैं। उसने जो दर्शन व्यक्त किया है वह भाव-जगत् के संघात को नये सन्दर्भों के साथ विकसित करता है। व्यक्ति का मन कैसी विचित्र समस्या है जो केन्द्र से छिटक कर कभी-कभी किसी परिधि में भटक जाया करता है। परिधि छोटी होती है विस्तीर्ण होती है उसकी विस्तीर्णता की सीमा नहीं है और वह सीमा भी पता कब अनन्त और अप्राप्य बन जाती है। परिधि को केन्द्र मानने पर असंख्य परिधियाँ उत्पन्न होती हैं और अपने घेरावलयों में जीवन को उलझाकर सहसा निष्प्राण बना देती हैं। जीवन की विडम्बना पर आधारित ऐसी 'ट्रेजेडी' में न जाने कितने चित्र उभरा करते हैं। पहला चित्र—

"रेखा नहीं बोली।"

"भुवन ने फिर पूछा "रेखा क्या बात है?"

"तुम–री तुम सचमुच हो। यू आर रीअल।" रेखा का स्वर इतना धीमा था कि ठीक सुन भी नहीं पड़ता था।

भुवन ने कहा—आइ एम वेरी रीअल रेखा। पर ठहरो पहले तुम्हें कम्बल उढ़ा दूँ।

एक हाथ में रेखा के दोनों हाथ पकड़ वह उठा दूसरे हाथ से उसने कम्बल खींच कर रेखा की पीठ भी ढक दी। स्वयं पैर समेट कर बैठा हो गया मुड़ रेखा की ओर को उन्मुख।

रेखा सहसा हाथ छुड़ाकर उससे लिपट गयी। आँखें उसने बन्द कर ली भुवन के माथे पर अपना माथा टेक दिया। उसके ओठ न जाने क्या कह रहे थे आवाज उनसे नहीं निकल रही थी।

भुवन कहता गया "क्या बात है रेखा रेखा रेखा क्या बात है—" उसका स्वर क्रमशः धीमा और आविष्ट होता जा रहा था।

रेखा के ओठ उसके कान के कुछ और निकट सरक आये। पर स्वर उनमें से अब भी नहीं निकला।

पर सहसा भुवन जान गया कि वे शब्दहीन-स्वरहीन ओठ क्या कह रहे हैं।

मैं तुम्हारी हूँ भुवन मुझे लो।

एक दूसरा चित्र—

रेखा बीच-बीच में उसकी ओर देख लेती थी। जानती थी कि वह कुछ सोच रहा है। पर उसने पूछा नहीं। सहसा भुवन के विषय में एक नये संकोच ने एक व्रीड़ा ने उसे जकड़ लिया था। क्षण भर के लिए उसका मन नौकुछिया की उस घटना की ओर गया जब भुवन उसकी गोद में रोया था—कैसे वह कह सकी थी जो भी उसने कहा था? वह पछताती नहीं है उसने जो कहा था उन्मुक्त भाव से कहा था पर— लाज से सिहर कर वह सिमट गयी पल्ला खींच कर उसने मानो अपने को और लपेट लिया।

भुवन ने पूछा "ठंड लगती है?"

"नहीं नहीं।" उसकी वाणी के अतिरिक्त आवेग को लक्ष्य कर भुवन ने उसकी ओर देखा दोनों की आँखें मिलीं। भुवन की आँखों में स्नेहपूर्ण कौतुक था रेखा की आँखों में एक अन्तर्मुख लज्जा पर सहसा उसका मन हुआ वहीं बाँह फैला कर भुवन को खींच ले इस पुरुष को इस शिशु को इस—'भुजाबंधा चूमती है माथ तेरा'।

यों जीवन के कितने ही खण्ड हैं कितने ही चित्र हैं जिनसे परिस्थितियाँ निरन्तर उभर लेती हैं। इन खण्डों में ही तो जीवन के मर्मस्पर्शी चित्र उभरा करते हैं और अनगिन झलकें दिखा कर तिरोहित हो जाते हैं किन्तु दिग्भ्रान्तस्वरूप चित्रशाला में इन बनते-मिटते रूपाकारों का क्या अर्थ होता है भला? अविश्रान्त जीवन प्रवाह के कतिपय चंचल क्षण जो एक-एक भँवर के समान हैं और कहीं स्थिर, किस विरली दूर तक उन्हें ले जाया करते हैं? व्यास की परिधि को नाप लेने वाले क्या हैं वे भला? किस बिन्दु का चरम उत्कर्ष जिसमें अतीत भी जुड़ा हो वर्तमान और भविष्य भी? एक स्थल पर रेखा कहती है—"मैं तो समझती हूँ हम अधिक से अधिक इस प्रवाह में छोटे छोटे द्वीप हैं उस प्रवाह से घिरे हुए भी उससे कटे हुए भी भूमि से बँधे और स्थिर भी पर प्रवाह में सर्वथा असहाय भी—न जाने कब प्रवाह की एक स्वैरिणी लहर आकर मिटा दे बहा ले जाय।" एक अन्य स्थल पर रेखा कहती है प्रत्येक क्षण एक द्वीप है खासकर व्यक्ति और व्यक्ति के सम्पर्क का 'कांटेक्ट' का प्रत्येक क्षण और

परिचय के महासागर में एक छोटा किन्तु कितना मूल्यवान द्वीप ।

और तर्क अपना काम करता है । ये द्वीप ही बावली अतृप्त आकांक्षा बनकर मस्तिष्क में उन्माद और भीषण हलचल मचाते हैं । एक अबूझ उपद्रव मनःप्राणों में समाकर दिग्भ्रांत बनाता है और मनःसंकल्प घटना-वैचित्र्य के इन्द्रजाल में रह-रह कर एक स्वप्न उभारते हैं जो टूट-फूट जाता है । इस प्रकार जीवन का निर्मम हाथों से फिसलता चलता है ।

उक्त भ्रमित मानसिक सम्मोहन की स्थिति में अनिर्दिष्ट पथ की ओर अग्रसर होना मर्यादाभंजन तो है ही दुर्निवार आकांक्षाओं की अगम्य कारा की निःस्वप्नता में अन्तर्मन द्वारा उन्मुक्त स्वैरगमन भी है । उस क्षुद्र परिधि के भीतर सब कुछ कर गुजरना एक पूर्णतर जीवन-यापन की प्रतिष्ठा को उपजा बनाता है । किसी हठग्रस्त नियम या कृत्रिम नियंत्रण के अधीन मानव-जीवन में इतनी अधिक जटिलता या वैचित्र्य और इस कारण उसकी प्रकृति एवं कार्य-व्यापारों में भी बहुत वैपरीत्य अथवा अमर्यादित उत्थान-पतन दर्शाना सर्वदेशीय और सर्वोन्मुख ममस्तत्वों की चिरविकास मान जीवनमूलक सत्ता में अवास्तवता लाना है । केवल 'इंस्टिंक्ट' या सहज कि ऐन्द्रिक चेतना की तात्कालिक प्रतिक्रिया के रूप में जो सब कुछ वायव मानकर चित्रित किया जाता है वह सच्ची इच्छाशक्ति का नियन्त्रण करती अस्मिता की सच्ची परिस्थिति की गुलामी को स्वीकार करती प्रेम जैसे पवित्र और पावन शब्द की आड़ में तृष्णा और वासना का ऐसा प्रदर्शन है जहाँ कामनाएँ जाग कर तड़प उठती हैं जलती भूख और हविस की लपटें लपलपाती हैं और शैतान के कहकहों का नग्न नाच होता है । यथा—

भुवन ने उठकर उसके कपड़े पकड़े—ठंडे जैसे बर्फ । बलात् उसे लिटा दिया कम्बल उढ़ा दिए । धीरे-धीरे उसके चेहरे पर हाथ फेरने लगा चेहरा भी बिल्कुल ठंडा था । उसने खाट के पास घुटने टेक कर नीचे बैठते हुए रेखा के माथे पर अपना गर्म गाल रखा उसका हाथ धीरे-धीरे रेखा के कन्धे सहलाने लगा । भुवन ने कम्बल खींच कर कन्धे ढक दिए । कम्बल के भीतर उसका हाथ रेखा का वक्ष सहलाने लगा—

सहसा वह चौंका । झीने रेशम के भीतर रेखा के कुचाग्र ऐसे थे जैसे छोटे छोटे हिमशिखर और अब तक जड़ रेखा के सहसा दोनों बदन सन थे ।

"पगली-पगली ।

भुवन ने झुककर गर्दन हो कर एक हाथ रेखा के कन्धे के नीचे डाला एक घुटनों के नीचे कम्बल समेत खाट से उठाया और अपने बिछौने पर जा लिटाया । अपने कम्बल भी उसे उढ़ाये और उसके पास लेट कर उसे जकड़ लिया ।

सहसा रेखा ने बाहें बढ़ा कर उसे खींच कर छाती से लगा लिया उसके दाँतों का बजना बन्द हो गया । क्योंकि दाँत उसने भींच लिए थे भुवन को उसने इतने जोर से भींच लिया कि उन छोटे-छोटे हिमशिखरों की तीक्ष्णता भुवन की छाती में चुभने लगी

फिर स्निग्ध गरमाई आयी। सुमन ने धीरे-धीरे उसकी बाहुलता की पकड़ ढीली करके उसे ठीक से तकिये पर लिटा दिया और हाथ से उसकी छाती सहलाने लगा। चाँदनी कुछ और ऊपर उठ आयी थी रेखा की बन्द पलकें नए ताँबे-सी चमक रही थीं।

विद बाई स्टेयर इज लाइक टु ए पाम ट्री एण्ड बाई ब्रेस्ट्स टु क्लस्टर्स आफ ग्रेप्स।

"आइ सेड आइ विल गो अप टु द पाम ट्री आइ विल टेक होल्ड आफ द बाउज देयराफ नाउ आल्सो दाइ नोज लाइक एप्पल्स।

सहसा सुमन ने कम्बल हटाया मृदु किन्तु निष्कम्प हाथों से रेखा के गले के बटन खोल और चाँदनी में उभर आए उसके कुचों के बीच की छायामयी जगह को चूम लिया। फिर अवश भाव से उसकी ग्रीवा को कन्धों को कर्णफूल को पलकों को ओठों को कुचों को और फिर उसे अपने निकट खींच कर ढक लिया

सालोमन का गीत उस घिरे वातावरण में गूँजता रहा।

'आई स्लीप बट माई हार्ट वेकेथ' इट इज द वायस आफ माई बिलवेड दैट नोकेथ सेइंग ओपन टु मी माई सिस्टर, माइ लव, माइ डव माइ अनडिफाइल्ड फार माई हेड इज फिल्ड विद ड्यू, एण्ड लाक्स विद द ड्राप्स आफ द नाइट

सुमन ने अपना माथा रेखा के उरोजों के बीच में छिपा लिया उनकी गरमाई उसके कानों में गुनगुनाने लगी फिर उसके ओठ बढ़ कर रेखा के ओठों तक पहुँचे वहीं घूमा और प्रतिध्वनित हुए।

"माई बिलवेड इज माइन एण्ड आइ एम हिज ही फीडेथ एमंग द लिलीज"

क्यों सुमन के ओंठ शब्दहीन हो गए हैं स्वरहीन हो गए हैं क्या वह गीत के ही बोल स्वरहीन हिलते ओठों से कह रहा है या कुछ और कह रहा है?

"आइ रोज अप टु माई बिलवेड एण्ड माई हैण्डस ड्राप्ड विद माई एण्ड रेखा आओ" "

"आइ रोज अप टु माई बिलवेड एण्ड माई हैण्डस ड्राप्ड विद माई फिंगर्स" "

"चाँदनी बहुत है सब पी न सकोगी"""ऐसे में तुम्हीं चाँदनी हो जाओगी। "और तुम सुमन तुम? तुम भी लेकिन कम कर नहीं द्रवित होकर।"

जिस्म के कसाव और कामुक द्वारा 'कम्प्लेक्स' जीवन के ये पटल ये बिम्ब य बिन्दु ये भाव य रेखाएँ, ये अनुभव ये भाव ये संभावनाएँ, साथ ही मस्यता से उनके स्वच्छ मथा निष्ठा और विश्वास फायडीय मनोविज्ञान की अवचेतनीय सूक्ष्म तारों के सरगम में संचरण करना कैसे कौशल और नूतन रचना-क्रम के सहारे मानों उंगली पकड़कर उसके कथ्य और भावबोध को आगे बढ़ाता चलता है, जहाँ कृत्रिम गरिमा के पृथक मानदंड द्वारा आनन्दजन्य भोगवाद की चरम परिणति दर्शायी

गई है। कामोपभोग सहजात मनोवृत्ति है। यह पशु और मनुष्य में समान रूप से विद्यमान है। पशु-सामान्य धरातल से ऊपर की चीज जो संयम और विवेक है वही दरअसल मनुष्यता है। मनुष्य विकसित प्राणी है और उसके समग्र और मुक्त सभी विपाद् प्रयत्नों के मूल में कुछ व्यक्तिगत या समूहगत संस्कार होते हैं। किन्तु उक्त संस्कारजन्य प्रयोजन की सीमा का अतिक्रमण कर नैसर्गिक सत्य के व्याज से जब आचरण की उच्छृंखलता का पोषण किया जाता है अथवा गर्हित रसास्वादन की प्रक्रिया में परस्पर असम्बद्ध और विच्छिन्न से लगने वाले रसप्रेरणा के स्रोतों में मन की उद्दाम वासना एवं वृत्तियों के निरंकुश स्वरूपों को निर्बाध प्रश्रय दिया जाता है तो मानव-अस्तित्व के बुनियादी प्रतिमान प्रश्नचिन्ह के रूप में सामने आ खड़े होते हैं। आखिर वे प्रतिमान क्या हैं—जो सत् असत् का विवेक देते हैं और वे तत्त्व भी क्या हैं जो कुछ ऐसे गुणों से पृथक स्वीकृत नैतिक मूल्यों की स्थापना द्वारा जीवन के गहनतम स्तरों से उद्भूत उन ज्वलन्त सत्यों की कसौटी बन कर प्रकट होते हैं।

किसी भी उपन्यास में घटनाओं का परात्पर घटित होना खास मानी रखता है। परन्तु मानवीय धरातल के व्यक्ति-पक्ष से हटकर लोकाचारिता अथवा पाशव वृत्तियों को परितुष्ट करना ही बाह्य और अन्तस्थ जीवन का सांगोपांग चित्रण प्रस्तुत नहीं कर सकता। रचनाकार की मानसिक दशा किन्हीं खास मतवादों या असंगत तर्कों का आधार लेकर संवलित आदर्शों अथवा अतिरंजित 'मर्दों' की वस्तु धारणा में फिट नहीं की जा सकती। आश्चर्य तो यह है कि 'अज्ञेय' जैसे सूक्ष्मदर्शी कलाकार ने इन रोमानी प्रणयरम्य चाँदनी रातों की उन तमसावृत पाशव मानवा-कृतियों को उभारने में अपनी कल्पना-वैभव के करिश्मे दिखाए हैं—जहाँ वासना के भयंकर झंझावात से हहराकर गुनाह भरे दो सीने परस्पर टकराते हैं, उनकी अदृश्य धड़कनें ओठों का रपट बनकर चिपकी आग चमका करती हैं और बाहें साँप बनकर दुर्निवार आलिंगन-पाश में जकड़ जाया करती हैं। बबूल पर पड़ी हुई तुषार जैसे एक ही झपाटे में आग का चक्कर लगाकर वज्रघातक बना देती है उसी प्रकार भीतर पल रही बेताब खामोश हाहाकार की यह मूक हिस्टीरिया के दौरे सी उस गहन दुर्भेद्य तमस में फँसी तड़प-तड़प उठती है।

"कभी रेखा जागी। तब चाँदनी शायद दोनों के सटे हुए चेहरों को लाँघकर ऊपर उठती हुई फिर खो गयी थी रात का एक ठंडा स्पर्श उस खुली जगह से अन्दर आता हुआ दोनों के तपे माथ और बालों को सहला रहा था रेखा ने एक लम्बी साँस खींच कर उसे पी लिया उसके जिस हाथ पर भुवन सोया था उसकी उंगलियाँ उसके माथे के उलझ बालों से बड़े कोमल स्पर्श से खेलने लगीं कि वह जाग नहीं फिर वह दुबारा सो गयी।

कभी भुवन जागा। उसकी चेतना पहले केन्द्रित हुई उस हाथ में जो रेखा के वक्ष पर पड़ा उसकी साँस के साथ उठता-गिरता। उफ़! कितने कोमल आलोड़न से जिससे भुवन को लगता था कि उसकी समूची देह ही मानों धीरे-धीरे आलोड़ित हो

रही है मानो बहती नाव में वह सोया हो····अबाध हाथ जिन्हें वह हिला भी नहीं सकता अबस देह लेकिन एक स्निग्ध गरमाई की गोद में अबस चाँदनी वह अधिक पी गया— चाँदनी मदमाती उन्मादिनी।" और उस मीठी अवशता को समर्पित वह भी फिर सो गया'

फिर सुबह जागा इस बार सहसा सजग कुहनी पर जरा उठ कर उसन झुक कर धीरे से उसके ओठ चूम लिए, रेखा जागी नहीं उसके ओठ ऐसे हिले मानों स्वप्न में कुछ कह रही है। फिर सालोमन का गीत गूंज गया

'एण्ड द रूफ आफ दाइ माउथ द बैस्ट फार द बिलवेड दैट गोएथ डाउन स्वीटली काजिंग द लिप्स आफ दोज दैट एस्लीप टु स्पीक'

और उसने बड़े जोर से रेखा के ओठ चूम लिए, वह जागी और उसकी ओर उमड़ आई

'लैट अस गेट अप अर्ली टु द विनयार्ड्स लट अस सी इफ द वाइन फ्लरिश हुदर टेन्डर ग्रेप्स एपीयर एण्ड द पोमग्रेनेट्स बड फोर्थ देयर विल आइ गिव दी माइ लव्ह।

और वह उमड़ना फिर एक आप्लावनकारी लहर हो गया।

कैसी है यह मरा जंगल की रीति बनौकस प्राणियों की रस्म जिसकी अंतरंग परतों में पैठकर लेखक न अपन दर्शन की बड़ता की काली परछाइयाँ उभारी हैं क्योंकि लेखक क मत से यथार्थ है ही छोटा और फीका और लाया कितनी बड़ी है कितनी रंगीन कितनी रसीली।

आखिर किस महान उद्देश्य और मनोपूरणात्मक माँग की पूर्ति करते हैं ऐसे उपन्यास ? कठोर सत्य को नग्न तथ्य को अश्लीलता गन्दगी और हीन विषयों को विस्फोटनात्मक तर्कों अथवा विकल्पात्मक अभिव्यक्तियों द्वारा विशिष्टता प्रदान करना अथवा गिरे कल्पना-बिम्बों के सहारे उक्त अभिव्यक्ति की अनुभूत संवेदना क सूक्ष्म स सूक्ष्मतर रोमांचों का वाहक बना देना वंचना या विभ्रम है जो मानसिक धरातल के अत्यन्त निम्न स्तर पर ले जाता है और प्रायत्व के साथ मिलकर ऐन्द्रिय विकृति उत्पन्न करता है। मामूली से मामूली व्यक्ति के जीवन में भी उक्त भोगजन्य आनन्द की चरम अनुभूति के क्षण आते हैं। निर्संदेह ऐसे मौकों पर भावों की सागर उमड़न का अनुभव होता है। किन्तु भोग घटना जैसा मृण्य कृत्य कल्पना की आँच म विघल कर सदा कथन नहीं बन सकता।

मनोविश्लेषणवादियों का सिद्धान्त है कि मनुष्य की मूल एवं आदिम प्रवृत्तियों पर कोई रोक न लगाई जाय। क्योंकि मौजूदा नैतिकता की प्रकृति भीतर से नितान्त खोखली और निस्सन्द है। अंतर्मन की अजीबोगरीब धारणायें ध्वनि प्रतिध्वनियाँ यादगारें चमत्कारिणी भरावपूर्ण विभ्रम उलझनें गुनाह और कुत्सित चेष्टायें भीतरी अगम्य और अगोचरताओं से उपजती हैं जो बाहर हिंसात्मक सरणियों के साथ

पथ और एकीकरण खोजती है। यदि मनोभावों को पूर्णतया व्यक्त होने दिया जाय तो स्वप्न एवं अवचेतन व्यापारों के ऐसे कितने ही अदृश्य पहलू प्रकाश में उभर कर आएँगे जो अन्तर में हिलोरें मारने वाले स्रोतों को बहिर्मुख होने को विवश किया करते हैं।

किन्तु किसी भी कथ्य के व्यंजनात्मक प्रभाव एवं सामाजिकता की भी एक अनिवार्य मर्यादा होती है। अपने मनोमय और अन्तर्मुखी प्रतीकात्मक उद्गारों को अन्तश्चेतना के संस्कारों का यथार्थ उन्मेष बताकर मन के घोर निर्जन एकाकीपन में जो एक अमानुषिक और असामान्य विच्छेद की अनुभूति पैदा होती है उससे महत्तर स्वस्थ और उच्च संस्कारिता की गम्भीर क्षति होती है। मानसिक तनाव की प्रक्रिया में उसकी आंतरिक विकृतियाँ स्वप्न कल्पनाएँ और दुर्बल प्रयत्नों की असफलता के बीच एक गहन अन्धकारमय भयावना शून्य वर्तमान रहता है। उस परिस्थिति से ऊब कर और उससे त्राण पाने की चेष्टा में उसकी अन्तश्चेतना ही वह भीषण शून्य बन जाती है, जहाँ घोर तमस है और अति वैयक्तिक एवं पलायनवादी तत्त्व उभरकर उस वातावरण से ऊब महसूस करने लगते हैं। उसकी आत्मा में क्रमशः एक तूफ़ानी हृदकम्प पैदा होता है और वह जीवन के प्रति एक सख्त आक्रमण की सतत खींचतान का अनुभव करता है।

अतएव उक्त चेष्टाओं के चित्रण में सर्जनहार को आत्मवंचक एवं अवैज्ञानिक प्रसंगों से सावधान रहना चाहिए, अन्यथा वे मनगढ़ंत रोमांचक सपने यथार्थ को अविश्वसनीय बनाकर छल लेते हैं। समाज में जो वर्जनाएँ अथवा गर्हित या अनैतिक काम-कुंठाएँ हैं उनका प्रयोग पाठक को आश्चर्यजनक और आकर्षक लग सकता है, कुछ सीमा तक उत्तेजक भी हो सकता है किन्तु इस प्रकार की अपरिमार्जित और हेय अभिव्यक्ति—भले ही नये शब्द नये रूप और नये भावसंघात के सहसा विधान और बिम्ब उसमें हों—अराजक और असत् कथाख्यान की ही सृष्टि करते हैं।

उत्तेजित प्रेरणा से लिखी गई किसी महत् कथा-चरित की ये विचित्र छाया कृतियाँ क्या किसी उच्च निर्माणात्मक लक्ष्य अथवा सैद्धान्तिक मान्यताओं की संश्लिष्ट इकाई बन सकती हैं ? क्या कोई प्रभावशाली व्यक्तित्व अथवा जीवन स्पन्दनों की सफल सृष्टि हो सकता है ? अति कल्पनाशील अस्पष्ट छायाभासों में आनुपातिक संतुलन और रंगों की ताज़गी फिर भला कहाँ से मिलेगी ?

इस द्विपक्षीय संघर्ष में 'अज्ञेय' के चरित्र सदा अवांछित दिशा की ओर अग्रसर हुए हैं। अक्सर घटनाओं एवं वातावरण में वे यथार्थ से भिन्न अस्वाभाविक चरित्र बनकर रह जाते हैं। रेखा को ही लें तो भुवन पर सब कुछ लगा देने वाली एक नारी के रूप में उसने अपना जीवन प्रारम्भ किया था पर अन्त में जो मार्ग चयन ग्रहण किया वह कितना नकारात्मक और अतिरंजनापूर्ण है और फिर इसी तथ्य को एक तथाकथित समाधानहीन विरोधाभास के रूप में कहानी का आकस्मिक पूरक

बनाता चरित्र चित्रण का विज्ञापन है ।

सफल कथाकार को जीवन की विभिन्न सम्भावनाओं में आपेक्षिक महत्त्व की चेतना होनी चाहिए । किसी चरित्र के प्रतिनिधि पहलुओं का चित्रण करते हुए उसकी अछूती अनुभूतियों और दृष्टिकोणों के मूल्य और महत्त्व को स्थिर करना जितना उसका कर्तव्य होता है उस से भी अधिक उसकी मूल्यगत मर्यादा का नैसर्गिक विकास और मूल्यांकन भी मानवता के नये विकास की पृष्ठभूमि में ही होना चाहिए ।

अवचेतन की ग्रन्थियाँ खोलने से अथवा कामकला के आसनों को उन्मुक्त कर देने से कोई भी अपने प्रबंध को संतुष्टिकारी अथवा अर्थवान नहीं बना सकता क्योंकि अन्तरंग विरूपता की ओट में इस प्रकार मानवीयता कहाँ टिक पाती है । रेखा के जीवन के रूप में लेखक घोर वैयक्तिक और स्वार्थपूर्ण अहंतुष्टि का पोषक बनकर सामने आया है । वह इस मत का खुलेआम हामी है कि स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्ध किसी भी दशा में वर्जित अथवा अगम्य नहीं है अपितु भूख और प्यास की भांति कामेच्छा भी जीवन की अपरिहार्य आवश्यकता है । उस पर किसी प्रकार की पाबन्दी या हस्तक्षेप अनुचित है । व्यक्ति की अबाध निरपेक्ष सत्ता है जो किसी मर्यादा मूल्य और नैतिकता की परिधि में नहीं सर्वथा स्वतन्त्र और मुक्त—समय की अमाप पगडंडियों पर जिसकी स्वच्छन्द गति है । क्योंकि लेखक ने इस अभिमत को बार-बार दोहराया है—"क्षण सनातन है छोटे छोटे आइलैंड्स सम्पृक्त क्षण नदी के द्वीप" "जो काल-परम्परा नहीं मानता । वह वास्तव में कार्य कारण-परम्परा नहीं मानता । तभी वह परिणामों के प्रति इतनी उपेक्षा रख सकता है—एक तरह से अनुत्तरदायी है पर इससे क्या ! उत्तर माँगने वाला कोई है ही कौन ? मैं ही तो मुझ से उत्तर माँग सकता हूँ ? और उधर मैं अपने सामने अनुत्तरदायी हूँ तो उसका फल मैं भोगूँगा—यानी अपने अनुत्तरदायित्व का उत्तरदायी मैं हूँ" । एक अन्य स्थल पर—"हम जीवन की नदी के अलग-अलग द्वीप हैं ऐसे द्वीप स्थिर नहीं होते नदी में निरन्तर घुलते और पुन बनते रहते हैं—नया बालू नये अणुओं का निर्माण नयी तलछट, एक स्थान से मिट कर दूसरे स्थान पर जमते हुए नये द्वीप" यों जीवन की यह तीखी ऐन्द्रिय भूख और प्यास मिथ्या आवरण की गुरुता का अभाव ओढ़े कितने ही युक्त विश्लेषण-खण्डों से टकराकर विविध तर्कों द्वारा चेतन मन के निरोध के पुंजीभूत रूप में ऊहापोहात्मक मानस प्रक्रियाओं में उभारी गई है । उन्हीं के अवकाश में लेखक ने अनेक अवांछित विचार व्यक्त किए हैं और परस्पर जुड़े होने के कारण उनकी एक लम्बी शृंखला बन गई है । मनोवैज्ञानिकों के से तर्क और बौद्धिकों की सी दार्शनिक पद्धति का अपनाकर उसके फलस्वरूप कतिपय निष्कर्ष निकाले गए हैं—उदाहरणार्थ—वासना को उकसाने और पुंभाव के प्रस्फुरण के लिए स्वकीया की अपेक्षा परकीया-प्रेम अधिक कारगर होता है । उपन्यास के एक पात्र चन्द्रमाधव के प्रसंग में—

"कभी जब वह टाई खोलकर उसे कालर से निकालने के लिए उसके ऊपर झुकती तो उसकी कमीज के गले के भीतर से उसके उरोजों का जो थोड़ा सा हिस्सा उसे दीख जाता उसे वह स्थिर दृष्टि से देखता रहता कभी-कभी उस दृष्टि को लक्ष्य कर के वह लजा जाती कौतूहल से चन्द्र सोचता कि अगर वह नौकरानी होती या कोई और स्त्री होती तो चन्द्र उससे छेड़छाड़ करना चाहता और शायद कमीज का गला पकड़ कर अपनी ओर खींच लेता पर वह तो उसकी स्त्री थी जो उसके खींचने पर झुक जायगी हाथ बढ़ाने पर सह लेगी चौंकेगी नहीं विरोध नहीं करेगी निषिद्ध के रोमांचकारी रस से उमगे-सिमटेगी नहीं" वह वैसा ही स्थिर देखता रह जाता पर उसकी आँखों का केन्द्रित भाव बिखर जाता फिर वह एक करवट हो जाता पत्नी चली जाती तो उठ कर कपड़े बदल लेता" ।

आश्चर्य तो इस बात का है कि मनुष्य की इस पतनकारी जघन्य कुत्सा को बहुत ही सहज वृत्ति के साथ स्वीकार किया गया है। यहाँ तक कि गौरा—भुवन की सखी और छिप्पा—जो अपेक्षाकृत आस्थावान और धर्मभीरु है—अपने संवेगों विचार और चेष्टाओं में समान आचरण-स्वातन्त्र्य की कायल है। तभी तो रेखा और भुवन के प्रणय-व्यापार को वह बुरा नहीं समझती न तो अपने प्यार के एकाधिकार को यथावत् बता पाती है और न उसका प्रणयावेग जैसा कि स्वभावतः होता है, हिंसात्मक या आक्रामक ही होता है। रेखा या भुवन से उसे कोई शिकायत नहीं उल्टे उनकी इच्छाओं को वह देते हुए उसे सन्तोष मिला है। भुवन की यह सफाई—"स्नेहाधिपु तुम्हें छोड़कर नहीं आया आना जरूर पर सच कहूँ कि जब आया तो कुछ अगर साथ लिया तो तुम्हारी प्रतिच्छवि—और मेरे विक्षत मन के कर्मैक विराग को एकदम कटु हो जाने से बचाया तो उसी न गौरा में आक्रोश नहीं जगाता न उकसाता। अपने नकारात्मक त्याग एवं औदार्य द्वारा वह नारी निष्ठा और उसकी एकाकी धार्मिकता पर कुठाराघात करती है, जिसने अपने प्रणयी का न पुंसत्व जाना न माँगा न उसकी शिकायत ही की। वह सहज भाव से सब कुछ मानो स्वीकार कर लेती है सब कुछ 'जहाँ कहीं पृष्ठभूमि में रेखा भी है। रेखा की व्यथा भी और विवशता भी अकिंचनता भी और कामशीलता भी' —शरीर का काम कितना प्रवाहद है— कितना क्षुद्र। एक स्थल पर —"कैसी विडम्बना है यह स्त्री-चरित्र की कि उसका श्रेष्ठ दान है स्वयं अपना क्षय अपना विनाश।" किन्तु अज्ञेय के औपन्यासिक पात्र चाहे वह गौरा के से अभिमान के ही क्यों न हो ऐसे काम से भी किंचित् विचलित नहीं होते। (क्षमा करें—मैं तो यह आधारभूमि ही गलत और अभारतीय मानती हूँ जहाँ गुरुभाव और प्रणयीभाव को एक करके दर्शाया जाता है)।

'अज्ञेय' का हर पात्र इसी अमर्यादित यौनाचार और इन्द्रिय-लिप्सा का शिकार है।

मनोविश्लेषण की दृष्टि से भी 'अज्ञेय के चरित्र विकृत काम प्रवृत्ति के प्रतीक

है। ऐसे व्यक्ति आत्मसम्मोही और स्वकेन्द्रिक होते हैं। उन्हें सदैव यह भ्रम रहता है कि पर वर्ग (Opposite sex) उनके प्रति आकर्षित है। इस प्रकार उनके अंतर्मुख मन में अपराधी भावनाएँ पनपती रहती हैं और व्यावहारिक कसौटी पर उनका आचरण अनपेक्षित एवं अवांछनीय सिद्ध होता है। अहं या उच्चादर्श के कारण बाहरी तौर पर प्रकृत इच्छाओं का दमन किया जाता है तो भीतर ही भीतर बेहिसाब गुत्थियाँ या उलझनें बढ़ती हैं जिनकी प्रतिक्रिया सदैव मन की विशृंखलता अथवा मनोह्रास में होती है। जब क्रियाशील विवेकपरक बुद्धि भव संवेगों से असम्बद्ध हो जाती है तो इस मनोदशा का प्रभाव भावना ग्रंथियों पर पड़ता है जिससे अहं और मूल प्रकृत इच्छाओं में घोर कशमकश होती है और चरित्र के विकास में विपरीत लक्षण उभर आते हैं।

ऐसे चरित्र या व्यक्तित्व सीमाओं का अतिक्रमण कर जाते हैं। उनके जीवन में कोई क्रम तरतीब अथवा मर्यादित आचार-व्यवहार नहीं रह जाता। उनका भीतरी आकर्षण या मोहासक्ति एक से दूसरे पर नित्य बदलती रहती है।

बाल्यकाल यौवन व प्रौढ़ावस्था—किसी भी अवस्था में—इनकी अनुभूतियाँ या प्रच्छन्न चेष्टाएँ कामवृत्ति में केन्द्रित हो जाती हैं। फलतः विभिन्न चारित्रिक पहलू निम्नगामी और घृणित स्तर पर दमित इच्छाओं से आक्रान्त बने रहते हैं।

ये इच्छाएँ क्या हैं? किस सीमा तक ये मौजूदा मनोविज्ञान का अंग बन सकती हैं, साथ ही उदात्त कला किंवा सत्साहित्य के सृजन की दृष्टि से उनका मूल्य और महत्त्व कहाँ तक है? नारी-पुरुष की अवांछित हेय काम-चेष्टाओं का प्रदर्शन ही क्या उसका मापदण्ड है?

यदि विश्लेषण किया जाय तो ऐसे व्यक्ति या चरित्रों में बड़ी खींचतान एवं ऊहापोह होते हैं। उनके जीवन के व्यावहारिक पहलुओं और ऐन्द्रिय वासना-तृप्ति में यदि किसी प्रकार समझौता होता भी है तो बड़े ही विलक्षण ढंग से। पर काम-विरोधी सिद्धान्तों से प्रभावित होने के कारण भीषण घात-प्रत्याघात होता रहता है जो परोक्ष या प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति द्वारा कला का माध्यम बन जाता है। भीतर मूलतः जो कुण्ठाएँ नग्न या भयंकर रूप में सक्रिय होती हैं वे ही साहित्य या कला में परिष्कृत और परिमार्जित रूप में उभारी जाती हैं पर वस्तुतः कामवृत्ति का शमन अथवा नई-नई परिकल्पनाओं द्वारा मानसिक बुभुक्षा की तृप्ति सच्ची कला की कसौटी नहीं हो सकती। इसके विपरीत अंतर्बाह्य कार्य-कारण पद्धतियाँ प्रायः अपराधी वृत्तियों में विकसित होकर समाज विरोधी व्यक्तित्व या चरित्र उभारती हैं। 'अज्ञेय' के औपन्यासिक चरित्रों को हम ऐसे ही आत्मसम्मोही अपराधियों की श्रेणी के अंतर्गत रख सकते हैं।

उक्त एकांगी कसौटी को लेकर चलने से अनेक आन्तरिक विरोधाभास

उत्पन्न होते हैं और स्थापित मूल्य-मर्यादाओं के मूल को ध्वस्त करने की चेष्टा करते हैं। एक तीव्र संहारकारी अनास्था मानव-संस्कृति की शिराओं में प्रवहमान स्वस्थ रक्त को विषाक्त बना देती है और वासनात्मक प्रेम की उन्मादक अभिव्यक्ति चिरप्रतिष्ठित आदर्शों को झकझोर कर गुमराह तो बनाती ही है, साथ ही इस निस्सीम स्वच्छन्द प्रणय द्वारा नैतिक और वैवाहिक सिद्धान्तों की भी अवहेलना करती है।

नितांत नकारात्मक और असंगत धारणाओं का उद्बुद्ध करने से जो चित्र शांत-अज्ञात रूप में मन के विभिन्न स्तरों और अन्तःप्रदेश में उतरते चलते हैं उनसे अनुभवी आँखें भी चौंधिया जाती हैं फिर नई अनुभवहीन अपरिपक्व आँखें तो इन प्रांजल मात्र रेखाओं और चित्रों के जादू में अपने आप को बरबस विस्मृत कर बैठें तो क्या आश्चर्य!

जबकि साहित्य का उद्देश्य उत्कृष्ट विवेकात्मक और उदात्त आदर्शों की अव्याहत सिद्धि है तब मन की एकाकी अबाध धारा में करवटें लेती हुई चारित्रिक पतन की यह अस्वाभाविक, विषम पीड़ा और उस पीड़ा की घुटन में रेंगती हुई अवांछित इच्छा-आकांक्षाओं का निरपेक्ष अंकन या कहें कि कोरी बौद्धिकता के बल पर प्रच्छन्न कुंठाओं को उभारने का पलायनकारी दम्भ मानसिक उद्वेगों और अन्तर्गुहा की वे दुर्दम्य दरारें हैं जिनसे निम्नगामी ईर्ष्या एवं वासना की भावुक लालसा सर्वतोमुखी जीवन-विकास की सम्भावनाएं डगमगा जाती हैं और स्थितप्रज्ञ व्यक्तियों तक के विश्वास और सिद्धान्त आविष्ट हो उठते हैं।

निश्चय ही युवकों और अपरिपक्व किशोरियों में इन प्रयोगवादी कृतियों के प्रति असीम उत्साह और दिलचस्पी है, क्योंकि इनमें किसी प्रकार की रोकटोक या प्रतिबन्ध नहीं है। किन्तु अन्ततः इसका परिणाम क्या होता है कि साहित्य और कला जो चेतना के विकास का श्रेष्ठतम सोपान है चिन्तन-पद्धति के महत् मूल्यों की उपेक्षा कर ह्रासशील और हीनतर संस्कारों को प्रश्रय देता है। यह सही है कि किताबी नैतिक सीखें किसी महान् कृति के सृजन का दावा नहीं कर सकतीं किन्तु नैतिक मूल्य यानी विवेक और संयम के सत्य परिष्कार में भावनात्मक तृप्ति तो जगाते ही हैं औचित्य और उपयुक्तता के साथ-साथ जीवन-मीमांसा के सत्य की भी अवतारणा करते हैं।

मौजूदा युग में नवीन वादों और पन्थों का जो पुंजित प्रभाव हमारे साहित्य और कला को विकृत कर रहा है वह उन अर्थों में 'रस-रंटिक सेक्स' कहलाता है जो कराल जीवन से पलायन और परे 'वास्तव' को झुठलाकर स्वच्छन्द कल्पना से भरे सपनों की ओर उन्मुख करता है। चमकदार रंगीन दामन पर सहमे हुए खामोश निगाहों को पर टटोलता है तो काम-वासना की चटपटी दबी-दबी उसाँसें महज जवानों के बस से छूटकर रग-रग में पैठती हुई अन्दर बसती चित्रों और स्वप्नों को आकार नहीं देती प्रत्युत अवांछित इच्छाएँ जगाती युग के बूढ़े रक्तशोषक

तिलमिलाहट जगाती और भीतर के आहत पशुत्व से निकली वह तपन उभारती है जो साहित्य और सृजन की अंतर्ज्योति को दग्ध कर उसे राख का ढेर बना देती है। इस दूषित अराजकता में क्या निर्माणात्मक अथवा क्रियात्मक विचार उत्पन्न हो सकते हैं? आत्मा की ऐसी सड़ांध भरी अन्धेरी गहराइयों में तो ध्वंसात्मक और अपराधी इच्छाएँ ही पनपती हैं। अतएव साहित्य के ये रुग्ण पलायनवादी तत्व अमानुषिक या कहें कि बेबुनियादी हैं जो प्रेरणा या देवत्व के स्वर नहीं जगाते बल्कि कुत्सा के मलबे के नीचे दबी पड़ी असह्य आत्मपीड़ा और कुंठा के स्वर उभार कर साहित्य के सुन्दर और मूल्यवान यथार्थ और सन्तुलित उदात्त और लोकोत्तर के महान् अनुष्ठान की धारणा को सर्वथा निर्मूल सिद्ध करते हैं।

११

कथाकार देवेशदास

एक औपन्यासिक के रूप में देवेशदास का नाम बंगला कथा-साहित्य में प्रसिद्ध है किन्तु नवीन भारतवर्ष की प्रतिष्ठा पुरातन व नवीन भावधारा के समन्वय और प्राच्य एवं पाश्चात्य संस्कृति के सेतु-निर्माण में हिन्दी के लिए भी इनका अवदान कम उल्लेख्य नहीं। आज जब कि भाषा का संघर्ष है अपनी मातृभाषा के प्रति असीम अनुराग होते हुए भी इनकी समंजस दृष्टि राष्ट्रभाषा के प्रति प्रेम-भावना को कुंठित नहीं कर सकी। देश और काल की सीमा का अतिक्रमण कर इनकी कल्पनाप्रवण सृजनशील प्रेरणा युगसन्धि के कण्टक-पथ पर मतवाद-विच्छिन्न और संस्कार-मुक्त हो विश्वमानवत्व की अनन्त भावधारा के साथ पर्यवसित हुई है।

'यूरोपा

युगदृष्टि के अनुरूप इनकी चिन्तनधारा का गहरा अर्थ है सभी मन्त्रों की सापेक्षता। यही कारण है कि इनकी प्रथम कृति 'यूरोपा' में इनकी प्रतिभा कल्पना लोक की स्वप्न-कुहेलिका से विश्वमानव के सदा जाग्रत कमलवन में अवतीर्ण हुई है। 'यूरोपा' उपन्यास नहीं है पर सत्य को कथा का आधार बनाकर उसे जीवन की आलोचना के रूप में ग्रहण किया गया है। चूँकि देशभेद से मानव की मूल प्रकृति में कोई अंतर नहीं आता अतः मानवतावादी विकासमूलक धरातल पर सूक्ष्म आन्तरिक आप्यायित भावों को बड़ी निपुणता के साथ अभिव्यक्त किया गया है। न केवल इन यूरोपीय देशों के सहज चित्रांकन सर-सरिता-उपवन पत्र-पुष्प विभूषित वासन्ती मादकता धूप और बादलों की क्रीड़ा नदी-निर्झरों का उन्मुक्त कलोच्छ्वास विहग कौतुक सुमन-सौरभ धवल हिमराशि छायातप ज्योत्स्ना-किरण आदि का हृदय स्पर्शी वर्णन है अपितु वहाँ की बहुविध सहज प्रथाएँ सम्पत्ति-अभिजात मध्यवित्त संघर्ष की सीमाएँ, सामाजिक मनोदशा भय प्रेम के विश्लेषण की जीवन्त परिणति समसामयिक जीवन की जटिल सापेक्षता और नव स्वच्छन्दतावादी धारा में समापन आत्मविश्वास और अनंगत मर्यादा से परे आधुनिक चेतना से उद्भूत व्यथित मानव का सम्पूर्ण चित्रण तथा विश्वमानवता के प्रति आस्था के साथ मनुष्य से मनुष्यों के परस्पर वास्तविक सम्बन्धों पर दृक्पात है। भारतीय और योरोपीय जीवन-दोनों-की तुलना करने पर विभिन्न भावधाराओं के विम्ब आँखों में तैरने लगते हैं। वैविध्यपूर्ण

जीवन-सत्र में कितनी ही सीमाएँ निर्धारित की गई है। उदाहरणार्थ—मृत्यु का भय भारतीयों के जीवन की मस्ती को भले ही ग्रस ले पर प्रायः यूरोपीय लोग बड़े साहसिक होते हैं। मृत्यु का भय उन्हें निश्चेष्ट या आशंकित नहीं बनाता। जीवन की आकांक्षा ही उन्हें मृत्यु से जूझने की प्रेरणा देती है। उनके मत में जीवन की यह आकांक्षा ही नित्य और सत्य है शेष तो नश्वर है और असत्य। लेखक के शब्दों में— 'उस समय समझ सका कि जड़वाद, वस्तुवाद आदि में डूबा यूरोप किस प्रकार निर्विवाद रूप से धरा को शीत एवं मृत्यु की उपेक्षा कर जीवित है। इनके पास हमारे समान आध्यात्मिक सम्पत्ति नहीं तथापि ये हमसे कितना अधिक आनन्द प्राप्त कर जाते हैं। उनके जीवन की चरम परिणति मृत्यु में है, कितने दिन जीवित रहना है, फिर प्राण प्राचुर्य क्यों न रहे? जिसने कभी भोग ही नहीं किया उसे त्याग के दुःख-क्षाम करने का सौभाग्य कहाँ? मलिन पुष्करिणी के शैवाल दल को हटाकर केवल नीचे के जलबिन्दु ग्रहण करने की चेष्टा के अनुसार जिसने संसार को असम्पूर्ण भाव से ग्रहण किया उस संसारी के संन्यास में महिमा कहाँ? जिन आत्मनिर्भरता साहस और त्याग में हम दुःख-विपद् का तुच्छ समझ पाते हैं वे हमारे हैं ही नहीं। है केवल दुर्बल स्वप्न। इसीलिए हम जीवन को असहाय दृष्टि से देखते हैं।"

यों यूरोप का जीवन चिरगतिशील है और घटनाओं के घात प्रत्याघात से अग्रसर होने की प्रेरणा उन्हें अनवरत मिलती रहती है। जीवन-डगर पर वे नितने निर्मुक्त विचरते हैं। लेखक का कैशोर मन वहाँ के लोगों की निर्भीकता और नित्य ही आगे बढ़ने की चाह को देख कर मुग्ध हो उठता है—'अच्छा लगता है—यूरोप का यह आनन्दमय उत्साहयुक्त मुक्त जीवन जो दैवत झकझोर और दुःखों को दूर कर मृत्यु की उपेक्षा करता है—यह जीवन मुझे अच्छा लगता है।'

इस प्रकार उक्त पुस्तक में लेखक की मानसिक प्रतिक्रियाएँ अपने मूल उद्देशों और उन जागरूक क्षणों की अविस्मरणीय स्मृति के साथ उभरती हैं अर्थात् वह जिस क्षण की अनुभूति प्राप्त करता है कुण्ठा पूर्वाग्रह अथवा रीति-नीति से परिचालित हुए बगैर उस क्षण के उस सत्य के प्रति ईमानदार रह कर उसका निर्वाह करता है यही उसकी जीवन-दृष्टि और आत्मा को तुष्टि प्रदान करता है।

किसानी विभिन्न लज्जा एवं भंगिमा के साथ या तो कोई युवक पथ में किसी युवती के साथ चलता अथवा दो भिन्न या एक ही आफिस के लोग साथ-साथ चलेंगे। पथ पर चलते चलते मर्मों का हास बातचीत एवं क्षणिक साहचर्य में जो कुछ भी सुख है उसे धर्म के आत्मन्तरीण के वे भागी अवहेलित नहीं करना चाहते। जीवन में संभव है इनमें से अनेक के अदृष्ट में विवाह नहीं अन्ततः प्रथम यौवन में किन्तु फिर भी कर्मक्षेत्र में ये नर-नारी पास-पास रह बहते चले जाते हैं। पुरुष नारी को 'नरकस्य द्वार' कहकर अवहेलना नहीं करता। नारी पुरुष को भय की सामग्री समझ कर पीठ नहीं हटती और समाज इनके बीच केवल काम और घी के सम्बन्ध का निर्देश नहीं करता। स्त्री-पुरुष के सान्निध्य के परिणामस्वरूप रूप स्वास्थ्य और

सामाजिक गुणों की चर्चा इनमें मन के अगोचर रूप में आ जाती है। इसके फलस्वरूप नारी की दृष्टि में समता के बीच मनुष्य बनने के लिए पुरुष की निरवधि साधना रहती है, नारी की भी वही साधना है। इसीलिए पश्चिम में मनुष्य जाति की सर्वविध उन्नति हुई है। हम लोगों के समान क्षीणजीवी एवं मतान्तर होने की करुणा यूरोप में दिखलायी नहीं पड़ती।"

लंदन की जनता की कमठ सचेष्टता का उल्लेख करते हुए देवेशदास लिखते हैं—

"उस विराट् जनता में गति-प्राचुर्य है, आलस्य नहीं, सबको शीघ्रता है किन्तु हुड़दंग कोई नहीं करता, सब शृंखला मानकर चलते हैं, कारण—शृंखला उनके पथ की सहचरी है, पैरों की शृंखला नहीं, गति का बन्धन नहीं।"

आस्थावान और सम्पूर्ण निजत्व की जीवनी-शक्ति को विकसित कर आधुनिकता के प्रति अधिक सजग होने के नाते लेखक आज के व्यक्ति मानव से मर्यादित आचरण की माँग करता है। उसकी उपलब्धि, उसका नियोजन और उसका निश्चित इष्ट, जो आत्मविश्वास के आयामों में जीवन की अनुभूति की गहनता से अन्तर्निविष्ट है, सर्वमीय तत्त्वों के साथ जीवन का साम्य चाहता है।

'यूरोपा' के बंगला संस्करण को पढ़कर श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लेखक को संबोधन करके लिखा था—"तुमने यूरोप के माहात्म्य एवं सौंदर्य को सर्वान्तःकरण से स्वीकार किया है। दृष्टि को प्रसन्न न रखने पर कभी भी महान देश को सत्य रूप में नहीं देखा जा सकता। तुमने आनन्दित मन से यूरोप को देखा है और वही आनन्द पाठकों को वितरित किया है।"

अतएव यूरोप में लेखक की संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ मानव-सम्बन्धों से मानव-सम्बन्ध विशेष परिस्थितियों से और विशेष परिस्थितियाँ सामाजिक सन्दर्भों से एक अविच्छिन्न सम्बन्ध-शृंखला में बँधी हुई हैं। किन्हीं आदेशों या सन्तव्यों की अभिव्यक्ति का रूप यहाँ नहीं अपितु भाव की लोकातिशयता और उत्तप्त विचार और वरणा की उन्नत भूमियों के दर्शन होते हैं। भीतर की प्राणशक्ति या निमग्न भाव अतिशयता के कारण प्रवाह की खण्ड चेतना का परिहार हो जाता है, पड़ाव के विराम चिह्न नष्ट हो जाते हैं, बुद्धि के मध्य-व्यभिचार की अनायास निवृत्ति हो जाती है। देवेशदास ने यूरोप का भ्रमण करते समय वस्तु का अन्तरंग देखा है, उसके यथार्थ से मन का तादात्म्य स्थापित किया है और अतीत की अनिश्चयता का वर्तमान के साथ मर्म में समाहित कर एक अखण्ड परम्परा का साक्षात्कार कराया है। परम्परा और रीति में अन्तर है। परम्परा का सम्बन्ध काल से है, रीति का देश से। पर परम्परा और रीति से परे जब कथाकार आलोचक बन जाता है तो जीवन की वैचित्र्यपूर्ण आतुरता से प्रभावित अतिसामान्य प्रसंगों, चिरपरिचित घटनाओं, पात्रों, परिस्थितियों और समस्याओं को छूता हुआ वह बड़े कौशल से आगे बढ़ता है। वहीं

कहीं कथाकार की हैसियत से लेखक का उपभोक्ता—परिच्छिन्न निरपेक्षता का अतिक्रमण कर—सामने उभर आता है और कहीं-कहीं आलोचक की बौद्धिकता उसके उपभोक्ता को सामान्य स्तर पर उतरने से रोक रखती है। फिर भी वैयक्तिकता के ऊपर सर्वत्र सार्वभौमिकता ही दीख पड़ती है। सौन्दर्य के मौलिक महत्त्व का प्रश्न है जिसे अनेक चित्रशिल्पियों के रुचि-वैचित्र्य का लक्ष्य कर परखा गया है।

"रूप का आदर्श क्या है? हम सब के ही मन के गहन गतल में स्वप्नसंगिनी अथवा निभृत मानस रंगिनी का एक आदर्श रहता है जिसे भाषा में प्रकाशित करने पर वह अन्तर्धान हो जाता है और जो चिरकाल ही हमारे सम्पूर्ण प्रश्न और प्राप्ति के अतीत पट पर रहता है। फिर भी हम एक आदर्श रखते ही हैं—वह चाहे देह सौष्ठव का हो प्रकाशभंगी का हो अथवा प्राणमयता का। उसको कवि वर्णित करता है और शिल्पी अंकित। अपनी स्वप्नमूर्ति और कल्पना को लिये हम चिरकाल से उसके निकट जाते हैं। इसीलिए हम शिल्प के इतिहास में अनन्त सौंदर्य की लीला-माला देखते हैं।'

कला की लम्बी परम्परा में विभिन्न चिन्तनधाराओं को मानवी रूप पर लागू कर लेखक उपयोगी एवं तर्कसंगत तत्त्वों को उभार लेना चाहता है—

'प्रस्तर युग में नारी शिकारप्रिय वंश की जननी थी—जिस वंश को बर्फ के युग में यूरोप के कठिन शीत से जीवन रक्षा करनी पड़ी थी। अतः प्रस्तर युग की नारी भी स्थूलांगी वीरांगना केवल गजगामिनी नहीं साक्षात् पद्मस्थली। गुहा-मानव गुहा गात्र में 'बैसन' शिकार प्राप्ति के लिए उसका चित्र अंकित करते थे। इससे ही उन्होंने शिल्प को किस रूप में ग्रहण किया था—समझ में आ जायगा। युग-युग में पुरुषों ने संगिनी की जिस रूप में आकांक्षा की थी उसी रूप में अंकित किया और नारी भी पुरुष के समक्ष उसी रूप में आविर्भूत हुई। सौष्ठव एवं सामंजस्यमय निरवद्य गठन भंगिमा का सौन्दर्य ग्रीक का आदर्श था। भगवान् ने अपनी आकृति से मानव का निर्माण किया धर्म की इस शिक्षा को ग्रीक शिल्पियों ने देवी के सौन्दर्य को मानवीय आकार देकर अनायास प्रकाशित कर दिया। उनकी 'वीनस' स्वर्गीय अथवा स्वर्ग सुषमामय नारी की अभ्रान्त अभिव्यक्ति है। उनके निकट तिलोत्तमा सुन्दरी मार्गरिट फाइनी अथवा देव-सुन्दरी के मानव रूप की प्रतीक थी एवं इस कल्पना से उन्होंने देश के सम्पूर्ण शिल्परसिकों का समर्थन पाया था। आट के स्वर्णयुग में इटली के पर्वतीय प्रदेश की सुन्दरियाँ (मेडोना) देवमाता के मौलिक रूप में अवतीर्ण हुईं। उन्होंने ही प्राचीन धर्म-कहानियों के वीरियों के चित्र और मूर्ति को रूप दिया। लियोनार्दो की मोनालिसा भी ही बात नहीं कहता। अन्य सभी शिल्पियों ने मानवीय मूर्ति में देवी को उपलब्ध किया। करेज्जिओ सब प्राचीन देव-कहानियों के चित्रों में श्रेष्ठ सुन्दरियों को 'वीनस' के रूप में सजाते थे। फ्लेमिश शिल्पी भी यही करते थे किन्तु उनके देश के सौन्दर्य का मानदण्ड उस के लिए आकर्षक न था इसीलिए रूबेन्स और रेमब्राँट की हृष्टपुष्ट गृहिणियाँ कभी सौन्दर्य-जगत् में चंचलता नहीं ला पायीं। चित्र

शिल्प भी एक और शताब्दी में शिल्पी नारी का चित्र आँकते समय देवी को भूल ही गये। अठारहवीं शताब्दी में फ्रांसीसी पम्पाडुर दुबारी आदि ने राजप्रेमियों की कला सज्जा में मनोनिवेश किया और अंगरेजी शिल्पी अभिजातों के चित्ररूप लेकर व्यस्त रहे। उपरोक्त चित्र इस समय अमेरिकन धनपतियों के आदर की सामग्री है—कारण वे मार्किन धनी के पूर्व पुरुष के परिचय का श्रेष्ठ विज्ञापन और उपकरण है।

फिर भी तो वह मानवी है। किन्तु चित्र-राज्य में और भी अनेक देवी अथवा नारी की प्रतिकृति हैं जिनका मानवीय आकृति में गठन हुआ है या नहीं—इसमें सन्देह है। रसेटी ने धन की खातिर कभी बेअवती आदि की आकृति अथवा वर्तमान युग के क्यूबिस्ट आदि के नारी-चरित्र के अनुकरण में यदि मानवी को देखा जाय तो मूर्तिकला के पत्थरों को पत्थर के स्थान पर रक्त-मांस की देह पर चलाना होगा। रुचि का वैचित्र्य इसी को कहते हैं। फिर भी युग-युग के विभिन्न रुचि और शिल्प धारा का प्लावन प्रतिहत कर चीन की सौन्दर्य सृष्टि अपनी महिमा का श्रेष्ठ सम्मान पाती रहेगी।

यूरोप में भ्रमण करते हुए विभिन्न परिस्थितियों और विभिन्न प्रकृति के व्यक्तियों के बीच घात प्रतिघात द्वारा लेखक का अंतर्मन अधिक स्पन्दनशील और विश्लेषण की दृष्टि से अधिक अवगाही हो उठा है। भावकता के क्षणों में उसका अन्तर्बोध उसके परिवेश के बन्धनों का मिलन-बिन्दु है और आत्मस्पर्श की अनुभूति की शक्तिमयी चेतना उसमें अन्तर्निहित अभिराम मर्म के विलक्षण अन्तर्भाव को सजीव कर कमनीय मूर्त रूप प्रदान करती है। भाषा-सौष्ठव भावैश्वर्य और अर्थवैचित्र्य की उद्भावना के साथ-साथ उसके प्रांजल भावों की कविता में आत्मा का सुवासमय परिस्पन्दन है जहाँ आनन्द की कम्पनमयी हिलोर समूचे अन्तस्तल को उद्वेलित करती है।

'यदि प्रकृति स्वयं प्राणमयी है और भ्रान्ति में कल्पना है तो सौन्दर्य कभी भ्रान्ति उत्पन्न नहीं करता। पार्वत्य प्रदेश होने के कारण स्विट्ज़रलैण्ड इतना अच्छा लगता है। एक-एक शृंग मानो मानवात्मा की वाणी का प्रकाश है। समतल की माटी का मोह स्वच्छ लघु और अगंभीर है। उसके ऊपर ही प्राणमय बिखर पड़ता है। कहीं न रुकता है और न इकट्ठा होता है किन्तु समतल से पत्थर का क्रम चोटी चोटी पर आकर्षण का किरीट धारण किए तरंग भंग से घन के समान सरगम की ध्वनि के समान लहरें खेल जाती हैं और समतल से उठता मन को ऊपर की ओर रात-दिन अविराम खींचती रहती है। पथिक के लिए, मेरे लिए यह बर्फ की चोटी अतन्द्र निशि से अनावृत चिरकाल से जाग्रत है।

और केवल शृंग! समस्त जीवन ही शृंग के समान विकसित किया जा सकता है। चारों ओर हँसते हुए मुख स्वस्थ सबल देह और उत्साहित मन देख रहा हूँ। पैरों में अपरूप गति भंगिमा अंगों में स्वास्थ्य और माथे पर सोने के ऐश्वर्य के लिए कितने लोगों को पाते देखा है। इन पूर्ण उपभुक्त के तन्तुओं के शहर में एक भी एम

कहीं कथाकार की हैसियत से लेखक का उपभोक्ता—अभिकम्म निरपेक्षता का अतिक्रमण कर—सामने उभर आता है और कहीं-कहीं आलोचक की बौद्धिकता उसके उपभोक्ता को सामान्य स्तर पर उतरने से रोके रहती है। फिर भी वैयक्तिकता के ऊपर सर्वत्र सार्वभौमिकता ही दीख पड़ती है। सौन्दर्य के मौलिक महत्त्व का प्रश्न है जिसे अनेक शिल्पशिल्पियों के रुचि-वैचित्र्य का लक्ष्य कर परखा गया है।

"रूप का आदर्श क्या है ? हम सब के ही मन के गहन अतल में स्वप्नदर्शिनी अथवा निभृत मानस रंगिणी का एक आदर्श रहता है जिसे भाषा में प्रकाशित करने पर वह अन्तर्धान हो जाता है और जो चिरकाल ही हमारे सम्पूर्ण प्रश्न और प्राप्ति के अतीत पट पर रहता है। फिर भी हम एक आदर्श रखते ही हैं—वह चाहे देह सौष्ठव का हो प्रकाशभंगी का हो अथवा प्राणमयता का। उसको कवि वर्णित करता है और शिल्पी व्यंजित। अपनी स्वप्नपूर्ति और कल्पना को लिये हम चिरकाल से उसके निकट जाते हैं। इसीलिए हम शिल्प के इतिहास में अनन्त सौंदर्य की खोज पाया देखते हैं।

कला की लम्बी परम्परा में विभिन्न चिन्तनधाराओं को मानवी रूप पर लागू कर लेखक उपयोगी एवं तकनीकी तत्त्वों को उभार देना चाहता है—

"प्रस्तर युग में नारी विशेषतः वंश की जननी थी—जिस वंश को बर्फ के युग में यूरोप के कठिन शीत में जीवन-रक्षा करनी पड़ी थी। अतः प्रस्तर युग की नारी भी स्थलांगी वीरांगना केवल मनभाविनी नहीं साक्षात् भवेश्वरी। गुहा-मानव गुहा भाव में भीषण शिकार प्राप्ति के लिए उसका चित्र अंकित करते थे। इससे ही उन्होंने शिल्प को किस रूप में ग्रहण किया था—समझ में आ जायगा। युग-युग में पुरुषों ने संगिनी की जिस रूप में आकांक्षा की ठीक उसी रूप में अंकित किया और नारी भी पुरुष के समक्ष उसी रूप में आविर्भूत हुई। सौष्ठव एवं सामंजस्यमय निरवद्य गठन-भंगिमा का सौन्दर्य ग्रीक का आदर्श था। भगवान् ने अपनी आकृति से मानव का निर्माण किया धर्म की इस शिक्षा को ग्रीक शिल्पियों ने देवी के सौन्दर्य को मानवीय आकार देकर अत्यन्त प्रकाशित कर दिया। उनकी 'वीनस' स्वर्गीय अथवा स्वप्न सुषमामय नारी की चरम अभिव्यक्ति है। उनके निकट तिलोत्तमा सुन्दरी नागरिक कामिनी श्रेष्ठ रूप-सुन्दरी के मानव रूप की प्रतीक थी एवं इस कल्पना में उन्होंने देश के सम्पूर्ण शिल्पधर्मियों का समर्थन पाया था। आज के स्वर्णयुग में इटली के पर्वतीय प्रदेश की कुमारियाँ (मडोना) देवमाता के पवित्र रूप में अवतीर्ण हुईं। उन्होंने ही प्राचीन धर्म-कहानियों के दवियों के चित्र और मूर्ति को भर दिया। लियोनार्डो की मोनालिसा की ही बात नहीं कहता। अन्य सभी शिल्पियों ने मानवीय मूर्ति में देवी को उपलब्ध किया। कॉरेजियो सब प्राचीन देव-कहानियों के चित्रों में श्रेष्ठ सुन्दरियों को 'वीनस' के रूप में सजाते थे। इसीलिए शिल्पी भी यही करते थे किन्तु उनके देश के सौन्दर्य का मानदण्ड सब के लिए आकर्षक न था इसीलिए रूबेन्स और रेम्ब्राँट की हृष्टपुष्ट गृहिणियाँ कभी सौन्दर्य-जगत् में चंचलता नहीं ला पायीं। चित्र

मिस्र की एक और शताब्दी में मिस्री नारी का चित्र आँकते समय देवी को भूल ही गये। अठारहवीं शताब्दी के फ्रांसीसी पम्पादुर बुशारी आदि ने राजप्रेमियों की कम संख्या में मनोनिवेश किया और अमरेली मिस्री अभिजातों के चित्ररूप लेकर व्यस्त रहे। पेपोक्त चित्र इस समय अमेरिकन लखपतियों के आदर की सामग्री है—कारण ये मार्जित धनी के पूर्व पुरुष के परिचय का श्रेष्ठ विज्ञापन और उपकरण है।

फिर भी तो वह मानवी है। किन्तु चित्र-राज्य में और भी अनेक देवी अथवा नारी की प्रतिकृति है जिनका मानवीय आकृति में गठन हुआ है या नहीं—इसमें सन्देह है। रसेटी के युग की सारस कण्ठी वेलमती आदि की आकृति अथवा वर्तमान युग के क्यूबिस्ट आदि के नारी चरित्र के अनुकरण में यदि मानवी को देखा जाय तो मूर्तिकला के यन्त्रों को प्रस्तर के स्थान पर रक्त-मांस की देह पर चलाना होगा। रुचि का वैचित्र्य इसी को कहते हैं। फिर भी युग-युग से विभिन्न रुचि और शिल्प धारा का प्लावन प्रतिहत कर ग्रीस की सौन्दर्य सृष्टि अपनी महिमा का श्रेष्ठ सम्मान पाती रहेगी।"

यूरोप में भ्रमण करते हुए विभिन्न परिस्थितियों और विभिन्न प्रकृति के व्यक्तियों के बीच घात-प्रतिघात द्वारा लेखक का अंतर्मन अधिक स्पन्दनशील और विश्लेषण की दृष्टि से अधिक अवगाही हो उठा है। भावुकता के क्षणों में उसका अन्तर्बोध उसके परिवेश के धरातलों का मिलन-बिन्दु है और आत्मस्पर्श की अनुभूति की शक्तिमयी चेतना उसमें अन्तर्निहित अभिराम बोध के विलक्षण अन्तर्भाव को सजीव कर कमनीय मूर्त रूप प्रदान करती है। भाषा-सौष्ठव वाग्वैदग्ध्य और अर्थवैचित्र्य की सद्भावना के साथ-साथ उसके कोमल भावों की कविता में आत्मा का सुवासमय परिस्पन्दन है जहाँ आनन्द की कम्पनमयी हिलोर समूचे अन्तस्तल को उद्वेलित करती है।

"यदि प्रकृति स्वयं प्राणमयी है और अस्ति में कम्पना है तो सैन्ट्रम कभी शान्ति उत्पन्न नहीं करता। पार्वत्य प्रदेश होने के कारण स्विट्जरलैण्ड इतना अच्छा लगता है। एक-एक शृंग मानों मानवात्मा की वाणी का प्रकाश है। समतल की माटी का मोह स्वच्छ लघु और मर्मगीर है। उसके ऊपर से आकर्षण बिखर पड़ता है। कहीं न रुकता है और न ठहरता होता है किन्तु असमतल के पत्थर का भ्रम चोटी-चोटी पर आकर्षण का किरीट धारण किये तरंग वंश के बल के समान सरगम की ध्वनि के समान लहरें रोप जाती हैं और समतल से उच्चता मन को ऊपर की ओर रात-दिन अविराम खींचती रहती है। पथिक के लिए, मेरे लिए यह बर्फ की चोटी अतन्द्र निद्रा से अनाहूत चिरकाल से जागृत है।

और "केवल फूल! समस्त जीवन ही फल के समान विकसित किया जा सकता है। चारों ओर झूमते हुए युवा स्वस्थ सबल देह और उल्लसित मन देख रहा हूँ। पैरों में अपरूप गति-भंगिमा नयनों में स्वप्न और माथे पर यौवन के ऐश्वर्य के लिए जिन लोगों को जाते देखा है। इस पूर्ण उपकूल के तम्बुओं के शहर में एक भी ऐसे

महत्वती आकांक्षा की जहाँ प्रशंसा है वहीं आनन्दोपभोग के आकर्षण और सुरा-सुन्दरी के प्रलोभन पर गहरा तिरस्कार और निंदा का भाव भी उसमें है।

'उनमें मौज उड़ाने की प्रवृत्ति बहुत थी साथ ही अपने मन की वासना को रंगीन बनाकर वह उसे इन्द्रधनुष की तरह आकाश में फैला सकते थे। न मालूम कब क्या हो जाय फिर रहे या न रहे इसीलिए सुखभोग के सम्बन्ध में उनकी नीति इस प्रकार रहती थी—

"खूले मदी सेत कमाय आखिर बेहे धीन विजाय।

मध्ययुगीन सामन्ती व्यवस्था के खण्डहर पर अंग्रेजों ने देसी रियासतों का ढाँचा खड़ा किया था। इस दीर्घ काल में एक प्रासादिक ह्रासोन्मुख परम्परा का अर्से तक निर्वाह होता रहा किन्तु परम्परावादी कड़ियों में जकड़े राजस्थान को नव युग ने मुक्त किया और एक नई सजीव परम्परा में दीक्षित किया। आजाद भारत की प्रजातान्त्रिक धारा द्वारा सामन्ती समाज-विधान के क्षय के साथ उक्त परम्परा का ह्रास अवश्यंभावी हो गया। देवेन्द्रदास लिखते हैं मनुष्य समाज में बैठकर ही मैं इन बातों पर विचार कर रहा हूँ और जो भी पुराने रजवाड़े के बगल में जो राजस्थान उत्पन्न हो रहा है उसी के वातावरण में यह आलोचना चल रही है।

'मास्को से मारवाड़' और अन्य कहानियाँ

अपनी तृतीय कृति 'मास्को से मारवाड़' में भी लेखक एक सचेत आत्मनिष्ठ कलाकार की भाँति नए मूल्यों की नई मर्यादाओं को स्थापित करने में उतना ही जिज्ञासु और जागरूक है। एक यायावर की हैसियत से दूसरे देशों के जीवन समाज संस्कृति और आचार-विचारों के प्रति उसकी एक स्वतन्त्र दृष्टि है और चरित्रों की बहुरंगी गाथाएँ कहानियों के रूप में उभर कर संकलों से परे मानव मूल्यों का मूल्यांकन करती हैं जो किसी को जबर्दस्ती स्वस्थ करके नहीं बल्कि उनकी अपनी आस्था पर उपजी और चरितार्थ हुई हैं। चाहे जीवन-वृत्त अथवा तत्सम्बन्धी संस्मरणात्मक तथ्यों को लेकर सत्य और कल्पना का उचित समन्वय उनकी कहानियों की विशेषता रही है, पर उनका उत्स कहीं न कहीं उनके विचारों एवं अनुभवों में अन्तर्निहित रहता है।

उनकी कहानी-टेकनीक की सबसे बड़ी कसौटी है—असाधारण सहानुभूति। *इसी सहानुभूति के कारण मनःस्तरों के अभ्यन्तर में प्रवेश कर देखने में वे समर्थ* होते हैं और अन्य के समक्ष यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने में सफल। अतः सतही परिचय की सीमा से बढ़ कर तदाकार परिणति की स्थिति में वहीं उनके अन्तर की गहराई में स्पर्श प्राप्त बन जाता है। 'सपने के संसार' कहानी में एक साधारण जिप्सी के उद्‌गारों एवं अनुभूति-अभिव्यक्तियों के मर्म का भी यथावत् रूप से हृदयंगम करने की चेष्टा की गई है।

"मैंने उसके नेत्रों में विषाद की छाया देखी। उसकी विशाल देह बड़ी असहाय और मग्न हो गई थी। मुझे उस पर दया आई मैं उसे कतई धोखा नहीं देना चाहता था। मुझे ऐसा लगा कि उसके रूक्ष बाह्य शरीर के भीतर कहीं अत्यन्त असहाय कोमल अन्तर है।

रूबी जिप्सी भावुक किन्तु स्पष्टवादी व्यक्ति है। उसके मुख से उसकी अपनी परम्परा संस्कार और अनुभव से प्राप्त अनेक प्रेम और विवाह सम्बन्धी अद्भुत सत्यताओं का उद्घाटन कराया गया है। यहाँ इन्सान की आत्मा बिना किसी बाह्य आवरण के सामने उभर आती है। वस्तुतः मानव व्यक्तित्व के कितने ही अछूते पहलू हैं जो किन्हीं खास परिस्थितियों और मोड़ों पर, जीवन के तट-किनारों से लहरों की भाँति बार-बार टकराकर, नए-नए चिह्न बना जाते हैं और इस प्रकार अनुभूति के स्तरों और प्रेरक परिणामों में बहुत बड़ा अन्तर पड़ जाता है।

'शिला-स्वप्न' में वृद्ध इटालियन गूनो के भावुकता भरे आकुल उद्गार एक गहरी अनुभूति चिंतन और दर्शन से अभिभूत मनोभावों का दिग्दर्शन कराते हैं।

'यौवन रंगीले स्वप्नों का समय है, परन्तु काल किसी को भी यौवन-स्रोत के तट पर बैठकर प्रतीक्षा नहीं करने देता। गूनो भी उसके प्रवाह में बह गया और अब उसमें कोई आकर्षण नहीं रहा।

यह स्वाभाविक भी है। वे अधर जो कोहरम से भीगे उषःकाल में गुलाब सदृश थे पूर्णताप पाने से पूर्व ही मुरझा गए।

काल किसी के लिए भी नहीं थमता। प्रेम के लिए भी नहीं। 'आज' सत्य है एक मात्र सत्य। आगामी कल को यह हो जायगा अतीत और मिथ्या। कवियों ने अनन्त प्रेम की महिमा का गान किया है किन्तु मनुष्य चाहता है आज के प्रेम की माधुरी। अनन्त की तुलना में वर्तमान बिन्दुमात्र भी कम सत्य नहीं है।

अन्त में एक प्रश्नचिह्न लगा कर गूनो के उच्छृंखल ऐय्याश व्यक्तित्व का नकाब उतार फेंका है और सिद्ध किया है कि मानव-चरित्र इस भौतिक वातावरण में विकसित और उन्नत होता हुआ भी कुतूहल विस्मय भ्रान्ति और विभ्रम की वस्तु बना हुआ है। इस तरह के व्यक्तियों का अपना एक खास रुतबा होता है। ये आवारा घुमक्कड़ परन्तु शानदार होते हैं और अपने फ़न के उस्ताद। उनकी आँखों में कृत्रिम रौब होता है और अदाओं में ग़रूर टपकता है जो मानस को अभिभूत कर लेता है।

"दोष किसी का नहीं। दोष यदि किसी का है तो इस देश के नीले आकाश का है जिसने यहाँ की तरुणियों के नेत्रों से रंग छीन लिया है। दोष इस वेनिस की जलराशि का है, जो सहस्र-सहस्र लहरों में नाचता प्रत्येक तपस्वी के घर के नीचे से सारे दिन और सारी रात्रि गान करता हुआ अनन्त में लीन हो जाता है। भारतीय

भरपेट भोजन नहीं मिलता है उस लड़की का मुख असमवयस ही में मकान्त नहीं होना तो और क्या होगा। और कवि व रसिक कोय मसान्त भुखी दृष्टि को मन-हारिणी की भीत दृष्टि ही समझये। पाला पड़ती हुई ठंडी रात को जो लड़की केवल पोलो-माठन पहन कर बाहर घूमने निकल पड़ती है उसका मतलब पैसा कमाने का ही नहीं होता है। उसका मुख देख कर ही समझ में आ जाता है कि न उसके ठहरने की कोई जगह है, न उसके पेट म एक टुकड़ा और का पड़ा है।

आज के वर्तमान युग में आर्थिक विषमता की ओर कदमकदम है। कितने ही प्रश्नचिन्हों ने मन म ऐसी गाँठियाँ डाल दी है जिनके कारण गरीबी और बबसी की विडम्बनाओं को लेकर न तो मनुष्य की विशिष्टता के प्रति आस्थावान हुआ जा सकता है और न उसमें आत्मविश्वास ही विकसित हो सकता है।

सोहो और अपरा' में मुक्ति एवं भावना के व्यक्तित्व में लेखक ने एक और तत्त्व का विकास दिखाया है और वह है प्रेमतत्त्व। जिसका प्रेम समर्पण है, प्रतिदान है वह विनिमय या पूर्ति नहीं चाहता।

"जिसे इतन दिनों से बौम्हा जाना पहिचाना और मन का देन-लेन किया उसे देने के लिए क्या कुछ रह जाता है ?

इसके विपरीत भावना का प्रम-व्यापार और मानसिक संतुलन बड़ा ही विचित्र है। उसकी सम्मति में विवाह प्राचीनों का आदर्श भले ही रहा है पर उस समय क आदर्श आज खत्म चुके हैं। वैसी परिस्थितियाँ और वातावरण न होने से धारणाएँ भी परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती हैं। भावना के शब्दों में— "भविष्य है क्या विवाह ? मगर उसके लिए इतना कष्ट उठाकर पढ़ने-लिखने की क्या आवश्यकता थी ? दरिद्रता और अस्तित्वहीनता के साथ विवाह ? नीरस पुरानी सड़ी-गली बातों क पीछे यौवन की समस्त आशा-आकांक्षाओं और सपने मिटा दिए जाएँ ? नहीं कोई नये ढंग का रास्ता पकड़ कर चलना होगा।

"कमल" भावना का प्यार अनुशासन के रास्ते आड़े आया न कभी अनुशासन ही इतनी एकांगी हुआ कि वह परिस्थिति विशेष की आवश्यकताओं पर हावी हो उठता।

यांत्रिक युग के वैराग्यमूलक मानदण्ड एवं परिवेश के परिणामस्वरूप मस्तिष्क की प्रगति में जहाँ हृदय बहुत पीछे छूट जाता है और वैयक्तिक कुण्ठाओं से घिर कर आदर्श और आचरण में विचार और मनन में यहाँ तक कि पहले स चली आती हुई परम्पराओं स सर्वथा भिन्न नये क्षितिज की ओर उन्मुख होता है तो जिन्दगी की मान्यताओं में अप्रत्यक्ष और अप्रत्याशित रूप से परिवर्तन हुआ करता है। चाह और अपेक्षा के दो कूल-किनारों के बीच य मान्यताएँ टकराती हैं।

मुक्ति के प्रम क प्रतिदान में क्या लेना चाहती है यह भावना ? आखिर क्या ? उसकी दयनीय विपन्नता की करुणा अथवा अपनी रिक्तता की सहानुभूति ?

कुछ समझ में नहीं आता ।

रक्तराग'

देवेशदास की अन्यतम प्रौढ़ कृति 'रक्तराग' इनकी प्रयोग-चेतना का सफल प्रतिनिधित्व करती है । उपन्यास का प्रारम्भ सैनिक वातावरण में होता है । सैनिकों की जिन्दादिली और हँसी-मजाक की प्रवृत्ति में जीवन की नाना रोमांचकारी घटनाओं का ऊहापोह तथा आकर्षण की उद्दामता और आह्लाद में घुला रहता है । सैनिक जीवन के कितने ही अनुभवों और यथातथ्य घटनाओं का समावेश उक्त समस्या में हुआ है जिसमें लेखक सिद्धहस्त है ।

कथा-नायक देवल सिन्हा मिता नाम की लड़की से प्रेम करता है । पर चूँकि वह मुखर नहीं है उसका गभीर प्रेम गहरी निष्ठा को जन्म देता है । सच्चा प्रेम ऐसा अटूट अविच्छिन्न तार है जिसे तोड़ कर दो टूक नहीं किया जा सकता । मिता से दूर रह कर देवल में और भी अधिक विश्वासजन्य स्थिरता आ जाती है और मर्मान्तिक कसक लिए वह सैनिक जीवन में भी छुपे-छिपे मूक भाव से प्रेम की लौ जगाए रहता है ।

मुखर प्रेमियों को जिन्हें अनायास मनचाहा मिल जाता है हृदय पर लगी ठेस का अनुमान नहीं होता । प्रेम और प्रेम के रंगीन सपने उनके लिए दिलचस्प कैद साबित होते हैं, पर उनकी रातें निद्राहीन नहीं होतीं उन्हें ठोकर नहीं लगती और उनकी भावनाओं से लहू नहीं टपकता ।

मिता या देवल में प्रेम का उथलापन नहीं है । गहराई में उतर कर भावनात्मक आवेगों में उनका मन उफनता भी है तो भीतर ही भीतर । बाहर उसका एहसास नहीं होता । केवल उसकी कलाई में बँधी घड़ी की धीमी टिक-टिक उसके अन्तरंग प्रेम की साक्षी है और घड़ी के ढक्कन के भीतर रखी प्रिया की प्रतिच्छवि में उसके मन को बाँध रखने का आग्रह है मानो वह उसे दिशाहारा न होने की अहर्निश प्रेरणा देती रहती है—

"देवल ने बाम कलाई पर बँधी घड़ी को अपने से चिपटा लिया । उस घड़ी के पीछे ढक्कने के भीतर एक छोटी सी छवि थी । यदि कोई कलंक लगा तो यह छवि उसे सान्त्वना देगी और सहायता करेगी । वह अकेला नहीं है ।

आतुरता तृष्णा कल्पना अनुभूति—देवल के प्रेम-तरु की जड़ के तमाम सूक्ष्म तन्तु मिता में लिपट गए हैं । घड़ी के स्पन्दनों में साँसों की लय के साथ एक मोहक आकांक्षा जगती है जिसमें देवल को मिता की आवाज बोलती सी लगती है—"यह घड़ी टिक-टिक करती समय बताने के साथ ही मेरी बातें भी तुम्हें बताती रहेगी । तुम्हारे साथ यह मेरा चिह्न रहेगा । यह घड़ी तुम्हारे मन में और कोई बात आने न देगी । मैं आज संध्या को तुम्हें छोड़ कर जा रही हूँ किन्तु तुम यही समझना कि मैं सर्वदा तुम्हारे साथ हूँ ।'

विदा के समय कहे गए मिता के ये उद्बोधन वाक्य मानो देवस के अन्तर का गीत बन गये और प्रणय-गीत की मिठ उठती प्रतिध्वनि उसकी भीतरी पुकार की गूँज बन गई।

मन की यह भावनात्मक प्रतिक्रिया उसे एक हद तक चिन्तनशील बना देती है और उसके समस्त बाहरी क्रिया-कलापों को प्रभावित करती है। फिर भी सारा कथानक नायक के केन्द्रीय व्यक्तित्व के चतुर्दिक् बुना गया है। मिता की याद और उसके प्रति पल-पल महसूस होता आकर्षण उसकी जीवनाभिमत प्रवृत्ति है, जो उसके विचार-प्रवाह को प्लावित करती रहती है।

इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं कि प्रबल प्रणयोच्छ्वास के मकाबले देवस के सैन्य जीवन में विद्रूप एकरसता थी अथवा भयंकर उथल-पुथल। उदासीनता और सूनेपन के भारी बोझ के बावजूद इस एकरसता अथवा उथलपुथल में भी उसके भीतर एक निष्कलुष दाह थी जो बौद्धिक अनासक्ति जगाती थी या दाह की ज्वाला को मधुर स्मृतियों की स्निग्धता से ओतप्रोत कर देती थी।

मौन आवरण की तह के भीतर एक गुप्त विक्षुब्ध आकांक्षा छिपाए हुए भी देवस में साहस की कमी नहीं है। बौद्धिक स्तर पर वह बेहद ईमानदार है। उसमें कोई पूर्वाग्रह नहीं कोई संकीर्णता नहीं नियम का आग्रह और अहंकार भी नहीं है। दृष्टि की पैठ गहरी है और उसमें काम करने की स्फूर्ति और सामर्थ्य है। युद्ध की भयंकर और रोमांचकारी परिस्थितियाँ भी उसे विचलित नहीं करतीं। ऐसे अवसरों और बोझिल क्षणों में व्यक्त किये गए उसके विचार और उठाये गए क़दम उसकी क्रियात्मक गति शीलता और हर क्षण में नई राह ढूंढने की प्रेरणा के परिचायक हैं।

कालान्तर में देवस आई एन ए का उच्चाधिकारी हो जाता है। मिता भी निष्क्रिय होकर नहीं बैठती। असंगत घटनाओं और परिस्थितियों से समझौता करने के अविराम प्रयत्न और संघर्ष के दौरान में वह अंग्रेज़ी सेना की 'वाकाई कमांडर' हो जाती है। राजनीतिक विचारधाराओं में इतनी घोर विषमता होने पर भी जब देवस और मिता की अकस्मात् भेंट होती है तो हारे-थके अन्तर्मन में घुल कर सोल रही महत्वाकांक्षाएँ पर्वतशृंग से गिरते प्रबल वेगवान प्रवाह के समान अभी भी उसी वेग से मन के तटों से टकरा रही हैं। दोनों के मन में संघर्ष हो रहा है और आख़िर मिता ने देवस पर विश्वास करके बता ही तो दिया कि क्या बात है और कहाँ उसका मन रमा हुआ है। देवस को निराशा अवश्य हुई थी किन्तु आक्रोश नहीं। घृणा भी नहीं। मिता के प्रति गहरी कृतज्ञता का भाव तब भी बना ही रहा। मिता ने उससे कहा था— "प्यार—यही यथार्थ तत्त्व है। प्रतिदान न मिलने से कोई क्षति नहीं।"

देवस का प्यार तो और भी गहरा है शरीर की स्थूल कामना से परे। जिन सूक्ष्म तन्तुओं से जीवन की आकांक्षा बुनी जाती है वे यद्यपि छिन्नभिन्न हो गए थे तथापि मिता का आश्वासन और सहानुभूति उन विच्छिन्न तन्तुओं को प्रेम से थाम

रहने का आग्रह करती है।

'भगवान् तुम्हारा भला करे, देवल ! मंगल करे ! मेरी बात याद रखना । जाओ अब जाओ !' मित्रा ने अपने हाथों से देवल को अन्धकार में ठेल दिया । अंधकार ऐसा था कि हाथ को हाथ दिखाई नहीं देता था । आंखों से कुछ भी नहीं देखा जा सकता था । यह अंधकार समस्त जीवन में छाया हुआ था । सारे मन को ढके हुए था । उसी अन्धकार में मित्रा पीछे खड़ी रह गई ।

और रह गए उसके नेत्रों में आंसू   मन का रुदन ।

और इसी निविड़ अंधकार में देवल की उत्तमा नाम की रमणी से भेंट होती है । दोनों का देर तक साथ रहता है और उत्तमा देवल की ओर आकर्षित हो जाती है पर उसके पुरुष कठोर जीवन में देवल ने जिसे प्रथम प्यार दिया उसे मन से नहीं निकाल सका । कोई आग्रह नहीं चला । मित्रा का आग्रह भी नहीं और उत्तमा की अनुनय भरी करुण दृष्टि की रोचक व्यथा भी नहीं । देवल ने दृढ़ निश्चय कर लिया— 'मित्रा को जो उसने मन दिया है वह मित्रा ने नहीं लिया है । किन्तु उसे देन पर भी उसके मन के ऊपर उसका सब अधिकार समाप्त हो गया है । संसार में अब और किसी के लिए उसका मन बिल्कुल बाकी नहीं रह गया है ।

कोर्टमार्शल के पश्चात् जेल में विदा की वेला आई और देवल ने अविचलित रह कर सभी से विदा ले ली । मित्रा की प्रबल निवेदन भरी निष्कम्प आंखों से विदा, उत्तमा के मौन कोमल आग्रहों से विदा और उसके अपने सीने में जोर-जोर से बेकाबू होकर धड़कनेवाली अभिलाषाओं से विदा । तभी विदामयी बैंड पाइप बजने लगा । देवल को लगा "मानो विहाग में विदाई का स्वर बज रहा हो ! युग भर में अभी निर्जन निस्तब्ध संध्या छा जायगी !"

इस तरह की रिक्त संध्या देवल से क्या लेकर जाएगी ? देवल ने निमिष भर सोचा । केवल निमिष भर । उसके बाद उसने अपने को स्वाभाविक रूप से मजबूत किया । वह वीर है योद्धा है वह हार सकता है, पर हार नहीं मान सकता । जीवन के साथ भाग्य के साथ लड़ने की शक्ति होना ही उसका सबसे बड़ा बल है । यही सबसे बड़ा संबल है । नहीं उसकी संध्या रिक्त नहीं है, वह रसराग से भरी है ।

इस उपन्यास में नायक और नायिका के चरित्र के अतिरिक्त और भी बहुत से आनुषंगिक पात्र चित्रित किये गए हैं जो कथानक के विकास में अनिवार्यतः सहायक होते हैं और जिनकी वजह से उपन्यास में अनेक प्रभावोत्पादक स्थल मन को मोह लेते हैं । पात्रों को ऐसे स्तर से उठाने का प्रयत्न किया गया है जहाँ वे केवल व्यक्ति नहीं वरन् सैन्य जीवन के अलग-अलग 'टाइप' हैं । उनकी निरन्तर सोहबत में पली जिन्दगी के उतार-चढ़ाव सुख-दुःख और संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं की कहानी—एक प्रकार से उनकी सैद्धान्तिक एवं जीवन सम्बन्धी मान्यताओं की समसाल का बयान प्रदान करती है और वह भी केवल एक बुद्धिजीवी का कोरा रूप नहीं है, अपितु

उसमें तो लेखक के अपने अनुभवों की सचाई बोलती है। देवेशदास 'इण्डियन सिविल सर्विस' के एक उच्च पदाधिकारी हैं अतएव उन्हें सैनिकों के चरित्र उनकी छोटी-मोटी मनोवृत्तियों और प्रवृत्तियों को पास से अध्ययन करने का मौका मिला है। अनेक प्रश्नों के हल उन्होंने स्वयं ढूंढे हैं और मानसिक किंवा बौद्धिक से अधिक समझ और विवेकपूर्ण साथ ही मनोवेगों के उतार-चढ़ाव से मुक्त तथा बाह्य भावुकहीन तटस्थता से सर्वथा निर्लिप्त रह कर नीरव अन्तर में गम्भीर तथा मौलिक अन्तप्रेरणा द्वारा उनकी जीवन-स्थिति और गति का निर्धारण भी किया है। यह पूछे जाने पर कि उनके लिखने के प्रेरणा-स्रोत क्या हैं देवेशदास ने बताया था—

मैं उन स्रोतों से लिखने की प्रेरणा ग्रहण नहीं करता जो आम तौर से लेखकों के प्रेरणा-स्रोत हुआ करते हैं। इसका मुख्य कारण है कि महज लिखने की वजह से मैं नहीं लिखता अपितु निरीक्ष्य वस्तुओं को मन में संजोता चलता हूँ और तज्जनित परिस्थितियाँ इन्सानी खुशियाँ या बदकिस्मती पर कैसा प्रभाव डालती हैं इस पर ग़ौर करता रहता हूँ। उनका प्रभाव अमिट रूप से मस्तिष्क पर अंकित हो जाते हैं और जब लिखने लगता हूँ तो वे ही प्रतीक उभर कर व्यक्त हो जाते हैं। उदाहरणार्थ 'रक्तराग' में सैन्य जीवन का चित्रांकन करते हुए कोई खास प्रेरणा मेरे समक्ष नहीं थी बल्कि उन सौभाग्य युद्धबन्दियों के सुख-दुःख इच्छा-आकांक्षाएँ और स्वप्नों का सीधा-सच्चा व्यावहारिक अनुभव मुझे हुआ था जो सारे भारत में मेरे अधीन थे और जिनसे सैन्य जीवन के बारे में लिखने की मुझे प्रेरणा मिली। मैंने उन्हीं से जाना कि दूसरे सिपाहियों को मारते हुए, शत्रु द्वारा आक्रमण किये जाते हुए, बचाव के लिए भागते हुए अथवा बन्दी बना लिये जाने पर उन्हें कैसी अनुभूति होती है। मैंने उन्हीं के मुंह से सुना कि अपने परिवार के सम्बन्ध में वे क्या-क्या सोचते हैं अथवा उनके परिवार वालों पर ही उनसे प्राप्त खबरों एवं समाचारों की कैसी प्रतिक्रिया होती है और तब अपने प्रिय जन के अस्तित्व और भावी सुरक्षा के सम्बन्ध में कैसी-कैसी आशंकाएँ उठती हैं और क्योंकर उनका समाधान होता है। विगत महायुद्ध के समय जब जब मुझे मिलिटरी मेस में जाने का मौका मिला था हर जाति और धर्म के सैनिकों के साथ कंधे से कंधा भिड़ा कर काम करना पड़ता था साथ ही सैन्य टुकड़ियों की कवायद आदि सैन्य प्रशिक्षणों का निरीक्षण करना पड़ता था तब-तब उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आकर मैं सीधे उनके भावना विचार, दृष्टिकोण और अनुभवों को समझने-बूझने की चेष्टा करता था। 'रक्तराग' में जो स्वप्न और अनुभूतियाँ अंकित हैं वे मेरी नहीं उनकी हैं। यहाँ तक कि युद्ध और पारस्परिक संघर्षों का वर्णन मेरी अपनी कल्पना से नहीं बल्कि उनके द्वारा वैर तथा संग्राम तथ्यों के आधार पर हुआ है। आप कदाचित् इस उपन्यास की अतःप्रेरणा कहना पसन्द न करें, पर मैं एसे तथ्य अनुभवों की बारती हैं जिनसे मुझे सम्बल प्राप्त हुआ है और फलतः जिसमें युद्ध संघर्षों अनुभूतियों घटनाओं और वातावरण का चित्रण करने की

मत-प्रेरणा मिली है। जैसे कि मैंने 'रक्तराग' की भावभूमि का उपसंहार करते हुए लिखा है—"इसमें वर्णित घटनाएँ एवं युद्ध सब कुछ सत्य है। केवल इतिहास को साहित्य का मोचन दे दिया गया है।"

इस प्रकार सच्ची घटनाओं के समावेश से उपन्यास की महत्ता को कई गुना बढ़ा दिया है। उपन्यास औपन्यासिक के नाते लेखक की कल्पना की परिष्कृति और मौलिक संवेगों की संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ जीवन के मूर्त रूपम मानसरूपी और जीते-जागते चित्रों के रूप में उसकी समर्थ लेखनी से उभरे हैं जिनमें प्राण-संचार है और विभिन्न मनोदशाओं की प्रचुरता का समाधान। घटनावैचित्र्य अधिक नहीं है पर वर्णित घटनाएँ यथार्थ के समीप हैं और दैनिक जीवन में ऐसी घटनाएँ प्रायः घटती रहती हैं। सबसे बड़ी खूबी तो यह है कि उन्होंने इस सीमा में भी दैनिकों के जीवन को अनेक दृष्टियों से देखा-परखा है और जब-जब उक्त चरित्रों में अपनी कल्पना और सहानुभूति का रंग भरा है तो वे असली रूप में ही उनके सामने आए हैं। एक दूसरे प्रश्न के उत्तर में देवेशदास ने कहा था — मुझे विश्वास है कि इस बौद्धिक युग में हमें भी बौद्धिक होना चाहिए और उपन्यास लिखते समय तो जीवन के प्रति बिल्कुल सच्चा और ईमानदार। बौद्धिक संवेदनाओं और भावात्मक प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप भले ही निजी सर्जनाओं में नया रंग भरा जा सके पर अपनी वास्तविक वस्तुस्थिति से उन्हें कैसे विलग किया जा सकता है। मेरी सम्मति में कथाख्यान से यह व्यक्त नहीं होता जो उपन्यास से जाहिर होता है। मैं यह भी सोचता हूँ कि पलायनवादी साहित्य आज के युग के लिए यथेष्ट नहीं है इसी प्रकार न ही अभिव्यक्ति साहित्य की उपज है क्योंकि उसका मनोविज्ञान के युग में वह अधिक कारगर नहीं हो सकता। जिस तरह के उपन्यास आजकल लिखे जा रहे हैं वे महज अभिव्यक्ति साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। पाठक को उनसे कोई निर्देशन नहीं मिलता। उसे अपना पथ स्वयं खोजना पड़ता है कारण—आज का आख्यान साहित्य इस नैराश्य युग में कोई प्राणशक्ति संचरित नहीं करता। बंगाल की ही मिसाल सामने रखें तो यहाँ अनेक ऐसे लेखक हैं जो भारत-पाकिस्तान विभाजन से उत्पन्न संकटों युद्धपूर्व अकाल के कष्टों और बंगाल में स्वतंत्रता आन्दोलन की समस्त परिस्थितियों के बारे में लिख रहे हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मानवीय दुःस्वान्तों की सफल झाँकी अनेक बार उनके द्वारा प्रस्तुत की गई है। पर कोई गहरा अमिट चित्रांकन मुखरित नहीं कर सका। अभिव्यक्ति के कतिपय सबल-दुर्बल पहलुओं के अलावा चिरन्तन सृजनशील रंग-नियोजन का अभाव है। लगभग तीस चालीस लाख व्यक्ति बंगाल के अकाल को भेंट हुए, किन्तु एक भी अमर चरित्र की सृष्टि नहीं की जा सकी जो गर्व से सिर उठाकर कह सके 'नहीं मैं मरना नहीं चाहता। बंगाल में प्रायः ऐसा होता है कि बाढ़ के दिनों में नदी का किनारा बह जाता है, वहाँ बसन वाले लोग तब नदी के दूसरे किनारे पर अपनी कुटिया बना लेते हैं। जब दूसरा किनारा भी डूब जाता है तो वे नदी की छाती पर आवास स्थल बनाने का साहस रखते हैं।

किन्तु हमारे लेखकों ने कोई ऐसा चरित्र नहीं सौंपा जो सिर उठा कर कह सके 'बाढ़ में डूबने की अपेक्षा हम तूफान में बहते पत्तों पर अपना घर बनाना चाहते हैं' अर्थात् इस माने में हमारे आजकल के लेखक यथार्थवादी होने का दावा करते हुए भी जीवन के चित्रांकन में स्वाभिकता लाने में असफल रहे हैं। तमाम साहित्य में रोगग्रस्त रोगियों की ही करुणोत्पादक चीत्कार भरी पड़ी है मगर किसी भी लेखक ने ऐसा चरित्र सर्जित नहीं किया जो परिचर्या और उपचार की कठिन परीक्षा में से साहस और जिन्दादिली से गुजर जाय और अन्ततः रोग का निदान हो सके।

अतएव लेखकों की समस्या मूल रूप में यह है कि वे क्यों नहीं अदम्य विश्वास के साथ वह व्यक्ति वह विराट् जीवनपोषक प्रेरणा उत्पन्न कर पाते जिसके बिना साहित्यिक प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अपनी लिखने की सचाई को वे विश्लेषणात्मक बुद्धि से अनुभव करें, गहरे पैठ भीतर आत्मसात् करें, सही ढंग से जीवन के विकासोन्मुख तत्त्वों को झूठी आत्मरति से नहीं वरन् सक्रिय सृजनात्मक शक्तियों से उद्बुद्ध करें ताकि साहित्य और कला की पूर्ति हो साथ ही उन्हें मौलिक और मूल्यवान् उपलब्धि से अनुप्राणित करने वाले तत्त्वों से भी सुसम्पन्न किया जा सके।

सचमुच इन कुछेक प्रश्नों का हल ही आज के साहित्य की समस्या बना हुआ है जो मध्यवर्गीय उलझनों थकानों कुंठाओं और वर्जनाओं के मध्य से ह्रासोन्मुख नि:सत्व साहित्य के चोखटे पर 'डिकेडेंट' अर्ध-सत्यों के शिकार रुग्ण मानस के संकीर्ण घेरे में बन्दी है। निष्प्राण आदर्शों को छाती से चिपकाए रह कर हमारे आज के साहित्यकार जिस गत्यवरोध के गढ़े में डूब-उतरा रहे हैं उससे उनके बौद्धिक विश्वास क्षीण होते जा रहे हैं और उनकी सहज प्रवृत्ति प्रतिक्रियावादी कल्पित धारणाओं के पक्ष-समर्थन में वास्तविक सत्य को विकृत कर रही है।

देवेशदास ने प्रतिपाद्य विषय के साथ-साथ साहित्य की उद्देश्यमूलकता की चर्चा की है। किन्तु उद्देश्यमूलकता का अर्थ है सृजन चेतना की स्फूर्ति और आत्मा का उन्मेष। केवल किताबी गुर जानना ही आवश्यक नहीं है, क्योंकि इससे साहित्य का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता न ही अस्थापित एवं अथाचित भड़कीले वादों से चिन्तन प्रणाली का पूर्ण सामंजस्य हो पाता है। साहित्य सस्ती नारेबाजी नहीं है, उसके सृजन के लिए गम्भीर अन्तर्दृष्टि अपेक्षित है। जो अनुभूत विषयवस्तुओं को सूक्ष्म सौन्दर्य-तत्त्वों में समोकर और बुद्धि द्वारा विश्लेषित कर अपनी गम्भीर पकड़ और चिन्तन की मौलिकता को साहित्य में प्राणान्वित कर पाते हैं वे ही सत्यक अन्वेषी हैं और उन्हीं के सृजन की सार्थकता है।

राजसी'

देवेशदास की दृष्टि सामाजिक है वैयक्तिक नहीं। वे विकासशील परंपरा के हामी हैं और यही सत्य उनकी कृतियों के सामाजिक सार का निर्धारक है। 'राजसी' में देवेशदास जिन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं वे हमारे रागात्मक स्तर को छूते हैं।

उक्त कलाकृति में स्वयं इतनी मूर्तता और प्रेषणीयता विद्यमान है कि वह लेखक की कल्पना के सम्मोहन से जीवंत हो उठी है। उसकी लेखनी अनेक स्थलों पर मानों जादुई छड़ी बन कर स्पर्श से युगों-पुरानी अतीत की घटनाएँ सजीव करती चलती है। बहुविध प्रसंगों के विवरण प्रस्तुत करते हुए मन जब खंड-दर्शन में उलझने लगता है तो पृथक्करण के प्रयास में एक जिज्ञासा के पीछे चलने लगता है। किन्तु औत्सुक्य एवं जिज्ञासा में विरमने का भी उसे अधिक मौका नहीं मिलता। भावना में तल्लीन और रसानुभव करने वाली उसकी भीतरी शक्तियाँ अनेक स्तरों का उद्घाटन करती हैं और तब कितने ही संस्मरण पुरानी पिछली बातें और स्मृतियाँ जीवन-पथ की अमिट रेखाएँ बनकर सामने खिंच जाती हैं—"मैंने मरुभूमि में घूमते-घूमते पाषाणों में कान लगाकर उनके अतीत का ऐसा रोदन सुना है। सुनी है चिरकाल के रजवाड़े की राजसी कहानी। उसे आजकल की पटभूमिका में केवल थोड़ा-सा नया कर दिया है। एक हजार वर्षों के बाद देश स्वाधीन हुआ है। नये जगत् में नये पथ पर उसकी यात्रा प्रारम्भ हो गई है। आज जरूरत इस बात की है कि शक्ति और प्रताप की तरह लड़ाई न करके एक जगह पर भाई भाई होकर रहें। आज कितनी जरूरत है सवाई जयसिंह की तरह बाहर पृथ्वी से समस्त नई विद्या को अपने देश में ले आने की पद्मिनी के समान देश में विपत्ति पड़ने पर पुरुष के साथ खड़े होकर सलाह देने की। एक दिन देश राजाओं का सिरदर्द था। आज उस पर हम सब लोगों का समान दायित्व है। त्याग और साधना में सभी को जुट जाना है। जो गुण और वीरता हम केवल राजरानियों में देखते हैं उसे सब में पहुँचा देना होगा। जन साधारण ही इस युग के राजारानी हैं।

राजस्थान के रंगमहलों की कहानी पाठकों के लिए नई नहीं है पर लेखक का सहज अनुभव पर्यवेक्षण-क्षमता और वैदग्ध्य सन्निधि में अनुभूतिमयी अभिव्यंजना की तारतम्यमयी भंगिमा है जिसमें भव्य भाव की महिमा के दर्शन होते हैं।

"अकेले कालिदास ही नहीं हमारे घर-घर में एकान्त अभागियों का दल मेघों को देख कर अनमना-सा हो उठता है और प्रेयसी के निकट पहुँचने के लिए व्याकुल हो उठता है। और यदि वे दूर बहुत दूर हुए तब? इस दुस्तर मरु के उस पार? उसके भी और आगे—बहुत दूर।

प्रेयसी यदि दूर दुर्गम पर्वत की चूड़ा पर है तब? किले के झरोखे के पास बैठ कर विरहिणी अँधेरी रात में दिया जलाये बैठी रहेगी। घोड़े पर वायुवेग से उसका प्रियतम व्याकुल होकर आता होगा। उसकी प्रतीक्षा में वातायन के पास दीपशिखा के अतिरिक्त दो मन भी उसे कहीं खोज रहे होंगे। किन्तु यदि मिलन न हुआ? विरह-सागर की लहरें उन दोनों को अलग ही किए रहीं तब?"

लेखक ने ऐसी घटनाओं और सजीव दृश्यों को कथासूत्र में गूँथकर रखा है जो रजवाड़े के रूप-विकास और परिवर्तन का समुचित मूल्यांकन करते हैं। आज बहुत कुछ बदल गया है, किन्तु यह नई दृष्टि बड़ी ही व्यापक और मौलिक है।

मौजूदा वस्तुस्थिति और व्यवस्था को अनिवार्य मानकर केवल परिवर्तन के तथ्यों को ही स्वीकार नहीं किया गया अपितु राजस्थान के अतीत जीवन के वृहद् और विराट् रूप का निदर्शन और भावी प्रगति के लिए आस्था का स्वर भी है। कथावस्तु की सामग्री राजस्थानी परम्पराओं और वहाँ की आचार-मर्यादाओं पर आधारित है। शासक-शासित दीन-हीन और अभिजात्य आर्थिक एवं सामाजिक विषमता साम्राज्य वाद और सामन्ती शोषण की झाँकी ही सिर्फ इसमें नहीं है वरन् इनकी अन्तश्चेतना परिस्थितियों से ऊपर उठकर जिन आदर्शों का निर्माण करती है उसके प्रति यह अविचल भाव ही इनके कृतित्व का प्रेरणा-स्रोत रहा है। छोटी-छोटी चीजों में इनकी दृष्टि रमी है यहाँ तक कि राजस्थानी बालू और रेत के टीलों तक को ये नहीं भूले हैं— "थोड़ी-थोड़ी दूर पर बालू के बड़े-बड़े टूहों की चोटियाँ नजर दिखाई देती हैं। ये भी कब बालू भरी हवा के साथ किधर उड़कर चले जाएँगे और नया टूह बना देंगे इसका ठीक नहीं। सरकार ने यहाँ कुछ कंकड़ पत्थर बिछाकर एक रास्ता बनाया तो है, किन्तु मरुभूमि उसके ऊपर हँसते-हँसते बालू के ढेर के ढेर जमा कर देती है।"

इस प्रकार रजवाड़ की झाँकी इन्होंने सर्वाङ्गीण धरातल पर प्रतिष्ठित की है। अपने लेखन में इन्होंने सिर्फ उतने ही पैमानों का प्रयोग किया है जिनकी सचाई का अपने विस्तृत अध्ययन के क्षणों में इन्होंने साक्षात्कार किया है। फिर प्रसंगों का चुनाव और संधान भी इनकी उदात्त रुचि का द्योतक है।

'अधरसिली'

अधरसिली देवेशदास का व्यंग्यात्मक उपन्यास है। आज का व्यंग कुछ अभिन्न मुख्य मनोवृत्तियों एवं प्रतिक्रियात्मक भावनाओं का मनोरंजक हो गया है पर इनका व्यंग में ईषत् उपेक्षा विरोध एवं रोमांस का ऐसा सूक्ष्म संतुलन रहता है कि कोई एक हल्का झटका भी रसभंग की स्थिति उत्पन्न नहीं करता। फलस्वरूप व्यंग की फुलझड़ियाँ मन को आहत नहीं करतीं प्रत्युत् उदात्त उल्लास चाहता है मन को मुग्ध कर लेती हैं। इनमें स्थान-स्थान पर सौम्य हास्य की बड़ी सौम्य फुलझड़ियाँ हैं जिनमें उक्ति-वैचित्र्य के साथ-साथ जीवन की खामियों पर पैनी और बेधक दृष्टि डाली गई है—"भीड़ छँट गई। चारों तरफ पुरुषों की आँखें चकोरों की तरह स्त्रियों में उन्हें ढूँढ़ती फिरती थीं।

"और स्त्रियाँ हँस पड़ीं और उनके सामने खड़े तरुणों के हृदय में एक लहर सी दौड़ गई।

आधुनिक सभ्यता मध्यवित्त वर्ग के विभिन्न चरित्रों की कमजोरियाँ जीवन की जटिल गुत्थियों के बीच उत्पन्न विलासी हासोन्मुख अंधविश्वासी विभिन्न हास्यात्मक परिस्थितियाँ जनता समाज और राष्ट्र के प्रति जागरूकता के अभाव में पतनोन्मुख प्रवृत्ति रूढ़िग्रस्त सामाजिकता किंकर्तव्यविमूढ़ता और विषमता ने वांछित सुधार की दिशा में पैना मारात्मक्ता अपरिहार्य और व्यंग्यात्मक चमत्कार उन्मीलित किलो-

विभाग की बड़बड़ों वैनन्दिन खपत से उद्भूत ऊहापोह और संघर्ष पी—वातावरण का मीनरी खोखलापन मध्य-वर्ग सभ्यता का पर्दाफाश करता है। औरतों के स्वभाव सम्भ्रान्त मनोवृत्ति कुण्ठित लोक-लज्जा मान-अपमान और मान मनन के रोचक प्रसंगों पर विनोदभरी रोचक छीटाकशी है जो मन को मोह लेती है। विवाह पर यह व्यंग—"हे मेरी अभिभाविके ब्याह-ब्याह सब चपला है इसमें अपरिपक्व मन की व आती है। उसकी मर्यादा भी बहुत पहले ही नष्ट हो चुकी है। नरों-नारी के संयोग के कारण ब्याह की खूब चली और गृहलक्ष्मियों की भी खूब चली। फिर जमाना मानस-लक्ष्मियों का आयगा। पर वह युग भी चला गया अब धन लक्ष्मी का युग है।

अत्यधिक फ़ैशनपरस्त आधुनिका स्त्रियों पर निम्न कटाक्ष का प्रयोग किया गया है—

"आजकल की आधुनिक स्त्रियों से जो पेरिस से लेकर न्यूयार्क तक फ़ैशन का अध्ययन करती रहती हैं किसी ने कालिदास का काव्य पढ़ कर यह नहीं कहा कि तुम ऐसा करो। फिर भी उन लोगों ने समझ लिया है कि जब वल्कल से शकुन्तला सज सकती थी तो बदन कटी हुई और सीना तक की पोशाक भी मनचाहपना के लिए सुन्दर हो सकती है।

एक अन्य उद्धरण में—"स्त्रियों को जब कुछ माँगना होता है तो वे गले की आवाज धीमी कर लेती हैं। पर ज्यों ही उन्हें मालूम होता है कि वार खाली गया त्यों ही उनका स्वर पंचम पर पहुँच जाता है।

एक पात्र कहता है—

"धर्मपत्नी का अर्थ है, सर्वाधिकार सुरक्षित जननी-स्टफ्ड से सुशोभित या यों भी कह सकते हो नख-दन्त शोभित घूँघट वाली जिसे लोग बहू कहते हैं। विवाह के बाद लोग बचे नहीं पाते क्योंकि वह घर की मालकिन और सास की पुत्रवधू है। यदि उसकी बात याद आय तो रोना ही आता है।

नीहार ने अपने साथियों को देखा फिर बोला—धर्मपत्नी को यों समझो कि वह एक गतिशील बोझ है। गले में हँसुली नहीं हार लोक लाज के कारण छाती मिल की मैली साड़ी पहने हुए, पैरों में बिछुओं की रुनझुन और महावर का रंग। घर में वह राज करती है, घर के सारे कामकाज सँभालती है उससे शादी तो हो सकती है पर प्रेम नहीं।

पर अरे भई आधुनिक वह तो हम लोगों की लाइफ है। वह पास रह कर भी दूर और निकट रहकर भी दुष्प्राप्य होती है। वह जार्जेट और सैण्डल पहनती है। वह सबेरे से शाम तक लम्बे अखबार चबाती रहेगी। प्रातःकाल के फार्म से लेकर सिनेमा तक वह जिन्दगी की बहार लूटती है और बेचारा पति भटकता रहता है। दफ्तर से आने के पहले देख लीजिए कि नहीं फुटबाल मैच या कोई ऐसी बात है

दुरन्त मोहमयी अपार्थिव सूक्ष्म प्रक्रियाओं द्वारा उद्घाटित होता रहा है। कवि ने लिखा है, 'पर्वत-प्रदेश के निर्मल चंचल सौंदर्य ने मेरे जीवन के चारों ओर अपने नीरव सौंदर्य का जाल बुनना शुरू कर दिया था। मेरे मन के भीतर बर्फ की ऊँची चमकीली चोटियाँ रहस्यभरे शिखरों की तरह उठने लगी थीं जिन पर खड़ा हुआ नीला आकाश रेशमी चंदोवे की तरह आँखों के सामने फहराया करता था। कितने ही इन्द्रधनुष मेरी कल्पना के पट पर रंगीन रेखाएँ खींच चुके थे बिजलियाँ बचपन की आँखों को चकाचौंध कर चुकी थी पेड़ों के झरने मेरे मन को फुसलाकर अपने साथ गाने के लिए बहा ले जाते और सर्वोपरि हिमालय का आकाशचुम्बी सौंदर्य मेरे हृदय पर एक महान सन्देश की तरह एक स्वर्गोन्मुखी आदर्श की तरह तथा एक विराट् व्यापक आनन्द सौन्दर्य तथा उपयुक्त पवित्रता की तरह प्रतिष्ठित हो चुका था।

कवि के समक्ष प्रकृति हर मोड़ पर नये-नये रूपों में आ खड़ी हुई है। प्रारम्भ में उसके अन्तरतम का उन्माद और उल्लास प्रकृति की सौंदर्य-श्री से मुखरित होकर काव्यधारा में प्रसरित होता है। उसका उन्मन रसावेग हर दृश्य वस्तु, हर आकर्षक और 'सुन्दर' में रमना चाहता है 'पल्लव' उसके उन्मादक और कुतूहल भरे भावावेग कविताओं की पोर-पोर में भीने हैं। उसके काव्य-सृजन के मूल तत्त्व 'सत्यं—शिवं—सुन्दरम्' जो उसके प्राणों में औत्सुक्य जगाते हैं उस समय 'सुन्दर' से अधिक प्रभावित हैं। स्नेह और अनुराग भरे मीठ सपने हृदय की मधुर सिहरन और किसी अज्ञात रूपसी का चितेरा रूप उसकी अन्तर्ज्ञात चेतना को विमूर्च्छित करता रहा है। आता वन-वन से उठने वाली शीतल स्निग्ध सौरभसम्पन्न समीर की हल्की-हल्की थपकियाँ चतुर्दिक् बिखरी पुष्पावली अवनि-अम्बर की अथाह नपमा और यौवनमय उन्मद राग कवि की अरूप वृत्तियों से तद्रूप होकर उसके अन्तर्बाह्य को एक विचित्र झंकृति से भर देती है और वह तन्मय होकर गा उठता है

"मेखलाकार पर्वत अपार,
अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़
अवलोक रहा है बार-बार,
नीचे जल में निज महाकार
जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण सा फैला है विशाल।"

कुछ समय तक कवि का चित्रण इस हद तक प्रकृति में तदाकार हो गया है कि वह उसकी सूक्ष्म से सूक्ष्म धड़कन सुना करता है। प्राकृतिक सुषमा में सराबोर उसका हृदय लहराता है और उसका सुख-दुःख स्वास-सौरभ विचार-भावनाएँ, यहाँ तक कि अपने अस्तित्व तक को वह उसमें विलय कर देना चाहता है। न जाने कब के कहाँ के अपूर्ण अस्पष्ट उलझे हुए पुंज उसके अवचेतन मन में घनीभूत होकर प्रकृति की छायाओं में बिखर जाते हैं कि वह हठात् दूरत्व या पार्थक्य की कुहेलिका चीर कर

उसके सीमाहीन सौन्दर्य में खो जाता है। प्रभात का धूसर आलोक और बाल-रवि की रश्मियों से रंजित प्रकृति का उन्मुक्त प्रसार तथा पक्षियों की मधुर ध्वनि अन्तः प्रेरणा के क्षणों में उसकी सूक्ष्मतम अनुभूतियों से तादात्म्य स्थापित कर लेती है जिसमें किशोर अन्तर्गुम्फित आनन्द की पूर्णता में उसका मूक स्वर उद्बुद्ध हो उठता है।

'स्वर्ण सुख श्री सौरभ में भोर,
विश्व को देती है जब बोर,
विहग-कुल की कल-कंठ हिलोर,
मिला देती भू-नभ के छोर
न जाने अलस पलक दल कौन
खोल देती तब मेरे मौन।"

समीरण का प्रत्येक हृत्कम्पन जब अगाध जल को क्षुब्ध करता हुआ बुलबुलों को बिखेर देता है तो किसी अपरिसीम अलभ्य रूपराशि की स्मृतियों को झकझोरती हुई लहरें चुपचाप कवि को अज्ञात संकेत करके बुलाती हैं

"क्षुब्ध जल-शिखरों को जब वात
सिन्धु में मथ कर फेनाकार
बुलबुलों का व्याकुल संसार
बना बिथुरा देती अज्ञात
उठा तब लहरों से कर कौन
न जाने मुझे बुलाता मौन ?

यहाँ तक कि पंत की सूक्ष्म सौन्दर्यग्राही वृत्ति छाया जैसी अरूप वस्तु में भी रमती है

"किस रहस्यमय अभिनय की तुम
सजनि ? यवनिका हो सुकुमार,
इस अभेद्य पट के भीतर है,
किस विचित्रता का संसार।

किन्तु 'गुंजन' में भौतिक यथार्थताओं से टकरा कर कवि की कैशोर भावना का सौन्दर्य-स्वप्न जैसे विशृंखल हो गया। यौवन काल में जब जिन्दगी की रागिनियाँ अँगड़ाई लेती हैं रग रग में नये ताजे खौलते खून की गरमाहट होती है और प्राणों में उन्मादक स्पंदन हिलोर लेता है तो उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो वह कुछ और का और हो गया है, परन्तु कालस्रोत के प्रवाह में जीवन के अविराम डगर पर चलते-चलते उसकी अवसादी सिसकियों में कम्पन होता है पीड़ा का आवेग गहरी शून्यता में खो जाता है वह प्रतीक्षा में निरत रहता है, पर क्या कभी यौवन पुनः लौटकर आता है ? अपनी अनुभूति की अनुरंजनीयता से आहत होकर उसने अपने चिन्तन का क्षेत्र विकसित कर लिया और प्रकृति के माध्यम से असीम चेतन तक

मृदुल रेशमी पंखड़ियों के ले अँग —
वे दुलराया करते नीड़ों को
सौ रंगों में चिहुँस एक संग !

निःस्वर सोया मर्मर गीत बन
गूँजा करती मन मन उपवन
मधुकर में भर प्रीति की उमंग !

एक अन्य कविता में रूपमुग्ध कवि महिमामय अभिनव सौन्दर्य में वृहत्तर आदर्शों की चरम परिणति खोजता है :

मैं कुलाल मन अन्धकार को टोह अनुक्षण
तुम प्रकाश अंगुलि बन करते पथ निर्देशन
भाव बुद्धि प्रेरणा — आशा श्रेणियाँ पार कर
तुम तन्मय हो बनते शाश्वत सुख के स्पन्द !

प्राण, जब तुम रजत हरित ज्वारों में उठकर
आशा आकांक्षा के मोहित फेनिल सागर
चन्द्रकला को लिटा स्वप्न की ज्वाल तरी में
तुम झकोरते रत्नच्छटा आनन्द तीर पर !

प्रेम प्रणत हूँ मेरे हित तुम बने बराबर
ज्योति मुग्ध हूँ तुम उज्ज्वल उर मुकुर अगोचर
शांति देह मन को तुम सात्विक लिए अनश्वर
प्रिय आनन्द छन्द तुम मेरे, आत्मा के स्वर !

उनकी नव्यतम कृति 'कला और बूढ़ा चाँद' में आज की बहु प्रचलित प्रयोगवादी धारा से टकराकर भी कवि की कविताओं का सम्मोहन और माधुर्य ज्यों का त्यों मसृण है । केवल बौद्धिक महत्ता और व्यापक अनुभूति के संस्पर्श ने उसकी काव्य चेतना के उत्कर्ष को नया मोड़ दिया है । बिम्ब योजनाएँ और बिम्बात्मक प्रतीक भी अपेक्षाकृत स्पष्ट उभरे हैं उनमें रेखांकनों का बोध और निखार अधिक गहरा है तो स्पष्टता और ध्वनि का समावेश भी है । लगता है जैसे परम्परागत प्रतिपादन और छन्द एवं लय की गिरफ्त से छूटकर उनकी भावनाएँ आंतरिक प्रवाह के वेग और गति पर थिरक रही है । अभिव्यक्ति का माध्यम या भाषा है उसके अनुशासन में वह नहीं अपितु भाषा स्वयमेव उनकी अभिव्यक्ति को एकमात्र उपकरण तथा युति है जो स्वयं कलाकार के लिए नापने लगती है और अगणित रूप-स्वरूप उभार कर पूर्णतः संगीत में परिणत हो जाती है । एक चित्र—

"यह नील
अंतःस्पर्शी एकाग्र दृष्टि है,

जिसमें अनन्त सृजन स्वप्न
झलक रहे हैं !"

एक अन्य स्थल पर कवि स्वीकारता है

"प्रेम आनन्द और रस का रूप
बदल गया है !

हृदय
शांति की स्वच्छ अतलताओं में
लीन होता जा रहा है !
विश्व कहाँ खो गया है !
देश काल ? जन्म-मरण ?

ओ चन्द्रकले
केवल अमृतत्व ही अमरत्व
अनिर्वचनीय
अस्तित्व ही अस्तित्व सत्य है।

जिस अरूप अचिन्त्य को पाने के लिए कवि का चित्त व्याकुल होकर इधर उधर भटकता फिरा और सम्पर्क की उपलब्धि में एक मोहावेश एक कम्पित दृष्टिकोण एक तन्मयता अवसाद या अन्तरात्मा के गहन गोपन प्रकोष्ठ में जो दुविधा की आशंका थी वह बहुत कुछ साधना की सिद्धि में समाहित हो गई। रूपशिल्प की छवें व्यापक संवेदनाओं से जुड़कर ऐसे चित्र उभारती हैं जिसके आलंकारिक आवेष्टनों में प्रयोग के बावजूद भी वैसी ही रूप-समृद्धि और ऐश्वर्य-सम्पन्नता है और वैसा ही मार्दव भले ही छन्द-योजना वैसी नहीं जो इनकी पूर्ववर्ती रचनाओं में है। कविताओं की पंक्तियाँ कहीं उखड़ी-पुखड़ी और कहीं असम्बद्ध और बेतरतीब-सी बन पड़ी हैं, फिर भी उनका आकर्षण ज्यों का त्यों है

"ओ नील सखी
ये बोलते पंख मुझे भी दो
जो गीत गाते रहते हैं—
और
वह मधु की गहरी परख—
मैं भी
मधुपायी उड़ान भरूँगा।"

साथ जो वैचारिक उलझाव और अन्तर्विरोध है उसको पचा कर आत्मसात् करने की अद्भुत क्षमता भी कवि में है। उनके इतने लम्बे साधना-काल में कितनी इमारतों का रंग बदला, पुरानी जर्जर मान्यताएँ चकनाचूर हुई, नई मान्यताओं की प्रतिष्ठा हुई, पर पन्त के जीवन-दर्शन ने इन सभी विचारधाराओं के बीच समन्वय

का सन्धान किया है। कला के साधक के पास उसकी अपनी कला के मूल्यांकन की जो कसौटी है वह है—आत्मानन्द। उसकी रसग्राही चेतना के तंतु जागृत रहते हैं तो उसकी काव्यधारा का अजस्र प्रवाह कभी क्षीण नहीं पड़ता। यही कारण है कि कवि की हर कृति में उसकी आत्मा का निमज्जन और एकात्म्य भाव मूर्त हो सका है। कलाकार के अभिप्राय की सिद्धि में जो उसकी साधना का सच्चा रूप है वह उसके सौन्दर्यबोध की अन्तश्चेतना के संस्पर्श से स्फुरित हो कर, उसके माधुर्य को छू कर चिर काव्य की अन्त्योक्तियों में मानो बिखरा-सा लगता है। निम्न पंक्तियों में कवि का वैसा ही मस्त भाव देखिए जिसके कारण उसकी काव्य-स्रोतस्विनी कभी सूखती नहीं वरन् छलकते उल्लसित भावों की अनवरत सृष्टि करती चलती है

"लोक-चेतना के व्यापक
अम्बुदों के क्षितिज छूते हैं
तुम रचना के मंगल के पंखों पर
उन्मत्त भाव में
निर्भय
विहार करो—
छन्दों की पायलें
उतार रहा हूँ।"

इस प्रकार नई चेतना का यह ज्योतिर्बीज जो कवि की भाव-सत्ता पर पनपा है उसकी जड़ें निश्चय ही अत्यन्त गहरी हैं और स्निग्ध रसधारा से उसका अभिसिंचन हुआ है। इनकी आज की कविताओं में भी एक खास रंगीनी है नई भावना नई सौंदर्य-दृष्टि और नये रागात्मक सम्बन्धों के साथ नई दीप्ति और नया उल्लास। कुछ कविताओं में राग का स्वर प्रधान है पर कुछ में यथार्थ की पकड़ गहरी होती गई है। इनकी कतिपय कविताओं की भीतरी संगीतात्मकता का हमारी विषय मनोदशाओं के साथ होने वाले संमिश्रण के कारण एक व्यापी संवेदना का संचार हमारी उपचेतन मानसिक अवस्था में होता है और तभी हमारी सौंदर्यग्राही प्रवृत्ति उनसे प्रवाहित होने वाले रस का आस्वादन करती है। कवि की काव्य-साधना में कष्ट कल्पना के पाषाण नहीं हैं और न तर्क का अवरोधक हिमप्रवाह अपितु उसके उद्वेगों एवं कोमल प्रेरणाओं को वे चिन्तन की समतल घाटी में ले जाती हैं। शब्दों के माध्यम से व्यक्त होने वाले अर्थ जिस चित्र का निर्माण मन के स्तरों पर करते हैं उनकी मर्मस्पर्शिता अधिक प्राणवान और चेतन बनकर प्रतिपाद्य विषय के सत्य को पहचानने की प्रेरणा प्रदान करती है।

मानव-हित और प्रगयोग की साधना के कारण उसकी भीतरी वृत्ति तदाकार हो गई है और इस तदाकार तन्मयता से कवि का मन उसे अभिभूत हो उठा है

"न सृष्टि एक रच रहा नवल
भावी मानव के हित भीतर।"

निःसन्देह पन्त की सम्पूर्ण साधना अन्तर्गर्भूत सत्य के आधार पर पार्थिव जीवन की सूक्ष्म दार्शनिक परिणति में है। प्रारम्भ में उन्होंने जिन सुनहले स्वप्नों को सँजोया वे जीवन के कठोर तल से टकराकर बिखर गये और पुनः विराट् का स्पर्श पाकर उनके सारे द्वंद्व सारे संघर्ष सीमा का व्यवधान मिटाकर सान्त से अनन्त में एकाकार हो गये। कभी प्राणों के उन्मद राग से उनके भीतर का मौन क्षोभ उठा कभी असम्बद्ध जीवन प्रयोगों को आत्मसात् करके वे हृदयंगम हो उठे और कभी उन्होंने अपनी कला की सूक्ष्मता से व्यष्टि-व्यक्तित्व में समष्टि का सामंजस्य दर्शाया। उनके सम्पूर्ण कवित्व में स्थान-स्थान पर उनकी बाहरी और भीतरी वृत्तियों में उलझाव पैदा हो गया है। लौकिक और आत्मिक जीवन में कशमकश सी रही है। कवि के अन्तर्मन का ऊहापोह कभी अशरीरी स्वप्नमय लोकातीत भावनाओं में परिव्याप्त हो गया और कभी बाह्य परिस्थितियों एवं मानव द्वंद्वों से उसका अन्तर आहत हो उठा। कभी उसकी उद्भ्रांत चेतना निस्सीम सुषमा में खो गई और कभी जीवन के व्यापक सामंजस्य के मूक दर्शन में उसने उसके आँखें मूँद लीं।

वस्तुतः पन्त की सुकोमल मनोवृत्तियों में जो कशमकश सी है—वह न सिर्फ आन्तरिक वरन् बाह्य प्रेरणाओं के कारण भी है। साहित्य-क्षेत्र में आलोचकों के दो दो दल हैं—रूढ़िवादी और मार्क्सवादी उन्होंने समय-समय पर अपनी आलोचना से कवि के कोमल मन को झकझोरा है। वह स्वभावतः स्वप्नदर्शी होते हुए भी कुछ अंत:प्रेरणा और कुछ प्रगतिशील आलोचकों के प्रबल आग्रह से प्रगतिशील बना किन्तु दूसरे आलोचकों के दल ने उसे स्वप्नदर्शी ही बन रहने की प्रेरणा दी। कवि का सरल मन मधुर स्वप्नों पर द्विविधाग्रस्त सा हो उठा है और उसकी विभिन्न धारणाओं की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो पाई है। कवि द्वारा अपने व्यक्तित्व और कला की आलोचना जो उसने स्वयं की है पढ़ने से हमारे कथन की पुष्टि हो जाती है और मननपूर्वक पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि पर बाह्य प्रेरणाओं का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक रहा है, यहाँ तक कि वह अपने जीवन और कवित्व की आलोचना भी उस तटस्थता से न कर सका जैसी कि एक आत्मवादात्मक कलाकार को करनी चाहिए।

आलोचनाओं को पढ़ते हुए हमें ऐसा बार-बार खटका है जैसे पन्त जी ने अपने आलोचकों की आलोचना पढ़कर अपनी आलोचना लिखी हो। कदाचित् यह उनके मन की उदारता अथवा अधिक आत्मानुभूति के कारण हो उसमें अपनी आलोचना करते हुए कहीं-कहीं आत्मश्लाघा का भाव आ गया है। जैसे 'मैं सर्मीला और वन और था' 'मैं प्रकृति को एकटक निहारा करता था अथवा ऐसा ही भाव व्यंजित करने वाले अन्य वाक्य में 'वह था—वह था'—उसी के समकक्ष है जैसे कोई आत्म विज्ञापु जीवन-द्रष्टा के मुख से यह कथन अशोभनीय है—देखो मैं कितना सुन्दर हूँ।

न जाने कितने उतार-चढ़ाव आवर्तन-प्रत्यावर्तन और मानसिक ऊहापोहों के पश्चात् कवि अपनी अन्तर्जिज्ञासा की साधना बना सका है। उसकी स्वप्निल दृष्टि जीवन-मुकुर को चीरकर अब भौतिक यथार्थता से आ टकराई है किन्तु उसमें विश्वास

का आग्रह कम कल्पना का उल्लास अधिक है। वस्तुतः उसकी विराट् चेतना आरम्भ में अपने भीतर के उच्छ्वसित सौंदर्य को प्रकृति में आरोपित करके जिस अज्ञात छवि की मधुमयी विस्मृति में लीन रही है वह बाद में क्रमशः अपने प्रेरक आकारों और जीवन की यथार्थताओं के अनुरूप ढलती गई। अनेक बार उसकी तार्किक वृत्तियाँ प्रबुद्ध होकर जीवन के ज्वलन्त सत्य पर आ टिकी और परस्पर द्वन्द्व संभ्रम सा होता रहा।

जाबू बिछा हरा भू पर
जुगने सोने की किरणों की,
जीवन हरियाली बो-बो कर।

प्रायः पन्त की कृतियों को लेकर दो प्रबल विचारधारा के आलोचकों में खींचातानी सी रही है। यह भी विवाद का विषय रहा है कि साहित्य में चिरन्तन सत्य की अभिव्यक्ति अधिक अभिप्रेत है अथवा तात्कालिक सामाजिक समस्याओं का चित्रित किया जाना। आज जब रोटी का प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण है और जीवन-यापन की विभीषिका जनव्यापी जिह्वा से स्वत चू रही है तो उससे एकबारगी मुह फेर कर कोई कैसे उदासीन हो सकता है ? किन्तु यह भी कैसे सम्भव है कि पेट की भूख ही सब कुछ है और आत्मा की भूख कुछ नहीं ? कैसे कोई सामाजिक समस्याओं में ही परितोष पाकर निस्सीम सुषमा और प्रकृति के अनन्त वैभव से आँखें मीचकर जी सकता है ? साहित्य में सर्वत्र से दोनों की कांक्षा रही है। दोनों ने अधिकार मांगा है दोनों समानान्तर लीकों पर देखा गया है।

पन्त की कविता शाश्वत-सत्य और युग-सत्य की सफल अभिव्यक्ति है। उन्होंने प्रकृति की रंगीनी में दिव्य चिरंतन विराट्-रूप का दर्शन किया है साथ ही सामाजिक-जीवन की समस्याओं पर भी दृष्टि-निक्षेप किया है। अतएव उनके काव्य को हम चिरतन सौंदर्य-बोध और युग-बोध का निगूढ़ सामंजस्य कह सकते है।

कहना न होगा कि 'वीणा' से 'उत्तरा' तक आते-आते कवि ने एक गहरे पाट को लांघा है। आज वह अनेक चक्करदार मोड़ों से निकलकर अपने अभीप्सित पथ पर आ गया है। अब उसे किधर मुड़ने की प्रेरणा होगी—इसे कौन बता सकता है ?

'ओ स्वप्न हरित छायाओं
इन सूक्ष्म चेतना सूत्रों में
मुझे मत बांधो !
मैं गीत प्राण हूँ
उड़ता हूँ —
ज्योति ज्वाल में नहीं बंधूगा !'

१२

काश्मीरी संत कवयित्री—लल्लदे

लल्लदे या लल्लेश्वरी काश्मीरी वाङ्मय की एक ऐसी प्रेमयोगिनी भक्त कवयित्री हैं जिन्होंने अपने स्फुट गद्य गीतों से न केवल अपनी अन्तरात्मा के सत्य का सौरभ बिखेरा अपितु अपने चैतन्य युक्त दर्शन द्वारा भक्ति और ज्ञान विवेक और अन्तर्नुभूति एवं अलख और अव्यय की स्वरूपभूत सत्ता का भी साक्षात्कार कराया। ये बहुत ही विरक्त और ब्रह्मानन्द में तल्लीन रहती थीं। यहाँ तक कि इन्हें अपने शरीर की भी सुधबुध न रहती थी और प्रायः अर्द्ध नग्नावस्था में तत्त्वदर्शी साधक की भाँति एक अद्भुत सम्मोहावस्था में ये घूमा करती थीं।

इनके जीवन के विषय में बहुत कम ज्ञात है पर काश्मीरी जनजीवन में क्या हिन्दू, क्या मुसलमान आम जनता की नजरों में आज भी ये इतनी लोकप्रिय हैं कि इनके फुटकर पद मौके-बेमौके उनकी जबान पर चढ़े रहते हैं। वे सब इनकी स्मृति को अत्यन्त श्रद्धा व समादर के साथ तरोताजा बनाये रखते हैं। इनके विषय में कितनी ही किम्वदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं जिनमें यत्र-तत्र इनके महान् त्यागमय जीवन की कुछ झलकियाँ ही मिलती हैं। कहते हैं—इनका विवाह एक अत्यन्त सम्मानित उच्च घराने में हुआ था पर इनकी सास का स्वभाव इतना चिड़चिड़ा और कर्कश था कि वे इन्हें तरह-तरह की यातनाएँ देती थी। इनके एक गीत का भावार्थ है कि चाहे घर में कितना ही बढ़िया पकवान क्यों न बने पर लल्लदे को तो हमेशा पत्थर ही खाने को परोसा जाता था। इनकी सास बड़ी ही चतुराई से इनकी थाली में पत्थर का टुकड़ा रख देती थी और उस पर चावल की पतली परत जमा देती थी जिससे देखने वालों और परिवार के अन्य व्यक्तियों को वह बहुत ज्यादा चावल नजर आता था। लल्लदे ने किसी से कभी कुछ शिकायत न की चुपचाप अपनी स्थिति से संतुष्ट रहकर वे सारे गम को पीती रहीं। फिर इनकी सास ने इनके पति के मस्तिष्क को भी विषाक्त बना दिया। उसने हर तरह से अपने पुत्र को यह भ्रम डालने की चेष्टा की कि पत्नी विश्वासघातिनी है और उससे प्रीति नहीं रखती। एक बार संशय में पति ने इनका अनुसरण किया तो एकान्त में इन्हें उपासना में रत पाया। किन्तु निरन्तर कौंचन से ज्यों-ज्यों दुर्भावना पुष्ट होती गई, दोनों के दिलों में फर्क आता गया और एक दिन उसने लल्लदे को घर से बाहर निकाल दिया। पश्चात्

का आग्रह कम कल्पना का प्रसभाव अधिक है। वस्तुतः, उसकी विराट् चेतना आरम्भ में अपने भीतर के उच्छ्वसित सौंदर्य को प्रकृति में आरोपित करके जिस अज्ञात छवि की मधुमयी विस्मृति में खीम रही है यह बाद में क्रमश अपने प्रेरक आधारों और जीवन की यथार्थताओं के अनुरूप ढलती गई। अनेक बार उसकी तार्किक वृत्तियाँ प्रबुद्ध होकर जीवन के ज्वलन्त सत्य पर आ टिकीं और परस्पर द्वन्द्व सा भ्रम सा होता रहा।

'आह! मिला इस भू पर
मुझने सोने की किरणों को
जीवन हरियाली खो-खो कर।

प्रायः पन्त की कृतियों को लेकर दो प्रमुख विचारधारा के आलोचकों में खींचातानी सी रही है। यह भी विवाद का विषय रहा है कि साहित्य म चिरन्तन सत्य की अभिव्यक्ति अधिक अभिप्रेत है अथवा तात्कालिक सामाजिक समस्याओं का चित्रित किया जाना। आज जब रोटी का प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण है और जीवन-यापन की विभीषिका लपलपाती जिह्वा से रक्त चूँस रही है तो उससे सर्वथा मुँह फेर कर कोई कैसे उदासीन हो सकता है? किन्तु यह भी कैसे सम्भव है कि पेट की भूख ही सब कुछ है और आत्मा की भूख कुछ नहीं? कैसे कोई सामाजिक समस्याओं में ही परितोष पाकर निस्सीम सुषमा और प्रकृति के अनन्त वैभव से आँखें मीचकर जी सकता है? साहित्य में सदैव से दोनों की मांग रही है दोनों न अधिकार माँगा है दोनों समानान्तर लीकों पर देखा गया है।

पन्त की कविता शाश्वत-सत्य और युग-सत्य की सफल अभिव्यक्ति है। उन्होंने प्रकृति की रंगीनी में दिव्य चिरंतन विराट्-रूप का दर्शन किया है साथ ही सामाजिक-जीवन की समस्याओं पर भी दृष्टि-निक्षेप किया है। अतएव उनके काव्य को हम चिरंतन सौंदर्य-बोध और युग-बोध का निगूढ़ सामंजस्य कह सकते हैं।

कहना न होगा कि 'वीणा' से 'उत्तरा' तक आते-आते कवि ने एक गहरे घाट को लांघा है। आज वह अनेक चक्करदार मोड़ों से निकलकर अपने अभीप्सित पथ पर आ गया है। अब उसे किधर मुड़ने की प्रेरणा होगी—इसे कौन बता सकता है?

"ओ स्वप्न हरित छायाओं
इन सूक्ष्म जालमा सूत्रों में
मुझे मत बाँधो!
मैं गीत खग हूँ
उड़ता हूँ —
ज्योति जाल में नहीं फसूँगा!

१३

काश्मीरी संत कवयित्री—लल्लदे

लल्लदे या लल्लेश्वरी काश्मीरी वाङ्मय की एक ऐसी प्रेमयोगिनी भक्त कवयित्री हैं जिन्होंने अपने स्फुट गेय गीतों से न केवल अपनी अन्तरात्मा के सत्य का सौरभ बिखेरा अपितु अपने चैतन्य गूढ़ दर्शन द्वारा भक्ति और ज्ञान विवेक और अन्तर्नुभूति एक अक्षय और अव्यय की स्वयम्भूत सत्ता का भी साक्षात्कार कराया। ये बहुत ही विरक्त और ब्रह्मानन्द में तल्लीन रहती थी। यहाँ तक कि इन्हें अपने शरीर की भी सुधबुध न रहती थी और प्राय अर्द्ध नग्नावस्था में तत्त्वदर्शी साधक की भाँति एक अद्भुत सम्मोहावस्था में घूमा करती थी।

इनके जीवन के विषय में बहुत कम ज्ञात है पर काश्मीरी जनजीवन में क्या हिन्दू क्या मुसलमान आम जनता की नजरों में आज भी ये इतनी लोकप्रिय हैं कि इनके फुटकर पद मौके-बेमौके उनकी जबान पर चढ़े रहते हैं। वे सब इनकी स्मृति को अत्यन्त श्रद्धा व समादर के साथ तरोताजा बनाए रखते हैं। इनके विषय में कितनी ही किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं जिनमें जब-तब इनके महान् त्यागमय जीवन की कुछ झलकियाँ ही मिलती हैं। कहते हैं—इनका विवाह एक अत्यन्त सम्मानित उच्च घराने में हुआ था पर इनकी सास का स्वभाव इतना चिड़चिड़ा और कर्कश था कि वे इन्हें तरह-तरह की यातनाएँ देती थी। इनके एक गीत का भावार्थ है कि चाहे घर में कितना ही बढ़िया पकवान क्यों न बने पर लल्लदे को तो हमेशा पत्थर ही खाने को परोसा जाता था। इनकी सास बड़ी ही चतुराई से इनकी थाली में पत्थर का टुकड़ा रख देती थी और उस पर चावल की पतली परत जमा देती थी जिससे देखने वालों और परिवार के अन्य व्यक्तियों को वह बहुत ज्यादा चावल नजर आता था। लल्लदे ने किसी से कभी कुछ शिकायत न की चुपचाप अपनी स्थिति से संतुष्ट रहकर वे सारे गम को पीती रहीं। फिर इनकी सास ने इनके पति के मस्तिष्क को भी विषाक्त बना दिया। उसने हर तरह से अपने पुत्र को यह समझाने की चेष्टा की कि लल्ल विश्वासघातिनी है और उससे प्रीति नहीं रखती। एक बार संशय में पति ने इनका अनुसरण किया तो एकान्त में इन्हें उपासना में रत पाया। किन्तु निरन्तर कोंचन से ज्यों-ज्यों दुर्भावना दृढ़ होती गई, दोनों के दिलों में फर्क आता गया और एक दिन उसने लल्लदे को घर से बाहर निकाल दिया। फलतः

चीथड़ों में वे दर-दर भटकने लगीं जिसका परिणाम यह हुआ कि एक पहुँचे हुए शैव मतावलम्बी विरक्त सन्त की कृपा से वे स्वयं एक महान् योगिनी बन गईं। बाह्य साज सज्जा यहाँ तक कि वस्त्रों तक की इन्होंने उपेक्षा कर दी। नाचती-गाती आनन्द विभोर ये जगह-जगह घूमती फिरती रहती थी। जब कोई इनकी नग्नता पर सहम जाता या इन्हें आचार मर्यादा का उपदेश देता तो य उत्तर देतीं कि मैं तो उन्हीं को मनुष्य मानती हूँ जो भगवान से डरते हैं और ऐसे व्यक्ति दुनिया में कम हैं। एक बार की घटना है कि इनके समकालीन सयद अली हमदानी जो कि एक मशहूर मुस्लिम सूफी फकीर थे और चौदहवीं शताब्दी में काश्मीर आए थे लल्लदे की ख्याति सुन इनसे मिलने के लिए इन्हें बाहर ढूँढने निकल पड़े। लल्लदे ने जब उन्हें दूर से आते देखा तो वे एकदम चिल्लाती हुई दौड़ीं कि आज तो मुझे असली मनुष्य के दर्शन हो गए। पास ही एक रोटी बनाने वाले की जलती भट्टी में य कूद पड़ीं और ऐसा लगा कि य उसमें अवश्य जलकर भस्म हो गई होंगी। मुस्लिम सन्त ढूँढते हुए उधर आए और उन्होंने रोटी पकाने वाले की पत्नी से इनके विषय म पूछताछ की। वह भयभीत हो गई और उसने कुछ भी जानने-बूझने से इंकार कर दिया। किन्तु वे सन्त निरन्तर इन्हें खोजने में लग रहे और सहसा लल्लदे भट्टी से हरे दिव्य वस्त्र धारण किये हुए निकल पड़ीं।

उक्त कथा में कितना सत्यांश है—कहा नहीं जा सकता परन्तु इसमें इनकी अन्तरंग सिद्धि और उच्च आत्मा का तो आभास मिलता ही है। जीवन को आच्छन्न करने वाले मोह और अत्यन्त जटिल बन्धनों से मुक्त होकर जब अकस्मात् प्राणों में दीप्ति जगती है तो ऐसा तेज आत्मगौरव और अनन्त स्फूर्ति का संचार होता है जो क्षुद्र स्वार्थों अथवा अभीष्ट पूर्तियों से बहुत ऊपर उठा देता है। लल्लदे के शून्य अन्तर में जबकि यह नितान्त असहाय और सभी सुखों से वंचित हो चुकी थी एक ज्योति सी जगी थी। इससे उनके विश्वास को बल मिला और भीतरी पीड़ा ने व्यापक सामंजस्य एवं सहिष्णुता को प्रश्रय दिया।

उस समय पंडितों और शिक्षित वर्गों के उपयोग की भाषा संस्कृत थी पर लल्ल दे ने जनभाषा काश्मीरी में बड़ी ही निश्छल सरलता से अपनी भावनाओं को व्यक्त किया है। उस समय देश में घोर अशान्ति और उथल-पुथल मची हुई थी और धर्मान्ध कट्टर पन्थी लोग अपने-अपने मजहबों का प्रचार करने में जुटे थे। सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक विषमता ने सभी को त्रस्त कर दिया था। उस अवसर पर लल्लदे गलियों में घूमती रहीं और अपने अन्तर्निहित सत्य को जन-मंगलकारी आत्मदान के साथ एक ऐसी व्यापक और सबमुखग्राह्य संघटिनी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया जिसमें न कोई आवरण था न विग्रह न कोई अन्तराय और न किसी अपने-पराये का भेदभाव। इनकी दृष्टि के सम्मुख मानो सौहार्द और समता का सत्य प्रकट हो गया था।

एक स्थल पर वे कहती हैं

'पद् ता पाम् ॥ मखी समोय मानीं
हिटोप् मामोन् बिम् त राम् ॥

यमी आयम् मम सम्भात्मों
तमी दिठो पुरुयुक्तम् ॥"

अर्थात् जो अपने में और दूसरे में जरा भी भेद नहीं समझता जिसके लिए दिन की दुपहरी और रात्रि की उदासी एकसी है जो द्वैत या पृथकत्व की भावना से दूर है, वही केवल वही देवाधिदेव परम प्रभु से साक्षात्कार करने का अधिकारी है।

लल्लदे शैव थी अतएव शिव की सत्ता में जो शक्तियाँ निहित हैं उन शक्तियों की साम्यावस्था को ही वे ईश्वर या ब्रह्मभाव मानती थीं। स्थूल इन्द्रियों द्वारा बहिर्गत वस्तुओं का ज्ञान तो हो सकता है, किन्तु अतीन्द्रिय वस्तु जानने का उपाय तो दूसरा ही है और वह है निग्रह या योग। योग महान् है, उससे निःश्रेयस मोक्ष की प्राप्ति होती है। मन और क्रियाओं को साधने में योगी को बड़ा सचेत रहना पड़ता है क्योंकि विषयाकार वृत्ति को ब्रह्माकार वृत्ति में लगाने के लिए बड़ी कसमकश करनी पड़ती है।

"अविरामनद् ॥ त ज्ञान प्रकाशस् ॥
यमु जिनो तीम् ॥ कूर्मन्तिम् ॥ मुक्ती ॥
विषमीस् संसारनीस ॥ पासास ॥
अबुधि मन्त्रा मत् ॥ मत् दिती ॥"

अर्थात् दुखदायी संकल्पों के विनाश के साथ मोहाच्छन्न धुन्ध को चीरकर जिसने स्वर्णमूल प्रकाश वाली आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लिया है, जो जीवितावस्था में ही जीवनमुक्त हो जाता है यानी पुनर्जन्म की बार-बार की यन्त्रणा से पार पा जाता है वही अचिन्त्य प्राणशक्ति से तादात्म्य का अनुभव करता है। परन्तु जो अज्ञानी हैं वे जन्म-मरण के बन्धन में अधिकाधिक जकड़ रहकर गाँठ पर गाँठ लगाते जाते हैं।

परन्तु शिव के दो रूप हैं—शिव तत्त्व और शक्ति तत्त्व। सत्-चित् की अनुभूति होने पर एकाग्र समाधि अथवा निरतिशय आनन्द में अवस्थिति होती है। चित्त की पाँच अवस्थाएँ अथवा वृत्तियाँ हैं—प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा स्मृति। पर साथ ही पाँच प्रकार के क्लेश या विकार भी हैं। अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेश। समस्त मनोविकृतियाँ निरन्तर जीव को कर्म की ओर प्रवृत्त करती रहती हैं जिससे तरह-तरह की संस्कारजन्य वासनाएँ उभरती हैं। योगी अष्टांग—अर्थात् यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधि के द्वारा चित्तवृत्तियों या क्लेशों का बहिष्कार करने की सतत चेष्टा करता है। इसकी कितनी ही अवस्थाएँ एवं कोटियाँ हैं जिनसे साधक को गुजरना पड़ता है। चरम बिन्दु पर जब आत्मा और परमात्मा का एकीकरण हो जाता है, तब आराधक और आराध्य में किंचित् भी अन्तर नहीं रह जाता। भारतीय रहस्यवादियों अथवा मुस्लिम सूफियों जैसे

सिद्धान्त की ही लल्लदे ने अपने कृतित्व द्वारा पुष्टि की है। इनके एक पद में—

"नाथा पाना ना पर्जानिथ
साविथ बाविथ एहू कडेहू ॥
चि बु बु चि मिलो ना जाना
चु क बु कु क्यों सन्देहू ।

अर्थात् हे नाथ ! मैंने अपने आपको नितान्त तुच्छ माना है और इस कुदेह की विकृतियों को सदैव नष्ट करने में लगी रही हूँ। निरोध के द्वारा मन को तुझमें लय किया जा सकता है। लेकिन मैं कौन हूँ और तू कौन है—यह संशय और तर्क वितर्क मन को सदा सालता रहा। आत्यन्तिक निवृत्ति या तुझमें 'स्व' को पर्यवसित कर सकने में असमर्थ रही।

लल्लदे ने उस अकथनीय अस्तित्व ब्रह्म की भी व्याख्या की है जिसका गूँगे के गुड़ के समान स्वाद ही लिया जा सकता है पर जिसके विषय में कुछ भी स्पष्ट नहीं कहा जा सकता। इस परम ब्रह्म या ब्रह्मानंद की अनुभूति ही यौगिक क्रियाओं की सिद्धि है। प्राणायाम के अनवरत अभ्यास से प्राणवायु द्वारा शरीर स्थित वायुनाड़ियों और चक्र के उत्तेजित होने से जो शक्तियाँ प्रादुर्भूत होती हैं वे ही इड़ा पिंगला और सुषुम्ना के सहारे कुंडलिनी को ब्रह्मरंध्र की ओर ले जाती हैं। अन्ततोगत्वा जब कुंडलिनी सहस्र दल कमल में प्रविष्ट होती है तभी साधक जीवन्मुक्त हो जाता है। मन और शरीर से परे तब आत्मा ही परमात्मा का स्वरूप ग्रहण कर लेती है जिससे पाप का कलुष स्वयं धुल जाता है और विश्व की बृहत् परिधि में भ्रमण करते हुए भी उसे भय या संकोच नहीं होता।

अत्यन्त ऊँची स्थिति पर पहुँचने से एक प्रकार का मतवालापन आ जाता है। आध्यात्मिक मदिरा के नशे में मनुष्य इतना चूर हो जाता है कि भले ही लोग उस पर हँसें या उसकी खिल्ली उड़ायें इससे उसका कुछ बनता बिगड़ता नहीं। लल्लदे ऐसी ही अवधूत मस्तानी सन्त थी। आध्यात्मिक प्रवृत्तियों में मग्न होने के कारण उनमें ऐसी उन्मनता या वह कि समता आ गई थी कि उनकी दृष्टि में न कोई बड़ा था न छोटा। जो उनकी इस मस्ती को नहीं समझ पाता था वह उन्हें पागल या विक्षिप्त कहता था मगर जो इस हृदयग्राही के गुण का आभास पा जाता था वह स्वयं भी इनके संयम और अलौकिक कृत्यों से चमत्कृत हो उठता था। एक बार किसी बजाज से एक थान से दो बराबर-बराबर टुकड़े फड़वाए और दायें-बायें दोनों कन्धों पर एक एक टुकड़ा डालकर वे आगे बढ़ गईं। मार्ग में जिन लोगों ने इनका उपहास किया अथवा जिन्होंने इन्हें एक महान् योगेश्वरी समझकर इनकी अभ्यर्थना में सिर झुकाया तो वे प्रत्येक मज़ाक और अभिवादन पर एक एक गाँठ उन कन्धों पर पड़े अलग अलग टुकड़ों पर लगाती जाती थी। संध्या समय सभी जगह घूम फिरकर लौटने के पश्चात् इन्होंने बजाज-विक्रेता को वे दोनों टुकड़े लौटा दिए और तौलने के लिए कहा। उनके भार में उन गाँठों से जरा भी अन्तर न आया था। इससे इन्होंने दुनिया की

बताया कि ऐसी समता ही भक्ति प्राप्त करने का उपाय है। मान-अपमान की ओर से उदासीन योगी मात्र की विशुद्ध दृष्टि ही ऐसी सर्वव्यापी चेतना का अधिष्ठान करती है, जिससे कोई कितना ही अहित करे मन विचलित नहीं होता और न किसी की स्तुति या प्रशंसा से ही कुछ असर होता है।

कहना न होगा—लल्लदे उस सिद्धावस्था को प्राप्त हो गई थी जो विकारों से परे परमात्मा से मूक मिलन का अनुभव करती है। पांचभौतिक शरीर जो वासनाओं एवं कुसंस्कारों का आगार है और मिथ्याभासों एवं मूढ़ताओं के कारण सर्वोपरि विशुद्ध स्फुरणाओं की अवहेलना करता रहता है अनेक असाध्य रोगों अथवा व्याधियों से ग्रस्त होने पर भी कितना प्रिय होता है। कारण—भूल से आत्मा की अमरता शरीर में आरोपित कर ली जाती है। जीव समझता है कि शरीर ही आत्मा और सत्य है जिसमें आत्मरक्षण की प्रवृत्ति प्रबल होकर उसे चिरकाल तक कायम रखने के लिए प्रयत्नशील बनाती है।

लल्लदे पूछती हैं

'कुसो डङ्गिव कुसो जागि
कुसो सर् वथि सिलेप्यर
कुसो हरस् (पूजि लागि)
कुसो परम पद् मिलेप्या ॥

अर्थात् कौन सोया पड़ा है और कौन जागा हुआ है? ऐसा कौन-सा जलाशय है जहाँ निरन्तर जलस्रोत प्रवाहित होता रहता है? मनुष्य हर (शिव) को क्या वस्तु पूजा में भेंट चढ़ा सकता है? किस शाश्वत परिणाम को अन्ततः पहुँचा जा सकता है?

इसी के समाधान में लल्लदे अपने निम्न पद में उत्तर देती हैं

'मन डङ्गि ता अकुल जागि
वाजुय् पंच इन्द्रिय् सिलेप्या
पुश्ये हरस् पूजि लागि
परम चेतन् शिव् मिलेप्या ॥

मनुष्य गहरी निद्रा में निमग्न पड़ा है परन्तु जब उसे स्वात्म का बोध हो जाता है तो मानो वह जाग जाता है। पंच इन्द्रियाँ ही वह जलाशय हैं जो निरन्तर प्रवहमान रहता है। सबसे पवित्र वस्तु जो भगवान् शिव की उपासना में भेंट चढ़ाई जा सकती है वह है अपने अस्तित्व या अहम्भाव के सर्वान्तर्गत अनुभव का अविनाशी रूप। जिस शाश्वत परिणाम् को अन्ततः पहुँचा जा सकता है वह है शिवतत्व।

लल्लदे ने अपनी अंतरंग भावनाओं के समक्ष अनेक तर्क उपस्थित किए हैं। कहीं-कहीं अनुभूत भावोन्माद में वे इतनी खो जाती हैं कि ऐसा प्रतीत होता है मानों वे अपने आप से वार्तालाप कर रही हैं। उनके एक गीत का भावार्थ है जिसमें उन्होंने एक प्रसंग का उल्लेख किया है।

में मालोक बिखरे तब तक सफलता के उच्च शृंग पर नहीं चढ़ा जा सकता। जिसे पढ़ते मुड़कते-मुड़कते यदि ऊपर चढ़ते भी हैं तो नीचे कुछ अन्तर पर नगर का प्रकाश जिसे अभी अभी छोड़कर आए हैं उसी ओर प्रेरित करता है। चहल-पहल धारमुल हँसी-कहकहे संगीत और मस्तानी तानें कितनी ही मिश्रित ध्वनियों के साथ आकृष्ट करते हैं। तब मित्रों और स्वजनों का भी ध्यान आता है दुनियाँ की चहल-पहल और आनन्दोल्लास भी मन-पटल पर कौंध जाते हैं लेकिन सच्चा संकल्प-बल यदि जाग गया है तो भोग्य पदार्थ तुच्छ हैं और अवश्य अमोघ मनोबल से मार्ग में आने वाली बाधाएँ नष्ट हो जाती हैं।

"कर्म चु कारन कि कथीस्
यथ लसक ॥ परलोकस् ॥ अञ्जु ॥
उत्य यत् ॥ पूर्या मण्डलो चुम्बीस्
तवे चालिम् मरणमी राञ्ज ॥"

अर्थात् कार्य दो प्रकार के हैं—अच्छे-बुरे पर कारण अनेक हैं जिनसे सद्-असद् भावनाएँ उपजती हैं। इन सब बुरी वृत्तियों कुसंस्कारों और अनिष्टकारी भावनाओं को विनष्ट करने के लिए कुम्भक योग का अभ्यास कर। दूसरी दुनियाँ में जाती उच्च शृंग पर पहुँचकर ही तू निर्भय और स्वतन्त्र हो सकती है। अतः उठ आगे बढ़ चढ़ती चली जा और सूर्य-मण्डल का चीर द। मृत्यु का भय तुमसे तब बहुत दूर भाग जायगा।

"ज्ञान अम्बर पैरीम जमिस
मीम पद् वमीतीम् हुवि अञ्जु
कायसी ओमोको सपीजि समिल
कीन् ॥ कालुन् । मरणमी राञ्जु ॥

अर्थात् ज्ञान के प्रकाश से अपने 'स्व' को आवृत्त कर लिया। जलने जो मीम गाती है उसे अपने अन्तर में समो के। 'प्रणव' की सहायता से जलने ने अपने आप को अभिभूत कर लिया है। अलौकिक अन्तर्ज्योति जगा लेने से मृत्यु का भय उससे अब बहुत दूर भाग गया है।

ऊँची से ऊँची असम्भव उड़ान भरते हुए लल्लदे ने उस उच्च शृंग की प्रकाशमान अनुभूतियों को नीचे उतारकर भू-वासी मानव-जनता को भी उस पीयामृत का पान कराया है जो उनके दिव्य अन्तस्तत्त्व का आनन्द प्रदान है। जिस पर एक साधारण आदमी या योगिन की सी सत्य विचारधारा या समीहा ही उनमें नहीं है अपितु उनमें कलात्मक अभिव्यंजन और तीव्र प्रभविष्णुता भी है। उन्होंने जितनी ही ऐसी धारणाएँ व्यक्त की हैं जो सममानभिक और युगीन हैं। अपनी पराड़ पंक्तियों के कारण भाषा और भाव के संस्कार-परिष्कार की उन्होंने अवहेलना नहीं की बल्कि कहीं-कहीं वे इतनी जागरूक और जिज्ञासु हो उठी हैं कि उन्होंने शब्दों की झड़ी-सी लगा दी है।

न्ये गुरा परमेगुरा
बपुम अन्तुर वित्तो ॥
दुनवै उपज़ाय कन्दपुरा
हाह् ॥ क्य तुरुरो हाह् ॥ क्य तती ।"

अर्थात् हे मेरे गुरु परमेश्वर ! मुझे समझाओ वह गूढ़ रहस्य जो केवल आप ही को विदित है। श्वास दो किस्म की है जो अन्तर को चीरती हुई कण्ठ में ध्वनित होती है फिर वही एक 'हाह्' सर्द क्यों और दूसरी 'हाह्' उष्ण क्या होती है ?

इसी का समाधान करती हुई वे अपने इस पद में कहती हैं

"नाभिस्थान् ॥ ज्वलवी प्रज्वल् ज़लवन्थी
हीमीस तीं क्योंथी ह्युह् सुतो ॥
नासपवनस ॥ सर वहुवन्थी ॥
हाह् तव तुरुरो हाह् ॥ तव ततो ॥"

नाभि-प्रदेश स्वभावतः अत्यन्त गर्म है। वहीं से उष्ण वायु टकराकर कण्ठ में ध्वनित होती है और मुख से 'हाह्' बनकर फूटती है। किन्तु वही ब्रह्मरन्ध्र से छन कर आते प्रवहमान शीतल जल के संयोग में सर्द बनकर मन में सुख-शान्ति की वर्षा करती है। यही कारण है कि 'हाह्' सर्द और उष्ण दोनों होती है।

एक अन्य पद में—

"अकल्प काल वाजी मिह् ॥ बिगल्लो ॥
कलिपक ॥ मेह् ॥ कलिपक अन्यथाह् ॥
जानीत् ॥ सब्यर् ॥ प्रभु ॥ अगस्रे ॥
यीयेमु जानक ॥ तीयोम ज्ञास ॥"

अर्थात् यदि कालान्तर में तूने अपनी शरीरजन्य वासनाओं का दमन कर लिया तो तू बरेगू जीवन पसन्द करेगी या अवसान ? यदि तेरी समझ में यह अच्छी तरह बैठ जाय कि प्रभु सर्वगत और सर्वव्यापक है तो ज्यों-ज्यों तेरी सहनशक्ति दृढ़ पवित्र और अभय होती जायगी त्यों-त्यों तुझे अन्तर-बाहर अलिप्त एकरूप अद्भुत आत्म-सन्तुष्टि प्राप्त होगी।

लल्लद्यद के अन्तर का मर्म है ज्ञान में अद्वैत तत्त्व और कर्म में योग-साधना। इस तरह की धारणा जिसमें कि मनुष्य की सर्वोच्च चेतना तक ज्ञानातीत हो जाती है उनकी रहस्यपूर्ण यौगिक अनुभूतियों की ही उपलब्धि है। एक समग्र पूर्णता—जिसे आत्मा का एकत्व कह सकते हैं—उन्हें अपनी योग-साधना से उपलब्ध हुआ था—वह भी जड़ रूप में नहीं सात्त्विक सजग रूप में क्योंकि बहुत पहले ही गार्हस्थ्य जीवन बिताते हुए उन्होंने वास्तविक अनुभूतियों और मन की अछूती ऊँचाइयों में समझौते की अवधारणा अर्थात् अपने भीतर और बाहर जगत के बीच एक सन्तोषजनक सम्बन्ध-सूत्र की उद्भावना कर ली थी। जीवन बहुत उलझा हुआ और वैविध्यपूर्ण

में मालोक बिखेरे तब तक सफलता के उच्च शृंग पर नहीं चढ़ा जा सकता। मिरते पड़ते गुड़कते-गुड़कते यदि ऊपर चढ़ते भी हैं तो नीचे कुछ अन्तर पर समर का प्रकाश जिसे अभी-अभी छोड़कर आए हैं उसी ओर प्रेरित करता है। चहल-पहल शोरगुल हँसी-ठहाके संगीत और मस्तानी तानें कितनी ही मिश्रित ध्वनियों के साथ आकृष्ट करते हैं। तब मित्रों और स्वजनों का भी ध्यान आता है दुनिया की चहल-पहल और आनन्दोल्लास भी मन-पटल पर कौंध जाते हैं लेकिन सच्चा संकल्प-बल यदि जाग गया है तो भोग्य पदार्थ तुच्छ हैं और अदम्य अमोघ मनोबल से मार्ग में आने वाली बाधाएँ नष्ट हो जाती हैं।

"कर्म यु कारण नि कुम्भीत्
यत समक ॥ परकोकस् ॥ मजू ॥
सत्य जत् ॥ सुयी मण्डलो कुम्भीत्
सवे चालिस् मदृखवी यजू ॥"

अर्थात् कार्य दो प्रकार के हैं—अच्छे-बुरे, पर कारण अनेक हैं जिनसे तरह-तरह भावनाएं उपजती हैं। इन सब बुरी दुरिच्छा कुसंस्कारों और अनिष्टकारी तृष्णाओं का विनष्ट करने के लिए कुम्भक योग का अभ्यास करें। दूसरी दुनिया में यानी उच्च शृंग पर पहुंचकर ही तू निर्भय और स्वतन्त्र हो सकती है। अब उठ आगे बढ़ चढ़ती चली जा और सूर्य-मण्डल को चीर दे। मृत्यु का भय तुझसे तब बहुत दूर भाग जायगा।

"ज्ञान अन्धर धरीथ जसिक
थीन पद् दयीतीस् हरि मजू
कारणी प्रोणोकी धरीथि तसिक
मोन् ॥ कासुम् । मरणपी तजू ॥

अर्थात् ज्ञान के प्रकाश में अपने 'स्व' को आवृत कर ले। कस्तूरे को गीत गाती है उसे अपन अन्तर में समो ले। 'प्रणव' की सहायता से सम्यक में अपने आप को अभिभूत कर लिया है। अलौकिक अन्तर्ज्योति जगा लने से मृत्यु का भय उससे अब बहुत दूर भाग गया है।

ऊँची से ऊँची अनन्त उड़ान भरते हुए अस्सरे ने उस उच्च शृंग की प्रकाशमान अनुभूतियों का बीज बताकर भू-गामी मानव-चेतना को भी उस योगामृत का पान कराया है जो उसके दिव्य अन्तर्चैतन्य का भावमय उद्गार है। फिर पर एक साधारण मायनी या जोगिन की सी एक विचारधारा या दर्शन ही उनमें नहीं है अपितु उनमें कलात्मक अभिव्यंजन और तीव्र प्रभावोत्पादकता भी है। उन्होंने कितनी ही ऐसी धारणाएँ व्यक्त की हैं जो समसामयिक और नवीन हैं। अपनी फक्कड़ बेढंगी न सरल भाषा और भाव के संस्कार-परिष्कार की उन्होंने अवहेलना नहीं की बल्कि कहीं-कहीं वे इतनी भावुक और जिज्ञासु हो उठी हैं कि उन्होंने शब्दों की झड़ी-सी लगा दी है।

में आलोक बिखरे तब तक सफलता के उच्च शृंग पर नहीं चढ़ा जा सकता। गिरते पड़ते लुढ़कते-पुढ़कते यदि ऊपर चढ़ते भी हैं तो नीचे कुछ अन्तर पर नगर का प्रकाश जिसे अभी-अभी छोड़कर आए हैं उसी ओर प्रेरित करता है। चहल-पहल शोरगुल हँसी-कहकहे, संगीत और मस्तानी तानें कितनी ही मिश्रित ध्वनियों के साथ आकृष्ट करते हैं। तब मित्रों और स्वजनों का भी ध्यान आता है दुनिया की चहल-पहल और आनन्दोल्लास भी मन-पटल पर कौंध जाते हैं लेकिन सच्चा संकल्प-बल यदि आ गया है तो भोग्य पदार्थ तुच्छ हैं और अवश्य अमोघ मनोबल से मार्ग में आने वाली बाधाएँ नष्ट हो जाती हैं।

"कर्म दु कारन बि कुम्भीत्
पव लभक ॥ परलोकस् ॥ अकु ॥
यस्य वस् ॥ सुर्यी मण्डलो कुम्भीत्
तवे चालित् मरनसी दारु ॥"

अर्थात् कार्य दो प्रकार के हैं—अच्छे-बुरे पर कारण अनेक हैं जिनसे सत्-असत् भावनाएँ उपजती हैं। इन सब बुरी वृत्तियों कुसंस्कारों और अनिष्टकारी दुष्टताओं को विनष्ट करने के लिए कुम्भक योग का अभ्यास कर। दूसरी दुनिया में मानो उच्च शृंग पर पहुँचकर ही तू निर्भय और स्वतन्त्र हो सकती है। अब उठ जाने वह पड़ती चली जा और सूर्य-मण्डल का चीर दे। मृत्यु का भय तुझसे तब बहुत दूर भाग जायेगा।

"ज्ञान अम्बार वैरीम सस्ति
चीम पद् बनीवीम् हुवि अकु
कारनी प्रोलोकी मरीवि सस्ति
फीम् ॥ कासुम् । मरनसी यदु ॥

अर्थात् ज्ञान के प्रकाश से अपने 'स्व' को आवृत्त कर के। लल्लदे जो गीत गाती है उसे अपने अन्तर में समो ले। 'प्रणव' की सहायता से लल्ल ने अपने आप को अभिभूत कर लिया है। अलौकिक अन्तर्ज्योति जगा लेने से मृत्यु का भय उससे अब बहुत दूर भाग गया है।

ऊँची से ऊँची असम्भव उड़ान भरते हुए लल्लदे ने उस उच्च शृंग की प्रकाशमान अनुभूतियों को नीचे उतारकर भू-वासी मानव-चेतना को भी उस पीयूष का पान कराया है जो उसके दिव्य अन्तश्चेतना का मानवीय प्रसार है। फिर पर एक साधारण नारी या योगिनी की सी वह विचारधारा या नसीहत ही उसमें नहीं है अपितु उसमें कलात्मक अभिव्यंजन और तीव्र प्रवणीयता भी है। उन्होंने कितनी ही ऐसी धारणाएँ व्यक्त की हैं जो समसामयिक और युगीन हैं। अपनी उपदेश वाणी के माध्यम भाषा और भाव के संस्कार-परिष्कार की उन्होंने अवहेलना नहीं की बल्कि कहीं-कहीं वे इतनी भावुक और जिज्ञासु हो उठी हैं कि उन्होंने प्रश्नों की झड़ी-सी लगा दी है।

सुभद्राकुमारी चौहान का वात्सल्य

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान के हृदय में उठने वाली भाव-लहरियों को मचलकर जो निरीह वात्सल्य और कभी न शांत होने वाली वात्सल्यमयी ललक उनकी कविता में प्रकट हुई है उसमें आज भी जीवनी-शक्ति के कण छलक-छलक कर मन को आप्लावित कर देते हैं। उनमें जो सहज वात्सल्य-छवि की मर्मस्पर्शी रमणीयता है वह द्वन्द्वात्मक बोध अथवा किन्हीं खास मन्तव्यों की आरोपित औपचारिकता नहीं अपितु वात्सल्य-वर्णन में उनकी गहरी आत्मीयता एवं मर्माहत भावप्रवणता के अन्तरंग आवेग का परिणाम है। उनकी प्रसिद्ध पंक्तियाँ

"मैं बचपन को बुला रही थी
बोल उठी बिटिया मेरी
नन्दन वन सी फूल उठी
यह छोटी सी कुटिया मेरी॥

वस्तुतः बचपन की कल्पना में कवयित्री का निज का अनुभव अन्तर्हित है। जिन्दगी अपने धूम-धूम हँसी-खुशी और आँसुओं समेत भले ही प्यारी हो पर बचपन की वे अल्हड़ घड़ियाँ न कभी फिर लौटकर आती हैं और न कभी हृदय को गुदगुदाने वाला वैसा आनन्द ही बिखेरती हैं।

"बार-बार आती है मुझको
मधुर याद बचपन तेरी।
गया ले गया तू जीवन की
सबसे मस्त खुशी मेरी॥"

जीवन की चित्र-विचित्र मिली-जुली अपरिमित अनुभूतियों के साथ भी बचपन की तरंगित स्मृतियाँ उभर आती हैं जिनसे अंतर्मन के तार झनझना उठते हैं। कैसी होती है यह अनुभूति या अज्ञात जादू की मोहिनी सी डाल देती है? कवयित्री जब बहुत छोटी थी—अबोध शिशु—तब की अनिर्वचनीय पुलकभरी घड़ियाँ उसे जाग्रत स्वप्नवत् अथवा प्रत्यक्ष सत्य सी भासने लगती हैं। एक बार नहीं अनेक बार बाल्यावस्था के अलौकिक दृश्य उसके स्मृति-पटल पर कौंध जाते हैं।

है। उसकी कारा में बन्दी होकर भी यदि सच्चे मानों में मुक्त होना है तो स्व-स्थित सिद्धान्तों के द्वारा ही उन्हें पूर्णता देनी है। एक स्थल पर वे कहती हैं

"शिव शिव करान्त यमो कोयो
वाम्यीस ।। यपु मसु ।। ता हत्
यमी आइय् ।। मन् ।। सम्पम्भो
तमी अलम्भो कुरगुरनाथ् ।।"

अर्थात् जो सर्वत्र उठते-बैठते 'शिव शिव' रटता है और भीतर मन में 'सोहम्' जगा लेता है वह चाहे रात दिन संसारी कार्यों में व्यस्त रहे उसकी द्वैत-बुद्धि सर्वथा नष्ट हो जाती है। तब अपनी आत्मा में ही वह प्रभु की असीम कृपा का आभास पाता है।

अन्त में जो ज्ञान लल्लदे को हासिल हुआ वह था संकीर्ण स्वत्व की सीमाओं से परे सत्य स्वरूप का बोध। इससे उन्हें एक नई शक्ति और नई अन्तर्दृष्टि मिली। दरअसल विश्व चेतना की कुंजी आत्म चेतना है। आत्मचेता व्यक्ति की प्रवृत्तियाँ दैहिक चेष्टाओं की संकीर्ण परिसीमा में बन्दी नहीं रह सकतीं। उसके भीतर जो है उसी असीम को वह बाह्य जगत की परिधि में पा लेने की चेष्टा करता है। किन्तु यह अन्तर्ज्ञान बाहरी प्रयत्नों से नहीं। उसके अपने भीतर ही अमर आस्था के ऐसे दीप से जगमगाता है जो सदा विस्तीर्ण असीम को आलोकित कर गतिशील बनाए रखता है। लल्लदे को इस तरह का विवेक जीवन के अधिक सच्चे दर्शन द्वारा प्राप्त हुआ था यही कारण है कि इस दर्शन में उन्हें वर्तमान का ही नहीं वरन् उस परोक्ष का भी दर्शन हुआ था जिसके केन्द्रस्थ सत्य की प्रतीति हमें आज तक उनकी वाणी द्वारा होती है।

है। उसकी कारा में बन्दी होकर भी यदि सच्चे मानो में मुक्त होना है तो स्व-स्थित सिद्धान्तों के द्वारा ही उन्हें पूर्णता देनी है। एक स्थल पर वे कहती है

"सिव सिव करन्त अमी सोवो
चम्पीत ॥ अमु भङ्ग ॥ ता हदू
अमी अङ्गम् ॥ अमु ॥ सम्पन्नो
तभी प्रसन्नो सुरगुरनाथ ॥"

अर्थात् जो सदैव उठते-बैठते 'शिव शिव' रटता है और भीतर मन में 'सोहम्' जपा लेता है वह चाहे रात दिन संसारी कार्यों में व्यस्त रहे उसकी द्वैत-बुद्धि सर्वथा नष्ट हो जाती है। तब अपनी आत्मा में ही वह प्रभु की असीम कृपा का आभास पाता है।

अन्त में जो ज्ञान लल्लदे को हासिल हुआ वह था संकीर्ण स्वत्व की सीमाओं से परे सत्य स्वरूप का बोध। इससे उन्हें एक नई शक्ति और नई अन्तर्दृष्टि मिली। दरअसल शिव चेतना की कुंजी आत्म चतना है। आत्मचेता व्यक्ति की प्रवृत्तियाँ दैहिक चेष्टाओं की संकीर्ण परिसीमा में बन्दी नहीं रह सकतीं। उसके भीतर जो है उसी असीम को वह बाह्य समता की परिधि में पा लेने की चेष्टा करता है। किन्तु यह अन्तर्दर्शन बाहरी प्रयत्नों से नहीं उपजे अपने भीतर ही अमर आस्था के ऐसे दीप से जगमगाता है जो सदा विस्तीर्ण असीम को आलोकित कर गतिशील बनाये रखता है। लल्लदे को इस तरह का विवेक जीवन के अधिक सच्चे रूप द्वारा प्राप्त हुआ था यही कारण है कि इस दर्शन में उन्हें वर्तमान का ही नहीं वरन् उस परोक्ष का भी ज्ञान हुआ था जिसके चिरन्तन सत्य की प्रतीति हमें आज तक उनकी वाणी द्वारा होती है।

१९

सुभद्राकुमारी चौहान का वात्सल्य

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान के हृदय में उमगने वाली भाव-लहरियों को मथकर जो निरीह सारल्य और कभी न थकित होने वाली आनन्दमयी चमक उनकी कविता में प्रकट हुई है उनमें आज भी जीवनी-शक्ति के कण छलक-छलक कर मन को आप्लावित कर देते हैं। उनमें जो सहज बाल-रुचि की मर्मस्पर्शी रमणीयता है वह द्वन्द्वात्मक बोध अथवा किन्हीं खास मन्तव्यों की आरोपित औपचारिकता नहीं अपितु वात्सल्य-भवन में उनकी गहरी आत्मीयता एवं मर्माहत भावप्रवणता के अन्त रंग आवेग का परिणाम है। उनकी प्रसिद्ध पंक्तियाँ

मैं बचपन को बुला रही थी
बोल उठी बिटिया मेरी
नन्दन वन सी फूल उठी
यह छोटी सी कुटिया मेरी ॥

वस्तुतः बचपन की कल्पना में कवयित्री का निज का अनुभव अन्तर्हित है। जिन्दगी अपने सुख-दुख हँसी-खुशी और आँसुओं समेत सभी ही प्यारी हो पर बचपन की ये अल्हड़ घड़ियाँ न कभी फिर लौटकर आती हैं और न कभी हृदय को गुदगुदाने वाला वैसा आनन्द ही बिखेरती है।

"बार-बार आती है मुझको
मधुर याद बचपन तेरी।
गया ले गया तू जीवन की
सबसे मस्त खुशी मेरी ॥"

जीवन की चित्र-विचित्र भिन्न-भिन्न अगणित अनुभूतियों के साथ जो बचपन की तरंगित स्मृतियाँ उभर आती हैं उनसे अंतर्प्राणों के तार झनझना उठते हैं। कैसी होती है यह अनुभूति जो अज्ञात जादू की मोहिनी सी डाल देती है? कवयित्री जब बहुत छोटी थी—अबोध शिशु—तब की अनिर्वचनीय पुलकभरी खुशियाँ उसे जाग्रत स्वप्नवत् अथवा प्रत्यक्ष सत्य सी भासने लगती हैं। एक बार नहीं अनेक बार बाल्यावस्था के एकांतिक दृश्य उसके स्मृति-पटल पर कौंध जाते हैं।

"चिन्ता रहित खेलना खाना
वह फिरना निर्भय स्वच्छन्द।
कैसे भूला जा सकता है
बचपन का अतुलित आनन्द॥
ऊँच-नीच का ज्ञान नहीं था
छुआछूत किसने जानी?
बनी हुई थी वहाँ ? झोंपड़ी—
और चीथड़ों में रानी॥
किये दूध के कुल्ले मैंने
चूस अँगूठा सुधा पिया।
किलकारी किल्लोल मचाकर
सूना घर आबाद किया॥
रोना और मचल जाना भी
क्या आनन्द दिखाते थे?
बड़े-बड़े मोती से आँसू
जय माला पहनाते थे॥

बच्चे के रोने से माता का हृदय करुणार्द्र हो उठता है। वह चाहे कुछ भी करती हो सारा काम-धाम छोड़ कर उसे हृदय से लगाकर पुचकारती है और उसके अश्रुकणों को अपने स्नेह-अंचल से पोंछकर सुखाती है। बाल-क्रीड़ाओं में कितना वात्सल्य कितना सुख और विभोर करने वाला आनन्द उमड़ता रहता है—यह निम्न पंक्तियों में देखिए

"मैं रोई माँ काम छोड़कर
आई मुझको उठा लिया।
झाड़-पोंछ कर चूम-चूम
गीले गालों को सुखा दिया॥
दादा ने चन्दा दिखलाया
नेत्र नीर युत दमक उठे।
धुली हुई मुस्कान देखकर
सबके चेहरे चमक उठे॥

यद्यपि जीवन की मादक तरलता और मन रस की आमंत्रित बढ़ती वय के साथ नये-नये विकसित और परिवर्तित रूप धारण करती गई है, किन्तु वार्धक्य की करुण शिथिलता और एकाकीपन का मार्मिक विषाद बाल्यावस्था की अल्हड़ मस्ती को दबा गया है। उस समय कवयित्री को लगता है मानों उसके सुख का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो रहा है और वह भटी हुई और ठगी हुई जवानी की राह तक रही है। या एक अगाद कम्पन के साथ सूक्ष्म और रहस्यात्मक अनुभूतिशीलता में उसके

भीतर की तन्मयता एकात्म्य होती जा रही है, फिर भी सारी चपलता और मन का उल्लास गुमा हुआ सा लगता है। जीवन की दिशा संयोजित तो है, पर यौवना-वस्था के विविध कौतूहल और असाधारणता ने विस्मय मानसिक ऊहापोह एवं अन्यमनस्कता में लघु वयस की विकासमान उद्दाम धारा के वेग को मानों अवरुद्ध सा कर लिया है। एक अनबूझ गोपनीय मनःस्थिति में उसके हृदय में चुभन सी पैदा होती है जो व्यथा पहुँचाया करती है और जिसके प्रति कवयित्री ने गहरे प्रतिवाद का भाव व्यक्त किया है

"लाजभरी आँखें थी मेरी
मन में उमंग रँगीली थी।
तान रसीली थी कानों में
चंचल छैल छबीली थी॥
दिल में एक चुभन सी थी
यह दुनिया अलबेली थी।
मन में एक पहेली थी
मैं सब के बीच अकेली थी॥
मिला खोजती थी जिसको
हे बचपन ? ठगा दिया तू ने।
अरे ! जवानी के फन्दे में
मुझको फँसा दिया तू ने॥

दैनिक जीवन के संघर्ष और विषाद भरे गृहस्थी की अगणित समस्याएँ और परस्पर विपरीत तथा द्वन्द्वात्मक परिस्थितियों के कारण मन कितना चिन्तित और दुर्वह भार से दबा रहता है। परन्तु सुभद्रा जी ने गृहस्थी को कभी जंजाल नहीं माना क्योंकि नारी के यथार्थ रूप की व्यंजना पहले पत्नी फिर माँ में होती है। महामहिम जननी के रूप में तो उसका सर्वोत्कृष्ट अलौकिक रूप प्रस्फुटित होता है। सन्तान उसके व्यक्तित्व की पूरक है अर्थात् पति पत्नी के सानन्द समन्वय का मूर्तिमान प्रतीक उनके परस्पर विश्वास एवं ममत्व का हेतु और उनके जीवन के हर संघर्ष जन्य विषाद-कलाप का मूलाधार। बचपन की नैसर्गिक विश्रान्ति भोली भाली मधुर सरलता और निष्कपट जीवन की याद मन के सन्ताप और असन्तोष पर मरहम का काम करती है

"आ जा बचपन ? एक बार फिर
दे दे अपनी निर्मल शान्ति।
व्याकुल व्यथा मिटाने वाली
वह अपनी प्राकृत विश्रान्ति॥"

चूँकि कोमलता और एकनिष्ठ संरक्षण ही मातृत्व-प्रेम के अंतप्राण का केन्द्र

बिन्दु है अतएव नारी के नारीत्व-बोध की सात्त्विकता के सन्दर्भ में 'माँ' का रूप ही उसकी मौलिक भावना की चरम परिणति और सर्वत व्यापक रसतत्त्व के समन्वय की सतत चेष्टा है। युगों की ठोस चट्टानों पर जो उसके चरणचिह्न अंकित हुए हैं वे वैसे ही—भिन्न स्तरों में—जाने-पहचाने से लगते हैं और यद्यपि आज जीवन का रूप बहुत कुछ बदल गया है पर माँ के हाड़-माँस के शरीर में उसके मौलिक व्यवहार की विशुद्ध कसौटी ज्यों की त्यों बनी है।

कवयित्री के हृदय को विलोड़ित करने वाली मनोव्यथा तर्क-वितर्क चिन्ता आशंका और अविश्वास का जब ज्वारभाटा सा चलता है तभी उसकी नन्ही बिटिया यह स्वप्न भंग कर देती है। वह मिट्टी खाने के पश्चात् अपनी माँ को भी उसका स्वाद चखाने आई है। कवयित्री को तब ऐसा प्रतीत होता है मानों वह स्वयं बच्ची बन गई है और पुत्री के रूप में उसी का बचपन साकार हो उठा है

माँ ओ! कह कर बुला रही थी
मिट्टी खाकर आई थी।
कुछ मुँह में कुछ लिए हाथ में
मुझे खिलाने आई थी॥
पुलक रहे थे अंग दृगों में
कौतूहल था छलक रहा।
मुँह पर थी आह्लाद-लालिमा
विजय-गर्व था झलक रहा॥
मैंने पूछा "यह क्या लायी?"
बोल उठी वह "माँ, काओ।"
हुआ प्रफुल्लित हृदय खुशी से
मैंने कहा "तुम्हीं खाओ।
पाया मैंने बचपन फिर से
बचपन बेटी बन आया।
उसकी मंजुल मूर्ति देखकर
मुझ में नवजीवन छाया।"

बालिका का निश्छल प्यार माता के स्नेहविगलित हृदय में कितना अटूट साम्य और आत्मिक शांति उत्पन्न करता है। वह उसके साथ खेलती है, गाती है गुनगुनाती है और स्वयं बच्ची बन जाती है। वह अपने स्नेहांचल में उसे समेट लेना चाहती है, जहाँ प्रेम और करुणाविगलित वात्सल्य के साथ-साथ शिरा शिरा में प्राण धारा स्पन्दित हो रही है। माँ के उत्तरदायित्व निभाने में उसे एक नया अर्थ मिल गया है मानों जिस बचपन को वह वर्षों से खोज रही थी वह उसकी अपनी बच्ची के रूप में लौट आया है।

"मैं भी उसके साथ खेलती
खाती हूँ तुतलाती हूँ।
मिलकर उसके साथ स्वयं
मैं भी बच्ची बन जाती हूँ॥
जिसे खोजती थी बरसों से
अब जाकर उसको पाया।
भाग गया था मुझे छोड़कर
वह बचपन फिर से आया॥

एक अन्य स्थल पर इसी भाव को व्यक्त करती हुई सुभद्रा जी लिखती हैं

"बीते हुए बालपन की यह
क्रीड़ापूर्ण वाटिका है।
वही मचलना वही किलकना
हँसती हुई नाटिका है॥

माता का हृदय विधाता ने किन स्वर्गीय उपादानों और दिव्य वृत्तियों को लेकर निर्मित किया है और न जाने कैसे संतति-प्रेम का आकर्षण मनःप्राण को एक अभिनव मोहजाल में आबद्ध सा कर लेता है। एक कैसी विचित्र भावोन्मादना सी मस्तिष्क की शिराओं को अभिभूत सी कर लेती है कि जिससे माँ का व्यक्तित्व उसके बच्चे के द्वारा अभिव्यंजना का मार्ग पाता है। बालक उसके आदर्शों का प्रतीक और सुख-सौभाग्य का पूरक है। कवयित्री के मानस लोक में विविध स्वप्नों रंगीन कल्प भावों और भावुकतामयी प्रेम-उत्तेजनाओं के अनुभव के साथ साथ अपत्य-स्नेह का वरदान सा वह पुनीत वत्सल प्यार पनप रहा है जिसने उसे प्यार की तन्मयता और आत्मा की विधात्मता प्रदान की है। वह माँ का अखण्ड विश्वास लिए आप्लावन-कारी आतुरता और संयत औत्सुक्य के साथ स्नेहस्वरूप शीतलस्निग्ध प्यार की चिर नवी हल्की छायाओं को मन में उतार ऐसे चित्रण ही चित्र प्रस्तुत करती है जिनमें वात्सल्य की कोमलता और मातृ-हृदय के दुर्लभ भावरत्न छिपे पड़े हैं।

"यह मेरी गोदी की शोभा
सुख सुहाग की है लाली।
शाही शान भिखारिन की है
मनोकामना मतवाली॥
दीपशिखा है अन्धकार की
घनी घटा की उजियाली।
ऊषा है यह कमल-भृंग की
है पतझड़ की हरियाली॥
सुधा धार यह नीरस दिल की

मस्ती मगन तपस्वी की।
जीवन ज्योति नष्ट नयनों की
सच्ची लगन मनस्वी की।।"

यहाँ तक कि बालिका का रुदन भी उसे नहीं अखरता इसके विपरीत उसके नन्हे से ओंठ, नन्ही सिसकी अश्रुबिन्दु और करुण दृष्टि से माँ का हृदय गद्गद हो उठता है। वह समझती है उसका अपना कोई अंश है उसके अवसाद का स्थूल प्रतिरूप—जिसे उसकी आवश्यकता है जिससे उसका घनिष्ट नाता है।

"मैं सुनती हूँ कोई मेरा
मुझको कहीं बुलाता है।
जिसकी करुणापूर्ण चीख से
मेरा केवल नाता है।।

सुभद्रा जी ने बाल चेष्टाओं का भी बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन किया है। 'पतंग' पर लिखी एक कविता में

"लाल लाल हैं हरे हरे हैं
पीले और चाँद तारा।
ऐसे वाला भी पतंग माँ
लगता हमें बहुत प्यारा।
पैसे वाला ले दो माँ या
पहले वाला ही ले दो
क्यों देरी करती जाती हो
जल्दी उठो पैसे दे दो।।"

इस प्रकार माँ की जीवन्त रागात्मकता से उनकी वैयक्तिक निष्ठा का एक रम्य अविच्छिन्न सम्पर्क आज तक अटूट बना हुआ है। यहाँ आत्मजीवा नारी का रूप जिसके जीवन की पूर्णता माँ बनने में है उनकी कविताओं में अत्यंत सरल सहज रूप में व्यक्त हुआ है। आने वाली पीढ़ियाँ माँ की आस्था और भावुकता को क्या कभी खंडित होने देंगी ? माँ के सम्पूर्ण विकसित व्यक्तित्व में संदर्भ विभक्त व्यक्तियों के सश्लेष का सहज समाहार हो सकता है अर्थात् समस्त दायित्वों का स्वीकरण या उनकी परिपूर्ति। सुभद्रा जी ने जो कुछ भी लिखा वह माँ के रूप में सुमातृत्वयोगी जीवन की एक ऐसी अभिन्न इकाई है जिस में सदैव निःश्रेयस की प्राप्ति का आनन्दोल्लास है और यहाँ मनस् की रंजनकारी प्रवृत्ति को बाँधकर वे अपने समन्वित भाव और प्रभाव से चिर-चिरान्त तक जनता-जनार्दन के समक्ष निवेदित होती रहेंगी।

"बिखरे बाल विरस वदना सी
आँखें रोई रोई सी।
गोदी में बालिका लिये
मगन सी खोई खोई-सी।"

१५

महादेवी की काव्य-साधना

साहित्य और कलानुरागियों को महादेवी जी से प्रायः शिकायत रही है कि उनके कृतित्व में सामाजिक संघर्ष, हलचल एवं वैषम्य के घात-प्रतिघातों की सीधी और निर्बाध अभिव्यक्ति न होकर उनके अपने एकान्तिक जीवन की पूर्णता के उत्प्रेरक चित्र हैं जो एक खास क्षितिज पर हल्की धूमिल रेखाओं में स्थापित होकर रुके हैं। जहाँ तक महादेवी जी की कविता का प्रश्न है बात कुछ हद तक सही कही जा सकती है। जीवन के बाह्य विरोधी वातावरण में भीतर ही भीतर कुंठित रह कर और पीड़ा को आत्मसात् करके वे जिस अवचेतन स्थिति में अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्त होती रहीं वह स्पष्ट और बहिर्गत न होकर बहुत कुछ कल्पनामय और भ्रमोमय हो उठा। स्वच्छन्द विचारधारा और नैतिक आतंक से सहम कर ज्यों-ज्यों उनकी प्रकृत भावनाओं का दमन और शोषण होता गया त्यों-त्यों स्थूल के प्रति उनका आग्रह कम होकर एक अस्पष्ट कौतूहल में परिणत होता गया और वे छायावाद की झिलमिल छाया में जैसे आँखमिचौनी सी खेलती रहीं।

"उसमें हँस दी मेरी छाया
मुझमें रो दी ममता माया
अश्रु हास ने विश्व सजाया
रहे खेलते आँखमिचौनी।

वस्तुतः कविता में महादेवी के अन्तस्वर प्रकृत रूप में कम ही प्रकट हुए हैं। कवयित्री की तरल सूक्ष्म कोमल अनुभूतियाँ जीवन के जिस सत्य को लेकर प्रकट हुईं, वे चिंतन तक ही सिमट कर रह गईं, कर्म की प्रत्यक्ष प्रेरणा न दे सकीं। जिस सीमा रेखा के भीतर जीवन अनेक बाधाओं से घिरा है उसे लाँघकर भीतर जाने में कवयित्री को जैसे भय लगता है। जीवन की आहट पाते ही वह सहम कर ठिठक जाती है और स्थूल से उठकर सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति में आश्रय पाती है।

"कौन मेरी कसक में नित
मधुरता भरता अलक्षित ?
कौन प्यासे लोचनों में
घुमड़ घिर झरता अपरिचित ?

मस्ती मगन तपस्वी की।
जीवन ज्योति नष्ट नयनों की
सच्ची लगन मनस्वी की॥"

यहाँ तक कि बालिका का रुदन भी उसे नहीं अखरता इसके विपरीत उसके नन्हे से ओंठ, नन्ही सिसकी अश्रुबिन्दु और करुण दृष्टि से माँ का हृदय गद्गद हो उठता है। वह समझती है उसका अपना कोई अंश है उसके अवस्थान का स्थूल प्रतिरूप—जिसे उसकी आवश्यकता है जिससे उसका घनिष्ट नाता है।

"मैं सुनती हूँ कोई मेरा
मुझको कहीं बुलाता है।
जिसकी करुणापूर्ण चीख से
मेरा केवल नाता है॥

सुभद्रा जी ने बाल चेष्टाओं का भी बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन किया है। 'पर्दम' पर लिखी एक कविता में

"काला काला है हरे हरे हैं
पीले और चाँद तारा।
बोले बाला भी पलंग मा
लगता हमें बहुत प्यारा।
पीछे बाला के जो माँ या
बोले बाला ही के हो
क्यों तेरी करती बाती हो
चलो चलो पैसे हैं लो॥"

इस प्रकार माँ की जीवन्त रागात्मकता से उनकी वैयक्तिक निष्ठा का एकात्म अविच्छिन्न सम्बन्ध आज तक अटूट बना हुआ है। यहाँ मातृशीला नारी का रूप जिसके जीवन की पूर्णता माँ बनने में है, उनकी कविताओं में अत्यंत सरल सहज रूप में व्यक्त हुआ है। आने वाली पीढ़ियाँ माँ की आस्था और प्राणवत्ता को क्या कभी खंडित होने देंगी ? माँ के सम्पूर्ण विकसित व्यक्तित्व में संबद्ध विभक्त व्यक्तित्वों के संश्लेष का सहज समाहार हो सकता है अर्थात् समस्त दायित्वों का स्वीकरण या उनकी परिपूर्ति। सुभद्रा जी ने जो कुछ भी लिखा वह माँ के रूप में पुत्रान्तव्यापी जीवन की एक ऐसी अभिन्न इकाई है जिस में सहज निःश्रेयस की प्राप्ति का आनन्दोल्लास है और वहाँ अन्तस् की रंजनकारी प्रवृत्ति को सौंपकर वे अपने समन्वित भाव और प्रभाव से चिर-विराम्य तक जनता-जनार्दन के समक्ष निवेदित होती रहेंगी।

"बिखरे बाल विरस बदना सी
आँखें रोई रोई सी।
गोदी में बालिका लिये
उन्मन सी खोई खोई-सी।"

महादेवी की काव्य-साधना

साहित्य और कलानुरागियों को महादेवी जी से प्रायः शिकायत रही है कि उनके कृतित्व में सामाजिक संघर्ष, हलचल एवं वैषम्य के घात-प्रतिघातों की सीधी और निर्बाध अभिव्यक्ति न होकर उनके अपने ऐकान्तिक जीवन की पूर्णता के उत्प्रेरक चित्र हैं जो एक बाह्य क्षितिज पर हल्की धूमिल रेखाओं में रूपायित होकर रुके हैं। जहाँ तक महादेवी जी की कविता का प्रश्न है बात कुछ दूर तक सही कही जा सकती है। जीवन के बाह्य विरोधी वैविध्य में भीतर ही भीतर घुटित रह कर और पीड़ा को आत्मसात् करके वे जिस अवचेतन स्थिति में अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्त होती रहीं वह स्पष्ट और बहिर्मुख न होकर बहुत कुछ कल्पनामय और मनोमय हो उठा। स्वच्छन्द विचारधारा और नैतिक आतंक से सहम कर ज्यों-ज्यों उनकी प्रकृत भावनाओं का दमन और गोपन होता गया, त्यों-त्यों स्थूल के प्रति उनका आग्रह कम होकर एक अस्पष्ट कौतूहल में परिणत होता गया और वे छायावाद की झिलमिल छाया में जैसे आँखमिचौनी सी खेलती रहीं।

"उसमें हँस दी मेरी छाया
मुझमें रो दी ममता माया
अश्रु हास ने विश्व सजाया
रहे खेलते आँखमिचौनी।

वस्तुतः कविता में महादेवी के अन्तःस्वर प्रकृत रूप में कम ही मुखर हुए हैं। कवयित्री की सरस सूक्ष्म कोमल अनुभूतियाँ जीवन के जिस सत्य को लेकर प्रकट हुईं, वे चिन्तन तक ही सिमट कर रह गईं, कर्म की प्रत्यक्ष प्रेरणा न बन सकीं। जिस सीमा रेखा के भीतर जीवन अनेक बाधाओं से घिरा है उसे लाँघकर भीतर आने में कवयित्री को जैसे भय लगता है। जीवन की थाह पाते ही वह सहम कर ठिठक जाती है और स्थूल से उठकर सूक्ष्म सौंदर्यानुभूति में आश्रय पाती है।

"कौन मेरी कसक में नित
मधुरता भरता अलक्षित ?
कौन प्यासे लोचनों में
घुमड़ घिर झरता अपरिचित ?

स्वर्ण-स्वप्नों का चितेरा
नींद के सूने निलय में
कौन तुम मेरे हृदय में ?

महादेवी जी को जीवन में पीड़ा की बड़ी ही तीव्र अनुभूति हुई है किन्तु इस पीड़ा में भी वे एक प्रकार का आनन्द अनुभव करती हैं। उनकी कविता की अनेक पंक्तियाँ बतलाती हैं कि वे पीड़ा से छुटकारा नहीं चाहती वरन् अन्य किसी भी वस्तु से वह उन्हें अधिक प्रिय है।

प्रश्न है, यह पीड़ा की अनुभूति कैसी—जिससे छुटकारे की इच्छा न की जाय ? उसका अभाव खरा सा लगता है और रोने की चाह रखते हुए भी उनके प्राणों में पुलक है। इस जिज्ञासा के समाधान में हम कहेंगे कि उनकी पीड़ा या अंतर्व्यथा भावना की तरलता में बसी अन्तस्थ ऊहापोह की सहज तृप्ति अथवा रागात्मक द्रवण है जिसमें उतनी मार्मिकता और विह्वलता नहीं है जितनी पीड़ा के मूल में अपेक्षित है। पीड़ा कवयित्री के मन की वह मधुर स्निग्धता है जो गीतों में उभर कर किन्हीं अस्पष्ट उमंगों और धुंधले आवेगों की धूमिलता में फैल जाती है जिसे ठीक-ठीक पकड़ा नहीं जा सकता आँका नहीं जा सकता। शब्दों के माध्यम से इतनी सूक्ष्म मन स्थिति को व्यक्त कर पाना संभव ही कैसे है अतएव उनकी अभिव्यक्ति में वह दंशन और दाह नहीं है जो अपने अस्तित्व से उबरा कर मध्याह्न की प्रखरता को ज्योत्स्ना की शीतलता और भीतर के कोलाहल को शान्ति में परिणत कर देने की ख्वाहिश करे। वे तो अपनी पीड़ा छटपटाहट और बेचैनी को ज्यों का त्यों अक्षुण्ण बनाये रखना चाहती हैं।

"मैं पुलकाकुल
पल पल जाती रस-सागर ढुल
प्रस्तर के जाते बन्धन खुल
लह रही व्यथा निधियाँ नव-नव।

पीड़ा महादेवी के जीवन की अक्षय पूंजी है। उसमें वह व्यापक रागात्मक आवेग है (कचोट नहीं) जो एक छोर से दूसरे छोर तक संव्याप्त होने की क्षमता रखती है। इन स्थिति में कवयित्री कभी-कभी इतनी ऊँची सतह पर उठ जाती है कि पीड़ा वेदना और विवशता में उसकी भावनाओं का तादात्म्य सा हो जाता है।

"प्रिय सान्ध्य गगन मेरा जीवन !
यह क्षितिज बना धुंधला विराग
नव अरुण अरुण मेरा सुहाग
छाया सी काया वीतराग
सुधि भीने स्वप्न रंगीले घन
साधों का आज सुनहलापन
घिरता विषाद का तिमिर सघन

संध्या का नभ से मूक मिलन
यह अश्रुमती हँसती चितवन।"

महादेवी का हृदय मार्मिक संवेदना से आप्लावित है जिसका मूल स्रोत है प्रेम। आंतरिक तन्मयता और आकुल आवेग के कारण उनकी वस्तु दृष्टि घुल गई है पर उसका स्वरूप प्रणयोन्माद अतीन्द्रिय अनुभूति से परे सर्वतोभावेन आत्मार्पण की निष्काम विह्वलता में खो जाता है जहाँ अन्तरात्मा की गहराई में असीम व्याकुलता छिपी पड़ी है। प्रेम-साधना दुस्तर तपस्या में परिणत होकर आन्तरिकता के उस चरम बिन्दु पर पहुँच गई है जहाँ बिखरी कामनाओं को समेटकर उसकी पूर्णानुभूति की सार्थकता है और इस एक प्रेम से उसके आगे अनन्त प्रेमपिपासा जगती है।

"जीवन है उन्माद तभी से
निधियाँ प्राणों के छाले
माँग रहा है विपुल वेदना
के मन प्याले पर प्याले।

प्रेम-विह्वलता का ऐसा भावावेग —चाहे वह लौकिक हो अथवा पारलौकिक —एक ऐसी विगलित प्रेम-साधना की तल्लीनता बनाता है जहाँ वेदना से अभिषिक्त और हृदयरस से प्लावित प्रेमांकुर शाश्वत प्रेम-पिपासा के महान् महीरुह में लह लहा उठता है

है युगों की साधना से
प्राण का क्रंदन सुलाया,
आज लघु जीवन किसी
निस्सीम प्रियतम में समाया!

इसी 'निस्सीम प्रियतम' का मोहक स्नेहार्द्र रूप जो कवयित्री के कल्पना-पट पर अंकित हो गया है उसी के प्राणरस से मानों वह ओतप्रोत हो रही है उसका प्रत्येक निःश्वास उसी से सुवासित है और उसके कोमल स्पर्श से वह मानों अभिभूत और आविष्ट सी है। सर्वांगरूपेण वह उसमें लय होना चाहती है उसके जीवन में अपने जीवन का राग और मूक संवेदन उँड़ेलने की आकांक्षा रखती है फलतः दर्द और कसक की सँजोयी अनुभूतियों में वह मन-प्राण तदाकार हुई सी लगती है

"चित्रित तू मैं हूँ रेखा-क्रम
मधुर राग तू, मैं स्वर संगम
तू असीम मैं सीमा का भ्रम
काया छाया में रहस्यमय!
प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या?

यही कारण है कि उनका व्याख्यातीत यह व्यक्तिपरक होता हुआ भी समष्टिपरक है। विभिन्न मनःस्थितियों के बीच उसका संवर्धित रूप बड़ा गहराई

और मार्मिकता से उभरा है। पलायन उसमें है, पर निवृत्तिद्योतक जड़ता नहीं। इसके विपरीत पूर्ण मनोयोग से उसकी सापेक्ष्य भावस्थिति को बड़े कौशल से ग्रहण किया है। कहीं-कहीं उसमें निहित गहरे संकेतों को इतनी तीव्रता और स्थिरता के साथ आँका गया है कि उसकी अव्यक्त और गूढ़ातिगूढ़ उपलब्धियाँ भी न केवल मार्मिक व्यंजना हुई हैं अपितु उसमें सौन्दर्य और मांगल्य की प्रतिष्ठा भी की गई है।

महादेवी की उक्त मार्मिक प्रवणता इतनी वैविध्यपूर्ण है कि उसकी विधाओं में उनके मानसिक ऊहापोह के अगणित बिम्ब-प्रतिबिम्ब उभरे हैं। कहीं स्वप्निल छाया में आवेष्टित विफलता क्रन्दन और कुण्ठाओं की निर्बन्ध अवतारणा है तो कहीं उनकी उदात्त भावस्थिति दर्शन की गरिमा में लिपटी-लिपटी प्रकृत अनुभूतियों में मानवेतर होकर सूक्ष्म सौन्दर्यबोध की सघन अनुभूति में व्यस्त हुई सी लगती है। यह सघन अनुभूति कवयित्री की आन्तरिक पीड़ा के योग से कहीं-कहीं इतनी सक्रियक हो उठती है कि उसके भावुक क्रन्दन की अनुभूति अथवा भीतरी अवसाद के कुहासे में दबी पड़ी राशि राशि भावलहरियाँ हुमककर झलकें मारती हैं और उनके ऐकान्तिक व्यष्टिभाव को सार्वजनीन तो कभी दार्शनिक चिंतन की कुंठा से भर देती हैं

"मुस्काता संकेत भरा नभ
अलि क्या प्रिय आने वाले हैं!
नयन श्रवणमय श्रवण नयनमय
आज हो रही कैसी उलझन
रोम रोम में होता री सखि
एक नया उर का सा स्पन्दन!
पुलकों से भर फूल बन गये
जितने प्राणों के छाले हैं।"

प्रेम-तत्त्व का प्राधान्य होने से महादेवी के काव्य में विकास की एक स्पष्ट अन्तर्धारा दीख पड़ती है। दृश्यमान पदार्थों के वास्तव और बाह्य रूपों की अव-हेला कर वे अपने भीतर के सौन्दर्य को उपलब्ध करने में सदैव सचेष्ट हैं। भौतिक जगत् की कर्कशता जैसे उनकी दृष्टि, मन और प्राणों को स्पर्श तक नहीं करती। उषा की आलोक भरी आभा में कभी उनके प्राण गा उठते हैं और कभी संध्या की अवसादमयी सघनता में सिहर उठते हैं। उनके छायामय अन्तर में शिशु का सा निरीह सारल्य है जो इन्द्रधनुष की रंजित शोभा के अनवरत बनते आसमान में बनते मिटते देखता है और जिसके मन की क्षिप्र उमंग कौतुक की रंगीली और आनन्द की पुलक कभी भ्रान्त होना नहीं जानती। दूर—बहुत दूर—अ गेय पुरुष का मूक मौन जब कवयित्री के मन के क्षितिज पर उद्भासित हो उठता है और किसी भी तरह स्पष्ट-अस्पष्ट रूप में वे उसे अपनी कल्पना और सुख के भावदोरों से बाँध रखना चाहती हैं तो उनके अन्तरतम के किसी सुदूर, भीतरी कोने में उदासी उभर आती है और एक हल्का सा अजीब सा बोझ छा जाता है। नीरव एकान्त बाधा

बरण में सृष्टि के विराट् और चरम सुन्दर रूप को निरखने की अदम्य चेष्टा में वे खोयी सी अवाक बैठी रह जाती हैं और बनी गहरी वेदना में उन्हें एक चुटीली मिठास का अनुभव होता है। कभी उनका मन किसी अज्ञात वस्तु के साक्षात्कार की लालसा में तड़प उठता है, कभी जीवन की गूढ़तम शून्यता उन्हें भकझोरने लगती है और कभी अन्तर्पट पर किसी निर्मम की चाह मचल उठती है अधरों पर अनुराग बिखर जाता है और नयनों में विरह की छाया छटपटा उठती है

अपनी लघु निःश्वासों में
अपनी सांसों की कम्पन
अपने सीमित मानस में
अपने सपनों का स्पन्दन।
मेरा अपार वैभव ही
मुझसे है आज अपरिचित
हो गया उदधि जीवन का
सिकता-कण में निर्वासित।

किन्तु कवयित्री की सृजन-शक्ति का यह अपरिचित अपार वैभव कभी चूक नहीं पाता उसकी अभिव्यंजना का आवेग कभी थकना नहीं जानता। उसके भीतर कला-साधना की ज्योति उत्तरोत्तर दीप्त होती रही है और इसी आलोक ने उसे बाहर के अँधेरे की उपेक्षा करने की सामर्थ्य दी है।

महादेवी के काव्य में एक स्वप्निल मानसिक वातावरण और व्यथा का सम्मोहन है। प्रणयोन्माद और अन्तःसौन्दर्य की अभिव्यक्ति में उनके भाव जितने ही अन्तर्मुख होते गए हैं उनकी भावाभिव्यंजना की कला भी उतनी ही सघन और दार्शनिक रहस्यात्मकता से आच्छन्न होती गई है। कौतूहल के बाद जिज्ञासा आई फिर रंजित कल्पना और अत्यन्त कोमलतम सूक्ष्म सौंदर्य-भावना। उनके अन्तरतम में छहरे उदात्त सपने धुँधली सी मीठी-मीठी मादक उदासी में भरकर कविता में उतरे। माधुर्य की मूक अनुभूति में सौंदर्य का उनका आकर्षण उत्तरोत्तर अन्तर्मुखी होता गया और वास्तविक अनुभूतियों के गूढ़तम स्तरों में छिपी आन्तरिक उथल-पुथल को उन्होंने विविध रंगों ध्वनियों और असाधारण तन्मयता में अंकित किया। किन्तु उनकी भावधारा में करुण उच्छ्वास भय और बेबसी की ग्रन्थि है। जीवन के अत्यन्त निकट होकर उनकी दृष्टि यथार्थता की ठोस भूमि पर नहीं कोमल वस्तु पर टिकती है। उनका प्यार असफलता पर रुके ग्रम-संघात के समूह। उनके भीतर कुछ दुराव सा है जो उन्हें यथार्थ के निकट जाने से रोकता है और यह दुराव बन जाने में ही क्रमशः बढ़ता गया है। भीतर दर्द है कुछ अवरुद्ध सा घुमड़ता हुआ उभरता भी है लेकिन कवयित्री उसे हवा में उड़ाना नहीं चाहती। वह दूरी का स्वाँग सा करती हुई आध्यात्मिक पाश में उसे जकड़ लेना चाहती है।

निम्न पंक्तियों में भाव-गुम्फन देखिए

"रजत-रश्मियों की छाया में धूमिल घन सा वह आता
इस निदाघ से मानस में करुणा के स्रोत बहा जाता।
उसमें मर्म छिपा जीवन का
एक तार अगणित कम्पन का
एक सूत्र सबके बन्धन का
संसृति के सूने पृष्ठों में करुण-काव्य वह लिख जाता।

यों महादेवी के काव्य में एक स्वतन्त्र दर्शन की नियोजना भी है जो निराकार उपासना सूफीवाद और बौद्ध-दर्शन से प्रभावित है, किन्तु उसे भी एक बौद्धिक प्रयोग ही समझना चाहिए। जहाँ भाव की प्रमुखता में तथ्य दब जाता है वहाँ व्यक्ति-जीवन के प्रसार में गहरी लीकें खिंच जाती हैं। महादेवी के काव्य की दार्शनिक गूढ़ता अत्यधिक कल्पनाशीलता सूक्ष्म चिन्तन संश्लेषात्मक बुद्धि उनकी अपनी अनिर्दिष्ट स्थिति से उत्पन्न हुई है। वह अन्तः प्रकृति की ओर से नहीं बाह्य प्रकृति की ओर से है। इसीलिए उसमें उनका निजत्व डूबता नहीं वह जैसे अगाधित अज्ञात आलम्बन के सहारे दूर टँगा सा रह जाता है।

महादेवी के काव्य में कहीं-कहीं अव्यक्त असमाधेय स्वर सुन पड़ते हैं। निर्वाक् स्तब्ध वीतराग स्वर, जो स्वच्छन्द होकर भी अन्तःप्रेरणा के असीम आदेशों में निगड़ आबद्ध हैं। किसी अज्ञात इच्छा से विह्वल उनके समस्त कृतित्व पर धुँधली सी छाया पड़ी है। 'दीपशिखा' में जहाँ कवयित्री ने गीतों के साथ तूलिका का भी प्रयोग किया है कल्पना की सूक्ष्मताओं के साथ रंगों का भी अद्भुत सामञ्जस्य हो गया है। उसमें काव्य और कला का नवीन रूपान्तर है कला की आत्मा का सजीव स्फुरण है और सूक्ष्म रंगों की कलात्मकता के साथ उनके भाव-गाम्भीर्य की अभिनव अभिव्यक्ति है। चित्रों में अगणित संकल्प भर दिए गए हैं और कवयित्री की कला की अन्तरंग साधना गीतों के प्राणों में मुखर हो उठी है।

किन्तु सच्चे अर्थों में साधक वे हैं जो साधना की निविड़ता में बाह्य साधनों के ऊपर उठ जाते हैं। मानवीय अस्तित्व अपने भीतर चाहे कितनी ही गहराइयाँ और चाहे कितनी ही महत्ताएँ सन्निहित किये हुए क्यों न हो इस प्रकार की प्रेमयोग-स्थिति सहज सम्भाव्य नहीं है। स्वयं महादेवी की 'आधुनिक कवि' की भूमिका में लिखती हैं "चिन्तन में हम अपनी बहिर्मुखी वृत्तियों को समेट कर किसी वस्तु के सम्बन्ध में अपना बौद्धिक समाधान करते हैं अतः कभी-कभी वह इतना ऐकान्तिक होता है कि मनन से बाहर प्रत्यक्ष जगत् के प्रति हमारी चेतना पूर्ण रूप से जागरूक ही नहीं रहती और यदि रहती है तो हमारे चिन्तन में बाधक होकर।"

बौद्धिक होने के साथ-साथ महादेवी के दार्शनिक चिन्तन में रस-सिक्तता अधिक है। उनके काव्य में रागात्मक उद्वेलन है आत्मानुभूति नहीं। भिन्न-भिन्न

रंगों के धूमिल आलोक में आध्यात्मिक-तत्त्व तिरोहित हो गया है और अदृष्ट बिन्दु पर उनकी भावनाएँ जैसे जड़ हो गई हैं एकदम सीमित। उनमें फैलाव नहीं है, नारी के सरल कोमल भाव को तोड़कर वे आगे आगे नहीं बढ़ पाती।

गद्य

किन्तु इसके ठीक विपरीत महादेवी जी अपने गद्य में उस रूप का निदर्शन कराती है, जिसमें केवल स्वात्म को गौरव और अमरता प्रदान करने वाले उपकरण ही नहीं प्रत्युत् हृदय का हिलकारने वाली प्रेरणा-प्रदायिनी शक्ति है। वे अपने निजी व्यक्तित्व को छोट से काट इतर व्यक्तित्वों म लय करके अपने दिल और दूसरे के दिलों की बात सुनने और सुनाने को तैयार है। उनका गद्य कविता की भाँति सौंदर्य के भुलाव में डालकर हमें जीवन से दूर नहीं ले जाता वह तो हमारी शिराओं में चेतना भरकर हमें यथार्थ जीवन में झाँकने की प्रेरणा प्रदान करता है। वहाँ साधना और व्यामोह नहीं है जीवन के परस्पर पूरक चित्र है। आत्मा का सत्य शब्द शब्द पंक्ति-पंक्ति में सजीव होकर हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है।

'आज भी, जब कोई मेरी रंगीन कपड़ों के प्रति विरक्ति के सम्बन्ध में कौतुक-भरा प्रश्न कर बैठता है तो वह अतीत फिर वर्तमान होने लगता है। कोई किस प्रकार समझे कि रंगीन कपड़ों में जो मुख धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगता है वह कितना करुण और कितना मुर्झाया हुआ है। कभी-कभी तो वह मुख मेरे सामने आने वाले सभी करुण-क्लान्त मुखों में प्रतिबिम्बित होकर मुझ उनके साथ एक अटूट बन्धन में बाँध देता है।

'स्मरण नहीं आता वैसी करुणा मैंने कहीं और देखी है। खाट पर बिछी मैली दरी सहस्रों सिकुड़न भरी मलिन चादर और तेल के कई धब्बे वाले तकिये के साथ मैंने जिस दयनीय मूर्ति से साक्षात् किया उसका ठीक चित्र दे सकना संभव नहीं है। वह अठारह से अधिक की नहीं जान पड़ती थी—दुर्बल और असहाय जैसी। सूखे ओठ वाले साँवले पर रक्त-हीनता से पीले मुख में आँखें ऐसे जल रही थी जैसे तेलहीन दीपक की बत्ती।

'मुझे आज भी वह दिन नहीं भूलता जब मैंने बिना कपड़ों का प्रबन्ध किये हुए ही उन बच्चों को सफाई का महत्त्व समझाते-समझाते थका डालने की मूर्खता की। दूसरे इतवार को सब वैसे के वैसे ही सामने थे—केवल कुछ गंगा जी में मुँह इस तरह धो आये थे कि मैल अनेक रेखाओं में विभक्त हो गया था कुछ ने हाथ-पाँव ऐसे घिसे थे कि शेष मलिन शरीर के साथ वे अलग जोड़े हुए से लगते थे और कुछ 'न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी' की कहावत चरितार्थ करने के लिए कीट से मैल फटे कुरते घर ही छोड़कर ऐसे आदिमयुगरूप रूप में आ उपस्थित हुए थे जिसमें उनके प्राण 'रहने का आश्चर्य है गये अचम्भा कौन' की घोषणा करते जान पड़ते थे।"

('अतीत के चलचित्र' पृष्ठ २८ ६२ ७४)

'मुख से मटमैले सफेद किरमिच के जूते में छोट पैर छिपाये पतलून और

पैजामे का सम्मिलित परिणाम जैसा पैजामा और कुरते तथा कोट की एकता के आधार पर सिला कोट पहने उधड़े हुए किनारों से पुरानेपन की घोषणा करते हुए हैट से आधा माथा ढके दाढ़ी-मूँछ विहीन दुबली नाटी जो मूर्ति खड़ी थी वह तो यथावत चीनी है। उसे सबसे भिन्न करके देखने का प्रश्न जीवन में पहली बार उठा।

('स्मृति की रेखाएँ' पृष्ठ २२)

आश्चर्य है कि महादेवी जी जिन्होंने अपनी रंजित कल्पना द्वारा कविता में मनोज्ञ सृष्टि करके यथार्थ को बहिष्कृत या गौण सिद्ध कर दिया था वे गद्य में सचेत प्रयत्न द्वारा जीवन को एक पूर्णतर एवं दृढ़तर धरातल पर प्रतिष्ठित कर सकी हैं। यहाँ उन्होंने कलाकार की उस समृद्ध जीवन-दृष्टि को विकसित किया है जो दृष्ट वास्तविकताओं और कल्पनामूलक सम्भावनाओं के साम्य-वैषम्य की विभाजक सीमा मिटा देती है। आतंरिक रागातिरेक को उन्होंने अपने तक ही सीमित नहीं रखा वरन् भिन्न-भिन्न व्यक्तियों और जीवन की समस्त जटिल वास्तविकताओं में लय कर दिया है। 'अतीत के चलचित्र' में भीसा के गाँव की गँवई नारियों का कितना सजीव दृश्य चित्रित किया है जरा देखिए

'दूर पास बसे हुए, गुड़ियों के बड़े-बड़े घरौंदों के समान लगने वाले कुछ लिपे पुते कुछ जीर्ण-शीर्ण घरों से स्त्रियों का झुण्ड पीतल-ताम्बे के चमचमाते मिट्टी के नये काले और पुराने भदरंग घड़े लेकर गंगाजल भरने आता है उसे भी मैं पहचान गई हूँ। उनमें कोई बूटेदार लाल कोई निरी काली कोई कुछ सफेद और कोई मैल और सूत में अद्वैत स्थापित करने वाली कोई कुछ नई और कोई छेदों से चलनी बनी हुई धोती पहने रहती है। किसी की मोम लगी पाटियों के बीच में एक अंगुल चौड़ी सिंदूर रेखा अस्त होते हुए सूर्य की किरणों में चमकती रहती है और किसी के कड़वे तेल से भी अपरिचित रूखी जटा बनी हुई छोटी-छोटी लटें मुख को घेरकर उसकी उदासी को और भी केन्द्रित कर देती हैं। किसी की साँवली गोल कलाई पर शहर की कच्ची नगदार चूड़ियों के नग रह रह कर हीरे से चमक जाते हैं और किसी के दुर्बल काले पहुँचे पर लाख की पीली मैली चूड़ियाँ काले पत्थर पर मटमैले चन्दन की मोटी लकीरें जान पड़ती हैं। कोई अपने गिलट के कड़े-युक्त हाथ घड़े की ओट में छिपाने का प्रयत्न सा करती रहती है और कोई चाँदी के पछेली-ककना की झंकार के साथ ही बात करती है। किसी के कान में लाख की पैसे वाली तरकी धोती से कभी-कभी झाँक भर लेती है और किसी के ढारें लम्बी जंजीर से गला और कान एक करती रहती है। किसी के गुदना गुदे हुए गेहुँए पैरों में चाँदी के कड़े सुडौलता की परिधि सी बनाते हैं और किसी की फैली उँगलियों और सफेद एड़ियों के साथ मिली हुई स्याही राँग और काँसे के कड़ों को लोहे की साफ की हुई बेड़ियाँ बना देती हैं।'

('अतीत के चलचित्र' पृष्ठ ७१)

निःसन्देह, मानव जीवन इतना बिखरा हुआ और विविधता से पूर्ण है कि उसे

देखने-समझने के लिए अभेद चक्षुओं की आवश्यकता है। महादेवी जी ने अतीत की अलग-अलग सामंजस्यहीन बिखरी स्मृतियों को सरस विश्वास के सकोमल धागे में पिरोया है। उन्होंने जीवन में जो कई मोड़ उसम-युक्त आवर्तन-प्रत्यावर्तन और उससे प्राप्त स्थिर विवेक और स्थिति को परखने वाली आत्म-विश्वासमयी दृष्टि-प्रसार की कला सीखी उससे अपने सपनों के सरस किन्तु मार्मिक चित्र खींचने में उन्हें पर्याप्त सुविधा हो गई। उनका सरस सरल सजीव स्नेह भूखे नंगे निराश्रित बालकों को देखकर उमड़ पड़ा और उनका कोमल हृदय अभावग्रस्त अर्सलताओं की शिकार, पीड़ित उपेक्षित पुरुषों द्वारा रौंदी और सामाजिक बन्धनों में जकड़ी नारियों की आशा-निराशा हास्य-रुदन और अन्तर्बाह्य ऊहापोहों से व्यथित हो उठा। जहाँ कहीं उन्हें परवश असहाय विधवाएँ अथवा कुमुदकली सी कोमल अल्पवयस्का पति-विहीना किन्तु किसी युवक की विकृत वासनाओं की शिकार, अवैध संतति से विभूषित कोई किशोरी बाला दीख पड़ी वहीं उनके भीतर का उफान और भी अधिक दुर्दम्य कठोर आत्मवेदना से प्रवाहित होकर प्रकट हुआ।

'यदि यह स्त्रियाँ अपने शिशु को गोद में लेकर साहस से कह सकें कि 'बर्बरो तुमने हमारा नारीत्व पत्नीत्व सब ले लिया पर हम अपना मातृत्व किसी प्रकार न देंगी तो इनकी समस्याएँ तुरन्त सुलझ जावें।

न केवल उपेक्षिताओं परित्यक्ताओं विधवाओं और अवैध सन्तान वाली माताओं के प्रति उनकी असाधारण करुणा और सहानुभूति जाग्रत हुई अपितु पुरुषों की सम्भोगेच्छा की प्रज्वलित अग्निशिखा बनकर रूप का गर्हित व्यापार करने वाली वेश्याओं तक के प्रति भी उनकी सद्भावना है। असहाय बेबसी और मजबूरी के कारण जिनकी जिन्दगी के मूल्य निरन्तर घटते-बढ़ते रहते हैं व समाज में हम और पतित समझ कर भले ही ठुकरा दी जावें किन्तु उनके पतन में पुरुष का स्वार्थ और उसके भीतर घुमड़ता हुआ कुत्सित वासनाओं का कसमसाता उफान ही सहायक होता है।

'इन स्त्रियों ने जिन्हें गर्वित समाज पतित के नाम से सम्बोधित करता आ रहा है पुरुष की वासना की वेदी पर, कैसा घोरतम बलिदान किया है, इस पर कभी किसी ने विचार भी नहीं किया। पुरुष की बर्बरता रक्तलोलुपता पर बलि होने वाले युद्ध-वीरों के चाहे स्मारक बनाये जावें पुरुष की अधिकार भावना को अक्षुण्ण रखने के लिए प्रज्वलित चिता पर क्षण भर में जल मिटनेवाली नारियों के नाम चाहे इतिहास के पृष्ठों में सुरक्षित रह सकें परन्तु पुरुष की कभी न बुझने वाली वासनाग्नि में हँसते-हँसते अपने जीवन को तिल-तिल जलाने वाली इन रमणियों को मनुष्य जाति ने कभी दो बूंद आँसू पाने का अधिकारी भी नहीं समझा।

('शृंखला की कड़ियाँ' पृष्ठ ११३)

महादेवी जी ने वर्तमान सामाजिक व्यवस्था और परम्परागत संस्कारों पर कहीं कहीं इतना दारुण आघात किया है कि पाठक तिलमिला उठता है और उनकी अन्तरंग करुणा एवं निर्मम कचोट से प्रेरित गतिशील अभिव्यक्ति को सजीव रंगों में चित्रित

देखता है। कहीं हृदय को द्रवित करने वाली कोमलता है तो कहीं कड़वाहट के माध्यम से उत्पन्न कशाघात। अप्रतिहत रूप से इन कशाघातों ने उनके मर्म को छुआ है उनकी मार्मिक तीखी संवेदनाओं को उभारा है और जीवन की सम्पूर्ण संश्लिष्टता और हर तरह के अनुभवों की परम्परा में ग्रहण किए व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक अन्तर्सामंजस्य को प्रकट किया है। सामाजिक जीवन की गहरी पर्तों को छूने वाली इतनी तीव्र दृष्टि, नारी-जीवन के बंधन और शोषण को तीखेपन से आँकने वाली इतनी जागरूक प्रतिभा और निम्न-वर्ग के निरीह मूक साधनहीन प्राणियों का ऐसा हार्दिक और अनूठा चित्रण अन्यत्र कम ही मिलेगा। यथार्थ की ठोस भूमि पर जब कलम चलती है तो उसमें अनुभव की गहराई होती है आत्म-विश्वास की सक्रिय सजगता निवास करती है उसमें ठोस होती है मिठास होती है चिरन्तनता साँस लेती नजर आती है। महादेवी के 'अतीत के चलचित्र' 'स्मृति की रेखाएँ' और 'पथ के साथी' में उनके सूक्ष्म अन्तर्भाव ऊपरी सतह पर उठने वाली लहरियों की भाँति नहीं वरन् अंतस् के गहन-गम्भीर आलोडन से उत्पन्न तीखे ठोस बिन्दु हैं जो मर्म पर चोट करते हुए अमिट रूप से अंकित हो जाते हैं मानो भीतर की सारी शक्ति संचित होकर शब्दों में सजीव हो उठती है।

'सप्तपर्णा'

महादेवी जी के बौद्धिक चिंतन का एक महत्वपूर्ण आयाम है 'सप्तपर्णा' और इससे उनके कृतित्व को सर्वथा नई दिशा मिली है। इसमें इन्होंने भारतीय वाङ्मय के बिखरे सन्दर्भों को अपनी रंजित कल्पना द्वारा मुखर किया है। जैसे अनन्त बहते प्रवाह का न कहीं ओर-छोर नजर आता है और न कहीं आदि अन्त वैसे ही भिन्नता और दूरी नापती कितनी ही समानान्तर रेखाएँ आज तक साहित्य के प्रवाह में जम हुई हैं। उक्त प्रवाह की चर्चा करते हुए महादेवी जी कहती हैं—'प्रवाह में बनने मिटने वाली लहर नव-नव रूप पाती हुई लक्ष्य की ओर बढ़ती रहती है, परन्तु प्रवाह से भटक कर अकेले तट से टकराने और बिखर जाने वाली तरंग की यात्रा वहीं बालू मिट्टी में समाप्त हो जाती है। साहित्य हमारे जीवन को ऐसे एकाकी अन्त से बचाकर उसे जीवन के निरन्तर गतिशील प्रवाह में मिलने का सम्बल देता है।

एक अन्य स्थल पर वे लिखती हैं— आलोक को सूर्य से पृथ्वी तक आने में कितना समय लगता है, अंतरिक्ष के एक छोर से दूसरे छोर तक ध्वनि की यात्रा किस क्रम से कितने समय में पूर्ण होती है, यह जानने में समर्थ विज्ञान भी इस जिज्ञासा का समाधान नहीं कर सका है कि मानवीय विचार और संवेदन का एक युग से दूसरे में संक्रमण किस क्रम और कितने समय की अपेक्षा रखता है। पर वर्षों की संख्या और इतिहास की ऊहापोह के अभाव में भी हमारे हर चिंतन हर कल्पना हर भावना में मानो 'तत्त्वमसि' गूँज नहीं तो का कभी स्पष्ट कभी अस्पष्ट स्वर गूँजता रहता है जो प्रमाणित करता है कि हमारे बुद्धि और हृदय के तारों में कोई युगागत संस्कार भी है। जिसके सम्बन्ध में तर्क की असंख्य उलझनें हैं उसके सम्बन्ध में हमारा हृदय कोई

प्रश्न नहीं करता क्योंकि हमारी अंतश्चेतना उसे अपना स्वीकार कर लेती है।"

सचमुच साहित्य की पटभूमि भले ही समसामयिक वैशिष्ट्य लिये हो फिर भी उसकी प्राणवान परम्परा देश एवं काल के सीमान्तों से परे ऊर्ध्व चिरंतन मान बीय समस्याओं से सदा जुड़ी होती है। आज का साहित्य जिस जिज्ञासा अध्यवसाय एवं प्रयत्न के बल पर इस विकास बिन्दु तक पहुँचा है वह अपने इस अभियान में कितनी ही पगडंडियों से गुजरकर एक बड़ी मंजिल तय करता हुआ आगे बढ़ा है। 'सप्तपर्णा' में महादेवी जी ने हमारे साहित्य की अमूल्य धरोहर—जैसे आर्षवाणी वाल्मीकि थेरगाथा अश्वघोष कालिदास भवभूति तथा जयदेव आदि की कृतियों से कुछ चयन पदों का रूपान्तर प्रस्तुत करके सर्वथा एक नई परम्परा कायम की है।

सामान्यतः इस प्रकार का रूपान्तर कठिन कार्य है। कारण—ऐसी रचनाओं में लेखक परवश होता है, वह अपने मौलिक चिन्तन और अनुभूति का लक्ष्य न बना कर परमुखापेक्षी लक्ष्य कहता है। अतएव मूल विषय की आत्मा एवं मूकता को ऐसी रचना में यथावत् चित्रित करना एक बड़ी कला है और इस कला में महादेवी जी—मेरी सम्मति में—खरी उतरी हैं।

सबसे पहले आर्षवाणी अर्थात् वेदों के सूक्त और निर्देश की सम्यक् विधि में एकाकार विभिन्न विचारधाराएँ—जिन्होंने न सिर्फ हमारे धर्म संस्कृति आचार विचार वरन् मनःप्राणों तक को गतिमान किया है काव्य रूप में प्रस्फुटित हुई हैं। ऋग्वेद से अनूदित 'जागरण' की निम्न पंक्तियाँ देखिए

"ज्योतिर्वसना तू आने वाली उतरी भू पर
किरणों में तेरा वास रहा सबसे भास्वर;
ओ सूर्य वरुण की स्वसा ! तू आये तेरे स्वर,
हारें विरोधी रथी रहें हम विजयी वर।
हो अग्रगामिनी सत्य पुरन्ध्री सत्य मधुर
प्रज्वलित भूत यह अग्निशिखा उज्ज्वल अम्बर;
जो कल आज कल भी उसका प्रत्यावर्तन
करती आज्ञाएँ वरुण नियम गति में आरम्भ।"

वैदिक साहित्य 'आउट आव डेट' है साथ ही भाषा और शैली की दृष्टि से अत्यन्त दुरूह भी। धार्मिक होने के कारण उससे हृदय का तादात्म्य भी बहुत कम हो पाता है, पर महादेवी जी ने उसमें से वे चीजें चुनी हैं जिनसे किसी भी देश एवं काल में मानव जीवन का अटूट सम्बन्ध बना रहता है। जैसे ज्योतिष्मति अभि-यान भू-वन्दना शान्ति-स्तवन साम्यमन्त्र गृहप्रवेश जैसे विषय उठे हैं जो सदैव सृष्टि का नियमन और संचालन करते हैं। समय की असंख्य परतों को चीर कर दूसरे छोर पर वह मानव के सौन्दर्य-बोध राग-विराग हर्ष-विषाद और उल्लास-अनुराग वृत्तियों की झाँकी भी उसमें मिल जाती है। अथर्ववेद के ये उपयोगी काव्य निषय

ही सीधे अन्तस्तल को छूते हैं।

"यह उन्नत आकाश
और यह धरती जैसे
भीतिरहित हैं और
निरन्तर रहते अक्षय।
वैसे ही हे प्राण!
अबाधित शक्ति तेरी हो
नष्ट न होना और सदा तू रहना निर्भय।"

वैदिक साहित्य के बाद आदिकवि वाल्मीकि की अमर कृति 'रामायण' में से कुछ सुन्दर प्रसंगों को लिया गया है। राम का लोकोत्तर रूप एक ऐसे श्रेष्ठ महामानव की उद्भावना है जिसमें लौकिक और पारलौकिक शक्तियों का एक साथ सम्गुंफन है। आदिकवि के हृदय में राम की यह महागाथा एक बहुत ही छोटी घटना से प्रेरित हुई थी। क्रौंच पक्षी के करुण क्रन्दन ने उनकी प्रतिभा को मानो सोते से जगा दिया और उसके अस्फुट स्वर इस महाकाव्य में लय होकर अजर-अमर स्वर और ताल बन गये।

"व्याध से हत क्रौंच की
दयनीय स्थिति का ध्यान
कर गया मुनि धर्मधन के
द्रवित आकुल प्राण।
देखकर तब विकल क्रौंची
व्याध चरित अधर्म
यह चली वाणी सहज,
कि द्रवित उर का मर्म।

वन में राम और भरत मिलाप की कुछ कारुणिक पंक्तियाँ देखिए

"भरत तब दौड़े व्यथित
दुःख मोह से आक्रान्त
चरण तक पहुँचे न भू पर
गिर पड़े दुःख श्रान्त।
'आर्य' ही बस कह सके वे
धर्म में निष्णात
कण्ठ गद्गद से न निकली
अन्य कोई बात।

आदिकवि वाल्मीकि के बाद महाकवि अश्वघोष कालिदास भवभूति जयदेव तक आने के लिए बौद्ध साहित्य की अटूट लम्बी परम्परा को नजरन्दाज नहीं किया जा सकता।

बौद्ध दर्शन सम्बन्धी जातक कथाएँ और थेरी-थेरी गाथाएँ हमारे भारत की मिट्टी से सिरजी गईं, उनके विशाल वैविध्य में भूतभूत जीवन की कितनी ही व्याख्याएँ और अनुभूतियाँ बिखरी पड़ी हैं। वीतराग भिक्षु-भिक्षुणियाँ राजकुमार-श्रेष्ठीपुत्र ब्राह्मण-शूद्र साध्वी और गणिकाएँ, राजमहिषी और क्रीत दासियाँ—इस प्रकार विविध वर्ग परिवार और परिस्थितियों के सुखभोगी मानव और उनके अवस्थित सुख-दुःख हृद-विचार और घात प्रतिघात के जीते-जागते चित्र हमें उन बौद्ध-आख्यानों में विशेष या सहज ही हमारी रागात्मक वृत्तियों को आलोड़ित करते हैं।

'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' महाकाव्यों के रचयिता अश्वघोष महाकवि कालिदास के पूर्वगामी हैं। बौद्धकालीन दार्शनिक रूढ़ियों और धार्मिक मान्यताओं के बावजूद भी इस तत्त्वज्ञानी कवि की रसग्राही चेतना के तंतु उसकी अन्तरंग अनुभूतियों को छूकर, साथ ही भीतरी राग-विराग आकर्षण-विकर्षण तथा कठोर साधना के साथ-साथ उसकी रागमयी अभिव्यक्ति की तात्त्विक एकता की ओर भी संकेत करते हैं।

"विहग और मृगदल दोनों ने
रोक दिया कलरव कोलाहल
शान्त तरंगों में बहता था
प्रशान्त भाव से सरिता का जल।
शान्त दिशाएँ स्वच्छ हो गईं
नील गगन था स्वच्छ मेघ बिन
पवन लहरियों पर तिरता था,
दिव्य लोक के तूर्यों का स्वर।

महादेवी जी के हाथों कालिदास के प्रकृति-चित्र और भवभूति तथा जयदेव के शृंगार और प्रेम पद भी बड़ी ही सजीवता और सौन्दर्यानुभूति के दिग्दर्शक बन कर उभरे हैं जिनमें भारतीय लोक जीवन मानों उनकी धमनियों में सतत प्रवाह-शील रसस्रोत है जो न कभी सूखा है और न सूखेगा। आलंकारिक योजना और शब्द विन्यास को ही काव्य का प्राण माना जाय तो इस दिशा में भी महादेवी जी ने बड़ी ही गरिमा और प्रासादिकता के साथ उसे निभाया है। किसी दूसरे की अनुभूति को संप्रेषणीय बनाने के लिए उसे अनुवादों या रूपान्तरों की निगूढ़ व्यंजना एक बड़ी ही कठिन साधना है, बिना तन्मय हुए उसे प्राणों में उतारा नहीं जा सकता। कालिदास के मन-विकार की ये पंक्तियाँ कितनी सजीव उतरी हैं

"जाह जी सुरलोक को,
तुमको न पर छोड़ा अकेला
साथ ही लिए गए यहाँ
तुम रच गई हो मदन-बेला।

पर विरह की गुरु व्यथा से
यह हृदय है भार बोझिल
वे नहीं पाते इसे ये भाव
कुछ अवलम्ब सम्बल ।"

कालिदास की प्रकृति-निरीक्षण से प्रेरित 'कुमार संभव' 'रघुवंश' 'मेघदूत' 'ऋतुसंहार' 'विक्रमोर्वशी' और 'अभिज्ञान शाकुंतल' आदि के प्रसंगों को भी उन्होंने मार्मिक रूप में काव्योचित अभिव्यक्ति प्रदान की है। शकुन्तला की विदाई की ये पंक्तियाँ—

"आज विदा होगी शकुन्तला
क्षोभ हृदय आता है भर-भर,
दृष्टि हुई धुंधली हुई चिन्ता से
रुद्ध अश्रु से कण्ठ रुद्ध स्वर।
जब ममता से इतना विचलित
व्यथित हुआ वनवासी का मन
तब दुहिता विछोह नूतन से
पाते कितनी व्यथा गृही जन।
ग्रहण किया था कभी न जिसने
तुम्हें पिलाए बिना स्वयं जल
मंडन प्रिय होने पर भी जो
नहीं स्नेह से तोड़ सकी दल
जन्म तुम्हारे नव कुसुमों का
जिसके हित होता था उत्सव
वह शकुन्तला जाती पति गृह
आज अनुज्ञा दो इसको सब।"

'मेघदूत' में विरह कातर यक्ष अपनी प्रिया को संदेश भेजता है। महादेवी की सरल भाषा में एक सर्वांगीण भाव-धारा की रूपसृष्टि करती है

'संतप्तों के शरण जलधर !
ले जाओ संदेश प्रिया तक
मेरा जिसको धनद कोप से
विरह तप्त काया।
आषाढ़ मास का
प्रथम दिवस आया।"

और भवभूति के 'उत्तररामचरित' की सरल सरस पंक्तियाँ देखिए

"ये वे ही गिरि गुंजार मयूरों की केका से
वनस्थली है यही मत्त हरिणों से संकुल

जहाँ विपुल पादप जल में गहरे झुके हैं
वहीं नदी तट जहाँ मंजु लतिकाएँ संकुल।"

'सप्तपर्णा' में महादेवी जी ने प्राचीन काव्य-वैभव को समर्थ शास्त्रीय सन्दर्भों में ग्रहण किया है और चमत्कार परिष्कार और अतिरिक्त प्रेषणीयता द्वारा उसे गरिमामय बनाने की चेष्टा की है। इसमें लावण्य का उल्लास या रूमानी दृष्टि नहीं है अपितु बौद्धिक सहानुभूति एवं संवाद का सम्मोहन है। अन्तश्चेतना एवं मनःस्पन्दन के माध्यम से जो कुछ उन्हें अनुभूत हुआ अथवा साहित्य के बहुविध प्रसार में झाँककर कला और सौन्दर्य को आत्मोपलब्धि द्वारा जितना भी वे उसे मुखर बना सकीं वह निश्चय ही उपादेय एवं प्रभविष्णु है। स्वयं महादेवी जी के शब्दों में—

"किसी कवि की कृति के अध्ययन के समय उसकी अनुभूतियों के साथ पाठक का जो तादात्म्य होता है वह कभी पूर्ण कभी अंशतः पूर्ण और कभी अपूर्ण हो सकता है। इस तादात्म्य की मात्रा के न्यूनाधिक्य पर केवल उसके अपने आनन्द की मात्रा का न्यूनाधिक्य निर्भर है किन्तु जब वह किसी की अनुभूति को मर्मतः दूसरों तक सम्प्रेषणीय बनाने का कर्तव्य अंगीकार कर लेता है, तब उसका तादात्म्य या उसका अभाव दो पक्षों के प्रति उत्तरदायी है। प्रस्तुत अनुवाद की अपूर्णताओं के प्रति मैं सजग हूँ किन्तु समुद्र की अतल गहराई से निकाला हुआ मोती काष्ठ की छोटी मंजूषा में भी रखा जा सकता है।"

जीवन-दर्शन

किसी भी श्रेष्ठ कलाकार की महत्ता का मापदण्ड उसकी अनुभूति की गहराई और उसकी विषय-वस्तु का फैलाव है। कलाकार ज्यों-ज्यों अपनी भावनाओं को विश्वात्मा की एकरूपता में लय कर देता है त्यों-त्यों उसके आत्मभाव की परिधि व्यापक होती जाती है और तब प्रत्येक जड़ वस्तु उसकी बुद्धि का विषय न होकर अनुभूति का विषय बन जाता है। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं महादेवी के काव्य में विषण्ण वातावरण की सृष्टि हुई है। उनकी अस्पष्ट आकारहीन चाहनाएँ आन्तरिक विवशता का परिणाम हैं। बाह्य परिस्थितियों की अनुकूलता सक्षम न होने से उनमें जो आत्मपीड़न और अनाश्वस्ति है उसी ने जीवन के प्रति उनका तन्मय विश्वास खोकर उनमें क्षीण निराकार आलोक पलायन भावना और विषाद उत्पन्न कर दी है। गद्य में यह आन्तरिक विद्रोह और भी अधिक तीखा और मुखर व्यक्त हुआ है। अन्तःसंघर्ष और असन्तोष के साथ-साथ उनमें सामाजिक परिस्थितियों से तनाव है और यह तनाव यह अनास्था ही उनके सारे दर्शन का आधार है। गद्य में सामाजिक जीवन की ह्रासोन्मुखी गतानुगति के प्रति स्वस्थ एवं सबल विद्रोह होते हुए भी उनमें गतिशील क्रान्तिकारी चेतना और सक्षम क्रियाशीलता के चिह्न नहीं हैं। उनमें रोष है व्याघात नहीं पराजय है प्रतिकार भावना नहीं कोमलता है कठोरता नहीं निर्मम वास्तविकताओं के प्रति मूक स्वीकृति है, उनके निदान का

कोई स्पष्ट उपचार नहीं। महादेवी में विद्रोही तत्त्व सांसारिक सामाजिक निरंकुशता ग्रहण नहीं करते अतएव उनमें प्रतिरोध और विरक्ति है जिसमें विषाद का गहरा पुट भी है। कहीं-कहीं जहाँ टस गहरी है, उनकी बद्ध आत्मा तड़प उठती है। उनके भीतर में विद्रूप जग उठता है नारीत्व का यह चीत्कार कर उठता है और वे अधिकाधिक दारुण होकर चोट करती हैं। समाज की विभिन्न ह्रासोन्मुखी विकृतियों का पर्दाफाश करते हुए उनमें हृदय की मधुर पीड़ा की कराहट सुन पड़ती है जो पाठक के मस्तिष्क में अमिट चिह्न छोड़ जाती है।

इसी को अधिक स्पष्ट करें तो हम कहेंगे कि पद्य और गद्य में महादेवी के जीवन-दर्शन की दो पृथक धाराएँ विकसित हुई हैं। उनके पद्य की कसौटी है मधा संयम्य और आत्मपीड़न जिसमें बाह्य परिस्थितियों में आस्था न होने के कारण अन्तर्मुखी चिन्तन है विशुद्ध आध्यात्मिक अनुभूति नहीं। आत्मवर्ती जिन अनुभूतियों में रमता है उनका उसमें अभाव है अतएव इनका पद्य रागात्मक कल्पना का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता हुआ भी इतना लोकसंवेद्य न हो सका जो मन में उतर पाता। इसके विपरीत महादेवी के गद्य का अपना पृथक अस्तित्व है। पद्य के अंतर्गूढ़ स्वरों को उन्होंने गद्य में मुखर किया है और जीवन को उन्हें अर्थों में प्रतिष्ठित करने का स्वप्न देखा है। लोक-सामान्य संवेदनीयता की भावभूमि पर उन्होंने गहरे-हल्के रंगों के सम्मिश्रण से जीवन के जो चित्र आँके हैं वे मर्मपूर्ण अनुभूतियों के आधार पर यथार्थ का सच्चा निरूपण करते हैं।

'यामा' 'दीपशिखा' और 'आधुनिक कवि' की भूमिकाएँ कवयित्री के अन्तर्मंथन और प्रमुख संकल्पों की विचारात्मक प्रतिक्रिया है जिसमें अपने पक्ष-समर्थन का आग्रह अधिक वस्तुस्थिति की निर्दिष्ट दिशाओं का संश्लेषण कम है। कहीं-कहीं दार्शनिक चिन्तन की बौद्धिकता से उनकी भाव-व्यंजना सहज दुर्ज्ञेय हो गई है।

महादेवी जी की एक विचित्र आदत है कि वे हँसती बहुत हैं और कभी-कभी विपरीत स्थिति में भी बेहद हँसती हैं। जीवन के प्रति 'ट्रेजिक' दृष्टिकोण रखनेवाली कवयित्री का यह रूप बहुतों को आश्चर्य में डाल देता है।

मानव-मन के सीमान्त क्या हैं ?—यह तो बताना कठिन है, किन्तु किसी भी शारीरिक अथवा मानसिक असम्बद्धता विसंगति या विपर्यय से सजग चेतन का अचेतन से संयोग होने के कारण मनुष्य का पराजित मन बाह्य संघर्षों से ऊबकर एक काल्पनिक झूठी मस्ती अथवा मन बहलाने वाली भावुकता का आश्रय लेता है और अपनी फाकफूस से भरी अनुभूतियों की आवेगपूर्ण अभिव्यंजना करने लगता है। यह एक प्रकार का लक्ष्यहीन लक्ष्य है जो उसे काल्पनिक सुख देता है। अनेक बार बाहरी असफलताएँ और भीतरी विफलता भावुक व्यक्तियों को प्रमादग्रस्त बना देती हैं। उनकी वेदना में जैसे करुण आवेग की प्रचुरता होती है, उसी प्रकार उसकी विपरीत प्रतिक्रिया हर्ष भी विचित्र और आवेगपूर्ण होता है। महादेवी जी की हँसी

निराशा पलायन आवेग अतृप्ति असन्तोष और भीतरी विवशता का परिणाम है जिसे अनन्त सघर्षों से परे मुक्तावस्था कहा जा सकता है। यदि हम उनकी हँसी का विश्लेषण करें तो उसके मूल में उतनी रसात्मक अनुभूति नहीं जितनी असम्बद्धता असंगति और चपलापन पायग। उनके रुदन की भाँति उनका हास्य भी सक्रामक है। असम्बद्ध बातों और विपरीत स्थिति में हँसना इसी संक्रमण से प्रेरित होता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यदि विश्लेषण किया जाय तो अज्ञात मन की दबी घुटी इच्छा-आकांक्षायें कभी ऐसे बाहरी विषय पर आ टिकती है जो किसी विशेष अवस्था में स्थिर या आरोपित हो जाती है। बेहद विरोध या असाधारण दमन ही इसका मूल है जो बाहर भीतर असामजस्य के कारण मस्तिष्क का सतुलन बिगाड़ देता है। मनोलोक में यह भीषण कशाघात एव द्वंद्व-संघर्ष 'मनोविच्छेद' (Mental Dissociation) का कारण बनता है जिससे मानसिक वैमनस्य या मनोविक्षेप उपजता है। मन की अस्थिरता अधिक संवेग एव अत्यधिक भावुकता कुछ ऐसे मनोभ्रम उत्पन्न करती है साथ ही परिस्थिति की प्रतिकूलता परस्पर विरोधी वृत्तियों को प्रथय देती हुई उन संवेगों को उभारती है जिससे अकारण ही हँसना या रोना आता है। किसी दुराग्रही वृत्ति से छुटकारा पाने के लिए मन जब किन्हीं अज्ञेय कल्पनाओं में रमने लगता है तो अन्तत वे ही उस पर हावी हो जाती है और वे विचित्र क्रियाएँ या हठ-प्रवृत्ति शनै शनै उसकी आदत में शुमार हो जाती है। यह समझते हुए भी कि यह असंगत अकारण और निराधार है मनु विवश रहता है मानों ये नियत क्रियाएँ या सांकेतिक चेष्टाएँ उसका अभिन्न अंग बन गई हैं और ऐसी स्थिति में सहज ही वैचित्र्य अथवा असामान्य चेष्टाएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

कभी-कभी अतीत की घटनाएँ—जिन्होंने हमें बहुत अधिक प्रभावित किया है—हमारी मौजूदा अनुभूति के साथ संश्लिष्ट होकर समूचे चेतना तंतुओं को झकझोर डालती है। फिर वे इस प्रकार मन पर आच्छन्न हो जाती हैं कि ऐसा प्रतीत होता है जैसे ये नाना प्रतिक्रियाएँ आत्मसंघर्ष की द्योतक और मानसिक विकार की रूपान्तर मात्र हैं। इससे 'अहं' या ज्ञात मन—जो बाहरी जगत् के नियम-उपनियमों में बँधा है—सदैव अभिभूत रहता है और अज्ञात इच्छाओं से परिचालित मन के सूक्ष्म तन्तुओं को विशृंखल करता रहता है। परिणामस्वरूप नकारात्मक क्रिया-प्रतिक्रियाएँ असम्बद्ध हो जाती हैं और इससे उसमें कभी अत्यधिक प्रसन्नता जगती है तो कभी अत्यधिक उदासी। यह उसके तात्कालिक मनोभाव या 'मूड' पर निर्भर करता है।

जब चेतन-अचेतन स्थिति में दुरवस्था भाव विचार एवं आलम्बन एक हो जाते हैं तब हम किसी विशेष बात पर नहीं हँसते न किसी वस्तु को हास्यास्पद जानकर हँसते हैं वरन् यों ही अपने आप हँसते हैं तब हँसी भीतर से नहीं बाहर से आती है। महादेवी की अपनी हँसी को स्वकीय भाव से नहीं मुक्त भाव से अप नाती है। उनके बाह्य सुख-दुख जय-पराजय मान अपमान हानि-लाभ और प्रिय-अप्रिय प्रसंग उनकी आत्मिक दृढ़ता से टकराकर मस्त हँसी में बिखर जाते हैं। हँसी

का विश्लेषण करती हुई एक स्थल पर महादेवी जी स्वयं लिखती हैं

"जब हमारी दृष्टि में प्रसार अधिक रहता है तब हम किसी एक में उसे केन्द्रित नहीं कर सकते। प्रत्युत् हमारी विहंगम दृष्टि एक ही क्षेत्र में एक साथ अनेक को स्पर्श कर आती है। इससे जिस सीमा तक हमारा ज्ञान बढ़ जाता है उसी सीमा तक हमारी दृष्टि के विषयों का महत्त्व घट जाता है। इसके विपरीत जब हमारी हँसी में मुक्त विस्तार नहीं होता तब हम हवा के झकोरे के समान उसका सुखद स्पर्श सब तक नहीं पहुँचा सकते। उस स्थिति में हमारे हास-परिहास व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों को केन्द्र बनाकर सीमित हो जाते हैं। कलाकार की दृष्टि एक-एक पर ठहर कर ही प्रत्येक को अपना परिचय देती है और उसकी हँसी एक साथ सबको स्पर्श करके ही आत्मीयता स्वीकार करती है। इस परिचय और आत्मीयता के अभाव में जीवन का वह आदान प्रदान सम्भव नहीं होता जिसकी साहित्य और कला में पग-पग पर आवश्यकता रहती है।

महादेवी जी भावप्रधान कवयित्री हैं। भावोन्मेष ही उनमें जीवन-साधक आशा आनन्द तुष्टि साहस आस्था उद्बोध और व्यष्टि-समष्टि सम्बन्धी व्यापक अनुभूति तथा विरोधी तत्त्वों को उन्मीलित करने की शक्ति देता है। इसी भाव-भावना से उनमें आत्मनिष्ठा उत्पन्न हुई है।

अनेक बार उनके रेखाचित्रों और संस्मरणों को पढ़ते हुए यह विचार मन में उठा कि महादेवी जी ने अपने कृतित्व में निजी वैवाहिक पहलुओं पर क्यों न प्रकाश डाला अथवा पति से सम्बन्धित किन्हीं भी अनुकूल-प्रतिकूल अनुभवों को क्यों न शब्दों में बाँध दिया जैसा कि उन्होंने अपने जन्म बचपन स्वभाव तथा माता-पिता भाई बहिन और सम्पर्क में आये अन्य छोटे-से-छोटे व्यक्तियों और घटनाओं के सम्बन्ध में किया है। वस्तुतः महान् साहित्य-साधक के सम्मुख उसका अपना 'स्व' पृथक अस्तित्व नहीं रखता और पार्थक्य एवं भेदभाव की सात्त्विक व्यापक आत्मानुभूति में लय हो जाती है।

कहाँ मिलेगा वह बिछुड़ा प्रियतम? कब आएगा? क्योंकर, कैसे किन सुखद क्षणों और सौभाग्यशाली वेला में उससे साक्षात्कार होगा?

"जो तुम आ जाते एक बार!
कितनी करुणा कितने संदेश
पथ में बिछ जाते बन पराग;
गाता प्राणों का तार-तार
अनुराग भरा उन्माद राग;
आँसू लेते वे पद पखार।
हँस उठते पल में आर्द्र नयन
धुल जाता ओठों से विषाद,

छा जाता जीवन में वसन्त—
लुट जाता चिर संचित विराग;
आँखें देती सर्वस्व वार ।"

किन्तु जब व्यथा सघन होती है तो भाव स्तब्ध और अनुभूति-शक्ति शिथिल हो जाती है। न उसका विश्लेषण ही हो सकता है और न उसकी व्याख्या ही संभव है।

'रात सी नीरव व्यथा तम सी अगम मेरी कहानी।

क्या जाने यह अगम कहानी महादेवी जी के लिए भी उतनी ही दुर्बोध और अनजानी रह गई हो कि वे स्वयं आज तक उसके अतल में न पैठ पाई हों और अपने अन्तर्मन की सूक्ष्म प्रक्रियाओं और जीवन-सूत्रों का उस घटना से कोई सामञ्जस्य न बैठा पाई हों।

जब साधक आत्मनिष्ठा बना लेता है तो उसे जीवन के आदान-प्रदान की आवश्यकता नहीं रह जाती और न वह अपने जीवन में सामंजस्य-असामंजस्य ढूंढने की चेष्टा में ही अपनी शक्ति व्यय करता है। उसे न किसी के संरक्षण की अपेक्षा है और न कोई बन्धन ही उसे अपनी सीमा में बाँध सकता है। महादेवी जी लिखती हैं 'तभी जब किसी साधना को अपना स्वभाव और किसी सत्य को अपनी आत्मा बना लेती है तब दुःख उसके लिए न महत्त्व का विषय रह जाता है, न भय का कारण।"

महादेवी जी आज उस सतह पर पहुँच गई हैं जहाँ तिमिर की सीमा पार करके वे निस्सीम पथ की पन्थी हैं और उस पथ की अज्ञेयता को जानते हुए भी उनके धैर्य और विश्वास का अवसान नहीं है। उनकी अन्तश्चेतना जगकर आज अपने अव्यय रूप में सुस्थिर हो गई है उन्हें न विजय की आकांक्षा है और न पराजय ही उनके उन्नति-पथ का अवरोधक है। वस्तुतः कला की अमर साधना ही उनके जीवन का प्रथम और अन्तिम ध्येय बन गया है।

१६
हिन्दी कवयित्रियाँ

हिन्दी काव्य क्षेत्र में नारी के योगदान पर विचार करते हुए दो बातें निर्विवाद कही जा सकती हैं—एक तो उनके कृतित्व में मानव-जीवन के युगल पक्ष भौतिकवाद और अध्यात्मवाद की चरम साधना का प्रस्फुरण दूसरे अत्यन्त कोमल और अत्यधिक भावप्रवण होने के कारण उनकी नारी-सुलभ व्यथा जितनी सरल और मर्मस्पर्शी बन पड़ी उनकी अनुभूति उतनी ही तीव्र और गहन होकर प्रकट हुई।

प्रेमयोगिनी मीरा की कविता अन्तर्मुखी वेदना के कणों से सिंचित है—यह कौन नहीं जानता ? उनका प्रेम कितना सच्चा है, उनकी लगन कितनी गहरी और स्वाभाविक ! प्रियतम से अपने को एकरूप मानती हुई उन्हें भिन्न अस्तित्व की भावना ही नहीं होती। उन्हें तादात्म्य हो गया है और प्रिय-मिलन की आकांक्षा उन्हें उन्मत्त बना देती है।

'मैं तो गिरधर के रंग राती
पँचरंग चोला पहर सखी
मैं झिरमिट खेलन जाती
वा झिरमिट में मिलो साँवरो
खोल मिली तन गाती।

विरह की कसक के साथ मिलन की प्रसन्नतम अनुभूति भी हमें मीरा की कविताओं में मिलती है। उनमें अपने उपास्य के लिए केवल करुण अधीरता ही नहीं हृदय की विह्वल प्रसन्नता भी मिश्रित है। आत्मा में उमड़ती उद्दीप्त भाव-तरंगों को वाणी का रूप देकर उन्होंने जिस स्वच्छन्दता एवं सरसता के साथ अनुभूति और संवेदन शीलता का मिश्रण किया है—वह लोकोत्तर है। साधारण शब्दों में भी वे कितनी ऊँची बात कह गई हैं

'नैनन बनज बसाऊँ री जो मैं साहिब पाऊँ री।
इन नैनन मेरा साहिब बसता, डरती पलक न नाऊँ री
त्रिकुटी महल में बना है झरोखा तहाँ से झाँकी लगाऊँ री।

और

'सुरत निरत का दिवला सँजोले मनसा की करले बाती

प्रेम हटी का तेल सँवाले, बाती राखूँ दिन राती।

मीरा मुख्यतः सगुणोपासक हैं उन्होंने अपने उपास्य श्रीकृष्ण के मधुर रूप की ही उपासना की है किन्तु जब उनकी सूक्ष्मतम अन्तर्मनभूति अन्तस्तल को चीरकर अपनी स्थिति स्थिर न कर सकी तो उन्होंने उस निर्गुण को भी चाहा जो भौतिक प्रपंचों से परे एकरस और निर्मल है 'आ अपनी सेज बताया। कहीं वे कहती हैं

'सूली ऊपर सेज हमारी किस विध सोना होइ।
गगन मण्डल सेज पिया की किस विध मिलना होइ।

अलौकिक प्रेम की दीवानी मीरा ने अपने उद्गारों द्वारा मुक्तावस्था का वह उल्लेख किया जो जीवंत है जाग्रत है और दीप्तिमय है।

भगवान कृष्ण के एकान्त प्रेम में वे इतनी विभोर थी कि अपनी भाव-वृत्तियों के तादात्म्य द्वारा उन्हें पति रूप में उन्होंने वरण कर लिया था

"माई म्हांने सुपने में वरी गोपाल
राती पीली चुनरी ओढ़ी मेंहदी हाथ रसाल॥"

मीरा की इस आकुल तन्मयता में कोई दुराव-छिपाव नहीं है। उनकी प्रेमा भक्ति उस निर्मल स्थिति में पहुँच जाती है जबकि आराध्य के सिवाय उन्हें कुछ सूझता ही नहीं। उसी की रूप-माधुरी उनके नयनों में बस जाती है और दूसरी कोई छवि नहीं समाती।

"हेली मो सों हरि बिन रह्यो न जाय।
सासु लड़ै री ननदी खिजावै
पीव किम रह्यौ री रिसाय।
चौकी भी मेलो सजनी पहरा भी मेलो,
ताला क्यूं न जड़ाय।
पूरब जनम की प्रीति हमारी सजनी
सो क्यूं रही री लुकाय।
मीरा के तो, सजनी, राम सनेही,
और न आवै म्हारी दाय।"

मीरा का प्रेमोन्माद अथवा सर्वतोभाव आत्म-समर्पण की दार्शनिक जिज्ञासा के भीतर पैठने के लिए उस उच्च स्तर पर पहुँच जाना चाहिए जहाँ ससीम प्रेम के शुष्क एवं नैराश्यपूर्ण परिवेश का अतिक्रम करके आत्मानन्द की असीमता एवं भगवद् प्रेम के रसाम्बुधि में लय हुआ जा सकता है। आत्मा और परमात्मा जीव और ईश्वर एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। माया का आवरण अथवा दूसरे शब्दों में अज्ञान का पर्दा दोनों में अलगाव पैदा करता है। मीरा शुष्क ज्ञान-दर्शन द्वारा इस तथ्य पर नहीं पहुँची थीं बल्कि वे तो भगवान नटनागर के सगुण रूप की उपासिका थीं। उनका समूचा मन प्राण जीवन-दर्शन और साधना इसी प्रभाव में डूबी थी।

"प्यारे दरसन दीज्यो आय तुम बिन रह्यो न जाय
जल बिन कमल चन्द बिन रजनी ऐसे तुम देख्यां बिन सजनी।
व्याकुल व्याकुल फिरू रैन दिन बिरह कलेजो खाय।
दिवस न भूख नींद नहीं रैना मुख सूं कहत न आवे बैना।
कहा कहूँ कछु कहत न आवे मिलकर तपत बुझाय
क्यूँ तरसावो अन्तरयामी आय मिलो किरपा कर स्वामी
मीरा दासी जनम जनम की परी तुम्हारे पाँय।।"

मीरा प्रेम की इस अतीन्द्रिय अनुभूति की पराकाष्ठा पर कैसे पहुँच गईं— इसके कितने ही कारण बताये जाते हैं। सम्भवतः वे भक्त थीं और निष्ठावान व आस्तिक मेड़ता राजपरिवार में उत्पन्न हुई थीं। इनके पितामह राव दूदा परम कृष्ण भक्त थे। माता-पिता की एकमात्र सन्तति होने के कारण इन्हें माता के एकान्त प्रेम की निष्ठा का अवसर अपेक्षाकृत अधिक मिला फलतः उसके संस्कारों का सीधा प्रभाव इन पर पड़ा। एक दिन हँसी-हँसी में उन्होंने अपनी लाड़ली बेटी को बहलाने के लिए भगवान श्रीकृष्ण की प्रतिमा की ओर अंगुलि-निर्देश कर कहा था—'बेटी ये ही तेरे दूल्हा हैं। इसी से तेरा ब्याह रचाऊँगी।' बालिका के मन में बात बैठ गई और उसकी अबोध सरलता सामने इसे अपने भगवान सच मान बैठी। मीरा का अधिक समय पूजा आराधना और भगवान की मूर्ति के समक्ष अनुनय-विनय और तरह-तरह की मनुहारों में ही बीतता था। बड़े होने पर सगाई या विवाह तक की बात इन्हें मज़ाक लगती थी और उससे इनका मन सामंजस्य नहीं कर पाता था।

"कोई और को वरूँ भाँवरी म्हांके जग जंजाल।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर करो सगाई हाल।।"

प्रेम दीवानी मीरा की इस लगन और तल्लीनता पर तब किसी ने ध्यान नहीं दिया।

'जिन आँखिन में यह रूप बस्यो उन आँखिन सो फिर देखिये का।'

इस मर्म को तब कोई न समझा परिणाम स्वरूप मीरा का विवाह सिसोदिया वंश के महाराणा साँगा के ज्येष्ठ पुत्र राजकुमार भोजराज सिंह के साथ सम्पन्न हुआ। विदाई में गिरिधर नागर की प्रतिमा को माँगना ये न भूलीं।

'मे री माई म्हां को गिरिधर लाल।
प्यारे चरण की आन करत हौं और न दे मणि लाल।"

विवाह के पश्चात भी इनकी लौ भगवान में ही लगी रही। स्वप्न में इन्हें सदा प्रभु के दर्शन होते रहे।

'सोवत ही पलका में मैं तो, पलक लगी में पिउ आये।
मैं जु उठी प्रभु आदर देन कू, जाग परी पिव ढूंढ न पाये।

और सखी पिउ सुत गमाये मैं जु सखी पिउ जागि गमाये ।
आज की बात कहा कहूँ सजनी सुपना में हरि लेत बुलाये ।
वस्तु एक जब प्रेम की पकरी आज भये सखि मन के भाये ।”

वैधव्य के बाद तो वे सचमुच ही बन्धनमुक्त हो गईं। जन्म-जन्मान्तर का विरही प्रेमविह्वल मन निष्काम भाव से और परम सान्त्वना व आश्वासन के साथ कृष्ण भक्ति में विभोर हो गया। राजवंश की आचार-मर्यादाओं का पालन करने में इन्हें कठिनाई होती थी। पति की मृत्यु से इनका वैराग्य इतना बढ़ गया कि प्रेम विह्वलता के कारण इनमें भावोन्माद जगा। अपने प्राणाधार प्रभु की प्रतिमा के सम्मुख कभी वे हँसतीं कभी रोतीं और कभी-कभी इतनी तदाकार व एकनिष्ठ हो जातीं कि वे एक प्रेमातुर उन्मादिनी की भाँति नाच उठतीं। इनकी भक्ति एवं प्रेमनिष्ठा चरम स्तर पर पहुँच गई थी पर जैसा कि प्रायः होता है सामान्य परिस्थितियाँ अनुकूल न थीं। इनकी दुस्सह पीड़ा प्रियतम को परम आत्मीय के रूप में पाने की असीम व्याकुलता दूसरी तरफ लोक-लाज कुल-प्रतिष्ठा और स्वजन-परिजनों की तीव्र भर्त्सना—इन सब विधि निषेधों ने इन्हें कष्ट दिया और इन सबके दौरान इन्हें बड़ी-बड़ी यातनाएँ सहन करनी पड़ीं किन्तु मीरा उनसे विचलित नहीं हुईं बल्कि उन बाधाओं और प्रताड़नाओं का दबाव बढ़ते-बढ़ते इनकी कविताओं की मस्ती में ही प्रस्फुटित हुआ।

“राती माती प्रेम की विष भगत को मोड़ ।
राम अमल माती रहे धन मीरा राठौर ।।”

और—

“साज सकल भूषण सजे, सील संतोष सिंगार
ओढ़ी चूनर प्रेम की, गिरिधर जी भरतार ।”

कभी इन सभी परिस्थितियों से घबराकर अन्तर की प्रेरणा के वशीभूत हो वे पुकार उठतीं

“अब तो निभाया बनेगा बाँह गहे की लाज
समरथ शरण तुम्हारी साइयाँ सरब सुधारण काज
भव सागर संसार अपर बल, जामें तुम हो जहाज
निराधार आधार जगत गुरु, तुम बिन होय अकाज ।”

मीरा के काव्य की विशेषता है कि रूपदर्शन और मिलन स्पृहा की आंतरिक समीप्सा के साथ-साथ उनका विह्वल और आकुल भाव उन्हें उस भावभूमि पर प्रतिष्ठित करता है जहाँ उनका चरम समर्पण एवं परिपूर्ण विकास हुआ है। प्रेमतत्त्व की साधना में वे एक ऐसी प्रेमयोगिनी के रूप में आविर्भूत हुईं जिनकी वाणी लोकोत्तर व्यंजना करती हुई हृदय की निश्छल तन्मयता में डूबकर प्रकट हुई। उनका यह प्रसिद्ध पद—

"हेरी, मैं तो दरद दीवाणी म्हारा दरद न जाण्या कोय
दरद री मारयाँ दर दर डोल्याँ वैद मिल्या ना कोय
मीरा री प्रभु पीर मिटैगी जब वैद साँवरो होय।"

मीरा की कान्तासक्ति कुछ ऐसी थी जिससे भगवान श्रीकृष्ण ही उनके सर्वस्व और वे स्वयं उनकी चेरी या दासी थीं। उनमें एकत्व इतना बढ़ गया था कि वे अपनापन को सर्वथा भूलकर, जो साधना की चरमावस्था होता है, अपने प्राणपति में ही एकीभूत हो गई थी।

"मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई"

एक दूसरे पद में वे कहती हैं

"मैं गिरिधर के घर जाऊँ।
गिरिधर म्हारो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ।
रैण पड़े तब ही उठ जाऊँ भोर भये उठि आऊँ
जो पहिरावै सोई पहिरूँ जो दे सोई खाऊँ
मेरी उणकी प्रीति पुराणी उण बिन पल न रहाऊँ
जहाँ बैठावे तित ही बैठूँ बेचै तो बिक जाऊँ
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर बार बार बलि जाऊँ।"

मीरा ने भाषा-सौन्दर्य अथवा उदात्त शैली शिल्प की दृष्टि से काव्य रचना नहीं की वरन् उत्कट भक्ति एवं प्रेम विह्वल हृदय से जो सहज उद्गार निकले वे ही गेय पद बन गए।

"हरि मोरे जीवन प्राण आधार ॥
और आसरो नाहिं तुम बिन तीनू लोक मझार।
आप बिना मोहि कछु न सुहाव निरख्यौ सब संसार।
मीरा कहै मैं दास रावरी दीज्यो मति बिसार ॥"

अब तक गोस्वामी तुलसीदास की विदुषी पत्नी रत्नावली के सम्बन्ध में कोई नहीं जानता था पर मध्ययुगीन साहित्य पर शोध करने वाले अनेक विद्वानों ने उनके दो ग्रन्थों 'दोहा रत्नावली' और 'गोस्वामी तुलसीदास' को खोज निकाला जिनमें उनके नीतिपरक और आत्मपरक दोहे मिलते हैं। गोसाईं जी का अपनी पत्नी से कितना प्रेम था और वे उसके प्रेम में बौराये किस प्रकार एक भयंकर, तूफानी रात में नदी-नाले पार करके अपनी पत्नी के पास पहुँचे थे—यह एक प्रसिद्ध आख्यान है। चूँकि वे एक विदुषी और पठित नारी थी उन्हें अपने पति की यह उच्छृंखलता और बेसब्री पसन्द न आई। एक सच्ची कर्तव्यनिष्ठ जीवन सहचरी के नाते उनके मुख से उस समय अपूर्व भावमयी ओजस्वी वाणी निसृत हुई जिसने तुलसीदास जी को सर्वथा दूसरी दिशा की ओर मोड़ दिया।

पर यह क्या ? इन अनमोल शब्दों में वह क्या खो बैठी—इसका भान रत्ना

पत्नी को बाद में हुआ। गोसाईं जी ने घर और गृहस्थी का परित्याग कर दिया और फिर कभी वापस न आये। पति दूर था और पत्नी की पहुँच से परे, किन्तु फिर इसी दुखिया ने भक्ति एवं प्रेमाम्बु के नैवेद्य से ही पति की पूजा-अर्चना प्रारम्भ की जो दोहों में बनकर फूटी

"धिक् मो कहँ मो वचन लगि मो पति लह्यो विराग।
भई वियोगिनि निज करनि रहूँ उड़ावति काग॥"

प्रेम और कर्तव्य के इस द्विधा समय में उनका नारीत्व लगभग विक्षिप्त हो गया और उनका व्याकुल अन्तर कभी-कभी अत्यन्त कातर हो पुकार उठता

"हौं न नाथ अपराधिनी, तौऊ छमा करि देउ।
चरनन दासी जानि निज बेगि नारि सुधि लेउ॥"

पति के अभाव में वैवाहिक जीवन की नींवें ही खोखली हो गईं। प्रेम-बन्धन और माहात्म्य की एकनिष्ठा चरमरा उठी। जिस शान्ति का उदय मन के भीतर होता है उसके सहसा छिन जाने से वह अविश्वास बन जाती है। दैनन्दिन दुख और राख भरे जीवन की थकान के जब पत्त के पत्त उघड़ने लगते हैं तो लगता है शान्ति मिथ्या है भ्रम है, क्योंकि अन्तर्विरोधों का हल क्या है मन कैसे शान्ति पा सकता है शान्ति तो मन के बाहर से नहीं मन के भीतर से उत्पन्न होती है

"जदपि गये घर सों निकरि मो मन निकरे नाहिं।
मन सों निकरो ता दिनहिं, जा दिन प्रान नसाहिं॥"

ये विषाद की छायाएँ नारी-कण्ठ से निर्गमित होना चाहती थीं। अन्तर्मन का दुख इन धूमिल परछाइयों से छिन गया। रह गया [illegible]। विरह कातर रत्ना सती अत्यन्त दीन हो लिखती है

"हाय सहज ही हौं कही लह्यो बोध हिरदेस।
हौं रतनावलि जँची गयी, पिय हिय काँच विसेस॥
नाथ रहौंगी मौन हौं धारहु पिय जिय तोष।
कबहुँ न देहौं उराहनो, देहौं न कबहुँ दोष॥"

रत्नावली के आत्मपरक दोहों में उनके हृदय की वेदना विरह और निराश प्रेम की कठोर साधना की झाँकी मिलती है। ऐसे प्रेम में सच्चाई और मार्मिकता होती है। विवाह-बन्धन में बँधे दो साथी जो एक दूसरे के पूरक हैं किन्तु भाग्य की विडम्बना से अलग हो जाते हैं और फिर मिलने का अवसर नहीं पाते तो सहन-सहिष्णुता ही उनकी पूरक बनती है

"रतन प्रेम डंडी तुला, पला जुरे इकसार।
एक भार पीड़ा सहै एक लेहु सम्भार॥"

प्रेम की यह समाधान सहज बुद्धि तर्क एवं ज्ञान से अनुशासित होकर अंततः तृप्ति कर बन जाती है। जब निराशा हाथ लगती है और यह अनुभव होता है कि बार बार

निराशा ही निवेदी को सात्त्विक वैराग्य थमता है। यह वैराग्य किसी निराशा से उद्भूत नहीं अपितु सत्य एवं महत्तर लक्ष्यों को प्राप्त करने की भावना से जन्म लेता है अर्थात् असामयिक प्रेम के लिए अनुताप करना छोड़कर यह आन्तरिक मिलन अथवा आत्मार्पण बन जाता है। आसक्ति आवेग और कामना ये सब बेड़ियाँ हैं और आगे बढ़ने से रोकती हैं। रत्नावली के अनेक नीतिपरक दोहों में हृदयावेगों को एकाग्र करने का उपदेश है

"शोक दुःख तन रथ जुरे, चपल तुरंग से भाव।
रतनावलि मन सारथिहि रोकि सके उतपाव।।"

वस्तुतः सच्चा आत्मदान प्रेम के मिथ्याभिमान को नष्ट करता है, इसीलिए रत्नावली की अभिव्यक्ति में कहीं भी दुराग्रह आक्रोश या उपालम्भ नहीं है बल्कि गम्भीर व्यथा के साथ-साथ दीनता और हृदय की करुण पुकार है

"प्रियतम एक बार गृह आओ।
अनुचित उचित कर्यो हौं कबहूँ ताहि समुझि समझाओ।
तव वियोग अनुमान होय अति धीरज जाइ चेताओ
सह्यो न जात दुसह दुख एतो दरस दया बरसाओ।
दिन छितीस नाथ अब बीते नाहिं मोरि सुधि लीनी
सुवन चातकी प्रीति रावरी आस परी जिमि भीनी।
कठिन गये जो बैन सुनत जन कहत सुनत सकुचाऊँ
का अब करौं कहाँ अब जाओं कितहुँ ठौर न पाऊँ।
अमित प्रीति परतीत—आप तब, पाई रही हौं मोई
सपने हूँ न कबहूँ हौं जानी दशा मोरि अस होई।
मति ... सबै ... सोचि ताहि बिसारौं

सुन्दरिकुँवरि महारानी बाँकावती की पुत्री थीं और इनका विवाह राघवगढ़ खीची महाराज बलभद्रसिंह के पुत्र बलवन्तसिंह के साथ हुआ था। कविता से इन्हें अत्यन्त अनुराग था। इन्होंने बारह ग्रन्थों की रचना की है। इनके छन्द बहुत ही सरस और सरल हैं।

"मन ! तू काहि चलत कहा चाहत ?
जड़ जंगम उपात बसत है तिनको कौन निबाहत ?
सोचो कहाँ जात है भैया ! काहे को दुख मानै ?
निश्चय ह्वै चिरजीवन महल में प्रभु कृपा बिन आवै ?
जगत-राह के राहगीर ए बहुत बटाऊ लोग;
तिनमें तहूँ आन भेट्यो है किहूँ करम संयोग।

बणीठणी जी उपनाम रसिकबिहारी महाराज नागरीदास की पासवान और स्वामी हरिदास के परम्परानुभुक्त प्रसिद्ध महात्मा श्री रसिकदास जी की शिष्या थीं। सन्तों के सम्पर्क में रहकर इन्होंने अनेक भक्ति एवं शृंगार-प्रधान भावपूर्ण पद रचे जिनमें ब्रजभाषा और राजस्थानी भाषा दोनों का मिश्रण है।

'बनै आज नन्दनन्दन बधाईयाँ।
महमह आनन्द रंगरली अति गोपी सब मिली आइयाँ ।
महरि जसोमति के भयो सुत फूली अंग न माइयाँ।
'रसिक बिहारी' प्रान जीवन लखि देत असीसा सुहाइयाँ ।'

छत्रकुँवरिबाई श्री नागरीदासजी की पौत्री थीं और उन्हीं के सहयोग से इनमें काव्य-रचना की अभिरुचि उत्पन्न हुई थी। इन्होंने अपने 'प्रेम विनोद' ग्रन्थ में श्रीराधा-कृष्ण और सखियों की विविध प्रेम लीलाएँ चित्रित की हैं। इनके पदों में तन्मयता और विदग्ध हृदय की कोमल झलक है।

'नागरदास-पदकंज-रज ध्याऊँ; जिन प्रभाव प्रेमासव पाऊँ।
तातें बरनौं विपिन विलासी नन्द-सुवन राधा सुखरासी।
प्रिय प्यारी छकि परम सनेहू मिलहिं विहार करत बनगेहू।
दुहूँ परस्पर चित के चोर; दुहूँ मनोहर नवल किशोर ।

विष्णुप्रसाद कुँवरि महाराज रघुराजसिंह की पुत्री थीं और समकालीन भक्त कवयित्रियों में से ही प्रथम महिला थीं जिन्होंने रामभक्ति से प्रभावित होकर अवधी भाषा में 'अवध विलास' नामक ग्रन्थ की रचना की। ब्रजभाषा में भी 'कृष्ण-विलास' और 'राधा विलास' ये दो ग्रन्थ इन्होंने लिखे। इनकी पद-रचना अत्यन्त सरस है।

"निरमोही कैसो जिय तरसावे ।
पहिले सरल दिखाय हमें कूँ अब क्यों बैन न आवे
कब लौं तलफत मैं री सजनी वाको दरद न जावे ।
'विष्णु कुँवरि' तिन में आकर के ऐसी पीर मिटावे ।

निराशा ही मिलेगी तो सात्विक वैराग्य जगता है। यह वैराग्य किसी निराशा से उद्भूत नहीं अपितु सत्य एवं महत्तर लक्ष्यों को प्राप्त करने की भावना से जन्म लेता है अर्थात् पलायमान प्रेम के लिए अनुताप करना छोड़कर वह आन्तरिक मिलन अथवा आत्मार्पण बन जाता है। आसक्ति आवेग और कामना ये सब बेड़ियाँ हैं और आगे बढ़ने से रोकती हैं। रत्नावली के अनेक नीतिपरक दोहों में दुरावेगों को पराभव करने का उपदेश है

"पाँच दुर्जय तन रथ जुरे चपल चपल जे बात।
रतनावलि मन सारथिहि रोकि सके उतपात॥

वस्तुतः सच्चा आत्मदान प्रेम के मिथ्याभिमान को नष्ट करता है इसीलिए रत्नावली की अभिव्यक्ति में कहीं भी दुराग्रह, आक्रोश या उपालम्भ नहीं है बल्कि गम्भीर व्यथा के साथ-साथ दीनता और हृदय की करुण पुकार है

"प्रियतम एक बार यह आओ।
अनुचित उचित कह्यो हौं कबहूँ, ताहि समुझि बिसराओ।
तव वियोग अकुलात हीय अति धीरज आइ बँधाओ;
सह्यो न जात दुसह दुख एतो दरस सुधा बरसाओ।
दिन विवेक नाथ अब बीते, नाहिं मोरि सुधि लीनी
सुजन पाछिली प्रीति रावरी अहह परी किम झीनी।
रूठि गये जो बैन सुनत तब कहत सुनत सकुचाऊँ
तन अब करौं कहा अब चोरों छिमहुँ बोल न पाऊँ।
अमित प्रीति परतीति—सीख सब, पाई रही हौं मोई
सपने हूँ न कबहुँ हौं जानो दसा मोरि अस होई।
भूलि चाक हौं सबै परेखो बीति ताहि बिसारौं
नाम रावरी रतन आपनो जो तव चरन निहारो।"

मीरा की भक्ति-साधना की तल्लीनता से प्रभावित होकर रामप्रिया और जुगलप्रिया बाँकावती जी और सुन्दरकुँवरि, नवीठनी जी और छत्रकुँवरि, विष्णुप्रसाद कुँवरि और प्रवीणराय रत्नकुँवरि बीबी और प्रताप कुँवरि बाई, ताज और शेख सहजोबाई और चम्पादे आदि भक्त महिलाओं का ध्यान भी कविता की ओर आकृष्ट हुआ और कृष्ण-भक्ति में विभोर इन्होंने अनेक भव्य पदों की रचना की। इन सभी के कवित्व में सच्ची अनुभूति और सरल भाव-व्यंजना है। रामप्रिया और युगलप्रिया के गीतों में तन्मयता और वैराग्य जन्य आध्यात्मिक भाव हैं। महारानी बाँकावती उपनाम ब्रजदासी कृष्णगढ़ के महाराज राजसिंह की रानी थीं। प्रसिद्ध नागरीदास जी इनके पुत्र थे और सुन्दरकुँवरि जी इनकी पुत्री। इनके यहाँ कविता परम्परागत प्राप्त थी और स्त्री-पुरुष सभी काव्य रचना करते थे। रानी बाँकावती जी ने ग्यारहवें स्कन्ध श्रीमद्भागवत का छन्दोबद्ध अनुवाद किया जो 'ब्रजदासी भागवत' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

सुन्दरिकुँवरि महारानी बाँकावती की पुत्री थीं और इनका विवाह राघवगढ़ खीची महाराज बलभद्रसिंह के पुत्र बलवन्तसिंह के साथ हुआ था। कविता से इन्हें अत्यन्त अनुराग था। इन्होंने बारह ग्रन्थों की रचना की है। इनके छन्द बहुत ही सरस और सरल हैं।

'मन ! तू काहि चपल बहु चाहत ?
यह जंगम पसारा चलत है तिनको कौन निबाहत ?
तोको कहा भार है भैया ! काहू को दुख जाने ?
निर्भय ह्वै निश्चिन्त सहज में प्रभू कृपा बिन आवै ?
कमल-नयन के रघुवीर ए बहुत दयालु लोग;
सिमरन लहु भाव कैसो है जिहुँ करत संयोग।

बनीठनी जी उपनाम रसिकबिहारी महाराज नागरीदास की पासवान और स्वामी हरिदास के परम्परागत प्रसिद्ध महात्मा श्री रसिकदास जी की शिष्या थीं। सन्तों के सम्पर्क में रहकर इन्होंने अनेक भक्ति एवं शृंगार-प्रधान भावपूर्ण पद रचे जिनमें ब्रजभाषा और राजस्थानी भाषा दोनों का मिश्रण है।

बजै आज नन्दभवन बधाइयो।
महमह आनन्द ऐसरली अति नीकी सब मिली आइयो।
मधुरि यशोमति के भयो सुत फूली अंग न मावयो।
'रसिक बिहारी' प्राण जीवन लखि देत असीस सुहावयो।

छत्रकुँवरिबाई श्री नागरीदासजी की पौत्री थीं और उन्हीं के सहयोग से इनमें काव्य रचना की अभिरुचि उत्पन्न हुई थी। इन्होंने अपने 'प्रेम विनोद' ग्रन्थ में राधा-कृष्ण और सखियों की विविध प्रेम लीलाएँ चित्रित की हैं। इनके पदों में तन्मयता और विह्वल हृदय की कोमल कसक है।

'भजनपद-पंकज-रज ध्याऊँ; जिन प्रभाव प्रेमामृत पाऊँ।
वाते बरनौं विपिन विलासी नन्द-सुवन राधा सुखरासी।
नित प्यारी छवि परम सनेहू; नितहिं विहार करत बनगेहू।
हूँ परस्पर चित के चोर हुँ मनोहर नवल किशोर।'

विष्णुप्रसाद कुँवरि महाराज रघुराजसिंह की पुत्री थीं और समकालीन ब्रज कवयित्रियों में से ही प्रथम महिला थी जिन्होंने रामभक्ति से प्रभावित होकर अवधी भाषा में 'अवध-विलास' नामक ग्रन्थ की रचना की। ब्रजभाषा में भी 'कृष्ण-विलास' और 'राधा विलास' ये दो ग्रन्थ इन्होंने लिखे। इनकी पद-रचना अत्यन्त सरल है :

'निरमोही कैसो जिय तरसावे।
पहिले अलक दिखाय हमें तू अब क्यों नैन न आवे
जल सों तलफत मीन री सजनी ताको दरद न जावे।
'विष्णु कुँवरि' जिय में आकर के ऐसी पीर मिटावे। —

प्रवीणराय कला-मर्मज्ञ रसिक महिला थीं। प्रसिद्ध कवि केशवदास इनके अत्यन्त प्रशंसक थे। अपना 'कविप्रिया' ग्रन्थ भी उन्होंने इन्हें ही भेंट किया है। इनकी प्रशंसा सुनकर एक बार बादशाह अकबर ने इन्हें अपने दरबार में बुला भेजा किन्तु ये नहीं गईं और अपने स्वामी महाराज इन्द्रजीत सिंह से इसकी शिकायत की।

'आई हौं बूझन मंत्र तुम्हें निज स्वासन सों सिगरी मति गोई।
देह तजौं कि तजौं कुलकानि हिए न लजौं लजि हैं सब कोई॥
स्वारथ औ परमारथ को पथ चित्त बिचारि कहौ तुम सोई।
जामें रहै प्रभु की प्रभुता अरु मोर पतिव्रत भंग न होई॥

इस पर क्रुद्ध होकर अकबर ने महाराज इन्द्रजीत पर एक करोड़ रुपया जुर्माना कर दिया पर इन्होंने उसे भी अपनी वाक्-पटुता से क्षमा करा लिया और दरबार में भी नहीं गईं। इनके अनेक स्फुट पद मिलते हैं।

'कमल कोक श्रीफल मधुर करजोत कलश हर।
उच्च मिलन अति कठिन उरज बहु रूप मनोहर॥
सरवर तरवर हेम मेरु कैलास प्रकाशन।
निशि वासर तप करहिं करत पुंजन पृथु आसन॥
इमि कहि प्रवीण जब जल थल अचल अचित सचित सिय गौरि सेव।
कवि ललित चरन उच्चतर ललित रघु धीश इमि धरत देव॥

रत्नकुँवरि बीबी राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की दादी थीं और संस्कृत फ़ारसी दोनों भाषाएँ अच्छी तरह जानती थीं। साहित्य से इन्हें बड़ा अनुराग था। 'प्रेमरत्न' नामक पुस्तक में इनके सभी पद संग्रहीत हैं।

'रहै राधा की कछु दसा बरनत आवै नाहिं।
मलिन बेस भूषन रहित बिकल रहित तन माहिं॥
कबहुँ सुरझत बिरह बस पीत बरन ह्वै जाय।
कबहुँ स्यामहि लखत प्रेम मगन सुख धाम॥

प्रतापकुँवरि बाई मारवाड़ के महाराज मानसिंह की रानी थीं। राम इनके इष्ट थे और ये बड़ी ही उदार, दानशील प्रवृत्ति की महिला थीं। इन्होंने करोड़ों की सम्पत्ति दान की और अनेक मन्दिर, तालाब आदि बनवाये। ७० वर्ष की आयु तक इन्होंने पन्द्रह ग्रन्थों की रचना की। इनके पदों में सरल भावभंगी और हार्दिक स्वाभाविकता द्रष्टव्य है।

'जान तो कछु नाहिं मिटी जग में भये रावन से बड़ जोधा।
साँवत सूर सुजोधन से बल ते मद ते रत आदि बिरोधा॥
केते भये नहिं जाय बखानत भूप भुए सबहीं करि क्रोधा।
आस मिटे परताप कहै, हरिनाम जपे बिन बिचारत बोधा॥

कृष्ण-भक्ति से प्रेरित होकर अनेक भक्त कवयित्रियाँ जब इसी प्रकार की

प्रेमरस-परिप्लावित पद रचना कर रही थीं तो कुछ मुस्लिम महिलाएँ भी प्रभावित हुईं और उन्होंने कृष्ण को ही अपना इष्ट बनाया। कृष्ण के मधुर रूप की उपासिका होने के कारण उनकी कविताएँ सौन्दर्य और प्रणय रस से सिंचित होकर प्रकट हुईं। इस मद सलोने साँवलिया ने उन्हें उन्मत्त कर दिया था और वे विक्षुब्ध सी हो रही थीं। ताज के पदों में मीरा का सा मनोयोग और एकनिष्ठ भाव है। वे श्याम के विरह-वियोग में सब कुछ विस्मृत कर बैठी हैं।

सुनो दिलजानी मेरे दिल की कहानी तुम
दस्त ही बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं।
देवपूजा ठानी मैं नमाज हूँ भुलानी
तजे कलमा कुरान सारे गुनन गहूँगी मैं॥
स्यामला सलोना सिरताज सिर कुल्ले दिए,
तेरे नेह दाग में निदाघ ह्वै दहूँगी मैं।
नन्द के कुमार कुरबान ताणी सूरत पै
हौं तो तुरकानी हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं॥

ताज कृष्ण-प्रेम में दीवानी सी हो गई थीं। ये नित्य सवेरे नहा धोकर मन्दिर में पूजन और कीर्तन करने जाती थीं। इनके अनेक प्रसिद्ध पदों का संग्रह गोविन्द गिल्लाभाई ने किया है।

दूसरी मुस्लिम कवयित्री शेख जाति की रंगरेजिन होते हुए भी बड़ी ही भावुक और रसिक स्वभाव की महिला थीं। ये अविवाहितावस्था में ही पद रचना किया करती थीं। इनके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि एक बार प्रसिद्ध कवि आलम ने अपनी पगड़ी रँगने के लिए इन्हें दी। दैवसंयोग से उसके छोर में दोहे की प्रथम पंक्ति लिखी हुई बँधी थी।

'कनक छरी सी कामिनी काहे को कटि छीन'

पगड़ी रँगकर जब वापस आई तो आलम को अपने दोहे की पूर्ति देखकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ। शेख ने उसे यों लिखकर पूरा किया था

'कटि को कंचन काटि विधि कुचन मध्य धरि दीन।

आलम और शेख दोनों में उत्तरोत्तर प्रेम बढ़ता गया और आलम जो ब्राह्मण थे उन्होंने मुस्लिम धर्म अपनाकर इनसे विवाह कर लिया। ये दोनों मिलकर एकसाथ पद-रचना किया करते थे। 'आलम केलि' में इनके पद संग्रहीत हैं। शेख के अधिकांश पदों में शृंगारिक भाव है।

नैननि के तारे तुम प्यारे कैसे होउ दीठ
आलम को दूरि हमैं दूर कै न जानिये।

इन्होंने भक्तिपूर्ण अनेक पद रचे हैं। मुस्लिम होकर भी ये कृष्ण की मधुर

छवि पर मग्न थीं। उन्हीं को आलम्बन मान कर इन्होंने ब्रजभाषा में भक्ति-परक पद रचे।

'जब ते गुपाल मधुबन को सिधारे माई
मधुबन भयो मधु दानव विषम सौं
सेख' कहै तारिका सिखण्ड खंजरीट सुक
कमल कलेस किन्हीं कालिन्दी कदम सौं ॥

चंपा दे रानी बीकानेर नरेश राजा पृथ्वीराज की रानी और लाला दे की सपत्नी थी। शेख की भाँति इनके स्फुट छंद शृंगार-रस प्रधान हैं और भाषा राजस्थानी मिश्रित है।

सहजोबाई और दयाबाई ये दोनों गुरु-बहन थीं और निर्गुणोपासिका थीं। दोनों ही उत्कट गुरु-भक्त थीं और अपने गुरु चरनदास जी के साथ दिल्ली में रहती थीं। इन्होंने गिरधर और वृन्द के समान नीति त्याग वैराग्य से ओतप्रोत छन्द लिखे हैं। सहजोबाई के पदों का संग्रह 'सहज प्रकाश' और दयाबाई के 'दयाबोध' 'विनय मालिका' दो ग्रन्थ मिलते हैं। दयाबाई ने अनेक उत्कृष्ट सरस पद लिखे हैं।

'बौरी ह्वै चितवत फिरूँ हरि आवैं केहि ओर।
छिन उठूँ छिन गिरि परूँ, राम दुखी मन मोर।
प्रेम-पुंज प्रगटै जहाँ, तहाँ प्रगट हरि होय।
दया धारि करि देत हैं श्री हरि दर्शन सोय
दयाकुँवरि या जगत में नहीं रह्यो थिर कोय
जैसो वास सराय को तैसो यह जग होय।

सहजोबाई में अपेक्षाकृत वैराग्य है। उन्होंने विश्व प्रपंच से परे निर्गुण ईश्वर की महत्ता परिचायक कविताएँ लिखी हैं।

'मन छोड़पन तब महा मिलत बड़ाई धार।
सहजो नन्हा हूजिए, गुरु के वचन सम्हार॥
सहजो तारे सब सुखी गहैं चन्द्र की दूर।
साधु चाहैं दीनता चाहैं बड़ाई क्रूर॥
अभिमानी नाहर बड़ो भरमत फिरत उजाड़।
सहजो नन्ही बाकुरी, प्यार करै संसार॥'

इनके जीवन के सम्बन्ध में अधिक ज्ञात नहीं मगर फिर भी ये बड़ी ही पहुँची हुई विरक्त संत थीं। इनके सम्बन्ध में अनेक किम्वदंतियाँ प्रसिद्ध हैं। हरिभक्ति के समानान्तर ही इनकी गुरु निष्ठा भी बड़ी सच्ची और गहरी थी वरन् भगवान् से भी अधिक गुरु में इनका दृढ़ विश्वास था।

"राम तजूँ पै न गुरु न बिसारूँ गुरु के सम हरि को न निहारूँ॥
हरि ने जन्म दियो जग माहीं गुरु ने आवागमन छुटाहीं॥

हरि ने पाँच चोर दिये साथा गुरु ने लई छुटाय अनाथा॥
हरि ने कुटुम्ब जाल में घेरी गुरु ने काटी ममता बेरी॥
हरि ने रोग भोग उरझायो गुरु जोगी करि सबै छुटायो॥
हरि ने कर्म भर्म भरमायौ गुरु ने आतम रूप लखायौ॥
हरि ने मोसूं आप छिपायो गुरु दीपक दै ताहि दिखायौ॥
फिर हरि बंध मुक्ति गति लाये गुरु ने सब [redacted] भर्म मिटाये॥
चरन दास पर तन मन वारूँ गुरु को न तजू हरि कूँ तजि डारूँ॥"

नाम-जप की साधना में इन्होंने जीवन को जंजाल माना और शरीर को नश्वर।

"पानी का सा बुदबुदा यह तन ऐसा होय॥
पीव मिलन की ठानिये रहिये ना पड़ि सोय॥
रहिये ना पड़ि सोय बहुरि नहिं मनुखा देही॥
आपन ही तू खोजु मिलैं तब राम सनेही॥
हरि कूँ भूले जो फिरै सहजो जीवन छार॥
सखिया वा ही होयगो सुमिरैगो करतार॥"

भगवान् में सर्वात्म समर्पण की चरम साधना ही इनकी भक्ति का मूल मंत्र है। संसार के बंधन मिथ्या हैं। यह दृश्य जगत् और इसमें बसने वाले समस्त चराचर और जन्म मृत्यु, जरा व्याधि के चक्कर में फँसे अपने 'स्व' को भूले हुए हैं।

सहजो भज हरि नाम क, तजो जगत् सूँ नेह।
अपना तो कोई है नहीं अपनी सगी न देह॥"

एक अन्य स्थल पर अपने आपको सम्बोधन करती हुई वे कहती हैं

"सहजो फिर पछितायगी स्वास निकसि जब जाय।
जब लगि रहै शरीर में राम सुमिरि गुन गाय॥"

प्रभु-प्रेम में जब मन मगमस्त हो जाता है तब उसे चिन्ता क्या है? उसमें अहंकार की तो पैठ ही नहीं वह तो प्रेमरस में छका रहता है नचता है जैसे सीमव सूम तो उस भगवान के हाथ में है और वह जैसा चाहता है वैसा ही नाच नचाता है। भगवान में जो लगी है, वही उसका केन्द्रबिन्दु है तो डर क्या है, चिन्ता क्या है?

"प्रेम-दिवाने जो भये मन भयो चकनाचूर।
छके रहैं, घूमत रहैं, सहजो देखि हुजूर॥"

ऐसी ही प्रेम की दीवानी थीं बावरी साहिबा जो मस्ती और प्रेमोन्माद में घर से निकल पड़ीं और सांसारिक बन्धन एवं नाते-रिश्तों को तोड़ कर हर समय हर जगह 'उसे' ही खोजती फिरीं। मोहांध और जड़ता के कारण जिस प्रेम से दुराव है और जो नजरों से छिपा है वह इस आवरण के हटते ही प्रकट हो गया तो फिर यह क्या गया? कौन सी बाधा, कौन सा अंतराय उस प्रेम-पथ पर अग्रसर होने से

रोक सकता है ? जिसपर जो प्रेम के भावावेगपूर्ण प्रवाह में निरंतर प्रवाहमान हो उस प्रेमरस में बौरी या मतवाली घूमती हो उसके लिए तो यह अद्भुत अलौकिक प्रेम ही उसके जीवन-दर्शन का आधार और मूल भित्ति है।

इनके अधिक पद नहीं मिलते। यह एक सवैया बहुत प्रसिद्ध है जिसमें इनके त्याग-वैराग्य और आत्मबोध की झलक मिलती है

"बावरी रावरी का कहिये मन ह्वै के पतंग भरै नित भाँवरी।
भाँवरी जानहि संत सुजान जिन्हें हरि रूप हिये दरसाव री॥
साँवरी सूरत मोहनी मूरत देकर ज्ञान अनंत लखाव री।
खाव री सौंह तिहारी प्रभु, गति रावरी देखि भई मति रावरी॥"

भारतेन्दु समकालीन कवयित्रियों में बुन्देलबाला और तोरनदेवी शुक्ल 'लली' के नाम उल्लेखनीय हैं। बुंदेलबाला श्यामा भगवानदीन की धर्मपत्नी थी। इन्होंने देश भक्ति और स्वदेश-महत्ता पर कविताएँ लिखी हैं। तोरन देवी शुक्ल 'लली' ने भी राष्ट्रीय कविताएँ लिखीं और इनका 'जागृति' नामक कविता-संग्रह वर्तमान युग की क्रांतिकारी चेतना को लेकर प्रकाशित हुआ।

प्राचीन काल की अपेक्षा इस युग में काव्य-शैली का अत्यधिक प्रसार एवं विकास हुआ है। इसमें नवीन भावों की अभिव्यंजना तथा कमनीय कल्पना की मनोहर उड़ान का अवस्थान है। जब दुनियाँ के पर्दे पर बीसवीं सदी के आँखों को लुभाने वाले विभिन्न चित्र अंकित हुए, उन्हीं चित्रों के साथ विज्ञान की उलझनें उपयोगितावाद का विकास और भौतिक जीवन की कशमकश हमारे जीवन के केन्द्रबिन्दु के आसपास चक्कर लगाने लगे तो साहित्य-क्षेत्र में भी भारी उथल-पुथल हुई। व्यष्टिवाद की इमारत और सुदृढ़ प्राचीरें ढहने लगीं सामूहिक चेतना जागी और स्त्रियों में भी प्रति स्पर्द्धा के भावों का उद्रेक हुआ। कविता की मोहक तान ने उनका ध्यान आकृष्ट किया और उन्होंने केवल भावभूमि में ही नहीं वरन् कविता के कला-पक्ष में भी पूर्ण भाग लिया। हिन्दी-काव्य-गगन की उज्ज्वल तारिका सुश्री महादेवी जी को कौन नहीं जानता ? ये चिन्तनशील विदुषी तथा भावुक नारी हैं। छायावादी कवियों में सबसे अधिक अनुभूति एवं मार्मिक अभिव्यंजना इनकी रचनाओं में पाई जाती है।

कोमलता मधुरता पीड़ा इनके हृदय की अमूल्य निधि है। अंतर्व्यथा के तप्त उच्छ्वासों में अपने आकुल प्राणों को तपाते रहने में ही इन्हें परम सुख की अनुभूति होती है उसी में इन्हें एक प्रकार का अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है। वेदना आपकी चिरसखी है उसके बिना ये रह नहीं सकतीं।

पर शेष नहीं होगी यह मेरे प्राणों की पीड़ा
तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा, तुम में ढूँढ़ूँगी पीड़ा।

इनका हृदय निरंतर किसी अभाव का अनुभव करता है उसी के अन्वेषण में व्याकुल है। प्रथम मिलन के पश्चात् ही उस अज्ञात प्रियतम से इनका विरह हो

गया है प्रिय को आँख भर देख भी तो नहीं पाई

इन ललचाई पलकों पर पहरा जब था व्रीड़ा का
साम्राज्य मुझे दे डाला उस चितवन ने पीड़ा का।

महादेवी जी प्रधानतः अंतर्वृत्तिनिरूपक कवयित्री हैं। वे अपने भीतर स्वयं को तथा वस्तु-जगत् को देखती हैं साथ ही उस निराकार की भी उपासिका हैं जो विश्व के कण-कण में प्रकृति की अनन्त सौंदर्य-श्री में आभासित है।

नीरवता की छाया में छिप
सौरभ की अलकों में।
गायक ! यह गान तुम्हारा
आ मँडराया पलकों में।

इनके 'मूक मिलन' 'मूक प्रणय' में स्वच्छ एवं भावुक हृदय में उठने वाली अनुभूति-लहरियों का हृदयग्राही चित्रण है। रहस्योन्मुख आध्यात्मिकता में विभोर होकर इन्होंने जिन पदों का निर्माण किया है छायावाद की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का आत्मा की परमात्मा के प्रति आकुल प्रणय-वेदना का दिव्य एवं अलौकिक चिन्मय शक्ति से अपने सूक्ष्म सम्बन्ध की चेष्टा का तथा स्थूल सौन्दर्य के प्रति मानसिक आकर्षण के उच्छ्वास भरे अनेक चित्रों का जो सजीव चित्रण इन्होंने अपनी कविताओं में किया है उसमें इनकी निराली भावभंगिमा के दर्शन होते हैं और जीवन का गम्भीर दार्शनिक तथ्य भी अंतर्निहित मिलता है।

मुझे न जाना अलि ! उसने
जाना इन आँखों का पानी।
मैंने देखा उसे नहीं,
पदध्वनि उसकी पहचानी।
मेरे जीवन में उसकी स्मृति—
भी तो विस्मृति बन आती।।
उसके निर्मल मन्दिर में
काया भी छाया हो जाती।
क्यों यह निर्मम खेल सजनि !
उसने मुझ से खेला है।।

कितनी मार्मिक पंक्तियाँ हैं ? सत्य के अन्वेषण में आकुल प्राण चहुँ ओर के दुःख-बाहुल्य से क्षुब्ध और कातर मन दीपक सदृश अहर्निश जला करता है। प्रकृति के अंचल में जब उसका औत्सुक्य जाग्रत हो जाता है तो गगन-पथ में बिखरे अगणित मोती उसे अपनी ओर आकृष्ट करने में असमर्थ होते हैं—वह उनके अनुपम सौन्दर्य को भूल जाता है।

'आलोक यहाँ लुटता है
बुझ जाते हैं तारागण।

अविराम जला करता है
पर मेरा दीपक सा मन।

महादेवी जी की अन्तर्भेदिनी दृष्टि तीक्ष्ण और सूक्ष्म है इनकी हृद्गत भावनाएँ कहीं-कहीं बड़ी गूढ़ होती हैं। जीवन तो सर्वत्र समान नहीं रहता विषमता में डूबता-उतराता रहता है अतएव ये ईश से यही याचना करती हैं कि जीवन में सर्वदा अतृप्ति बनी रहे क्योंकि दुःख में ही सुख अन्तर्निहित है और निराशा में ही आशा की किरण फूट पड़ती है।

'मेरे छोटे जीवन में
देना न तृप्ति का कण भर
रहने दो प्यासी आँखें
भरती आँसू के सागर।

ये विषाद में ही हर्ष ताप में ही शीतलता तथा पीड़ा में ही आत्मानन्द का अनुभव करती हैं।

'एक करुण अभाव में
चिर तृप्ति का संसार संचित।
एक लघु क्षण दे रहा
निर्वाण के वरदान शत शत।
पा लिया मैंने किसे
इस वेदना के मधुर क्रम में।
कौन तुम मेरे हृदय में ?

'दीपशिखा' और 'यामा' इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनके गीति-काव्य में मधुरता और संगीत का अभूतपूर्व आविर्भाव हुआ है। इनकी कोमल भावनाएँ यथार्थता में उलझी नहीं रह सकीं फलतः इनकी कविता वास्तविकता से बहुत दूर जा पड़ी है। इतने वर्षों से बाह्य जीवन एवं सामाजिक परिस्थितियों के अधिकाधिक विषम होते जाने के साथ-साथ इनकी कविता भी उसी अनुपात में अन्तर्मुखी होती गई है। सत्काव्य के आधार-तत्त्व अनुभूति और कल्पना का अनुकूल सामंजस्य होते हुए भी अपनी दार्शनिक मान्यताओं को इन्होंने सामाजिक यथार्थों की रगड़ खाने से बचाया है।

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान ने छायावाद की भूलभुलैया में न पड़ यथार्थ वाद को अपनाया और इनकी रचनाएँ बहुत सरस ओजस्वी और प्रभावोत्पादक सिद्ध हुईं। इनकी काव्य-साधना महादेवी जी से भी पहले की है। अज्ञात प्रिय के लिए तड़प-तड़प कर मरने की अपेक्षा देश की पुकार पर मर मिटने वाले वीरों एवं आदर्श रमणियों की पावन स्मृति में अश्रु बहाने में इन्हें अधिक सुखानुभूति हुई। इनकी सरल दृष्टि प्रारम्भ से ही समाज के जीवन की ओर रही। इन्होंने उससे पलायन

नहीं किया। अपनी छलछलाती शैली सुगम शैली में भावनाओं को उभार-उभार कर रखने में ये सिद्धहस्त थीं। प्रणय-गीतों के दो-एक चित्र देखिए

'बहुत दिनों तक हुई प्रतीक्षा
अब रूखा व्यवहार न हो।
अजी ! बोल तो लिया करो तुम
चाहे मुझ पर प्यार न हो।
जरा जरा सी बातों पर
मत रूठो मेरे अभिमानी !
लो प्रसन्न हो जाओ गलती
मैंने अपनी ही मानी।

एक और उदाहरण

तुम मुझे पूछते हो जाऊँ
मैं क्या जवाब दूं तुम्हीं कहो;
'जा' कहते रुकती है जबान
किस मुंह से तुमसे कहूँ 'रहो'।

सारल्य एवं कला का मिश्रण इनकी रचनाओं में स्पष्ट परिलक्षित है। इनकी शैली में सदा ही प्रवाह और वेग है अन्तर में सुख और आशा की किरणें छिपी हैं इनका जीवन युग-युग से छाये हुए विषाद और अवसाद से परे है वे आशावादी हैं उत्साही हैं जो अन्धकार के आवरण को चीरकर प्रकाश की कामना करती हैं।

स्वदेश-प्रेम भी इनकी कविताओं में कूट-कूट कर भरा हुआ है। वे सत्याग्रही थीं और त्याग तेज इनकी कविताओं में पूर्ण रूप से प्रकट हुआ है। इनकी 'झाँसी की रानी' अत्यन्त लोकप्रिय हुई। इनकी वात्सल्य रस की कविताएँ भी बहुत ही हृदयस्पर्शी हैं। 'मेरा नया बचपन' की कुछ पंक्तियाँ देखिए

'मैं बचपन को बुला रही थी
बोल उठी बिटिया मेरी।
नन्दन वन सी फूल उठी
यह छोटी सी कुटिया मेरी।'

वात्सल्य की रसाप्लावित धारा का उच्छल आवेग मन को मिश्री देने वाला है, किन्तु इनकी प्रेमपरक और भक्तिपरक कविताओं में भी कुछ कम गहराई नहीं है। सहज-सरल होते हुए भी इनका कवित्व और विदग्धता उच्चकोटि की है।

"मुझे भुला दो या ठुकरा दो
करलो जो कुछ भावे।

लेकिन यह आशा का अंकुर
नहीं सूखने पावे ।।

करके कृपा कभी दे देना शीतल जल के छींटे ।
अवसर पाकर जब बन यह, दे फल शायद मीठे ।।"

'वीरों का कैसा हो वसन्त' इस कविता की कुछ पंक्तियाँ—

"आ रही हिमालय से पुकार
है उदधि गरजता बार बार
प्राची पश्चिम भू नभ अपार,
सब पूछ रहे हैं दिग् दिगन्त
वीरों का कैसा हो वसन्त ?
फूली सरसों ने दिया रंग
मधु लेकर आ पहुँचा अनंग
वधु वसुधा पुलकित अंग अंग
है वीर वेश में किन्तु कन्त
वीरों का कैसा हो वसन्त ?
भर रही कोकिला मधुर तान
मारू बाजे पर उधर गान
है रंग और रण का विधान
मिलने आये हैं आदि अन्त
वीरों का कैसा हो वसन्त ?
गलबाँहें हों या हो कृपाण
चल चितवन हो या धनुषबाण
हो रस-विलास या दलित त्राण
अब यही समस्या है दुरन्त
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

एक दूसरी कविता में—

"तुम्हें सहसा निहारा सामने संकोच हो आया।
मुँदी आँखें सहज ही लाज से नीचे झुकी थी मैं ।।
कहूँ क्या प्राणधन से यह हृदय में सोच हो आया।
वही कुछ बोल दें पहले प्रतीक्षा में रुकी थी मैं ।।

इन्होंने कल्पित प्रणय या आक्रान्त विरह-वेदना के चित्र खींचने में अपनी वाग्मिता की समूची शक्ति नहीं लगाई अपितु व्यक्तिगत सीमाओं में सिमट कर भी अपनी गहरी अनुभूतियों को व्यापक एवं सर्वसंवेद्य बनाने की चेष्टा की।

"भूलो तो सर्वस्व ! भला वे
दर्शन की प्यासी घड़ियाँ।
भूलो मधुर मिलन को भूलो
बातों की उलझी लड़ियाँ॥
भूलो प्रीति प्रतिज्ञाओं को
आशाओं विश्वासों को
भूलो अगर भूल सकते हो
आँसू और उसासों को॥
मुझे छोड़कर तुम्हें प्राणधन !
सुख या शान्ति नहीं होगी।
यही बात तुम भी कहते थे
सोचो भ्रान्ति नहीं होगी॥
सुख को मधुर बनाने वाले
दुख को भूल नहीं सकते
सुख में कसक उठूँगी मैं प्रिय !
मुझको भूल नहीं सकते॥"

इनकी सभी कविताएँ बहुत ही सीधी-सादी हैं। कहीं भी कोई उलझन या दुरूहता भरी लच्छेदार भाषा नहीं है। पर उस सरल भावाभिव्यंजना के भीतर कुछ ऐसा आकर्षण और मार्मिकता है जो पाठक के सहृदयशील एवं संवेदनशील हृदय पर छा जाती है। प्रकारान्तर से अन्य कवि-कवयित्रियों से इनकी कविताओं में यही अन्तर है कि ये अपनी रचना-सौष्ठव उक्ति-वैचित्र्य या अलंकारों की छटा से चकाचौंध नहीं करतीं वरन् ऐसी सरल अकृत्रिम भाषा में अपने विचारों को प्रकट करती हैं जो सब को ग्राह्य है और एक विशिष्ट सजीवता वलित और सात्विक उत्साह—जो इन रचनाओं के पीछे निहित है—वह सहज ही मुग्ध और अभिभूत कर लेने वाला है।

"मैं सदा रूठती ही आयी
प्रिय ! तुम्हें न मैंने पहचाना।
वह मान बाण सा चुभता है
अब देख तुम्हारा यह बाना॥"

इनकी कविताओं में राष्ट्रप्रेम और जनवादी स्वर भी है। विदेशी शासन की शृंखला में जकड़ी जब भारत भूमि छटपटा रही थी तो इन्होंने अपनी सशक्त वाणी से उसकी गौरव-श्री को मुखरित किया। इन कविताओं के भी कई पहलू हैं। 'झाँसी की रानी' 'जलियाँवाला बाग' 'स्वदेश के प्रति' 'मातृ-मन्दिर में' 'विदा' 'पुरस्कार कैसा' आदि कतिपय कविताएँ कर्त्तव्य-कर्म तथा राष्ट्रोत्थान की नित्य गतिशील यथार्थता को समन्वित कर आज भी युगधर्म का नेतृत्व कर रही हैं। 'झाँसी की रानी' की

सुप्रसिद्ध निम्न पंक्तियाँ—

"जाओ रानी याद रखेंगे हम कृतज्ञ भारत वासी
यह तेरा बलिदान जगावेगा स्वतन्त्रता अविनाशी
होवे चुप इतिहास लगे सच्चाई को चाहे फाँसी
हो मदमाती विजय मिटा दे गोलों से चाहे झाँसी
तेरा स्मारक तू ही होगी
तू खुद अमिट निशानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी॥"

'राखी की चुनौती' शीर्षक कविता में—

"आते हो भाई पुनः पूछती हूँ
कि माता के बंधन की है लाज तुमको?
तो बन्दी बनो देखो बन्धन है कैसा
चुनौती यह राखी की है आज तुमको॥"

'ठुकरा दो या प्यार करो' 'प्रियतम से' 'चलते समय' 'समर्पण' 'पुरस्कार का मूल्य' 'शिशिर समीर' आदि इनकी कविताएँ कोमल भावों को व्यक्त करती हैं। इनकी कविताओं का संग्रह 'मुकुल' के नाम से प्रकाशित हुआ है जिस पर हिन्दी साहित्य-सम्मेलन से सेकसरिया पुरस्कार मिल चुका है। श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने इनके सम्बन्ध में लिखा— 'यह गीत नहीं जीवन-संगीत लिखती उसकी पाँखों पर कल्पना के कठोर मोती नहीं अनुभूति के कण-कणों से भीगे 'मुकुल' बिखरे होते। उन निधियों की आभा सेकसरिया के चाँदी के टुकड़ों पर नहीं माँ कहकर मचल पड़ने वाले सुकुमार हृदयों के ममता भरे आह्वानों पर प्रतिबिम्बित होती। दुर्घटना के कारण इनके आकस्मिक निधन से हिन्दी साहित्य की बहुत क्षति हुई है।

तारा पाण्डेय भावुक कवयित्री हैं और कई वर्षों से अपने गीतों द्वारा हिन्दी साहित्य को समृद्ध कर रही हैं। इनके उद्‌गारों में पीड़ा और कसक है, हृदय निरन्तर रोता-सा रहता है।

'जीवन की सुख-दुख की स्मृतियाँ
जग पड़ती गीतों में मन में।

बाल्यावस्था में सांघातिक रोग से पीड़ित होने के कारण इनका अन्तर मुरझा गया और ये अन्तर्मुखी हो गईं। माता के असामयिक निधन से भी इन पर गहरी ठेस लगी जिसे ये ऊपरी हँसी में छिपाने की सदैव चेष्टा करती रहीं।

'शैशव में माता का वियोग

सहकर चुपके चुपके रोई
पर सच कहती हूँ बाहर से सबने मुख को हँसते देखा।

इनके गीतों में तरलता और मस्त्तर का बन्धन है। तारों की झलमलाहट म भी इन्हें विषाद झलकता नजर आता है

'सखि तारावलि का बिखरा दल !
नभ के आंगन में जब हिल-हिल
करते ह ये झिलमिल झिलमिल।
मैं व्याकुल सी भावुकता वश
जाती हूँ इनमें ही हिल-मिल।
सखि करते हैं झिलमिल झिलमिल !

इनकी भाषा सरल एवं बोधगम्य होती है। 'सीकर' 'उत्सर्ग' 'शुकपिक' और 'वेणुकी' आदि इनकी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। कभी-कभी पीड़ा से तप आकर ये उल्लास और मंगल-ज्योति जगाना चाहती है। निम्न पंक्तियों में मधुर भावाभिव्यंजना के साथ-साथ अनुभूति और संवेदनशीलता का कैसा सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है।

'उर अन्तर का नैराश्य मिटा
मेरे प्राणों में ज्योति जगा दो।
स्मृति-विस्मृति के जाने-आने
अनजाने औ' फिर पहचाने
सुधि-पथ से आते-जाते
सबको आज भुला दो।
बने लावण्यमय पथ सुन्दर
अमर रहें ये गीतों के स्वर
हाथ बढ़ाकर जीवन का रथ
मेरा तुम्हीं चला दो।

स्वर्गीया पुष्पावती देवी 'आर्य' अपनी मृदुनाकांक्षा की पूर्ति किए बिना ही इस असार संसार से विदा हो गई। अल्पकाल में जो कुछ भी ये लिख सकीं उसमें हृदय की गहराई, करुणा और सिसकते स्वर हैं। सरिता की प्रवहमान धारा में इन्हें व्यथा और स्वप्न उमड़ता दीख पड़ता है।

'किसके लिए सकरुण विहाग-सम
अविश्रांत यह रोदन।
नीरस प्राणों में बिखरती,
क्यों अपना भीगा मन ?

इन्होंने राष्ट्रीय कविताएँ भी लिखी हैं। 'अतवेदना' कविता-संग्रह इनका प्रकाशित हो चुका है।

स्वर्गीया रामेश्वरी देवी मिश्र 'चकोरी' जी के कृतित्व में प्रकृति का अनूठा चित्रण और प्रणयोच्छ्वास है। स्निग्ध प्रांजल भाषा और परिष्कृत शैली में इन्होंने सूक्ष्म चित्रांकन प्रस्तुत किया है

'आते छिपे युग मूँदते भानु के
मेघ के झीने बड़े उत्पाती।
चंचला भी तब दीपक लेकर
रोष भरी उन्हें ढूँढ़ने आती।
डोली भरे सुर सुन्दरियाँ
मलमोतियों की हैं झड़ी सी लगाती
ओलों के रूप में आते वहीं
उन्हें बल्लरियाँ हिम-हार बनाती।'

इनकी कविताओं में राष्ट्रीय चेतना और स्वदेश-प्रेम भी है। 'किंजल्क' इनका कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुका है।

स्वर्गीया रामेश्वरी गोयल हिन्दी के प्रसिद्ध समीक्षक श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त की धर्मपत्नी थीं। अपनी असामयिक मृत्यु के कारण ये हिन्दी की पर्याप्त सेवा न कर सकीं तो भी थोड़े वर्षों में इन्होंने जो लिखा उसमें प्रौढ़ता और उन्मुक्त प्रवाह है। वैयक्तिक परिधि से परे जीवन का सरल सामंजस्य और मार्मिक व्यंजना है।

'थोड़े से अश्रु बिन्दु के
नयनों में जीवन सारा।'

इनकी अनेक कविताओं में प्रणय की पिपासा और करुण स्वर है

'ओ रे ए पथिक! न तोड़ो
मेरे जीवन की कड़ियाँ।
उलझी ही अब रहने दो
दुखिया जीवन की लड़ियाँ'

इनके सम्पूर्ण काव्य में कोमलता कल्पना की कमनीयता और अनुभूति की सच्चाई है। 'जीवन का सपना' इनकी पुस्तक है जिसमें तीस कविताएँ और गद्यगीत संगृहीत हैं।

स्वर्गीया होमवती जी प्रमुख रूप से कहानीकार हैं किन्तु इन्होंने अपनी एकांत अनुभूति और संवेदना को कविता में भी अर्पित किया है। असमय वैधव्य के कारण इनके समस्त कृतित्व में अवसाद और रागात्मक संस्पर्श है। अपने कविता संग्रह 'उद्गार' में उन्होंने प्रारम्भ में ही अपनी पीड़ा का परिचय दिया जो हृदय को छूता है

'उर में उमड़ा पीड़ा वारिधि
जीवन में बरसे अंगार !

जीवन-धन को खोकर मैंने
पाया कविता का उपहार ।।

अल्प वय में पति के अभाव से जो एक सूनापन और करुणा का भाव उनमें आपन्न हुआ वह कविताओं में साकार हुआ है। इस चोट से उनमें हृदय की विशालता और औदार्य अधिक आ गया था। दूसरों के दुःख से वे तत्काल तादात्म्य स्थापित कर लेती थीं और जीवन में गहरे पैठने की प्रवृत्ति भी उनमें अधिक थी। एक कविता—

"प्राण-पंछी उड़ चला फिर !
आह ! परदेशी पथी को मान कर पथ का सहारा ।
चल दिया था साथ सहसा कोमल जीवन किनारा ॥
छोड़ कर वह चल दिया मझबीच में वह घुल रहा फिर !
प्राण-पंछी उड़ चला फिर !
लौट आना चाहता पर, खिंच रहा उस ओर क्षण-क्षण ।
है स्पंदित आज मेरे मन-विहग का मन कण-कण ॥
आ रहा विक्षिप्त-सा फिर, रह न पाया निमिष भर थिर !
प्राण-पंछी, उड़ चला फिर !
एक पग आगे अचल कर, और दो पीछे ठहर कर ।
तिमिर तम में हृदय थामे, सोच लेता कुछ सिहर कर ॥
क्षितिज के उस पार क्या ? कल्याण है, अवसान या फिर ?
प्राण-पंछी उड़ चला फिर !
था रहे पंछी सजग सब ध्यान में धर ध्येय अपना ।
किन्तु मेरा प्राण-पंछी भर दृगों में मौन सपना ॥
देखता तूफान आये मेघ सुस्मृति के घुमड़ घिर !
प्राण-पंछी, उड़ चला फिर !"

शकुन्तला खरे भी नर्मदा प्रसाद खरे की धर्मपत्नी हैं। इनमें तन्मयता और अन्तर्मुखी प्रवृत्ति है। अनेक कविताओं में सुभद्राकुमारी चौहान की भाँति वात्सल्य और माँ की पुलक है। इन्होंने अपनी बेटी माया के प्रति सखि को संबोधित करके लिखा

'सजनि एक से दो बन आई
मेरी ही शिशुता तो फिर से
मेरी गोदी में मुस्काई।
यौवन ने शासन को पाया—
खिला फूल फिर कली बना री
मैं अन्तर-पट को ममता से
सजनि, आज फिर से भर लाई।'

शकुन्तला जी ने महादेवी वर्मा की आध्यात्मिक और पलायन वृत्ति को भी

अपनाया है। कहीं-कहीं व्यंजना गहरी और अधिक मार्मिक होकर प्रकट हुई है।

'मैं हँसी मधुमास आया।
झर पड़ा अनुराग छिन्न-भिन्न और नव उल्लास छाया।

और

'झरकर वेणी में श्वेत फूल
हँस उठे गगन में तारक बन।
मेरी आशा से व्योम हँसा
लहराया आँचल सुकूल
छाया छू छू कर झूम उठे
तृण-तृण तरु-तरु में मधुर फूल।'

श्रीमती सुमित्राकुमारी सिन्हा कुछ वर्षों से कविता-क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति कर रही हैं। इनकी भाषा सरल किन्तु भावपूर्ण होती है। कोमल कल्पनाओं की उड़ान में ये कहीं-कहीं बहुत ऊँची उठ गई हैं

"कमल नाल के तन्तु सरीखे
झीने सूक्ष्म बने थे बंधन
पुष्प दलों सा जो कब तोड़ा
वही बन गया है अब पाहन,
तुमने सपना स्वप्न जिसे वह सत्यों का आकार बन गया।
एक परस्पर से जीता है
जीवन की गतिविधियों का क्रम
पथ चिह्नों को सौंप दिया है
पथचारी ने पथ का विभ्रम
तुमने समझा जिसे किनारा आज वही मँझधार बन गया।"

जहाँ एक ओर आपकी कविताओं में भावुकता झलकती है, वहाँ उनमें अभिव्यक्त प्रेम तथा रहस्यवादी तत्त्व भी सन्निहित है

"शिशिर निशा में जग की भू की
पलकों पर सपने सीते से
सिन्धु पर तारों के दीपक
ज्योति भरे जगमग होते से
तभी छलककर नभ से धरती
पर वसंत मधु आया होगा
तुमने ही मुस्काता होगा।"

इनकी रचनाओं में कोमलता के साथ-साथ वेदना भी अंकित है। भावों की सम्पन्नता कल्पना की उड़ान और सूक्ष्म भावजन्य भावुकता से परिपक्वता पाकर यह

वेदना व्यथा और निराशा के बोझ बिसाती हुई इनकी कविताओं में स्फूर्ति भरती है।

महादेवी के पश्चात् ये ही एक ऐसी कवयित्री हैं जिनकी कोमल एवं सुष्ठु कल्पना समस्त अलंकार-विधान और शब्दाडम्बर को पीछे छोड़कर अपने सहज भावेग में ही काव्य हो उठी है —

"क्या कहूँ तुमसे किशोरी
इस पृथ्वी-भूमि पर तू बीज किस के हो ! न यों री
दुख किस है ? जो सदा ही मानता है दूर दुख से
सुख छिपे हैं ? जो न सोचे —"मैं रहूँ भरपूर सुख से"
अथिर हैं संसार के सुख-दुख दोनों खेल रानी !
अतः जीवन में चलो कर दो तत्वों का मेल रानी !
यदि न हों आँसू यहाँ तो हास का क्या मोल हो फिर
जो न पलड़े हों तुला के किस तरह से तोल हो फिर
क्या नहीं है रात काली जब कि ज्योत्स्ना चमकती है
क्या नहीं है विरत काँटे जब कि कलियाँ गमकती हैं
झेलना संघर्ष जग के है इसी का नाम जीवन
सन्तुलन रखो उठाओ दो तराजू समर नयन-मन
चमस-तापों में पकाकर ही खरा कंचन लेती री
क्या कहूँ तुमसे किशोरी !"

उदात्त काव्य-शैली सरल भाषा मिश्रित शब्दावली और नारी-सुलभ भावनाओं के हृदय का स्वच्छ चित्रण ये ही सुमित्रा जी की कुछ विशेषताएँ हैं जो मन को अभिभूत कर लेने वाली हैं। 'सांध्य गीत' की कुछ पंक्तियाँ—

"आ गई साँझ
अब दीपक मुझे जलाने दो !
मुझ को अब ज्योति जगाने दो !
गलियाँ घाटी-वन-उपवन पर,
पर्वत झीलों घर-आंगन पर
श्यामांचल की जो छाँह पड़ी—
उस में पल भर विलमाने दो !
तुलसी चलती गोधूली
हाथों में ले सेंदुर धूली
इसका पथ ज्योतित कर मुझ को—
सपनों के चित्र बनाने दो !
नीलम महलों मोती बिखरे,
धरती पर दीपक की लहरें

झिलमिल को से ही घेर टेर—
प्रात को मुझे जगाने दो !
नभ को अब दीप जलाने दो !
आ गई सांझ
अब मुझ को दीप जगाने दो !

इन्होंने भक्तिपरक कविताएँ भी लिखी हैं जिनमें हृदय की सच्चाई के साथ-साथ रचना-सौन्दर्य और माधुर्य भी है—

"मैं हर मन्दिर के पथ पर अर्घ्य चढ़ाती हूँ
भगवान एक पर मेरा है !
मन्दिर-मस्जिद में भेद न कुछ मैं पाती
है सिद्धि जहाँ साधना वहीं पर आती
मन की गरिमा जिसके आगे झुक जाती
पानी भर का अभिषेक वहीं पर पाती
मैं हर पूजन-अर्चन पर शीश झुकाती हूँ
अभिमान एक पर मेरा है !
कलियों फूलों पर किरनें प्यार लुटातीं
नभ से आतीं माटी-कण में छा जातीं
पर क्या कलियों फूलों में ही बस जातीं ?
सूरज की किरनें सूरज के संग जातीं ।
मैं किरन-किरन की भी पर प्यार लुटाती हूँ
विश्वास एक पर मेरा है !
मन ही तो शाश्वत स्नेह प्रेम का बन्धन
जिसमें मन की गति क्रिया स्वयं का स्पन्दन
यह पूजा भक्ति-प्रार्थना-गत अभिनन्दन !
मन की महिमा-गरिमा का करते वन्दन !
मैं हर आशीष मन को स्वीकार कराती हूँ
वरदान एक पर मेरा है !"

वैशाख-जेठ की दोपहरी कितनी भीषण होती है । उसके प्रखर ताप और असह्य उष्णता का भार सह कर मन कांप उठता है । कवयित्री ने लू के सन-सन करते भाव उसके झोंकों में भी शब्दों का सम्मोहन भर दिया है

"वैशाख-जेठ की दोपहरी !
लू के झोंके सन सन सन सन
जलते हैं आज धरा के मन
अंगारों से मंडित है तन

झुलसाते जाते मर्मरित
उठती जाती हुई लहरी
बैसाख-जेठ की दोपहरी !
विहगों के मन्द पड़े स्वर भी
सरिताएँ सूख रहीं सर भी
अब तो विस्तृत अम्बर पर भी
बिखरे न चिह्न घन के पर भी
मिलती न कहीं छाँहें गहरी !
बैसाख-जेठ की दोपहरी !
यह धूप और दुपहर की तपती धरती
जिन ज्वालामुखियों के अन्तर से जन्मी
जिस शंकर के अभिशाप धरा पर उतरे
ऋतुपति के वासन्ती-उपवन मुरझाये
फिर धूलि-कणों से ढका गगन का आनन
सूखे ठूँठों से घिरा सुरभिमय कानन
प्यासी प्यासी लगती धरती की आँखें
सूनी सूनी रोते चातक की पाँखें
अब मौन धरा औ' नभ के आकर्षण हैं
झुलसे भू पर के कण-कण औ' तृण-तृण हैं,
जीवन की साँसें दूर देश में खोई
चेतना लता कुंजों की सोई सोई,
आलस औ' भारीपन में तन-मन डूबे
लम्बे लम्बे दिन लगते ऊबे ऊबे ।"

'तुमने ही मुस्करा दिया' शीर्षक कविता में हृदय को रंजित करने वाला भावोन्मेष है । अर्थात् ज्यों ही वह मुस्कराया समस्त सृष्टि में जैसे मादकता छा गई । अखिल दृश्य-जगत् का वह चितेरा ही तो विराट् चित्रपट पर कौतुक भरे चित्र आँका करता है जिससे माधुर्य मुकुलित हो उठता है और उसी की सौन्दर्य-श्री सर्वत्र बिखर जाती है

तुमने ही मुस्करा दिया क्या जो वसन्त का मन बौराया ।
धरती ने सब पहन लिये हैं
रजत कनक फसलों के कंगन
नदियों ने मुख जो कर देखा
नीर धार का निर्मल दर्पण ।
गरम रक्त संचारिणी पवन को सिरा सिरा में यों लहराया ।
तुमने ही मुस्करा दिया क्या जो वसन्त का मन बौराया ।

टेसू की आँखों की प्याली
में छलकाई मद की लाली
मरकत वन में लगे नाचने
तोते, मोर बजा कर ताली
लाल किनारे धूमल बादलों ने फिर से अभिसार रचाया ।
तुमने ही मुस्करा दिया क्या जो बसन्त का मन बौराया ।
आमों की सुरभित बाँहों को
छू ही गई तुम्हारी चितवन
तभी नये पातों से फूटा
सोने सा बौरों का यौवन
तभी दिगन्तों में कोयलिया ने मंगल का बिगुल बजाया ।
तुमने ही मुस्करा दिया क्या, जो बसन्त का मन बौराया ।
घूँघट खोले बैठी कलियाँ
लगे सिसकने पंछी सारे,
तभी सवेरा हँसे किरनें
लगीं नाचने द्वारे द्वारे,
धरती हुई कृतार्थ पुलक कर अंगों में रंग रूप समाया ।
तुमने ही मुस्करा दिया क्या जो बसन्त का मन बौराया ॥"

ये सार्वजनिक कार्यों एवं कवि सम्मेलनों में सक्रिय भाग लेती हैं। इनकी 'अंचल कुसुम' 'विहान' 'चर्पणपीठ' 'आभापर्व' 'पंखिनी' आदि पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। शिवसरिता पुरस्कार से भी ये पुरस्कृत हो चुकी हैं और एक लम्बे अर्से से काव्य-साधना कर रही हैं।

श्रीमती विमलवती 'कोकिल' निरन्तर मौलिक कवयित्री हैं। उन्होंने चतुर्दिक् फैले जीवन के साधारण-असाधारण क्षणों को जिस बराबर से पकड़ा है उन्हीं को भावनाओं के अनुरूप ढाल कर ऐसे आकार प्रदान किये हैं जो सम्पूर्ण रूप से मति के व्यंजक हैं। कोमल हृदय के स्पन्दन को व्यक्त करने के लिए यहाँ वे अपने आप को मुक्त पंछी सा अनुभव करती हैं

मैं जड़ता की अन्ध गुफा में बहती एक नदी हूँ ।
जैसे क्षण भर को भी तो विश्राम नहीं जाना है
बाधा कभी तो दुहरा कौतुक फिर से ठाना है
इस छोटे संसार के बीच में ही बस सरित बनी हूँ ।

परिवर्तन की संध्याओं से गई तथा झकझोरी
और परिस्थिति के झोंकों में बे-सम्भार हूँ दौड़ी;
अपने ही आदर्शों से मैं फिर फिर गई ठगी हूँ ।

कोई परछाहीं है उसके पीछे भाग रही हूँ
आकारों से अपनी भरी मनोहर मांग रही हूँ
प्रेम में किसी अनदेखे के मैं भरपूर पगी हूँ।

दुख की लम्बी घाटी में गिरती पड़ती बढ़ती हूँ
और राह पर भिन्न प्रश्नों को ठुकराती चलती हूँ
जैसे कोई लक्ष्यभेद तीर-सी सधी लगी हूँ।"

प्रेम क्षेत्र के द्वन्द्वों से ऊपर, ज्ञात और अज्ञात से अभय नित-नए परिवर्तनों की रचना को चीरती-फाड़ती उस ऊँचाई की राह में दौड़ना सरल नहीं है पर रास्ता बताने वाला क्या कभी थकता है? हृदय की अनमोल निधियों को बिखेरती विदुषी की नीलाम्बर में उड़ती 'कोकिल' की कोमल कल्पना श्रान्त होना नहीं जानती। एक अन्य कविता में

"मेरे जीवन के हृदय में उठी कोई दिव्य पीर है।
बना लिया है मैंने नीड़ भिन्न बड़ पार्थिव डालों पर
बचपन में ही जब मन रचता जाता है जिसका घर
अधिक चोंच में लेकर उड़ना जाता एक कीर है।

आनन्द स्वयं आकर जिसकी दृष्टि बना आगमन है
और तीर्थ यात्रा में जिसकी बनी प्रेरणा क्रम है
बलि के हित स्वीकार हो चुका है जो वह शरीर है।

मानव विरचित जनम जनम के अमृत भरे सपनों से
संचित करके कल्पनाओं के महान तीर्थों से
लाया गया यह मैं अनुराग का अम्बु-नीर हूँ।

रुक न सकूँगा कितना भी अब समय तरसता जाए।
थक न सकूँगा बाधाओं के पहाड़ भी आ जायें
मैं प्रभु के दरबार से छूटने वाला एक तीर हूँ।"

अपनी भक्तिपरक कविताओं में इन्होंने भक्ति के विभिन्न पहलुओं को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा है। भक्ति का अर्थ है—हृदय की निष्कपट सरलता और सच्चाई। नारी का निष्काम निश्छल प्रेम और समर्पण की भावना ही सच्ची भक्ति है जिसमें किसी प्रकार का भी द्वन्द्व-संघर्ष या स्वार्थ नहीं है। निम्न कविता में हृदय का आर्द्र परिप्लावित भाव इनके भीतर के निरर्थक सत्य का अनुमोदक और विश्वास का प्रतीक बनकर प्रकट हुआ है

"मेरा नाम जनम बन जाता
जब इतिहास प्रकृति बन जाते

सब भूपोल निरंजन काया ;
मेरी सत्य लगन के आगे
सब दर्शन जीवन बन जाता।
मेरा गान—

माया की अनुभूति निराली—
कैसे अपने भाव बताऊँ ?
जिस प्रतिमा को ध्यान करूँ मैं—
सारा त्रिभुवन रूप बन जाता !
मेरा गान—

औरों के पदचिह्नों पर ही
मैंने अपना पथ सिरजा है—
जिस मौलिकता पर इतराऊँ
प्रति पग क्रमानुकरण बन जाता
मेरा गान—

यों तो मैंने जग को अब तक
बहुत ज्ञान-विज्ञान दिया है ;
कैसे उसका लेखा जोड़ूँ —
मेरा कार्य शून्य बन जाता !
मेरा गान—

पीड़ा में क्या और बताऊँ
और विजय में गान करूँ क्या !
मेरा सकल विकास सफल बन
संसृति की मुस्कान बन जाता।
मेरा गान भजन बन जाता।"

एक दूसरी कविता में—

"म तो तेरे प्रेम के सिन्धु परी
धर्म सत्य इक ज्वाला अनुपम
कारिह गुण उपरी
जाने अनजाने कहूँ अपनी
रचना जाति परी
मेरे तन मन भजन की पाति भज बनी सिगरी।
म तो तेरे प्रेम के सिन्धु परी।
भाव भाव के जनम जनम अब

एक कथा लहरी
और क्रम की गतिमय पतिमय में
एकहि स्वर लहरी
एक छत्र बस राज तुम्हारो एहि तन की नगरी।
मैं तो तेरे प्रेम के सिन्धु परी।

सँकेतों पर बहूँ बहूँ कि
खोऊँ और पाऊँ
कोई अनामी तीर कब जाऊँ
कहाँ कहो करूँ
पारावार होय पूँ बिसराती ऐसी लगन करी।
मैं तो तेरे प्रेम के सिन्धु परी।"

श्रीमती 'कोकिल' में काल के भय और अविश्वास की काली परछाइयाँ नहीं उभरी हैं। भावों के संयोग से मुक्त जीवन रूपी महासागर का अवगाहन करके वे अपनी अमूल्य काव्य-मुक्ताओं की माला मानव-समाज को अर्पित कर रही हैं। निरन्तर मिट-मिट कर, कुछ खो-खोकर या पा-पाकर अपनी रिक्तता को वे किसी बेबसी अभाव या दैन्य के रोदन से नहीं भरना चाहतीं, बल्कि अपनी जिज्ञासिकी और मधुमय गीतों की आनन्दमयी मस्ती में मुरली-धुन की अनुभूति में थिरकना चाहती हैं।

"मुरली बाजि रही मधुबन में
एक गूँज गूँजी आत्मा में हार जुड़े कंचन के,
नाच रही राधा छवि देखी रूप-रंग-बन्धन में।
एक गूँज गूँजी मानस में हार जुड़े चन्दन के
उड़ी जा रही लकल कल्पना यौवन लिए गगन में।
एक गूँज गूँजी अन्तर में हार जुड़े चाँदी के
आनन्द बरसा गयी अलबेली दुनिया के स्पन्दन में।
एक गूँज गूँजी काया में हार जुड़े लोहे के
कठिन पल टूटी जड़ता की मधु उमगा जीवन में।"

श्रीमती विद्यावती मिश्र कविता के क्षेत्र में अनेक वर्षों से साधना कर रही हैं। एक आस्थावान नैष्ठिक नारी का सा आत्मार्पण और संतृप्ति के स्वर इनकी कविता में अनुस्यूत हैं। भगवान के प्रति अनन्य दीन भावना और मूक समर्पण का भाव लेकर इन्होंने अपनी भक्ति की तन्मयता को शब्दों में साकार किया है

"भय यह मुझको नहीं कि मेरी यह लघु सत्ता मिट जायेगी
केवल यह दुख फिर न द्वार पर प्रतिदिन भक्त राशि आयेगी
मैं यह ही यह ही जप यह ही मन्दिर, फिर भगवान न बदलो।
अब मेरे भगवान न बदलो।

वीणा मेरी एक एक ही तरह सभी अंगुली पड़ती है
फिर क्यों अविकल राग रागिनी टूट-टूट स्वर में बजती है
वही अधर है वही बाँसुरी गायक अपने गान न बदलो !
अब मेरे भगवान न बदलो ।

चंचल मन को एक तुम्हारी दृढ़ता का आधार रहा है
जिसके ध्यान-मात्र के बल पर जीवन भर संघर्ष सहा है
निर्बल के आधार, लोक के प्राण विश्व-कल्याण न बदलो !
अब मेरे भगवान न बदलो !"

संस्कार, साज-सज्जा उचित-वैचित्र्य और मिथ्याडम्बर से ऊपर उठकर अपने अंतर्प्रदेश के अवरुद्ध मौन में ही ये भगवान की खोज करती रहीं । शनै-शनै यह भावना भी इनमें इतनी पुष्ट होती गई है कि मानवत्व की चरम परिणति को ही इन्होंने देवत्व की संज्ञा दी । देवत्व आखिर है क्या ? क्या सचमुच जीवन की अमरता का वरदान उन उपास्यात्माओं में नहीं है जो पटबन्द उपासना गृहों या मठ-मन्दिरों में नहीं वरन् त्याग-तपस्या परहित और अपनी संभूत चैतन्य शक्ति द्वारा एक सच्चे मनुष्यत्व में देवत्व को सार्थक करने की अनवरत साधना में लगे रहते हैं। 'इंसान मेरा देवता' शीर्षक कविता में इसी भाव को व्यंजित करती हुई ये लिखती हैं

"मैं चाहती अगणित स्वरों में विश्व को यह दूँ बता,
इंसान मेरा देवता !

रवि के प्रखरतम ताप ने श्रम को पसीना कर दिया
प्रत्येक जिसकी बूँद ने जीवन धरा पर भर दिया,
वह मूर्ति पौरुष की बन चिर-अर्चिता !
इंसान मेरा देवता !

घनघोर तीव्र प्रहार से जब वज्र-सा लोहा कटा,
तब श्रम की चिनगी उठी व्यापक युगों का तम फटा,
इस साधना की अब निर्जीव भी अनुगता !
इंसान मेरा देवता !

पट बंद हों पूजा-गृहों के अब सदा को आज से
भगवान अब बाहर न होगा लोक और समाज से,
देवत्व का ही नाम होगा मनुजता !
इंसान मेरा देवता !"

कहीं कहीं छायावाद और रहस्यवाद से प्रभावित होकर इन्होंने उस अज्ञात स्पन्दन को भी अनुभव किया है जिसकी कि अभी तक न्यूनाधिक रूप में परिपाटी चली आ रही है । किन्तु इनकी मौन प्रतीक्षा का अन्त रुदन या पीड़ा के पतझर में नहीं बल्कि हँसते हुए बसन्त में है । उस तमिस्रा में ही इनके प्राणों के तारे या चेतना

नहीं कौंधती अपितु इनकी भावमयता सहजता और सादगी का परिधान धारण कर सरल वाणी की रसधारा में फूटी पड़ रही है

"मेरे कवि की प्यास कि जैसे सीपी के अंतर की व्याकुल,
मेरे कवि की प्यास कि जैसे बादल में बिजली की माला
जैसे ज्वालामुखी लिए रहता है अपने में अंगारे
जैसे तममय रात छिपाए रहते हैं आँखों में तारे
रहता है अज्ञात सदा मानव-मन का इतिहास !
एक उसी की ही छाया है मेरे कवि की प्यास !!

है मिट्टी की प्यास भूमि के सोने भरे हुए अंचल में
है सरिता का वेग नाव के हिलते हुए सजल अंचल में
फूलों की मुसकान सुरभि की मस्ती भरी हुई लहरों में
जीवन के मकरन्द किसी के पावन प्यार-भरे प्रहरों में
मन की लालुपता का ही है एक रूप संन्यास !
और उसी की एक चेतना मेरे कवि की प्यास !!

मेरी मौन प्रतीक्षा का कब हो पाया है अंत
रोता पतझार बन पाया कब हँसता हुआ वसन्त
तृप्ति न मन को दे पाया है जलने का सन्देश
जल को प्राप्ति न हो पाती है चलने का आदेश
चाह रहा भूतल पर आना एकाकी आकाश !
किन्तु छोड़ जाने को व्याकुल मेरे कवि की प्यास !!"

श्रीमती कमला चौधरी सफल कहानीकार हैं, पर काफी कविताएँ भी लिखी हैं। इनके उद्गारों में सच्ची सरल निष्ठा व्यंजित हुई है। प्रेम-विरह आशा-निराशा मिलन बिछोह के उन्मादक गीत इन्होंने नहीं गाए, बल्कि जीवन की दौड़ में अनायास ही जो सम्पर्क में आते रहते हैं उनसे ही तादात्म्य स्थापित कर इन्होंने अपनी संवेदनाओं का बड़े सहज स्वच्छ ढंग से विस्तार किया है। बाहरी दुनिया के सामान्य असामान्य परिवेश से परिचित होने पर ही ऐसा तादात्म्य सम्भव है। व्यापक अर्थ में राग-विराग हर्ष-विषाद और मानव-संवेदनाओं से प्रभावित होकर विशेष सामंजस्यपूर्ण स्थिति में ऊपरी तौर पर एक दूसरे से भिन्न जान पड़ने के बावजूद भी समय के अनमिल संघर्षों से टकराकर उक्त प्रगति-परम्परा की महत्ता में उदात्त भावनाएँ गहराई में आकर एक हो जाती हैं। सत्यस्पर्शी दृष्टि वैविध्य में भी एकत्व खोज लेती है। इनकी नजर आकाशचारी नहीं बल्कि धरातल में बिछी समतल व्यापक धरती पर ही टिकी है

"धीरे-धीरे चरण बढ़ाना, पवन ! तनिक सचेत हो जाना
चपल लहरियों के नर्तन पर, रीझ-रीझ मत होना दीवाना !

नील गगन में चाँद पला है,
सागर का उन्माद बना है
लहर-लहर का मचल-मचल
मिलन-लालसा पीड़ा-कम्पन—

बढ़ने दो व्यवधान न लाना, उचित नहीं उत्पात मचाना
युग-युग के साधक सागर ने प्रेम बोध का तप है ठाना ।

धरा गगन में है अति दूरी,
महाविषादमयी मजबूरी
मन की साध न होती पूरी
प्रेम-कथा मिल रही अधूरी,

सम्भव नहीं चन्द्र का आना और सिन्धु का नभ तक जाना,
विकल तपस्वी अचल प्रीति का साधक ! न इस का ध्यान डिगाना ।

कभी नहीं होता परिवर्तन
अटल अटूट नेह का बन्धन
आदि अन्त का यह आकर्षण
सुन्दर चिरन्तन का दिग्दर्शन ।

विकल विरहरत रोता गाता ताप बढ़ाता प्रतिपल अकुलाता,
सतत निराशा का वर पाकर, फिर भी अविचल प्रीति निभाता ।

करने दो तन्मय हो दर्शन
होने दो उन्मुक्त समर्पण
सत्य शाश्वत का यह दर्पण
आलोकित करता है कण-कण ।

लहर पवन तूफान न लाना या असमय मत क्षोभ बढ़ाना
विषम वेदना आकुल अन्तर, अमर प्रीति की रीति बताना ।"

इस महागाथा के असंख्य आयामों में कभी-कभी ऐसे एकाकी अनदेखे क्षण भी आते हैं जो हर अप्रत्यावर्तित अतीत और हर अनागत भविष्य का रहस्यमय संकेत देते हैं ।

"जल बरसा था रात अपरिमित !
उसी बीच में मधुर घात कर
कोई मन छू गया अपरिचित !
पावस का उत्पात नहीं था,
पागल झंझावात नहीं था
हलका-सा आघात लगा था

पल-पल अश्रुपात नहीं था।
छिप-छिप आया घूँघट-ओट में
सुरत हृदय में हुआ समाहित।
जल बरसा था रात अपरिमित।

प्यासी आँखें देख न पाईं,
अनपढ़-सी दोनों भर आईं
बन्द हुए पलकों के परदे,
पलकें भी मानो घबराईं।
केवल सीमा का वह उपवन
मानस में वह हुआ समाहृत।
जल बरसा था रात अपरिमित।

ओर चुभा दी किसी किरन ने,
या मनहर बंकिम चितवन ने
चोट लगी ज्यों स्निग्ध कली पर,
शबनम बरसी प्रात पवन ने।
चौंक पड़ी थी बेसुध धड़कन,
पाहुन आया सहसा विस्मृत।
जल बरसा था रात अपरिमित।

घुम-घुम करता मन पहुनाई
अनुराग भरी छिटकी जुन्हाई,
घन रँग आकार न देखा,
किन्तु पुलक सिहरन भर आई।
चित्र चितेरा बिन खींचता,
अंतर पर भर छवि प्रतिबिम्बित।
जल बरसा था रात अपरिमित।"

'अपनी अपनी मंजिल' में वे उस गन्तव्य की ओर अग्रसर होना चाहती हैं जहाँ राह घुमराह है किन्तु स्वतः प्रेरणा से दीप तेल के अभियान में हैं। यह तो पता नहीं कि मंजिल का छोर-द्वार किधर है मगर दिल को साहिल बनाकर और हरदम बहती सरगम से कदम से कदम मिलाकर आगे बढ़ने की ख्वाहिश रखती हैं।

कहीं-कहीं उर्दू शब्दों के प्रयोग ने कविता में जान फूँक दी है।

"मुझे राह में रोशनी मत दिखाना—
मैं अपना ही दीपक जलाती चली थी।
किधर मेरी मंजिल किधर है किनारा,
नहीं मुझको लेना किसी का सहारा।

तड़प कर मेरे दिल ने मुझको पुकारा
बताया है चुपके से कोई इशारा ।
बताये नहीं मुझको कोई किनारा—
मैं दिल को ही साहिल बनाती चलूँगी ।

नहीं भाती आँखों को सजधज ये रौनक,
फनापीर बगमय बमाने भी हूँ हक ।
कि जो कुछ है बातिल है कुछ भी नहीं हक
ये नग्मे नहीं मुझको भाते हैं मुतलक
मेरे दिल में बजती है सरगम जो हरदम—
मैं उससे क़दम को मिलाती चलूँगी ।

मचलती हैं लहरें ये उनकी है क़समत
कि जाना और आना बहारों की आदत ।
ज़माने ने दी क्या गुलों को ये रंगत ?
बहारों ने पाई कहाँ से है रंगत ?
सभी में भरी है अजब एक वहशत—
मैं वहशत को राहत बनाती चलूँगी ।

ये गुलशन में गुंचे हैं हँसते चटकते,
गुलाबों की रविशें हज़ारों महकते ।
हज़ारों हैं खिलते हज़ारों महकते
कभी खुश्क होते कभी हैं चमकते ।
ये हँसते महकते हैं बनते बिगड़ते—
मैं गुलशन बनाती सजाती चलूँगी ।

बनाये हैं दरिया ने दूर ही किनारे,
पपीहे ने पाये हैं दिल से ही नारे ।
बताओ फ़लक पर हैं किसने सँवारे,
ये झलमें-सितारे से चमके जो तारे ।
ये चाँद और सूरज ये दिलकश नज़ारे—
मैं अपने नज़ारों पै छाती चलूँगी ।

अकेले ही आई अकेले है जाना
अलग अपनी मंज़िल अलग है ठिकाना ।
कि आना का जाने का लम्बा फ़साना,

बनाया है खुद ही अभी है बनाना ।
तुम इसमें नहीं कुछ बढ़ाना-घटाना—
न अपना फसाना बनाती चलूँगी ।"

गद्य-काव्य की प्रमुख लेखिका श्रीमती दिनेशनन्दिनी जी अब कविता की ओर भी अग्रसर हुई हैं। 'उर्वशी' इनका प्रथम प्रयास और 'मनुहार' इनकी सफलता का द्योतक है जिसको श्री दिलीप कुमार राय जैसे महान कलाकार ने अपने कलकंठ में उतार गीतों की तन्मयता से स्फूर्ति का अकूत स्पन्दन भर दिया है। 'सारंग' में इनकी अनेक सुन्दर कविताओं का संकलन है। इनकी भाषा सरल एवं लचीली है, किन्तु संस्कृत शब्दों के साथ-साथ उर्दू फ़ारसी शब्दों का प्रयोग भी किया गया है।

इनकी कविता श्रृंगारी है और उसमें छायावादी रूमानी प्रेम की भी यत्र-तत्र गन्ध आती है। रहस्योन्मुखभावना के चाव में इन्होंने कहीं निराशावाद को भी कहीं-कहीं प्रोत्साहन दिया है।

निम्नलिखित पंक्तियों में हृदय की भावनाओं का कैसा सुन्दर निदर्शन हुआ है

"पर्णमिलन के मधु वन में
सखि ! उनसे क्या पूछूँगी मैं ।
भूल सभी सपनों को
कुछ रोकर ही हँस दूँगी मैं ।"

दिनेशनन्दिनी जी जहाँ गद्यकाव्य में सिद्धहस्त हैं कविता में कोई निश्चित मार्ग नहीं पकड़ सकीं। फिर भी जिस अनुभूत को इन्होंने व्यक्त करना चाहा है उसे अपनी सहज संवेदनीयता से मूर्त करने का प्रयास किया है।

"सजन पूछते हैं मैं आती घूँघट में शर्माती क्यों हूँ ?
गरल समझ उनका प्रीति-पथ पथ में ही थक जाती क्यों हूँ ?
जब वे छूते छुईमुई सी छिन छिन में मुरझाती क्यों हूँ ?
सजन पूछते मुझसे आती छाया से घबराती क्यों हूँ ?
कनक-कलश मादक मदिरा का पथ में ही छलकाती क्यों हूँ ?
जन्म नशा पी साकी बेसुध न पीछे हट जाती क्यों हूँ ?
विहँस विहँस भुज आलिंगन में बँधकर मिटती जाती क्यों हूँ ?
सजन पूछते यही सखी मैं घूँघट में शर्माती क्यों हूँ ?"

एक दूसरी कविता में—

"प्रिय ! तुम्हारे ही सहारे जी रही हूँ
पुण्य बल है, कम फल है
क्रूर भावी अन्य तल है

प्राण बन्धक प्रम पक्ष है
फटे दिल को सी रही हूँ
प्रिय ! तुम्हारे साथ ही मैं जी रही हूँ

कठिन पथ है दूर कल है
साधना मेरी विकल है,
कमल दल में आत्म बल है
पीलि पंथा पी रही हूँ
प्रिय ! तुम्हारे ही सहारे जी रही हूँ

छल कथा है चिर व्यथा है
एक ही जीवन प्रथा है,
प्रणय सौरभ मन गुंथा है
बिन सुहृद के भी रही हूँ
प्रिय ! तुम्हारे ही सहारे जी रही हूँ

द्रुति चरण है, चिन्त्य मन है
मृदुल मन सा शिथिल तन है
साँस रग रग में घुटन है
पुण्य स्वप्निल जी रही हूँ
प्रिय ! तुम्हारे ही सहारे जी रही हूँ

प्राण घन है, अश्रु कण है
गुह्य चिन्तन ही मरण है
यह यहाँ से अकथ भय है
ज्योति तम अन्धी रही हूँ
प्रिय ! तुम्हारे ही सहारे जी रही हूँ

आँखें तरल है बनी गरल है
करुण भरा मन सरस है
नियति लिपि पर विधि प्रबल है
हार की सन्धि रही हूँ।"

यों तो छायावाद-रहस्यवाद की मूलवर्ती भावना से प्रभावित इनमें कुछ वैसा सा ही विस्मय कौतूहल और असीम चेतन का क्रन्दन है, किन्तु यहाँ भी छायावादी धर्मा और व्यक्तिवाद से मुक्त होकर इन्होंने लिखा है वहाँ इनके उद्गार अधिक स्वाभाविक बन पड़े हैं—

"भरी आँखें मत पूछो
सुख सपनी हो जाओगे

६

साम्य प्रभा के अणु
तब कैसे तुम पाओगे ?"

'परिछाया' में इन्होंने अज्ञात शिशु के प्रति अपनी भावनाओं को व्यक्त किया है। उदरस्थ अजन्मे बालक के प्रति जो अपरिमित स्नेह, ममत्व और वात्सल्य भरी उत्सुकता होती है उसे उस 'माँ' के सिवा कौन समझ सकता है जो कितनी ही रम्य कल्पनाओं के सहारे उस अकल्पनीय नूतन जीव का निर्माण करती है। लाज और संकोच में सिमटी उस घनीभूत अनुभूति में वह रमती तो रहती है पर उस अन्तरंग व्यापार के सम्बन्ध में नहीं बता पाती। दिनेशनन्दिनी जी ने इसी अछूते विषय को 'परिछाया' में बखूबी निभाया है—

"स्वप्न में जीवित कहीं तुम
खो चुकी हूँ अब अपना
कल जिन ही तुम रहे हो
चिर अचंचल स्वप्न अपना।

खेलता विधि एक युक्ति
या सभी से अलग है
हृदय का विश्वास आदिम
तर्क उसको ठेलता है।

वर्तमान की पूजा मेरी
एकनिष्ठ अविचलित ध्यान
जागरूक निशा के प्रहरी
तुम स्वप्नों के स्वप्न महान्।"

स्नेह-विह्वल वे उस अज्ञात से पूछती है—

"यात्रा के कितने पग बाकी
दीपक में अब नेह भरा
ज्योति पुंज साकार कल्पना
किसका किससे स्नेह भरा।"

निम्न पंक्तियों में गर्भिणी नारी का कितना सजीव चित्रण है—

"धरती कपती या पग काँपते
नहीं समझ पाती हूँ
धुँधले से इस अंतराल पर
चित्र रेखा सी जाती हूँ।"

उदरस्थ शिशु की ओर संकेत करती हुई एक अन्य स्थल पर वे लिखती हैं—

"जीवन की खिलती हारें
इस अंचल में एकत्रित
पीड़ा की मूर्छित छाया
मेरे अन्तर में चित्रित।"

किन्तु बालक को जीवन के घात प्रतिघात आशा निराशा और दुःख व संघर्षों की निरन्तर तपती तीखी धूप और अवसादमयी छायाओं से दूर रहने का आदेश देती हुई वे लिखती हैं—

"जीवन की करुण कथायें
अंकित मेरे प्राणों में
वे छलनामय मनुहारें
घुल पड़ती अब कानों में।
मेरे ममता वात्सल्य
मधु अवसर मन मत भूला
अब तक मधु घड़ी बचाये
मिलित आतुर बढ़ना फूला।"

जननी की माया-ममता समेटे वे अपनी चिन्ता व्यक्त करती हुई लिखती हैं—

"आंसू मुख मुरझा न जाये
सुन्दर अधरों में खिलकर
व्याकुल इतना मन अपना था
दृष्टि में उद्विग्न जल।

एक दूसरे स्थल पर—

'व्यथित मत होना
अगर वातावरण प्रतिकूल हो।'

कहीं वे कहती हैं—

'एक सोना को बालापन
मेरी नाड़ी में बसे।

इस लघु काव्यकृति में विमलमोहिनी जी ने अपनी नितान्त कोमल भावनाओं को व्यंजित किया है। 'परिछायाएं' की भूमिका में वे लिखती हैं—"उस समय वधू के कर्तव्यों से लाद भरा संघर्ष था और नवीन जीवन की कटुता अथवा मिठास को बारी बारी से देखकर घबरा जाती थी। परोक्ष में उड़ते-उड़ते अनायास धरती पर गिर पड़ने का धक्का सा लगता था। अपने आप संभलने की आदत न होने से वापस उठने का प्रयास तक बड़ा कष्टप्रद था। भली सी विक्षिप्त सी अजान इधर-उधर छटपटाती रही और समय वह भी बीत चला दुख मति से। आज 'माया' होकर भी वात्सल्य की भूमि से दूर हूँ—बहुत दूर।"

हीरादेवी चतुर्वेदी के 'मधुवन', 'मंजरी' 'नीलम' काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें सरल अनुभूति और कोमल व्यंजना है।

"नैया डगमग होती जाती
मेरी आशा सोती जाती
बादल झमझम आज बरसते
किन्तु लक्ष्य तक पहुँची न।

शैल रस्तोगी का 'पराग' कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ है। इनके हृदय में वेदना और करुणा-परिप्लावित भाव हैं। कविताओं में अश्रु से झरते रहते हैं

"आँसू रे भर दो
मेरी रिक्त खाली गागर में
युग-युग के अभिलषित स्वर में
पीड़ा का स्वर, सागर का —कण अपना ही भर दो
आँसू रे भर दो।"

निम्न कविता में इनकी हृदय की वेदना मुखर हो उठी है

"कल की बीती बात आज बन गई कहानी
चलते-चलते भूल गए थे जो पाँवों में
लौट लिया सुधि ने उनको अपने गाँवों में
चलते-चलते फूल खिले थे जो राहों में —
बाँध समय ने लिया उन्हें अपनी बाहों में
पतझर के छन में बोझिल कल पुरवाई थी
आज वहीं पर बसन्त करता है, मनमानी।
कल की धारा बनी नदी का आज किनारा,
कल का फूल, आज आँखों की बरछी हारा
कल जो था प्रारम्भ आज बन गया अन्त है—
शून्य बन गया सुबह साँझ का नन्हा तारा
कल पुरवाई ने डालों पर झूला डाला,
भोली-भाली कली आज बन गई जवानी।
कल की रात और कल का गमगीन अन्धेरा!
आज बनी मस्ती में डूबा सुखद सवेरा;
कल जमा की जहाँ बज रही थी शहनाई—
वहीं अमा के महामीन ने डाला डेरा;
कल तक जो कुछ भी नवीनता थी जीवन में,
आज लग रही है कितनी अनजान पुरानी।
बहुत पास है जिस मंज़िल को सपना लिया था,
जिस पर मन के अरमानों का कलश दिया था;

बनी भोर का सपना वह सारी खुशहाली
होली बन कर जली ज़िन्दगी की दीवाली;
कल अधरों को जो हँसने का दान मिला था,
आज बन गया है सूनी आँखों का पानी।"

श्रीमती शैलबाला खड़ीबोली में गीतों की रचनाएँ करती हैं। हैदराबाद जैसे उर्दू के गढ़ में आप अपनी कविताओं, कहानियों, एकांकी नाटकों, गद्य-काव्य एवं समीक्षात्मक निबन्धों द्वारा हिन्दी का काफ़ी प्रचार कर रही हैं। आपकी कविताएँ सरल एवं भावपूर्ण होती हैं

'देखो फूलों का लघु जीवन पलभर को खिलते मिट जाते
पर पत्थर की कठोरता में युग के युग भी सिमिट समाते।
पर क्या लघुता असफलता है और दीर्घता क्या अनन्त है,
ग्रीष्म और हिम से बचकर भी भूला जाता क्या वसन्त है।
जग में सफल है फूलों का लघु जीवन व्यापार, न कहना,
उसके क्षण भर के सौरभ पर, निछावर प्रस्तर भार, न कहना।'

सुश्री शान्ति एम. ए. की प्रथम काव्यकृति 'निष्कृति' है। 'रेखा' पर हिन्दी साहित्य-सम्मेलन ने आपको सेकसरिया पुरस्कार से पुरस्कृत किया है। आपकी स्फुट कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं

'नभ के नीलेपन में भर कर,
निशि सजती तारों के अक्षर,
चुपके चुपके, पर अधरों की मृदु मधु बात न चुप रहती है।
सखी! रात न चुप रहती है।'

रुपहली चाँदनी का मादक सम्मोहन जब धरती-आकाश और दिशा-विदिशाओं में छा जाता है तब ऐसा प्रतीत होता है मानो यह झिलमिल आलोक 'चाँदनी' को तार-तार करके छिटका देता है। चंचल वायु भी मुग्ध सी मौन ठिठक जाती है और स्वप्न की मनुहारें मचल-मचल उठती हैं

"चमचमाते हैं रुपहले चाँदनी के तार!
ढल गया दिन साँझ आई
सूर्य को देने विदाई
दिश दिशाएँ मुस्कराई
लो गये गुंजरित विहग के राग मृदु सुकुमार!
चमचमाते हैं रुपहले चाँदी के तार!
हो गई है शान्त हलचल
मुग्ध सा है वायु चंचल,
बढ़ रही है नींद प्रतिपल
दे रही विश्राम को है स्वप्न की मनुहार!

चमचमाते हैं रुपहले चाँदनी के तार !
व्योम सपनों से भरा है,
भूमि का अंचल हरा है,
प्राण लहुआया डरा है,
अब न छिप पाया निशा का चाँद के प्रति प्यार !
चमचमाते हैं रुपहले चाँदनी के तार !"

एक दूसरी कविता में जीवन के अपरिमित सपने और दुख-सुख की सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की गई है

"कितने सपने ?
उतने ही जितने जीवन में
सगे-सहोदर, साथी
अपने !
कितना दुःख ?
उतना ही; जितना इस मन ने
भोगा है इस जगती से
सुख !
कितनी आशा ?
जितनी मन में मौन निराशा
की बनती लिपटी
परिभाषा !"

प्यार इनकी दृष्टि में मन की दुर्बलता नहीं बल्कि पूर्व जन्मों का संयोग है

"पूर्व जन्मों का यह संयोग
न मन की दुर्बलता है प्यार !
नेत्र-माली के हित
सौन्दर्य-कुसुम सब होते नहीं समान
किसी को वह देता है मोह,
किसी को अरुचि घृणा का दान
बिना कारण ही यह वैषम्य
बताओ होता कौन प्रकार ?
पूर्व जन्मों का यह संयोग
न मन की दुर्बलता है प्यार !
किसी को शशि से प्रिय खद्योत
दिवाकर से प्रिय है तम जाल
किसी के हित बनती मनुहार
भयंकरतम लपटों की माल

पुष्पसम अमृत के सम मौन
किसी की पलकों पर नीहार !
पूर्व जन्मों का यह संयोग
न मन की दुर्बलता है प्यार !

बुद्धि है जिसको सकी न माप
भक्ति पायी न जिसे अवगाह
कल्पना जिसको सके न भाप
भावना ने कब पायी थाह
रही जिसका है करती किन्तु
सजल सुस्मृतियाँ ही शृंगार !
पूर्व जन्मों का यह संयोग
न मन की दुर्बलता है प्यार !"

एक अन्य कविता में कवयित्री अपने प्रणयी से दूरी की विडम्बना त्यागकर मिलन के वरदान की याचना करती है

"आज दूरी दूर कर दो प्राण !
स्वप्न की पलकों सदृश शशि-रश्मियाँ रंगीन
पहन आयी रात्रि तम का वस्त्र आज नवीन
कुमुदिनी मुसका रही है, किन्तु तुम अनजान
आज दूरी दूर कर दो प्राण !

शान्त हो कर मुग्ध सुनते पवन का संगीत
चाहती प्राची मिलन के क्षण न जाएं बीत
यामिनी पावन हुई पा मिलन का वरदान !
आज दूरी दूर कर दो प्राण !

लौटकर आते नहीं हैं मधुर क्षण सुकुमार
लौटकर आता नहीं रूठा हुआ है प्यार
पूर्व इसके हो कि मुखरित प्रिय प्रणय का गान।
आज दूरी दूर करदो प्राण !

शान्ति जी न कविता में प्रयोग भी करती हैं। प्रयोग के ज़रिये प्रेम के रंगीन सपनों को नहीं पालते वरन् हथौड़ी की चोट से उन्हें खण्ड-खण्ड बिखरा देते हैं। निम्न कविता ज़रा देखिए

"वह सामने से निकला;
झन ! झन ! झन !
एक विद्युत लहर
न जाने आई कहाँ से
और गई किधर
छोड़ गई;
मन में सिहरन
कपोलों पर लाली
मदभरे नैन
आकुल अन्तर !

पाँव बढ़ जाते
पूछा विवेक ने—
"किधर चले" ?
"कहीं नहीं यूँ ही टहलने"
(मन खोजते रहे उन्हें)
मस्तिष्क ने पूछा
"चाहते हो क्या" ?
"कुछ नहीं ! कुछ नहीं"
सामने मुंडेर पर
बोलता है कागा
क्या कोई आयेगा ?
हृदय करने लगा
प्रेम से धक ! धक !
मन ने पूछा—
"क्या हुआ तुम्हें ?"
"होता क्या ?
तुम क्या कभी
संयम रहित और मौन
रह सकते नहीं !
हर पल
प्रश्नों की झड़ी ?
हर क्षण
अविश्वास ?
मुझ निर्दोष को
इतना क्यों सताते हो !"
(और तभी खोज लिया
जिसके लिए व्याकुल हिया)
इस बार पूछा हृदय ने
मस्तिष्क से
"कुछ दोष तो नहीं
मिलने में उनसे" ?
विवेक रहा मौन
पुनः प्रश्न
किंतु निरुत्तर।

तब तक नेत्र नभों से
मंत्रणा कुछ कर चुके
और वे विजयी हुए।
परास्त कर दिया
उस दकियानूसी युग को
जो उन्हें रोककर
परिणत करने
को था तत्पर
मिलन को विरह में।
और कहीं मन से
धड़कते हृदय ने
"कैसा पुण्य-पाप !
जीवन है
यौवन है
मधुमय क्षण हैं
तुम हो हम हैं।
कैसी परंपरा !
कैसा धर्म !
कैसी लोक लाज !
भूल जाओ आज
वे पुरानी व्यर्थ की बातें !"
और उसके मादक स्वर से
अर्ध मूर्छित सा विवेक
देखता रहा
सुनता रहा
समझता रहा
कि छन में हृदय
अपने उन्माद पर
रोएगा
पछतायेगा
और मुसका कर
चली से कहेगा
"तुमने मुझको
क्यों नहीं रोक लिया !"

श्रीमती शान्ति सिहल के 'अभिमान' और 'असफल' दो काव्य-संग्रह प्रकाशित

चुके हैं। छायावादी कवियों की भाँति ये भी उन्हीं रागात्मक सम्बन्धों को प्रमुखता देती हैं जहाँ कोमल भावराशि और प्रबल आवेग किसी अज्ञात के लिए सतत छटपटाते हैं, प्राणों में न बुझने वाली प्यास जगाती है, आँखें उस वस्तु के लिए भटकती रहती हैं जिसे वे कभी पकड़ नहीं पातीं और भीतरी लिप्सा उसी की तन्मयता में जागरूक हो जाती है—

"जिन दृगों की नीड़ में
कैसे रहे सपने बसेरा
अब वहीं पर है बिछलती
सजलता निश्वास बनकर,
कौन प्राणों में समाया जा रहा उच्छ्वास बनकर !"

एक दूसरी कविता में

"आज जो अनुरक्ति के पल
आज जो अभिव्यक्ति के पल
आज मेरी साधना, वरदान आये
राग की गहराइयों में गान आये।"

कवयित्री का मन उस सत्य को पाने के लिए लालायित है जो जीवन की न जाने कितनी ही उलझी परिभाषाओं में खो गया है। इस उलझन में क्या मन कभी आश्वस्त हो पाता है ?

"कौन यहाँ पर समझ सका है,
कैसे उलझी मन की भाषा।
कौन किसी को बता सका है
जीवन की उलझी परिभाषा।
जब तक जीवन है तब तक तो
हँसते हँसते जीते जाना !
अपने मन का क्या बहलाना !"

इनके भीतर का सौन्दर्य और उसमें भी गहरी अंतर्मुखी वृत्ति उस चेतना को अपने केन्द्र में ग्रहण करती है जिसने इनके भावोद्वेग को विभिन्न प्रकार से मूर्तिमान या अभिव्यक्त करने की क्षमता प्रदान की है

"दूर क्षितिज के आँचल में छिप
मुसकाते से तुम रहते हो।
मधुर मिलन की आशा लेकर,
बहता जीवन यान हमारा।
दूर कभी तो होगा कह दो

युग युग का व्यवधान हमारा।
जान नहीं है स्नेह मार्ग का
ओर कहाँ था, छोर कहाँ है।
कहता है हर एक यही बस
भी राही है दूर किनारा।
दूर कभी तो होगा वह भी
युग-युग का व्यवधान हमारा।

'जब तुम्हीं अनजान बन कर रह गए' शीर्षक कविता में नारी हृदय के सच्चे उद्‌गार प्रकट हुए हैं :

"जब न तुमसे स्नेह के दो कण मिले,
व्यथा कहने के लिए दो क्षण मिले।
जब तुम्हीं से की सतत अवहेलना
विश्व का सम्मान लेकर क्या करूँ?
जब तुम्हीं अनजान बनकर रह गए,
विश्व की पहचान लेकर क्या करूँ?"

एक दूसरी कविता में

"बंधनों में बँध गया है
स्वयं ही उन्मुक्त जीवन।
मुक्ति से प्यारा मुझे है
कल्पना का मधुर बन्धन।
वेदना उर की अमर संगीत होती जा रही है!
हार ही अब तो हृदय की
जीत होती जा रही है!

प्रिय से इतना तादात्म्य हो गया है कि उसकी हार पर वह अपनी जीत को वार देना चाहती है। वस्तुतः यह समर्पण भावना स्वत:पूर्ण है इसमें विलगाव या पृथकत्व की भावना नहीं आने पाती। ऐसी स्थिति में एक दूसरे की सफलता-असफलता या जय-पराजय अविभाज्य इकाई बन जाती है

"कब चकोरी चाँद से मधु प्रीति का वरदान पाती!
पर कभी क्या स्वप्न में भी लक्ष्य को अपने भुलाती
तुम अपरिचित लक्ष्य ही बनकर रहो पर,
मैं तुम्हारी राह के भ्रुव चिह्न सतत निहारती हूँ!
मैं तुम्हारी हार पर प्रिय! जीत अपनी वारती हूँ!

चाहने से हो सकी कब कामना पूरी किसी की!
मापने से कम हुई क्या राह की दूरी किसी की!

प्रीति मेरी छू न पाए तव चरण पर,
मैं उसी लघु प्रीति पर शत जन्म अपने वारती हूँ !
मैं तुम्हारी हार पर प्रिय ! जीत अपनी वारती हूँ !"

शांति जी की अभिव्यक्ति में क्लिष्ट कल्पना नहीं है अपनी बात बहुत सीधे सादे ढंग से आकर्षक शैली में कहती हैं। उनकी कविता का आधार वे छायावादी रहस्यवादी परम्पराएँ हैं जो सघन अनुभूति के रूप में हृदय की प्रेरणा और उमंग को उद्दीप्त करती रहती हैं। 'रात सपनों में छली थी' 'मन का गीत सुनाऊँ कब' है मगन मैं आज भी' 'तुम मुझे अनजान क्यों हो' 'सत्य और स्वप्न' 'ज्यों-ज्यों तुम्हें बनाया अपना' 'मौन निशा में आज अचानक' 'काश ! किसी से इस जीवन में' 'प्यार का विश्वास तो दो' 'स्वप्निल संसार' आदि कविताओं में नारी हृदय की धड़कनें सुन पड़ती हैं। छाया-प्रकाश की इन्द्रधनुषी रंगीनियों में स्वप्नों के क्षीण तारों में विरोधी भाव-कड़ियाँ जब छिन्नभिन्न होकर बिखरती हैं तो धरती पर ही आकर टिकती हैं। अतएव इनके प्रिय की प्रेम-भावना में स्वाभाविकता और एकनिष्ठ आग्रह है। एक स्थल पर वे लिखती हैं

"मेरी इस निरीहता की निज
क्षमता से तुलना मत करना
मेरे अन्तर की साधों को
निज पर अवलम्बित रहने दो !
मेरा स्वर सीमित रहने दो !

एक अन्य स्थल पर

"जब प्राणों की सोई पीड़ा
रह रह कर मुसकाती जाती !
जब मन गिरि से टकरा कर तो
पीड़ा की बदली घिर आती
टूटी सी यह वीणा जाने
कैसे जीवन राग सुनाती !
भावों के उमड़े सागर की
लहरों में सीमा बँध जाती !
यह क्या जानूँ जब सरसिज में सागर आ लहराया कैसे ?
मौन निशा में आज अचानक, मेरा जी भर आया कैसे ?"

श्रीमती शकुन्त माथुर हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि एवं नाट्यकार श्री गिरिजा कुमार माथुर की पत्नी हैं। 'तार सप्तक' के नव दृष्टि प्राप्त कवियों की पांत में गम्भीरतापूर्वक लिख सकने वाली प्रयोगवादी कवयित्री के रूप में ये अधिक प्रख्यात हैं। परिपक्व प्रतिभा मंगलमयी और विधायी होती है जिस पर निरन्तर गतिशील रहे

यों रचना में उत्तरोत्तर मौलिकता एवं प्रायः समानता आती जाती है। इनकी वैयक्तिक अनुभूति और मनोव्यथा का एक सुन्दर प्रदर्शन देखिए

कहाँ से कहाँ तक की
बढ़ाई बात
लघुक कुछ और भी
गई ये रात
यहाँ में लिपट चली बातें
छोटी हो गई रात
खिंच चली सूत सी लम्बी
बन गई पूनी
इनके वासनों की;
चली पूछ डाल
बुन दिया सलोना वस्त्र
तारक छोड़ सजाई
रँगरेज ने मधु रंग घोल सारे
चूनर सिमटाई
और लगती अधिक मीठी
पिछले दिनों से
आज की ये चाँदनी रातें
बढ़ चली बातें।
ये दीप
इसी से युगों की चाँदनी है
य मन्द जलता दीप अपना आप
रवि कांति
अंधकार की गहराई
नहीं इस दीप की चिरसंगामिनी है
मधु अरुणाई में मिला जो
ये मिला अवकाश
जो ठहर गया देकर अनोखी प्यास
गत भविष्यत वर्तमान का
अमिय रस उँड़ेल सारा
इस दीप में
आस्था से भर गया ये दीप
पगली रात
इस मन्द जलते दीप के आलोक में

है छिपा निविड़ अंधकार
मन्द जलते दीप से हारा
युगों युगों का प्रकाश
सहज ही पी लिए इसने
न जाने कितने निकलते प्रात
कितनी समाई रात
कितने अंधड़ों का इसम
भिगोया गात
न समझो व्यर्थ ही ये बात
व्यर्थ ही निकल गई ये
सुनहली रात
आज की ये बात ही अब
वर्तिका-सी दीप में
चिन्मयी भर
चिन्मयी से विमोहित होकर भी अकेली
जब क्यों समय अकेला
पल भर ये भी साथ में
सुरभि सी महेगी ये हमारी बात
सही तुम मान लो
इस स्वर्ण-आलोक-कण दीप को पहचान लो
अस्त रवि के है रख लपटि पर
विद्युत मण्डल लिए ये दीप हैं
किन्तु न प्रखर प्रकाश
मन्द केवल जलता हुआ
धरा से आकाश तक को
लहरियों से धुला मिला
बिछा रहा आलोक कण जिस दीप के
सोया हुआ आलोक
विकम्पित हो
जिसके मन सरोवर में कमल लगा रहा
इसे पहिचान लो
यही हमारी बात
सही तुम मान लो

सभी रंग विकसित शब्द से
यदि न कर सके ये व्यक्त
इस सलौने चित्र का मधु चाँद सा प्रतिबिम्ब
हृदय में
आँक न दे यदि ये बात
तो क्या
इस रसीली भावना का भी
इस कठोर संगमरमर शिला पर
कहीं नहीं स्थान ?
ये गीत
पुण्य हैं
यही केवल पराग
जिससे मिल रहे अजीवित भावनाओं को
समुज्ज्वल प्राण
जिससे उठ रही
धीमे
सुरभि सिक्त बयार
व अचल मन्द चलती जो
और ये निकलती राग
मुझमें भर रही आज
अटल विश्वास
कहाँ से कहाँ तक की बताई बात
जो हारी थे
सचमुच कुछ और भी गई ये रात ।"

अपनी कविता-पुस्तक 'चाँदनी चूनर' की भूमिका में वे लिखती हैं—'आज के कवि ने सारी धर्मों काल्पनिक उड़ानों और अमेय शैली के कृत्रिम बोझ का लबादा उतार फेंका है। कल्पनाओं का स्थान दैनिक सत्यों ने ले लिया है।' सचमुच ये दैनिक सत्य ही इनकी कल्पना को साकार करते हैं इनकी संवेदना और जिज्ञासा को उभारते हैं। प्रयोगवाद भले ही कुछ अतिरंजित परम्पराओं का हामी है, पर उसके बीच ने कुछ ऐसे अछूते पहलुओं पर भी दृष्टिपात किया है जो अब तक कल्पनातीत और अनदेखे पड़े थे। एक कविता में ये प्रश्न करती हैं

"क्यों चुप हुई अचानक आज बोलो
इस चुप पर भी कसी ग्रंथि उसे भी खोलो
कूरी सीख नहीं लगाती मिलकर
अनुभूति की अनुभूति—
ये चुप
पंख खोए बच्चे सा इसी सिरहाने पर
बैठ गया है
इस मुग्ध आलोड़न में
चुने की मुट्ठी बैठ गई क्यों मौन
आँखें क्यों बनी बड़ी-बड़ी बावड़ी झीलें
डबडबा आईं
अधिक प्यार से या
ममताताप से ।"

पनघट की चहल पहल रंगीली और मादक वातावरण का अनेक कवियों ने वर्णन किया है पर अब नलों के इर्दगिर्द जो जमघट होता है और भीड़ की रेल-

देश में जो गरीबी के मारक दृश्य दिखते हैं उसका एक चित्र जरा देखिए

"सब जड़ हुए जा शीत में
पतझर के पत्ते से
टूटे कनस्तर या पिचके डालडा के टीन
बजाने वाले जिन्हें
मरियल घोड़े से
चले बीन
सजल लड़कियाँ
चमकती कलसियाँ
काई का बोझ ढोते
कुछ नये कच्चे नाले से निकल
चूहे से उस तरफ दौड़े
सुबह की ठंड थी
भीड़ बेहाल थी
ज्यों किसी युवा की मौत पर
इकट्ठे हों
निराशा और प्राथमिक जरूरत का अभाव
मुंह बहमत
चर्मारि से
कपड़े मैले फटे कीच के चकत्ते से
कालिख सी मुस्कराती थी
पल पल
घूं ऊं   धुनि बार
न पानी की धार पसरती थी
न भीड़ ही सिमटती थी
कोई कहता था नलकल में
छिपकली चिपटी थी।
देख यू हुज्जत अपने
घरे कुएं की बात
तिलमिलाती थी
मन से बुझती प्यास
मानव जीवन
नहीं पास।"

एक दूसरा चित्र

"बिछौना जिसका नीचे धूप

हरा लाल पत्ता सलोनी का रूप
नीम के फूलों से भरभर जाये
पक् ई निबोली पड़ी झर झर जाये
सासु जी के बजा घू में पाँव
खूँटी पर बठ कउआ करे काँव
छोटी ननद ने कहे जो हमें बोल
बेसरम बू बट रही कपड़े खोल
सामने बठ जी टाड़े
पक् ई पाती से काये
गोरी झिठलियों बठी मगन बताये
जी बस बल जाये।

'बरस बीत गया' इस एक कविता में घर-गृहस्थी के बोझ से मांद गृहणी की उकताहट भरी खीझ का एक उदाहरण

"गर्मी भर
पापड़ बेले
मँगौड़ी बड़ी बना
वर्ष भर को छुट्टी पायी
नीबू का शरबत
दही की लस्सी
आइसक्रीम मशीन की
कुल्फी
मन भर भर कर खिलाई
जाड़ों में ताप ताप
अँगीठी से हाथ तापे
ओले गिरे
काँटे सी हवा चली
कड़कती सर्दी में
गरम आलू के परांठे मूंग के बड़े
कचौरी पिट्ठी की खिलाई
अब न भर पाई
मैके की याद आई
पहुँचा दो
भाई मेरा जो आए लौट गया
पूरा बरस बीत गया।"

कहीं-कहीं इन्होंने मुक्त रूप में भी प्रयोग किये हैं। 'एक अनुभूति' में जी की

बचपन को घाव की व्यथा से भी बढ़कर बताया है

“माँ की जलन
घाव की दुखन
दोनों समान हैं
जिसकी कमान है
जो छूटेगा जो बिंधेगा
ये ऐसा दुःख
बिन छेड़े भी दुखेगा।”

किशोर अवस्था में जब बाल्यकाल से यौवन का प्रथम चरण होता है और कितनी ही तरंगें व आवेग मन को झकझोरते रहते हैं तब कितनी ही बातें मन में उठती हैं, पर उनका समाधान नहीं हो पाता

“क्या जानूँ यह निरी अकेली मस्ती है
क्या जानूँ ऐसी अलसाती सीधी फैली बिखरी है
कह दूँ पूरा चाँद
चौदहवाँ साल
आँख झपकीं
नयी नवेली
किन्तु अधूरी
आशा खिलती
चमक सुनहरी
उठता है तूफान
मुस्के अंगों में भरती है
नित नूतन मुस्कान
विद्युत-सी थिरकाती बात-बात में —
बस न आती
एक अचानक बिखरी लहरी थाम न पाती
ऐसा न सुन्दर गुलाब उठते खुमार का
किन्तु कहाँ भर पाया
अभी सुबह प्यार का
खतम चौदहवाँ साल
क्यों यौवन की चाल
हैरान हँसता चाँद
नहीं कह सकी पूरनमासी।”

एक दूसरी कविता में एकाकी कमरे में क्वाँरी लड़की की मनःस्थिति का चित्र उभारा गया है

एकाकी कमरा
पास में क्यारी
डाली पर एक गुलाब
उस पर मधुमाखी
कमरे का कोना
मकड़ी का जाला
मक्खी का फँसना
हरे ढाक के पत्तों का दोना
उसमें भरे फूल
कुछ धूल
अंजलि थोरी
लहरें भोली
तराजू के पलड़ों सी इधर उधर डोलीं
डोलीं
पत्तों का दोना
अंजलि थोरी
सपने का सोना
उस ताक में
हेजलीन स्नो की शीशी
तेल की खुशबू तीखी
छोटी डिबिया
वैसलीन भरी
नीली बोतल में
कटी सुपारी भरा
दिवाल की घड़ी
किन्हीं उँगलियों ने छुई
घुमा दी गई
क्या बजा !
मन को कुछ अच्छा सा लग रहा
जाल और फँसना
गुलाब-मधुमाखी।
बड़ी मेज पर
सुन्दर सा लैम्प
रोशनी तिरछी तेज
शेल्फ में रखीं किताबें

एक का हिम
गरम सांसों की भाप
मन मचलता
है।
मचला ?
एकाकी कमरा—"

श्रीमती शकुन्तला शर्मा ने सुकुमार भाव-विन्यास को नई रूपरेखा दी है। सभी कवयित्रियों की भाँति अनन्त का साथी इनके साथ भी है और मूर्च्छना का आलाप भी कहीं कहीं कुछ-कुछ वैसा-सा ही सुन पड़ता है। फिर भी उसके प्रस्तुत करने का निजी ढंग और उसमें नव्यता है। 'रात भर जलती रही' शीर्षक कविता में

"अब न कुछ भी बोल साथी !
देख ली यह जिन्दगी जो मृत्यु को हँस कर दिखाती।
रात भर जलती रही, निज नेह में पलती रही।
उज्ज्वल शिखा उल्लास से
अवसाद को छलती रही
पर, तिमिर के गहन पट पर अमिट रेखा खिंच न पाती।
अमर हैं सुख-दुख झकोरे,
धूप-छाँही प्रणय डोरे।
भाव की सूनी डगर पर,
पग बढ़ेंगे धीर धीरे।
पर, समझ कर दूर मंजिल के पथिक की सुधि न आती ॥
भर जला सा हृदय लेकर,
गिन रहा मसाल नभ के।
'आह ! क्या तम में समेटे
ही धूँधर' पीड़, कब से
कारवाँ भी रौंद जाता आह से बरबाद छाती।
पीत मैली पखुड़ियों से
सो रहे क्यों जल कमल पर।
बस अकेली काँप उठती
सिहरते गिरते अचल पर !
लीन हो जाते कहीं मैं रिक्त अंचल भर न पाती।
खोजने आई अमर वरदान
का भी हो गया क्षय।
धड़कनों से भूख के
हँसता रहा है सत्य का भय।

जाग यदि विश्वास जुगता कल जगेगी प्यार बाती।
    चल रहा है श्वास का घन
    क्यों पवन प्रेरित सजल घन
    एक ठोकर पर बरस बन
    भाग जाये क्यों तुरत-मन।
बुझ गयी है चेतना पर जल रही है प्राण बाती
अब न कुछ भी शेष साथी!"

'प्रेरणा' में इन्होंने एक दूसरे ही ढंग से नूतन अभिव्यंजना की है

"कौन यह पुकार गई?
    अँधियारे आँगन में बिखरा सा ज्वार गई
    सूने की तिमकों में गुमसुम सा शोर है—
    पाँखों में हाँफे मन सीमन से फटा है—
        नीड़ बिटप सूना है
    ऐसे मन सुगना को चुपका सा हार गई
        बिखरा— "   ।
    पेड़ों की फुनगी पर सिहरन अँधियारे की।
    टहनी पर ठमकन है पंछी कमजोर की।
        पन्थी मन हारे की।
    सबकी अनचीती मिनसार को पुकार गई॥
        कौन " "   ।
    आँखों की ताखों पर आँसू का झूला है।
    होठों के बोके पर प्राण बहुत भूला है।
        नैनों में फूला है।
    साँसों की खिड़की तक प्यार से सँवार गई।
        बिखरा   ।
    वेला के मजरे से सागर भी बोड़ा था।
    तट की चट्टानों ने फूल फूल तोड़ा था।
        शशि ने मुख मोड़ा था।
    रैन की गलबाँही से चुप चुप दुलार गई॥
    सपनों के मड़वे पर भावों के चौरे पर।
    आशा के बिरवे पर प्यार के हिलोरे पर।
        चोर के निहोरे पर।
    सरस कम गन्ध के फुहारे फुहार गई।
        कौन   ।
    रह रह कर गिरती हैं आँखें उदासी के।

धुन से धुँधुआए से भाप की उसासी से।
मैले से बासी से—
मानस के मटियाले बासन संभार गई।
कौन'' '' ।
ऐसी फुलझुग्गी को पाना पर जीवन है।
बैठे जिस डाली पर उसमें ही कम्पन है।
गीतों का मन्थन है।
मुट्ठी में बाँधी तो पारे सी पार गई॥
कौन'' ॥"

'भोर आई रे' कविता में भी इसी प्रकार की शैली और नवल ढंग अपनाया गया है। उन्मुक्त चिन्तन के साथ-साथ जीवन के किसी अछूते पक्ष की अनुभूतिजन्य रसात्मक व्याख्या मिलती है

"प्रात की बयार बहे नाचे अमराई रे
मन मृदंग पर सुधि ने थाप सी लगाई रे
प्राण के मंजीर बँधे साँसों की डोर में
मान मनुहारों की झंकियाँ हैं छोर में
पहुनमों की राधिका मुरली सुन आई है॥
कल्पना की कल्पना चाहों के आँचल में
चित के चौबारे पर नयन दीप सावन में
आस की अँगुरियों ने बाती उकसाई है॥
पलकों से छाम कोई सोम सुधा की भाप
कल्पना के गीतों की लालिमा में खो आए
जैसे सभी आँखों पर रेख उभर आई है॥
रंग भरी लहरावन में भावना की भावन चढ़ी
पन्ने की पाली में धरती के पियरी चढ़ी
शर्माई कोई दुलहिन सी पाव निखर आई है॥
मन मृदंग पर सुधि ने थाप सी लगाई है॥"

जाड़े की धूप सर्दी में ठिठुरते प्राणियों के लिए कितनी सुखकर और आमय नाशिनी होती है पर इसके साथ ही कितनी अस्थायिता लिए। इसी लिए के साथ वह सिमटी लजी-छिपी सी मनुष्यों की पकड़ से बाहर भागती नज़र आती है। निम्न कविता में जाड़े की धूप कवयित्री को 'मोम चिरैया' सी प्रतीत होती है जो कुछ देर अपनी चौंच दिखाकर मानो नीलाम्बर में अंतर्ध्यान हो जायगी। 'धूप परी' की कल्पना तरंग में बहकर इन्होंने जाड़े की धूप का सुन्दर-से-सुन्दर चित्र खड़ा करने में ...त हासिल किया है

"ओ सावन सुहागिन मान भरी !
सोन चिरैया नभ पिंजरे की धरती की ओ धूप परी !
छप्पर पर बैठी अलसाई
फुदकी थका तनिक जमुहाई
व्यापी परिचारिका झटपट ।
सिमटा कुहरे का अम्बरपट
दाड़िम भर कर लाई लाल घट
चैतन्ती लाई पीला पट
सूरजमुखी के स्वर्ण कटोरे में कस्तूरी भरी भरी !
झुक झुक कर वेष मतवारी—
भू चूमें अलक सोनधारी
झटका दे जब पीछे डारें
नभ में बिगसे केसर क्यारी
छाँह समेटती भीगा लहँगा दुबकी दुबकी साँवरी !
घूँघट खिसका आँचल का साया
पकड़ उसे सत्वर मुसकाया
आँचल खींचा गिरी बीच में—
झट ले जा तट पर बिठाया ।
कमल कली चोली से पाँवरि पड़े न कहीं कुछ फाँस री !
मीठी मीठी भीनी लोनी
हल्की नरम गुलाबी रंग की
नई रूई की ज्यों मृग छौनी ।
अभी चपल छू गई यहाँ तृण
वहाँ गुलाबी का छूने तन
फिर बगिया के पास खड़ी कुछ निरख रही है डरी-डरी !
हँसिनि पीत दुशाली फैला
लाल चोंच से बिखरा बिखरा
रोम रोम थरथरा फुरफुरा
छींटों से भर देती वसुधा—
कभी चमचमा कर छिप जाती ज्यों जल के बाहर शफरी ।
माघ मास और ओपी पानी
भरो वसन्त कर बहु नादानी !
बाड़े पाले में ठिठुरन
खेत पात के अम्बर धानी ।

गुमसुम मैना के गालों को छू कर तू भी तो सिहरी !
ओ साँझ सुहागिन माँग भरी ।"

इनकी प्रतिभा कोरी कल्पनाविलासी नहीं है, अपितु यथार्थ से भी उसका सहज लगाव है। जहाँ एक ओर अमीरों के इठलाते बंगले तो वहीं दूसरी ओर घुटती जिन्दगी के बंजर में सिसकने वाले कगारों की तस्वीर भी कवयित्री के मानस में उभर आई है। दोनों की जिन्दगियों में कितना अन्तर है और कितना वैषम्य। सच पूछा जाय तो अभिजात्य के अहंभाव ने सर्वग्राह्य चेतना से पृथक अपने आप को अपनी ही सीमाओं में इस प्रकार बन्दी बना लिया है कि वह दूसरे पहलू से बहुत दूर जा पड़ा है। इतना ही नहीं दोनों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि गरीब की आत्मा अमीर से बेहतर है। अपनी दुःखों की परिधि में रहते-रहते अपेक्षाकृत उसमें उदारता परहित भावना और सहनशीलता अधिक विकसित होती है।

"धुली मखमल घास से लकदक—
इन ऊँचे पेड़ों की बाँहों में पले
नये नक्शों में ढले,
इन्हें मामूली इमारत न समझो—
ये हैं भुवन मोहन बंगले।
यह है सुख की धरोहर सा लाड़ला बेबी
ये हैं शो केस में रक्खी मृण्मयी मेम सी
बेबी की मम्मी
और ये पापा—
जैसे सुख की नयी परिभाषा।
सामने साँवली गंगा का चौड़ा पाट
किनारे को दुलराती हठीली लहरें
जिन्हें देख बरबस याद आती है
नदी की याद।
पतित पावनी के कगारों पर,
भुवन मोहन की काली छाया में,
कुहरे और धुएँ से ढके
नाबदानों से घिरे—
घुटती जिन्दगी के बंजर में—
सपनों के बीज बोते
सहमते सिकुड़ते—
ये आउट-हाउस
सुख सीमा से बाहर।
इनमें सिसकते हैं कगारे

पत्थर हँसते ह बंगले ।
परसों की बात—
बूढ़े की बेहू पत्नी
नीम के पानी से घाव धोती ।
बवाल रतिया
सिर धुनती रोती
सिसकती फिर हँसती
मुझे बच्चा को छाती से लगाए
कान पर हाथ रख कर कहती—
"बुढ़ऊ के न छोड़ब बोधी की
नई नो मल्ला पाक पासी की बात ।"
लाल चोटी हेरों वाला छिपकली,
सामने बबू बरती एकदम पीली ।
कच्चे चूने की कुल्हिया सी लिपी—
दीवार एक घर की
इसमें रहती सूरसती ।
'बीबी की एक कोठरिया'
'उसमें सामान है—
दो बर्तन के बक्से चार पीपे छः बस्ती
खाली कहाँ री ?'
'बीबी की मोर मरद आवा है ।,
दूसरी लिए रहा—
बहुत दिन पर आवा है ।
फिर चला आई बीबी की'
'ए बीबी जी—
कोठरिया बीबी की'
हूह पगली ।

और कल—
नवनीत के पुतले को
पटक दिया पुने मावनूस ने ।
कारण दाम्पत्तिकस थी
मानसिक क्षोभ विह्वल थी ।
जो चिल्लाई पीड़ा
फिर मोटी हरी मक्खी सी भनभनाई
"मरी नाहि आत्मा तै अमि है ।

चेतना में चल रहा ।।"
झाड़ियों से बेतरतीब
केंचुए से बेढ़ंगे—
काट दो तो और बढ़ें
कोसने से नहीं मिटते थे—
उपेक्षा से लेकर जिन्दगी
पलते हैं
बढ़ते हैं
विलायती फूल नहीं—
ये झुरमुट हैं सदा बहार के ।"

शकुन्तला जी ने कुछ कविताओं में सामान्य से सामान्य वस्तुओं पर भी दृष्टि-पात किया है । मूलतः कवि की चेतना उस चेतना के साथ सरलता से तदाकार हो सकती है जिस पर वह मनन करते-करते अकस्मात् हो इतना संवेदनशील हो उठता है कि वह उसके दिमाग में गहरी पैठ जाती है । उसके हर मूड पर वह जितना ही मनन पूर्वक सोचता है वह उतनी ही नवीन रूप में उभरती है । निम्न प्रयोगवादी कविता में उतारा गया स्टेशन का एक चित्र

"स्टेशन से दूर,
बिल्कुल पटरी के किनारे—
जहाँ इंजन के पानी का ऊँचा सा खम्भा है ।
लम्बी सी पतली एक नाल सी लटकी है,
बूँद-बूँद पानी अपने आप जिससे रिसता है ।
वहीं नीचे स्थित है, एक छोटा शिला खण्ड—
ठीक शिव लिंग सा ।
मन्दिर नहीं है किन्तु देवता तो पूरा है ।
दबे मैले पत्थरों की अनगढ़ चबूतरी है,
कोने का अंग काला तथा अभिषेक पर
टप् टप् टपकता है जिससे कोहाला जल ।
धूल का विशुद्ध कीच अवलेपन चन्दन है ।
मूठ चार पत्तों की हरी बिल्व-पत्र है ।
जली हुई सिगरेट के बीड़ी के टुकड़ों के—
'चम्पा' 'चरणामा' के फूल भी एकत्र हैं ।
यात्री भी आते हैं,
जाते हैं ।
डिब्बों से पर्यन्त निकाल कुछ झाँकते हैं
नमन कुछ इंजन का ।

घर्रांहट पहियों की धमक की धमधम है।
बारह मासी बैठ पाठी।
पटरी पर अठपट हो—
स्तोत्र पाठ मंत्रमय हर हर बम बम है।
पीक पड़ी पान की ज्यों पिचकारी चल उठी
रंग भरी एकादशी है भोला शिवशंकर की।
पाड़ी की बत्तियां हों आरती की माला है
झिलमिल की रोशनी ज्यों चौघड़ पर राशि दीप—
पवन किसी बुढ़िया सा देहरी भी गया लीप।
मुस्करा रहा है विश्वनाथ पूरे औघड़ सा
थूक, पीक, पाप अपराध ओढ़ जन मन का।
सूठ उच्छिष्ट स्थिर धार इस रौरव का।
अडिग यहाँ बैठा है जोगी चिर् आनन्द सा।
मने भी देखा
अनाभ्यास नतमस्तक थी।
सब कुछ ज्यों भूल गई
शंकर की महिमा, इस औघड़ की गरिमा—
में काशी और कांची की
कालिमा भी भूल गई।
हाथ मेरे जुड़े रहे—
नत भी मुंदे रहे।
शिव तो बहुत देखे शिव-तत्व यहीं देखा है।"

कोना बहुत ही महत्त्वपूर्ण और बड़े-बड़े भवनों राजमहलों इमारतों उच्च महाधिकारों सुन्दरियों कोमल कामिनियों राजरानियों-महारानियों के कक्षों अंतःपुरों से लेकर गरीब लोगों और मजदूरों की झोंपड़ियों तक का अविभाज्य अंग है पर आज तक उस पर किसी की दृष्टि ही नहीं गई। कोना कितनी स्मृति-विस्मृतियों आशा-निराशाओं आंसू और मुस्कानों नई नवेलियों की लज्जा-संकोच कीड़े-मकोड़ों और न जाने कितनी कुल्लाओं और तुच्छ वस्तुओं को समेटे अपनी लघुता में भी विराट् है। इसकी झांकी निम्न कविता में मिलती है—

'सोंक सी छाती में
कलेजा है घर भर का।
बड़े-बड़े महलों का वास्ता है
और भिखारी है दर दर का।
तभी तो दोनों बाहों में समेट रखते हैं—
लाखों आंसू करोड़ों मुसकानें।

कितने सपने कितने अरमान ।
कितनी चाहों की राख से
कितनी ही बार—
प्यार की छलनी से छानी गई है अनछुई आस ।
मकड़ी ने आसों के तारों से
बुन दी उसके सिर पर
एक महीन रेशमी चदरिया ।
वहीं नीचे छिपकली चट् चट् निगल लेती—
नन्हें नन्हें कीड़ों की दुनिया ।
और जरा नीचे छाती में चुभी हुई कील पर
टँगती है एक अँगिया—
कभी मुसकाती कभी जलती—
कभी श्रम सीकर लेकर,
तो कभी आँसुओं से तर होकर ।
यहीं कहीं नन्हीं नन्हीं तिल थी
धड़कन की सुगन्ध वाली—
हिचकियों के निशान हैं ।
भू अन्क की 'हैं' 'हैं' 'हैं' की प्रतिध्वनि के
सूखा छिपी के
ढाई पटके के,
अंगुली की छापों से बड़ी जाँच करके
झाँकन कि,
बोलते हुए थाम हैं ।
यहीं बुढ़िया रोटी थामकर टेक गई थी
चूड़ियों में रोग की सी आवाज थी ।
यहीं चुभी थी तानपुरे की खूँटी
रखने वाली की अंगुलियों में गीतों
की झंकार थी ।
एक दिन इसी चौक में विधवा
सिंगार धोकर बैठ गई थी
एक दिन इसी छाती में सुहागिन
मान भरा प्यार लेकर सिमट गई थी ।
यहीं बरसें न छत्ता लगाया तो
बरसती जलती लकड़ी से थाँप दिया ।
और भिनकी न बिना डर का घर बनाया

तो—
भाबी ने झट झाड़ करके सौंप दिया।
बोलीं—
टोक न लग जाय।
शुभ लक्षण जो है
मंगल का पुत्र का
सुख का सौभाग्य का।
कैसा है यह मोड़
जिस पर महलों के चौराहे बनाता-बनाता
मनुष्य अपने साथी को
चौराहे पर भटकाना सीख गया।
पर यह ज्यों का त्यों है,
सदियों से।
तब भी लोग कहते हैं
क्या कोने में मनहूस से बैठे हो?
लेकिन सच तो यह है कि—
जिस ईंट गारे और मिट्टी की दीवार में
यह दर्द नहीं दरार नहीं
जिन्दगी की चोटों से
बचाने को यह ढाल नहीं
यह कोना नहीं—
यह जगह कुआँ है।
गोल!
चक्करदार!!
ईंट-ईंट पर घुमावदार!!!
जिसके घेरे में प्यास नाचती है
मौत जिन्दगी को बांचती है।
जहाँ तलहटी तक काला पानी है—
और नीचे कभी न मिटने वाली सियाही है
ऐसे ही कुएँ सा है यह काला मन
जिसमें सब कुछ समा लेने की
सबको पुकारने को
पुचकारने को
चाह और चलन है—
प्यार को मार को

सागर का—
एक कोना नहीं।
उन्नी मनुज तब भी—
नापता है अपनी छाती बित्तों में
जहाँ सीक सा पतला
एक कोना भी नहीं।'

कुमारी रमासिंह नवोदित कवयित्री हैं, पर इधर थोड़े वर्षों में ही अपनी सहज संवेदनशीलता और भावप्रवण व्यंजना द्वारा रास्ता बना चुकी हैं। मौजूदा कविता में प्रयोगवादी तत्त्व के साथ-साथ कृत्रिमता छिछली भावुकता और वृथा प्रदर्शन एवं आडम्बर की जो प्रवृत्ति जोर पकड़ती जा रही है फलतः नये कवि-कवयित्रियों में हृदय पक्ष क्षीण और बौद्धिक खींचतान अधिक दीख पड़ती है। किन्तु प्रसन्नता की बात है कि इनकी नव्य कृति 'समुद्रफेन' की कविताएँ आंतरिक संवेगों को उभारती हैं मन को छूती हैं और कहीं-कहीं तो बड़े ही सहज ढंग से बड़ी ऊँची बात कह दी गई है।

'समुद्र फेन' पर लिखी पंक्तियाँ ही बहुत सुन्दर हैं—

"कहते सब हैं सिन्धु को अब तक न कोई थाह पाया
है न गोताखोर जिसने ढूँढ़ रत्नों को बताया।
है बहुत गहरा बड़ा सम्पन्न विस्तृत भी बहुत है—
यह सभी ठीक लेकिन व्यग्र बनकर उभर आया।
थी कमी वह कौन जिसने मथ दिया लहरें उठाई
एक छोटा प्रश्न यह गहराइयों को नाप लाया।"

'परिभाषा' शीर्षक कविता में जिन्दगी का अकेलापन ही उसकी असली ...ाई है। कौन किसका साथ देता है? जीवन के मोड़ों पर यदि कोई सहारा देता है तो सरपट दौड़ में तीव्र कामनाओं और तेज रफ्तार में वह साथ छूट जाता है

'सही है राह में चलते बटोही साथ के—
हाथ बँधाते हैं
मगर कुछ मोड़ ऐसे हैं
कि सहसा हाथ से वे हाथ बरबस छूट जाते हैं।
अकेलापन अकेलापन अकेलापन
यही है ठीक शायद
जिन्दगी की एक परिभाषा।
यहाँ का मोह-ममता से भरा जीवन
मगन यह साँस की पुतली
मगर सब साथ हैं चलते [illegible]

घुमाती जब किसी अज्ञात की उँगली !
अकेलापन अकेलापन अकेलापन
यही है ठीक शायद
जिन्दगी की एक परिभाषा"

एक दूसरी कविता में—

"ज्योति की महिमा असीमित
तिमिर की जड़ता अपरिमित
किन्तु धुंधली दृष्टि को जो भी किरन देती सहारा
मैं उसी के सामने नत हूँ।
जीत में आरोह जितना
हार में अवरोह उतना
दूर होती आस्था को जिस हृदय ने भी पुकारा
मैं उसी के सामने नत हूँ।

तारे, बादल, इन्द्रधनुष, सांध्यगीत आदि विषय पर न जाने कितनी कविताएं लिखी गई है पर इस पुस्तक की कविताएं मुझे विशेष प्रिय लगी है और हर पंक्ति के हर शब्द में मुझे ताजगी और नयापन का एहसास हुआ है। 'सुरमई रेखा' की कुछ पंक्तियाँ—

"छिपा कोई चितेरा है
न जिसकी तूलिका दिखती
न रंगों के कटोरे ही
सलेटी रंग का यह 'वास' भर फैला हुआ है।
कौन सी यह भावमुद्रा आँक देगा
कौन सा सौन्दर्य या यह टाँक देगा
है नहीं कुछ ज्ञात
कैसी कल्पना इस पर उतारेगा
कैसी भावना या यह सँवारेगा
यह अभी तो
यह सलेटी रंग गहरा और गहरा—
और गहरा कर रहा है।
कुछ ठहर कर
इस कला के सिद्ध साधक ने
सुनहरे रंग में कूँची डुबोकर
कालिमा के बीच में धब्बा लगाया
और यह धब्बा सुनहला

रात का पहला नखत जब सामने आया
मचलती सी दृष्टि को
उसका सहारा मिल गया
कालिमा के बीच—
यह लो ! केन्द्र सा मिल गया।"

रमासिंह ने जीवन की सूक्ष्म प्रवृत्तियों पर ही अधिकतर दृष्टिपात किया है। जीवन के भीतर और बाहर सौन्दर्य-असौन्दर्य समान रूप से बिखरा पड़ा है पर उस की प्राण प्रतिष्ठा मनुष्य के हाथ में है। जीवन का हर दिन हर क्षण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इन क्षणिक आयामों में हम कितना खोते और कितना पाते हैं—इसका लेखा-जोखा कैसे किया जाय—बस यही सोच-सोचकर मन घबराने लगता है—

"एक दिन यह और बीता सोच मन घबरा रहा है
जिन्दगी का नाम चलना
चल रही दुनिया बराबर
प्यास की बूँदें लगाकर
चरण गति की डोर में बँध
पंथ की लीकें बनाते
छोर मंजिल के कहाँ—
में सिमटते दूर जाते,
किस नदी का जल यहीं रुककर भला ठहरा रहा है ?
एक दिन यह और बीता सोच मन घबरा रहा है !
मेघ काले घिर रहे हैं
छा रही कैसी खुमारी,
साँझ में भरती उदासी
यह क्षितिज की स्याह धारी
रेत की तह पर लकीरें
जो कभी उभरी रहीं थे
पर्त स्मृति के खुले हैं
अब की बूँदें नहीं वे
मन चपल नादान शिशु सा सिसकियाँ दुहरा रहा है।
एक दिन यह और बीता सोच मन घबरा रहा है।"

'हे संकल्प के क्षण' में अनुभूति की अभिव्यक्ति इस रूप में है कि ऐसे क्षण जीवन में बहुत कम आते हैं और उस समय यदि विश्वास या मन की धारणा सुरक्षित है तो मनप्राण में उद्दीप्त भावनाएँ नव स्पन्दन में ढलती हैं अर्थात् यह नियन्त्रित संकल्प शक्ति ही आंतरिक निष्ठा को जागरूक करती है—

'हे, संकल्प के सत्य !
तुम्हें समर्पित है
विश्वासों की थाली
इसे सहेज लो !
हे, संकल्प के सत्य !
तुम्हें समर्पित है
शक्ति की मंजूषा
इसे मान दो।
हे, संकल्प के सत्य !
तुम्हें समर्पित है
सीमा की लघुता
इसे स्वीकारो !
हे, संकल्प के सत्य !
तुम्हीं सत्ता हो
तुम्हीं निमन्ता हो।
तुम्हीं को समर्पित है
मिट्टी की कच्ची राशि
इसे नम रूप दो,
रक्त दो
प्राण दो।"

'शहरी सुबह' में जैसा कि प्रायः होता है मिल का भोंपू सुनकर बहुत से लोग अपने कामों की शुरुआत करते हैं। प्रगतिशील कहलाने वाले कवियों के लिए मिल का भोंपू बड़ा माने रखता है। इस स्पर्धा में रमासिंह भी किसी से पीछे नहीं हैं जरा देखिए—

'ऊँची ऊँची पक्की छतों के रास्ते से
सूरज आया
किसी संगीत का समां बँधा।
मिल के भोंपू ने
स्वागत का गीत गुनगुनाया
दुकानों के खुलते हुए शटर—
और लोहे के दरवाजों ने
लहरा बजाया
बाहर के शो-केस और
कांच की अलमारियों ने
अपना अपना मेक-अप सँवारा

घूमती हुई सड़कों से आप भी
चाँदी और सोने के नूपुरों में—
ध्वनि आई
पूरा का पूरा बाजार मग्न हुआ—
दिल के राजा का स्वागत था।"

इसके विपरीत पद्मा 'सुधि' की कविताएँ अधिक आत्मपरक हैं। कवयित्री के मत में—"जीवन में संयम ही सबसे बड़ा सुन्दरम् है और उसी सुन्दरम् में 'सत्य शिवम्' पूर्ण प्रतिष्ठित है।" इनकी कविता-पुस्तक 'भावभिक्षा' की अनेक कविताएँ पढ़ कर मुझे लगा कि न्यूनाधिक रूप में महादेवी जी के चरण-चिह्नों पर चलने का ही प्रयत्न किया गया है

"प्रिय ! आरती मन की सजाऊँ
वारो तन हर श्वास बजाऊँ
पुलकों की कलियों को चुनती
प्रियतम के सूने स्वर सुनती
आँसू के तुलसी दल मेंढ़
अपने बड़े देव मनाऊँ।"

एक अन्य कविता में—

"सतत दीपिका-सी हूँ जलती
दूर शून्य में जो भर जाती।"

पद्मा जी छायावाद की कुहेलिका से भ्रान्त तो नहीं है, पर एक आरोपित अन्तर्मुखता द्वारा उस समय की मान्यताओं से प्रभावित अवश्य है। कितनी ही कविताओं में वही मोहक स्निग्धता और उपरामता के साथ-साथ मीठी कसक द्रष्टव्य है—

"जग जाए जिससे सारा जग
छँट जाए नीरव नीरवता,
कोलाहल में निकुंज में भी
जो तू अपनी प्रेम बीनता
है प्रिय मन बैरागी हो जा।
सहता जा अवसाद जगत के
राजदुलारे, शान्त सरल बन
मेरे प्रति इंगित के सम्मुख
करता जा तू मौन समर्पण।"

अश्रु कवियों का प्रिय विषय रहा है खासकर नारियों की विरह-वेदना तो आँसुओं की लड़ियों में ही गूँथी गई है पर 'सुधि' जी ने एक नये ढंग से ही उसे प्रस्तुत किया है—

"आँसू बिना सूत की माला ।
बिन सागर बिन सीपी उपजा
मुक्ता बिना भाव हो चमके
बिना कसे बहती धारा-सी
यह गिरि अवरोहित जलमाला ।
बिना डोर के, बिना ग्रन्थि के,
इस मन को उस मन से बाँधे
चमत्कार नयन-मंडप की—
मेरी यह माला वरमाला !"

अंतस्तल की मौलिक संवेदनाओं को उभाड़कर इन्होंने अपनी कतिपय कविताओं में वे ही छायावादियों के से उपमान और बिम्ब जोड़ हैं जो मनोरम मृदु कल्पना को उद्बुद्ध करते हैं। दुःख-सरिता में बहती प्राण की नौका का एक चित्र

"चली प्राण की नौका बहती—
दुख-सरि में दुख से अनजानी।
अमर श्वास पतवार बने हैं
खेता उसको कौन अजानी ।
पथिक बनी है विश्व देवता,
अविकल विप्लव गान सुनाती ।"

एक दूसरी कविता में अंतस्तल फैली ज्योति किरण कवयित्री को किसी देव की हास्य प्रभा-सी भासती लगती है—

"नहीं जानती आली री म
अंधकार क्यों मुझको भाता !
जगता ज्योति किरण को फैले,
किसी देव की हास्य प्रभा है
अट्टहास जीवन पर करती
कोलाहल से भरी सभा है ।
घूँघटमयी पलक में मुझको—
इसीलिए बैठा बन पाता ।
जगता कोई दिव्य अलक्षा—
दीप थाल कर प्राच्य गगन पर
प्राप्त हुई पंचत्व [illegible] को—
जोह जोह बार जनम भर ।
सान्ध्य दीप में नित्य जगाती
देव न आये भन भर आता ।"

और सूत्रधार' में धूप मानों घन-बदली को किरण-सूत्र में बाँधकर कठपुतली

कितनी ही
स्मृतियाँ
ऐसी चौंकी-चौंकी
आईं
जैसे टूटे मधुछत्त की
मक्खियाँ
छूटा सहारा देखकर
आ जुटती हैं
सिर थामा गया
गिरा दिया
फूल फूल पर
लगा लिया
तोड़ डाल से
एक फूल
चुभता रहा
चुभता रहा
जो,
स्मृति
फिर कभी न
आई ।

'भाग्य निर्माता' 'तितली' 'एक अनुभव' आदि कविताओं में इन्होंने वात्सल्य रस को लाने की चेष्टा की है पर उसमें रसमीची या आस्वादित करने वाली अभिव्यक्ति नहीं है वरन् उक्ति-चमत्कार और तर्क-वितर्क में ही उसकी सहृदयता खो गई है

"माँ ! मामा मुझको कहते हैं
तू तितली है री तितली है
मैं भी क्या मोती से निकली ?
मेरे भी क्या दो पर थे ?
गंभीर हुई माँ यह सब सुनकर
बोली— सोने के अंडे से
मैं तू बापू सब ही जन्मे
करो प्रभात सूरज की पूजा ।"

जहाँ इन्होंने मूल तत्त्वों को पहचाना है वहीं इनकी अभिव्यक्ति को ठीक र्ग मिला है और वे अधिक मार्मिक बन पड़ी हैं

"दुख पीती आँसू की बाती

हाथ काँप उठता है
अंजलि में भरते ही मधुर चाँदनी
सुख की सीमा पर अनजाने भी आ पहुँचूँ
तेरा मुख वर्जित करता मुझको वहन से ।
जैसे कौंध लपक जाती बिजली की रेखा
खिंच जाता सब अनपुक्त अविदित अनदेखा
तेरा ध्यान मुझे झकझोर चला जाता है
बढ़ा हुआ मेरा पग सहम लौट आता है
मुझे चाहिए नहीं अकेले पंच राग रस
मुझे चाहिए नहीं अकेले प्रीति प्रेम यश ।
तेरा झुका हुआ मस्तक
जब तक ऊपर को नहीं उठेगा
तेरे भटके चरणों को
जब तक पथ इच्छित नहीं मिलेगा
तब तक मुझको वर्जित होंगे
सुख वैभव के सारे साधन
तब तक मुझे लौटना होगा
बार बार यों ही मन निर्धन ।

प्रिय की याद कवयित्री को पहले गोपन कक्ष में आती थी पर अब समय असमय कभी भी किसी भी क्षण और किसी भी परिस्थिति में आ जाती है। वह कभी किसी शर्मीली या प्रेम की मूक मौन नीरवता में डूबकर आत्म-पीड़ा को भीतर ही भीतर समोए रखकर खामोश रह जाने वाली नहीं है बल्कि अपनी हृदय की रिक्तता का अभाव वह कैसे भरेगी—यह वह स्वयं नहीं जानती। साथ ही इस दौरान उसने याद सँजायी या बिसरायी—इससे भी वह बेखबर है

"याद तुम्हारी
पहले आती थी
गोपन एकांत कक्ष में
अब आती है
राह घाट पर
समय असमय
हरे चिकने पत्तों वाले
पेड़ों की टेढ़ू
टेर्रूँ : पंख मार उड़ जाती
विहग पांत की
भीगू पल भर

सच मानो-
यों अँधियारे में मरजाने की हविस न थी ।
लेकिन यह असहाय मृत्यु
अनुकरण बने
या थोड़ी सी भी आस्था को कुचले
मुझको स्वीकार नहीं
कर सकते हो बन्धु अगर
इतना करो—
और नहीं कुछ,
बस केवल
गिनती करो ।"

इसके अतिरिक्त यह भी क्या कम अपराध है जो दूसरों से नफ़रत करना सिखाता है और हर अवगुण एवं स्वार्थ को प्रश्रय देकर जीवन के आधारभूत सिद्धान्तों का गला घोंटता है ।

"हर एक व्यक्ति से घृणा द्वेष प्रतिहिंसा ।
घबराना मन से
कामों से जा छुपना ।
बे मतलब सबसे
तना-तना-सा रहना ।
हर जगह कपट छलना की मन में मंशा ।
नीवों की ईंटों को
चुपके खिसकाना ।
सूरज के पर पर,
कालिख ले चढ़ जाना ।
धोखेबाजी चोरी का हरदम बाना ।
स्याही के कांटे
घर-घर बोते फिरना ।
घुर आग लगाकर,
दूर तमाशा तकना ।
मकड़ी-सा सब पर जाला ताने जाना ।
सोते में ही पर्यंक पर,
हाथ बढ़ाना ।
रास्ता चलतों पर,
ढेले तान चलाना ।

मचलती भीड़ के घेरे में
हर एक शब्द कहते-कहते ।"

वह प्रश्न करती है

"जीवन से सोना क्या यों ही हर जाती है
मैं उसे छिपूं या नहीं छिपूं
मन के आगे कली अगाध
रस की सरिता
मध्याह्न काल की किरणों से
चढ़ जाती है
मैं उसे छिपूं या नहीं छिपूं
पर मेरी प्यास कहाँ बुझती
पर मेरे पैर कहाँ थमते
संचित सुधियों के कोष
हाथ से बिखर गये
चमके आँखों में कौतूहल-से प्रश्न नये ।"

सहसा ही हवा चली तो फूलों और कलियों ने सुगन्ध को यत्र-तत्र बिखर कर समूचे वातावरण को सुवासित बना दिया । निम्न पंक्तियाँ देखिए

"सहसा ही हवा बही
फूलों औ' कलियों ने बिखरा दी खुशबू
जो अब तक सही ।
खुल गये कपाट बन्द लोचन के साँवरे
मन्मथ के संग डोल प्राण हुए बावरे
चुपके से कानों में गुनगुन कर बात
आज कितनी कही ।
चली हुई लहरों में काल चुका कल छिपा
दूर देश का गरल सोया [illegible] छिपा
सिहरी अब [illegible] ने [illegible]
[illegible] नहीं ।
सहसा ही हवा बही ।"

सुश्री इन्दु जैन नई कवयित्री के रूप में सम्पुक्त भावोन्मेष और नव्य कल्पना को लेकर आगे बढ़ी हैं । जैसा कि प्रायः नई कविता की प्रतिक्रिया उसकी निस्संगता अथवा अतिशय बौद्धिकता में है तो यह बात इन पर लागू नहीं होती । इसके विपरीत नए शिल्प को नई जीवन-दृष्टि के साथ समायोजित करने की चाह है । ज्ञान का प्रयोग

यहीं है
बस यहीं।
चम्पा की जड़ का मधुहीन रस—
फुनगी तक पहुँच नहीं पाया।
अस्थिहीन शब्दों के इन व्यक्त केंचुल में
मुझे मत भरो।
एक व्याकृति तुमने दी
एक व्याकृति तुम हो—
सब मेरी आस्था
सब मान्यताओं की।
कभी-कभी लगता है—
"लो, बस अब उतर गया—
असावधानी की खूँटी पर टँग गया
भ्रम का लबादा।
लेकिन फिर
वही;
वही भूल।
तुम तो वही हो—आवरण से अभिन्न।
व्यथा के शीत से सिहर कहाँ जाओगे?
एक दिन बेला के फूलों की वृष्टि हुई
आसमान ताँबे-सा तपा हुआ
झूठे सपनों के सारे तीर
चाँद
टूट कर टपक पड़े।

'सर्द सा झोंका' कविता एक लघु चित्र है जो अपनी व्यंजकता के कारण मन एवं प्राणों को सहला देता है।

"यह हवा का सर्द-सा झोंका
बहुत भीना
बड़ा मीठा
बड़े प्यारे गुलाबी बादलों पर
पेंग लेता
झूमता
आ रहा धानी टहनियों को
चूमता

'सेम में फूल आ गए
सहेली!
देख—आ!
या कहूँ—
जाड़े में शीशे की सील पर
तेरी कपास
या—
—छोड़ सील—
धूप के सुनहरे हरे खेत
लहरा गए।
देख—आ!
फूटे लाल-लाल पुए
हवा ने बताया था
'रात को बसंती रंग
मौसम में छाया था।
छाया था
रात को बसंती रंग?
उगी थी केसर पहाड़ों पर?
उगी ही होगी तब—
रात झूठ बोल कर
बचती क्या?
देखा था मोरे ही
कुहरा तो खूब मैंने।
बूँदें भी परसी थीं।
—और फिर—
सबसे बड़ी बात—
यहाँ
सेम जो फूली है!"

कुमारी कमलेश सक्सेना की सरल प्रसाद गुणमयी मृदु पद्य-रचना में मार्मिक और हृदय को आलोड़ित कर देने वाले अभाव और एकाकीपन का एक करुण स्वर मुखर रहता है। आज की तरह इनकी नीति निराशावाद की नहीं, बल्कि इनका मौलिक दृष्टिकोण समन्वयवादी और सहिष्णु ही अधिक है। प्रगति में विश्वास रखती हुई भी य प्रतिक्रियावादी नहीं हैं बल्कि किसी भी प्रकार के मिथ्याचार और आडम्बर से परे देशकाल एवं परिस्थितियों के अनुरूप चलना जानती हैं। कविता में जबकि एक युक्तियाँ और दलीलबाजी चल रही है इनकी अभिव्यक्ति कितनी सीधी

बड़ी ही कठिन ज़िन्दगी की डगर है।
जहाँ तक चलूँ पग थके साँस हारी।
न भूली तुम्हें जो कभी एक क्षण को
निठुर आज तुमने उसी को भुलाया।'

प्रणय और विरह-वेदना से आहत मन अन्तर्मुखी हो जाता है। निराशा प्राणों को कचोटती है और अधिकाधिक दैन्य अन्ततः उपरामता जगाता है

"मैंने कब माँगा तीनों लोकों का वैभव ?
मैंने कब माँगा ऋतु-ऋतु का यौवन अभिनव ?
मैंने कब माँगी अनुपम निधि सुन्दरता की ?
मैंने कब माँगी श्री-शोभा मोहकता की ?

मैं भिखारिणी टूटी-फूटी कुटिया मेरी
उस असीम में अति सीमित सत्ता मेरी
कुछ माँगा मिल भी जाता तो रखती कैसे ?
क्षण मात्र से अल्प कभी लघु बनती कैसे ?

मैं तो उन कुटियों पर ही सचमुच मरती
मैं तो उन पद-चिह्नों पर ही बलि-बलि जाती
खींच गए जो भूतल पर रेख सुनहरी
होती गई समय के सँग जो चिर-चिर गहरी।

जो माँगें थे मिले न वर बिन माँगें पाए।
पीड़ा बन कर आज हृदय में प्राण समाए।"

'अवरोध पथ' में कवयित्री दिशाहारी नहीं वरन् दृढ़ कदमों से स्वयं राह बनाती हुई प्रगति-पथ पर अग्रसर होने की आकांक्षा रखती है। अनेक मान्यताहीन सिद्धांतों में नकारात्मक आस्था बनाकर वह गुमराह नहीं होना चाहती अपितु स्वयमेव प्रवाह की ओर उन्मुख होकर उक्त आस्था का सत्य खोज लेना चाहती है। डगमग स्थिति में भी यदि हृदय में साहस और सामर्थ्य है तो बिना किसी अवरोध के निष्कंटक आगे बढ़ा जा सकता है

"साधना का पथ अभी अशेष है
और तरणी से पुलिन भी दूर है।
तेज कर कुछ और गति को तेज कर
क्यों नयन में आज आँसी पूर है।
हो रहा अवसान रवि का सामने—
सिन्धु से किरणें करतीं अठखेलियाँ
माँग भर कर आ रही सन्ध्या परी

"मैं न रोती रो रहा विश्वास मेरा।
व्योम भरता मोतियों से रात ही में
मेघ झरते फिर घुमड़ बरसात ही में
क्या सुनाऊँ मैं कथा अपनी व्यथा की,
सजल लिए दिन आँख का आकाश मेरा,
मैं न रोती, रो रहा विश्वास मेरा।
अमर जल से हुआ किन्तु कलश वही था
प्राण प्रिय पराये मगर पराग वही था
क्या भविष्यत् आज क्या भूलो सभी कुछ
कौन सुनता अब करुण इतिहास मेरा ?
प्राण हर दिन एक आराधन किसी का,
पा गए अमरत्व आश्वासन किसी का
क्या पता था पाश में मधु के गरल है ?
बन उठेगा एक दिन हर श्वास मेरा ।।
मैं न रोती रो रहा विश्वास मेरा ?
सत्य अब का बन चुका है आज सपना,
बन चुकी जितनी अभी है और कल्पना,
अब न स्वप्निल मंजिलें भरमा सकेंगी,
पूर्ण सुख में ही अनन्त प्रवास मेरा ।।"

प्रणय की असफलता में कवयित्री दुराशा, व्यंग्य अथवा उपालम्भ का सहारा नहीं लेती बल्कि अपनी इस लाचारी पर उसकी पूर्ण आस्था और आप्लावित भाव है। सहज विवेक के साथ प्रेमाकुल मन को वह निरन्तर आश्वासन देती रहती है

"क्यों विकल अब हो रहा मन।
जो गया आना उसे था
शेष भी जाना उसे था
इस गमन औ' आगमन का दूसरा है नाम जीवन !
मृत्यु का निश्चल प्रलय क्रम
चल रहा है, चल रहे हम
आ रही है पास मंज़िल आ रहा फिर मौन का क्षण !
प्राण के इस श्वास-पथ पर
प्रणय ही केवल सदा फिर
फूल हर फूल, मरघट एक सारा विश्व उपवन !
क्यों विकल अब हो रहा मन !"

सदियों पुराने आदर्श और बद्धमूल स्थापनाएँ प्रश्नचिह्न बनाकर खड़े हैं। प्रत्येक नई पीढ़ी पुरानी बातों से आतंकित और संशयात्मक रहती है। चुनौती और प्रतिक्रिया ने अनुभूतियों और संवेगों से भी अधिक तथाकथित बौद्धिकता से होड़ ठान ली है। सृजन-प्रतिभा बुद्धि के बोझ से इतनी दब गई है कि अति वैचित्र्यवादी और भाव-शून्य प्रकृतवादी कविताएँ, जिन्हें चटखारे ले-लेकर पढ़ा जा सके गढ़ी जा रही हैं। नया कवि या नई कवयित्री वैयक्तिक स्वातन्त्र्य के नाम पर उस रुग्ण मनोवृत्ति से आक्रान्त है जिसमें उसकी स्वच्छता अर्थात् अहं और कुण्ठा के घोर कशमकश के कारण उसकी कोमल कल्पना के तार विच्छिन्न हो गए हैं। अनमेल टेढ़े-मेढ़े चन्द सतरों में जैसे इधर-उधर के कुछ छूटे अक्षर और अधूरे वाक्य। सीमाएँ और घेरे—उसी की चक्राकार परिधि में घुटता-छटपटाता मन—जैसे किसी की उड़ान में थककर अटक गया हो कृत्रिम उच्छ्वासों की निरीहता हाँफ रही हो और बहुत हड़बड़ी व त्वरा में जैसे कुछ छूट गया हो जिसका कुछ-कुछ अंदाज ही लगाया जा सकता है पर आकार नहीं उतारा जा सकता। शब्दवत् सघन ध्वनि व अर्थ-संयोग और एकान्विति के क्षणिक मानस-पटल पर उभरते तो हैं पर उनकी अनुभूति संश्लिष्ट नहीं हो पाती कि वे खंड-खंड हो बिखर जाते हैं। कहीं कविता बिलकुल गद्य सी लय और स्वर के तारतम्य और वस्तु-सापेक्षता से दूर बहुत दूर जा छिटकी है।

"आज तुम आये हो
मैंने जूड़े में है फूल खोंसा।
आज मैंने आँखों को छूती हुई
काजल की बारीक सी रेखाओं में
फिर नई कविता लिखी है।
फिर से बहार की इक ऋतु आयी है
मेरे चारों ओर खुशियों के हैं फूल।
मेरी इस साड़ी प जो हँसते हुए फूलों की दुनिया।
धरती की लहराती हुई फसलों का नाच
मेरे इन कदमों में है
मेरे इन आँखों में है सैकड़ों दीपों की लौ।
मैंने फिर से
कमरे की दीवार पर का चित्र बदला
जिस पर कुछ बोझिलता का जाल पड़ता है।
आज फिर से 'कीट्स' को पढ़ने हूँ बैठी
आज फिर मेरी नज़र में
ग्रीस का सौन्दर्य संगमरमर की अमरता में ढला है।
क्या यह मेरा ही है घर
जिसकी दीवारों के होंठ

लगता है—जैसे संवेदनशील हृदय पृथक्-पृथक् भावधाराओं में विभाजित हो गया है जो काव्यात्मक अनुभूति के स्थान पर चिन्तन की तार्किक निष्पत्ति अथवा एक साथ 'मैनरिज्म' की ओर बढ़ जाता है। नीचे उद्धृत 'मुझे और स्पर्ट' कविता में कवयित्री की तर्कशील जिज्ञासा तो प्रकट होती है पर चूँकि उसमें निहित चिन्तन अपने विशिष्ट रूप और आकार में गद्य की योजनाबद्धता में चलता है, अतएव अन्त तक संवेदना की सघनता व्यंजित नहीं हो पाती।

अरे
तीर्थ यात्रा पर जाने वाली
स्पेशल ट्रेन की
यात्री
बनना नहीं चाहती।
यह भी क्या मजाक है?
तीन मास तक
उन्हीं यात्रियों के साथ
रहना पड़े
सुबह की
नई किरण की थपथपाहट सुन
आँखें खोलूँ
सामने बासी चेहरे हों
रात को नींद की बाँह गहूँ
बूढ़ी परछाइयों के साथ
भ्रमण करूँ
तो—
थके हुए कदम हों
परिचित स्वर हों,
भारी हवा हो !!
नहीं ! नहीं !!
मुझे पैसेन्जर ट्रेन में
सफ़र करने दो
हर स्टेशन पर
नये यात्री चढ़ेंगे
बैठेंगे
बोलेंगे
हँसेंगे
कुछ उन्हें नया मिले॥

जैसे तस्कर की त्रास वो
इनके तले थके मानव को मिली न अब तक छाँव है !"

आशा-आकांक्षाओं की मृगमरीचिका में मनुष्य भ्रान्त है। अन्ततः यह कवयित्री इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि दरअसल मनुष्य नहीं चलता बल्कि तरह-तरह की आशा आकांक्षाएँ जो मन में पलती रहती हैं वही उसे विचलित किये रहती हैं और उन्हीं के साथ वह बरबस खिंचता चलता है

"दूर क्षण
समय-सर में
पलता है बुलबुल सा
खो जाता है,
आकांक्षाएँ
हाथ बढ़ाती हैं,
पकड़ न पाती हैं।
फिर भी
न बुलबुलों का अन्त है
न आकांक्षाओं का,
अतृप्ति के पाँव हैं
मनुष्य चल रहा
मनुष्य नहीं चलता
आशा--
जो मन में पलती है
चलती है !"

निम्न कविता में वीरान बस्ती को बसाने के लिए, उसकी खण्डहर-सी उदासी को गुलजार करने के लिए और चिन्तित-परेशान मानवों के निमित्त चिरकांक्षित महल खड़े करने के लिए विश्राम नहीं श्रम चाहिए सुस्ती या प्रमाद नहीं उत्साह व स्फूर्ति चाहिए

"सूने खण्डहरों सी,
हमारी—
वीरान बस्ती है !
तिल की पट्टी
इतनी नहीं सस्ती है !
—कि जल्दी हाथ न आए
हमें 'कुछ और' कर जाए;
खण्डहर की उदासी में
महल की नरमी रोती;

सुख भी है, दुख भी
कौन किससे कम है ?
सबसे अच्छा
पतझर का मौसम है।
'प्रश्न' को व्याख्या का—
—कहो क्या भ्रम है !
अच्छा अब जाओ
पोर पोर के लिये
कोई राह देखती होगी !
दीपक की बाती में
मन की महक फैलाती होगी !
इतना शोर क्यों मचाते हो ?"

'किसकी पुकार दौड़ती है निशा के पास ?' सार्थक कविता में आधुनिक प्रणाली के साथ-साथ सूक्ष्म और रहस्यवादी व्यंजना है जो अतीन्द्रिय में विश्वास रखती है

"सांस को घर का प्रवेश द्वार
बन्द होने के पहले ही
प्रवेश पाती है किसी की पुकार;
धँसके, दूसर क्षितिज पार,
न जाने कितनी बार,
टकरा-टकरा कर,
स्वर-ऊर्मियों से मिलने
लौट आते हैं—मधुर-मधुर सी झंकारें !
लांघ कर दीवारों को
ऊँचे-ऊँचे द्वारों को
कोई दिन रात रहता है मेरे पास
पर जानती न हूँ
कि किस की पुकार दौड़ती है निशा के पास ?
हर काम में हर बात में
साथ देती है,
अनदेखी पर चिर पहचानी साथ;
लगता है मन में
कि तन में फूँके प्रभु ने श्वास
दी प्राणों को बिछुड़न के बाद !
यह व्याकुलता,

चिर तन के सीमित बन्धनों से
मुक्त हो चेतना भी
छिप जाना चाहती है
खो जाना चाहती है
तुम्हारी आत्मा के चिर गोपन कक्ष में—
सुबह के ढुलकते मोतियों-सी
कि तुम्हारा कोमल परस पा कर
पंखियों की पाँखों पर उड़ती
मेरी सिहरती कल्पनाएँ
स्तब्ध परछाईं-सी
आकाश की अनन्तता में
समा जाती हैं अपना स्वरूप भूल।
तब आरपार सागर की लहरों से इंगित
बार-बार बुलाते हो तुम मुझे।
ओ मेरे चिर नूतन द्युतिमान परम पुरुष!
सुरमई सरिता की लहरों में प्रवहमान
तुम अपने अन्तर की उर्मिल भावनाओं की
चाँदनी-खचित की झलक दिखला जाते।
तब अजस्र स्नेह के भार से बोझिल
इन झुकी हुई पलकों से
मोतियों का हार उपहार बन
गिरता है प्रतिपल प्रतिदिन
तुम्हारे उन दूरान्त दिगन्तगामी चरणों में।
तुम्हारी मनस्सरोज से बँधी भुजाओं में
कि तुम्हारे विशाल वक्षस्थल में
मिल जाना चाहते हैं मेरे प्राण
चिर दिन से जन्मान्तरों से!
ये चाँद सितारे झिलमिलाते प्रभात
युगों से देख रहे हैं
कि हृदय में बावली राधिका-सी
भटकती हूँ खोजने तुम्हें
झुरमुटों में फूलों में कलियों में
पर हार कर रह जाती हूँ!
कि मेरी चिर विरहिन आत्मा में
उठता है व्याकुल विमोहित-सा आलोड़न;

फिर तन के सीमित बन्धनों से
मुक्त हो चलना भी
छिन जाना चाहती है,
खो जाना चाहती है
तुम्हारी आत्मा के चिर पोषण कक्ष में—
सुबह के ढुलकते मोतियों-सी
कि तुम्हारा कोमल परस पा कर
पंखुड़ियों की पोरों पर चढ़ती
मेरी सिहरती कल्पनाएँ
स्तब्ध शरमाई-सी
आकाश की अनन्तता में
समा जाती है अपना अवश मुख।
तब आरपार सागर की लहरों से इंगित
बार-बार बुलाते हो तुम मुझे।
ओ मेरे चिर नूतन ज्योतिमान परम पुरुष!
सुरमई सरिता की लहरों में प्रवहमान
तुम अपने अन्तर की अमिय भावनाओं की
चाँदनी-रश्मि की झलक दिखला जाते।
तब अजस्र स्नेह के भार से बोझिल
इन झुकी हुई पलकों से
मोतियों का हार उपहार बन
गिरता है प्रतिपल प्रतिदिन
तुम्हारे उन दुरन्त दिगन्तगामी चरणों में।
तुम्हारी अनन्तकाल से फैली भुजाओं में
कि तुम्हारे विशाल वक्षस्थल में
मिल जाना चाहते हैं मेरे प्राण
चिर दिन से जन्मान्तरों से!
ये चाँद सितारे, झिलमिलाते नक्षत्र
युगों से देख रहे हैं
कि हाय मैं बावली राधिका-सी
भटकती हूँ खोजने तुम्हें
झुरमुटों में कुंजों में गलियों में
पर हार कर रह जाती हूँ!
कि मेरी चिर विरहिन आत्मा में
उठता है व्याकुल विमोहित-सा आलोड़न

मीरा की विशेषता है कि छिन्न प्रवाह और पतितप्राय छन्द की रिक्तता को उन्होंने प्रकारान्तर से भावनाओं की लय से पूर्ति करने की चेष्टा की है। नीचे उद्धृत सुधि आई में द्रुत लय और मुक्त उसके धाराप्रवाही स्वर प्रवाह में है

"सुधि आई
पलकों में सपनों में नयनों में अँसुओं में
सुधि आई।
सपनों में पुलक गई
पलकों में मचल गई
नयनों में छलक गई
अँसुओं में ढलक गई
सुधि आई
मचली-सी, छलकी-सी ढलकी-सी, सुधि आई।
अँधियारी बगिया में कोयल-सी कूक गई
सूनी दुपहरिया में पीड़ा-सी हूक गई
कारी बदरिया में उमड़-उमड़ घुमड़ाई
चाँदी की रातों में चितवन-सी चूक रही
सुधि आई,
कोयल-सी पीड़ा-सी कारी बदरिया-सी—सुधि आई !
मन्दिर की देहरी पर,
पूजा-स्वर लहरी पर,
श्रद्धा-सी ठहर गई
पूजित हो छहर गई
सुधि आई
देहरी पर, लहरी पर ठहरी-सी गहरी-सी—सुधि आई !
पतझड़ के पातों में
अनसोई रातों में
अनजाने घाटों पर,
अनभूली बातों में
सुधि आई
रातों में, घाटों पर, बातों में सुधि आई।
भोर की चिरैया-सी आँगन में चहक गई
भटकी पुरवया-सी आँचल में बहक गई
बेले की लड़ियों-सी साँसों में महक गई
चाँद की जुन्हैया-सी प्राणों में लहक गई
सुधि आई

चमक उठती
स्वप्न संध्या
यहाँ ।
कौन फिर
यह श्याम तन
सब कुछ विजय कर
चला जाता
तप्त माथे पर लगाता
तिलक चुम्बन का ।

(प्रमलता वर्मा)

इन्हीं की एक दूसरी कविता 'प्रसून के लिए' की कुछ पंक्तियाँ

"दूब-सा तन
दूब-सा मन
होने दो
दूब-सा तन-मन-जीवन
सूर्य न स्वयं सिन्दूर बन
ओस-सी सीमन्त में
जो खींच दी विश्वास की रेखा
उसके लिए तुम
दूब-सा तन
दूब-सा मन
होने दो
दूब-सा तन-मन-जीवन।"

'बसन्त' शीर्षक कविता में स्वर-पात और अविरामान्त का एक अनगढ़ प्रयोग बरता गया है

"चारों ओर'
चारों ओर'' चारों ओर मेरे
जाल हैं बसन्त के
हर मोड़ पर
लचकती झूमती है राह
'मुझे है सेतु तेरी चाह ।
हवा पर तैरती
फूलों की गन्ध
बौरे सहकार की

जो चली अभिसारिका सी आज साजन को मनाने ।

आज केसरमय अनिल है अवनि अम्बर है महकते
चाँदनी में भीगता वन झूमते उपवन झलकते,
झर रहा झरना शिखर से हीर-कण तट पर बिखरते
जौहरी बैठा जगत का निरखता मोती चमकते,

साधना में आत्मविस्मृत प्रिय पुरातन को रिझाने
जो चली अभिसारिका सी आज साजन को मनाने ।"

(सुभाषिणी)

एक अन्य कवयित्री के कुछ नये मौलिक कल्पना-चित्र जो अपनी सजीव चित्रात्मकता के कारण सामने उभर कर साकार हो जाते हैं । 'प्रार्थना करो' शीर्षक कविता

"तुम और मैं
और बीच में चौकी पर
पवित्र गंभीर नन्ही मोमबत्ती :
आँखों में
करुणा प्यार की लहर : लहरी ।
उभरती डूबती
डूबकर फिर उभरती झिपती
युग-युग साथ-साथ सोचने का यह
विचित्र आह्लाद बारीक है जो ।
आः इस भीने नम अँधेरे में
सुंदर हो गयी यह रात ।
प्रार्थना करो :
कभी बुझे न कभी बुझे न ।

'एक और वसन्त' का चित्र—

"प्रीतिकर लगे कैसे
यह फागुन की मद्धिम आग के रंग-सा वसंत ?
किनारों को चूमता हुआ आकाश ?
—मेरी देह में भर रही है
एक और देह
मुझसे लिपटे हुए मन में
एक और मन—
प्रीतिकर लगे कैसे ?

'हथेलियाँ' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ—

अपने अशरीरी तड़पते
वात्सल्य की—
इसी से हँस पाते हो
इस मेरे खालीपन पर।
किन्तु मैं
खालीपन में इसी
ममत्व सजोये
अपनी वत्सलता समर्पित करती हूँ
हर वासना-जीवी वेदना-ग्रस्त
शिशु को
बीहड़ राहों में जो
मेरी उँगलियाँ पकड़ चलता है
जिसके ओंठों को
खिलती धूप-सी हँसी
भेंटती है।

एक अन्य कवयित्री की प्रयोगवादी कविता 'बूँद और शब्द' में

"टिप टिप करती बूँदें
जो बराबर
दस्तक दे रही हैं
बन्द खिड़की के
काँच पर
ठीक तुम्हारे शब्दों की तरह
वे शब्द
जिन्होंने मेरे हृदय के
काँच को तोड़
कभी से भीतर प्रवेश ले
मुझे
समूचा भिगो दिया है" *(अमृता भारती)*

'तुम क्या भी हो' में अपरीक्षानुभूति है। यह अनुभूति अपने में एक प्रबल आग्रह है पर मात्र उसका सीमित संवर्प बन कर रह गया है

"तुम तो अनिश्चित हो।
जैसे अनागत भविष्य।
पर इसके बावजूद
तुम तक यदि आऊँगी

गिरे वृक्ष के सूखे हुए तने पर
मैं मन मार कि अब वह फिर से नहीं मिलेगी।
एक काँपती-सी पखुड़ी (मालों की !)
मुझमें तभी कभी लहराते
जो कोई भी यहाँ
मिली, देखो किसने अनजाने !"

वैयक्तिक सीमा में सिमट कर अनुभूति की प्रखरता मन के क्षणिक स्पन्दनों में तीव्रतर हो उठी है जहाँ सब कुछ उसी से गूँज रहा है और अन्य कोई ध्वनि या अनुगूँज सुनाई नहीं पड़ती। यथार्थता के पहलू और स्तर भी भिन्न हैं, परन्तु यथार्थ स्थिति की अर्थवत्ता को 'तुमने भिगो ही दिया' शीर्षक कविता में कवयित्री संवरण नहीं कर पा रही है

'तुमने भिगो ही दिया मुझे धुल सके स्वच्छ को
किरणों से
अब ये भीगे कपड़े पहने कैसे निकलूँ भी घर से ?
नमी के साथ बरबस घिर आये इस अपरिचित-से
अनास्वाद्य भाव का क्या करूँ ?
लगता है—
किरणों और इस अनजाने भाव को सँजोए हुए
किसी एकान्त में बैठकर
तुमको आत्म-समर्पण कर दूँ।
पर, देखो न मैं यहीं की यहीं खड़ी हूँ !
मेरी सद्यःस्नाता मसृणता इन किरणों से सन्धि कर
मुझे आवृत किये जाती है
और न अभी भी खड़ी हूँ !
किरणों के वर्षा-जल से धुली कांति
देखते-ही-देखते अरुणिम लज्जा में डूबी जा रही है;
किन्तु मैं क्यों देखूँ उसका मोहक परिवेश ?
इस स्थिति की अर्थवत्ता का भी प्रिय कैसे संवरण करूँ ?
कैसे ये भीगे कपड़े पहने घर से निकलूँ ?"

(विमला राजेन्द्र)

यही कवयित्री 'यह विरक्ता मादक मास' में और भी निरपेक्ष हो जाती है पर अद्भुत शांति के बावजूद भी उसके हृदय पर अनजाना अपरिचित बोझ जमता जाता है

"यह विरक्ता मादक मास आज नहीं छूता मुझे,

अन्तत
लौट आये—
परदेश को !
तब तुम—
आत्मभागी
साड़ी में
अपने को—
ढाँक के
पायल की
छन-छन—
चौखट पर
मौन के—

स्वागत को
बिछा दो !
साथ ही—
पलकों में
काजल के
काले-काले
बादल से
आंजो ।
और तब—
चले बादल
कठोर पर्वत-
चूम के

मीठा दर्द से
सिसक पड़ता है
तुम भी—
मान शून्य से
कमरा के
छलक पड़ो
कि इतना
सोचने का—
अवसर भी
उसे न मिले
कि आज 'उसके'
तुम्हारा—
क्या होगा ?"

मनोवैज्ञानिक गुत्थियों और भावना-जगत् की अनेक उलझनों के साथ-साथ प्राचीन प्रम-संस्कारों की सापेक्षता में पर्याप्त अन्तर आ गया है। नई कविता के छन्द लय शब्द भावना प्रतीक-विधान तथा कथन भंगिमा के विविध पक्षों में कुछ न कुछ वैचित्र्य और नयापन होता है वरन् कहें कि आन्तरिक शक्ति-संगठन की अपेक्षा उक्ति-वैचित्र्य और तत्सम्बन्ध भाव-भंगिमा मौजूदा कविता का एक प्रधान गुण कहा जा सकता है। फिर भी कुछ कवयित्रियाँ उसी प्राचीन परिपाटी पर गीतों की आरती उतार रही हैं

"गीतों की मनचुनी आरती
स्वर-किरणों की अलख जगा कर
किस सपने का रूप बुहारती ?
चोटों की यह जलन सकुच कर
किस रीते पतझर पर रोती ?
मन की बौरानी ईहा में
कौन नमस्कृत मधुता खोती ?
अपने क्षितिज पलक फैला कर
यह अगोरती साँझ पिटारी को—
किस प्रभात का पथ निहारती ?
आज शब्द के पंख गुनगुने—
बन पाँखी-से उड़ जाने को ?
आज भटकती राह न जान
किन संकेतों के पाने को ?

एक अन्य कविता 'प्यार का आधार पाकर' में इसी प्रकार के आर्द्र मर्म
ीं प्रणय भाव की चिर आकुलता है जहाँ उसकी परिधि की व्यापकता दो हृदयों को
स्नेह-सूत्र में बाँध देती है। मांसल सौन्दर्य के आकर्षण से परे यह एक ऐसी मधु
। भूमिका है जो न केवल स्थूल वासनाओं का परिष्कार करती है बल्कि जीवन
सूक्ष्म सुन्दर, उदात्त भावनाओं को उद्बुद्ध कर प्राणवान बनाती है

"झुक गई पलकें किसी के प्यार का आधार पाकर !
हो उठे पुष्प सजल उर की भावना साकार पाकर !

मूक वाणी में किसी की प्रेरणा का बोध पाकर !
चल पड़े प्रेमी-पथिक विश्वास का संसार पा कर !
झूमती अलकें किसी के स्पर्श का आभास पाकर !
जल उठे दीपक, शलभ के स्नेह का आधार पाकर !

झुक गया अम्बर क्षितिज के वक्ष का आधार पाकर !
कल्पना मुखरित हुई है, नभ विहग का गान पाकर !

आ गई फिर से अमा चिर-तिमिर अपने साथ लाकर
भर गई आँखें किसी के विरह की मधु-रात पाकर !
चेतना जागृत हुई उर का अचेतन प्यार पाकर !
बावली भूली घटा के नयन में बरसात पाकर !
पवन-गति भी रुक गई चिर विरह का उच्छ्वास पाकर !

गल उठे पाषाण करुणा की हिमानी साँस पाकर !
झुक गये पर्वत-शिखर जलती चिता का प्यार पाकर !"

(कु० सन्तोष सचदेव)

'क्यों' दीपक कविता में कवयित्री अपने से ही प्रश्न करती है कि मन चाँदनी
व्याकुल क्यों है ? इसका कारण हृदय में प्यार की तड़पन है। फलतः कभी तो
र में गीत उभरता है कभी आँसू मुस्काने लगते हैं, और कभी बीन रह-रह कर
य की रागिनी फूट पड़ती है

"विकल मन क्यों चाँदनी में ?
पूर्णिमा का चन्द्र देखो
है गगन में जगमगाता।
आज उज्ज्वल चाँदनी में
विम्ब है गोते लगाता।
क्या रहा अस्तित्व मेरा,
आज अनुपम चाँदनी में ?
विकल मन क्यों चाँदनी में ?

अन्तर के क्षितिज कोने-कोने से कसते हैं। करुण मनुहार भी जब व्यर्थ साबित होती है तो दर्द और व्यथा की छटपटाहट और भी गहरी होकर उमड़ती है

"मेरी अन्तिम घड़ियों में भी निठुर! न तुम मद् तुम री पाये !

अधरों तक आते-आते ही—
मेरी वाणी रुक जाती थी
वृष्टि कहे कुछ इस से पहले—
पलक नयन पर झुक जाती थी !

जो कुछ मैंने कहा नहीं तो प्रिय ! मेरा मन्तव्य नहीं था,
मौन अकथित निमन्त्रण मेरे मन का भाव नहीं ही पाए !

तुम को गीत सुनाती क्या जब—
खुद ही गीत बनी बैठी थी
कैसे स्वर के दीप जलाती
खुद संगीत बनी बैठी थी !

अर्थ शब्द से बहुत बड़ा है; यह मैंने उस दिन ही जाना
क्या तुम को अपनाते मेरे शब्द न मेरे ही हो पाए !

सारा अर्थ समेट नयन से—
मात्र एक जलधार बही थी
नीरव जीवन से थक कर मैं
साँसों पर मन तुला रही थी।

मुझ को था मालूम कि तुम तक मेरे छन्द नहीं पहुँचेंगे
जाने फिर भी किस आशा में निशि भर गीत नहीं लो पाये।"

(पुष्पा 'रश्मि)

अत्यधिक भावावेग की मार्मिक वेदना से आकुल यही कवयित्री 'विसर्जन गीत' में कहती है

"अश्रु की बरसात से जब प्रीत की कालिमा धुलेगी
देवता ! मेरे निमंत्रण का विसर्जन होगा नहीं !

भाव के आवेग में ये
बह गये थे प्राण इतने
अनसुने मैंने लिए कर
आत्मा के प्रश्न कितने

मुक्त हो कर साँस जूझी वेग से मनताप के जब
देवता ! मेरे निवेदन का विसर्जन होगा नहीं !

फूलों से शूलों ने लिपटना जाना है
किन्तु सुरभि ने भेद नहीं कुछ माना है !

कंचन-सी काया थोड़े दिन चलती है,
धूप साँझ बनने को तिल तिल ढलती है,
दूर दूर कूलों ने चलना जाना है,
किन्तु लहर ने भेद नहीं कुछ माना है !"

(स्नेहलता 'स्नेह')

दो वियोगी हृदय जब मिलते हैं तो जैसे टूटे तार जुड़ जाते हैं। इस शुभ मिलन की बेला में प्राण थिरक उठते हैं आशा-कलिकाएँ लहलहा उठती हैं और आकुल-व्याकुल भाव आनन्दोल्लास में मुस्करा उठते हैं

"आज फिर मधुमास आये !
हो रहा मम उर तरंगित आज जीवन प्राण आये।
जुड़ गए जो तार टूटे
बज उठी फिर मूक वीणा।
मिट गये संताप हिय के
साधना कर मिट नवीना।
मिल गये जो उर वियोगी नेह का वरदान पाये।
दूर कर घन-कालिमा को
लालिमा छाई गगन में।
हो रहा अनुराग अनुभव
आज कितना शुभ मिलन में
नृत्य करते मोर भू पर, व्योम में घन श्याम छाये।
झिलमिलाते दीप की लौ—
जगमगाई स्नेह पाकर।
मुग्ध हो छाये शलभ फिर
प्यार की आशा लगाकर।
जो विकल थे भाव उर में आज फिर वे मुस्कराये।
बन गई अभिसारिका सी
खिल उठीं आशा लतायें।
पवन बह बह प्रेम-निधि से
ले रहा अगणित बलायें।
मधुप ने मधुर स्वरों में राग फिर नूतन सुनाये।
आज फिर मधुमास आये !

(विद्यावती शर्मा)

याद करती हूँ, किसी का।
नाम आये पे न आये
याद करती हूँ किसी का।
तू बताये समझूँ क्या ?
इक प्रेम का सिंगार समझूँ ।
जीत समझूँ हार समझूँ, या इसे मैं प्यार समझूँ ?"

(*राजकुमारी शिवपुरी*)

निम्न कविता में 'प्रेम प्रेम के लिए' (Love for love's sake) इस विषय पर बहस छिड़ी हुई थी। आज का अभिजात और शालीन प्रेम निरंकुश है। वह देश काल स्थान से बाधित होकर किसी आचार-मर्यादा के बन्धन में बँधना नहीं चाहता। इसी का नाम प्रेम है ? अथवा क्या कर्तव्याकर्तव्य सुख-दुख संयोग-वियोग के अनेक हिचकोलों के मध्य समभाव से प्रवहमान अन्त में शाश्वत मिलन-भूमि पर प्रेम की धारा प्रतिष्ठित होती है ? कवयित्री पूछती है—क्या इसका नाम प्रेम नहीं है ?

'बहस छिड़ी हुई थी
मित्रवर
गले की आवाज़ को
तार-सप्तक तक
ऊपर उठा
पूरे ज़ोर-शोर से कह रहे थे—
'प्रेम प्रेम के लिए।
सच्चे प्रेम में
आदर्श का पैबंद
शोभा नहीं देता।
प्रेम के प्रवाह पर
निराधार नौका को
लंगर-पतवार हीन
छोड़, चुप बैठना ही
प्रेम है।
और सब क्वालिफ़िकेशन
व्यर्थ हैं
बोगस हैं
उनकी चर्चा भी
प्रेम के पवित्र
और

फूलों से फूलों में मिलना आता है
किन्तु सुरभि में भेद नहीं कुछ आता है ।
कंचन-सी काया चोखे दिन चमकी है,
धूप साँझ बनने को तिल तिल ढलती है,
दूर [illegible] कूलों में चलना आता है,
किन्तु लहर में भेद नहीं कुछ आता है !"

(स्नेहलता 'स्नेह')

दो वियोगी हृदय जब मिलते हैं तो जैसे टूटे तार जुड़ जाते हैं। इस नाम मिलन की बेला में प्राण थिरक उठते हैं आशा-लतिकाएँ लहलहा उठती हैं और आकुल-व्याकुल भाव आनन्दोल्लास में मुस्करा उठते हैं

'आज फिर मधुमास आये ।
हो रहा मन उर तरंगित, आज जीवन प्राण आये ।
जुड़ गये जो तार टूटे
बज उठी फिर मूक वीणा ।
मिट गये संताप हिय के
साधना कर नित नवीना ।
मिल गये जो उर वियोगी नेह का वरदान पाये ।
दूर कर मन-कालिमा को
लालिमा छाई गगन में ।
हो रहा अनुराग अनुनय
आज कितना शुभ मिलन में
नृत्य करते मोर भू पर, व्योम में घन श्याम छाये ।
टिमटिमाते दीप की लौ—
जगमगाई स्नेह पाकर ।
मुग्ध हो छाये शलभ फिर
प्यार की आशा लगाकर ।
जो विकल थे भाव उर में, आज फिर वे मुस्कराये ।
बन गई अभिसारिका सी
खिल उठीं आशा लतायें ।
पवन बह बह प्रेम-निधि से
ले रहा मर्मान्वित व्यथायें ।
मधुप के मंजुल स्वरों में राग फिर नूतन सुनाये ।
आज फिर मधुमास गाये !"

(विद्यावती वर्मा)

धीरे धीरे पनपाया है
माना सरदी गरमी वर्षा-
सह कर मधुवन जग पाया है।
भूल गई बस मैं इतने पर इसको मेरी भूल न कहना !
ऋतुपति भी मुझ में मुसकाता
पतझड़ भी मुझ में बस जाता
मलय पवन मुझ को सहलाता—
और झंझावात भीषण आता !
यदि न सब मन को भो दें तो मेरे माली ! भूल न कहना !
शेष रहें शाखों पर कांटे—
तो करुणा जल देते रहना
'भूलों ही में फल खिलेंगे'
जग से यही बात तुम कहना !
न मैं लाचार नहीं सच मानो फिर भी मुझ को भूल न कहना !"

(चन्द्रमुखी ओझा सुधा)

एक अन्य गीत में यही कवयित्री बड़ी भाई विह्वलता और गद्गद भाव से अपने आकुल प्राणों की अबूझ व्यथा को व्यंजित करती है। हँसना तो सपना है ही पर रो भी न सके—जीवन की यह कितनी दारुण विवशता है

"क्या जो गाए गीत शून्य में उन्हें नहीं तुम सुन पाए हो ?
मेरे आकुल प्राण पुकारें,
ओ मेरे गीतों के दाता !
सब कुछ भूला जा सकता,
क्या भूल गए गीतों का नाता ?
क्या वह कोरा अभिनय ही था जो तुम रोए मुसकाए हो ?
क्या यह सच नहीं है जग में-
रहती सब की प्रीति अधूरी ?
हँसना तो सपना है, लेकिन-
रो न सकूं कितनी मजबूरी !
क्या यह मान पराजय मेरी अपनी जीत बता पाए हो ?
क्या नीरव रजनी में मेरी-
सिसकी तुम तक पहुंच न पाती ?
तिल तिल जल मैं मिटूं
मौन तुम निर्मित है काहे की छाती ?
क्या परिभाषा यही पुरुष की बता मुझे तुम ईर्षाए हो ?

गान करती हूँ किसी का।
मान जाये कि, न माने
मान करती हूँ किसी का।
तू बताये समझूँ क्या ?
एक प्रेम का सिगार समझूँ ।
जीत समझूँ हार समझूँ या इसे न प्यार समझूँ ?"

(राजकुमारी शिवपुरी)

निम्न कविता में 'प्रेम प्रेम के लिए' (Love for love's sake) इस विषय पर बहस छिड़ी हुई थी। आज का अभिजात और शालीन प्रेम निरंकुश है। वह देश काल स्थान से बाधित होकर किसी आचार-मर्यादा के बन्धन में बँधना नहीं चाहता। इसी का नाम प्रेम है ? अथवा क्या कर्तव्याकर्तव्य सुख-दुख संयोग-वियोग के अनेक उद्वेगों के मध्य समभाव से प्रवहमान अन्त में शाश्वत मिलन-भूमि पर प्रेम की धारा प्रतिष्ठित होती है ? कवयित्री पूछती है—क्या इसका नाम प्रेम नहीं है ?

"बहस छिड़ी हुई थी
मिलकर
गले की आवाज को
तार-सप्तक तक
ऊपर उठा
पूरे जोर-शोर से कह रहे थे—
"प्रेम प्रेम के लिए।
सच्चे प्रेम में
आशा का पैबंद
शोभा नहीं देता।
प्रेम के प्रवाह पर
निराधार नौका को
लंगर-पतवार हीन
छोड़, चुप बैठना ही
प्रेम है।
और सब कन्सिडरेशन
व्यर्थ है
बोगस है
उनकी चर्चा भी
प्रेम के पवित्र
और

झलक ज़रा देखिए

'रात सुन्दर थी,
दिल में छाये गुमनाम ग़मों के साये
नीले अम्बर के सितारों-जड़े गुम्बद के तले
गहरी छाया है चाँद का साया जो पड़ा
झिलमिल लहरों प नयी दुल्हन के साथ
ख़्वाबों का एक जहान उभर आया।
और फिर वो शीशा जो बड़ा—
मोटर को गुज़रकर गुज़र, उभर, दूर में
भीगी धरती औ' लम्बे खजूरों की महक
डूब गयी, खो ही गयी।
चाँद भी दिखता न था
पर उसकी जगह—
मोटी मलमल के एक कुरते और
काली टोपी से ढका, एक मोटे से
लाला का बदन दिखने लगा: चौहद्द का
एक चबरा और गोल सी गांधी टोपी,
चौधरी पश्चिम के एक गाँव का लगता था।
अधेड़ की लम्बी हलकी पतली मूँछें, बाल
माथे पे खिजाब के बिखरे हुए,
वो सलानी सा पुराना बयान
अश्लील से गीत की धुन में चहक उठा।
'वाह! वाह!' पड़ोसी ने कहा,
'देखते नहीं औरत की भी बात' खाँसते स्वर में
मेरे पास बैठा सफ़ेदपोश भी कह बैठा।
गीत थम गया फ़ौरन
खिलखिलाहट भी उठी
कानाफूसी का वह मातम
मेरे मानस में निशाँ छोड़ गया।
दूरी कितनी इक औरत औ मर्दों के समूहों में?
कविता साहित्य में पोषित सुसंस्कृत वक्तव्य
दुनियादारी के ख्यालों में पला जन-मानस।
बाहर वह रात सलोनी, और अम्बर?
एकाकीपन गहरा और गहरा होता ही गया।

(आभा)

प्यासे ही मर जाना भौंरे,
पास न जाना कलियों के ।
घूँघट से हँस झाँक रही
जो बड़ी चकोरी है
ये कजरारी अँखियन वाली
हाय न भोली है,
फन्दे में फँस जाना भौंरे,
जादू हैं सब परियों के ।"

(शकुन्तला सिरोठिया)

'देवराज इन्द्र हूँ मैं' शीर्षक कविता में पुरुष के अहम् और विघटनकारी तत्वों के प्रति नारी का तीखा व्यंग मुखर हो उठा है । अपनी समस्त सहिष्णुता और संघर्षों की एक लम्बी परम्परा में जिन्दगी के जहर को रसायन मान कर पीने वाली नारी को पुरुष की स्वेच्छाचारिता से सदैव भयंकर टक्कर लेनी पड़ी है । आदि काल से अब तक उसकी मूल प्रकृति में विशेष अन्तर नहीं हुआ आधुनिक तहजीब के तकाजे ने पत्नी को उसकी बगल में तो ला बैठाया किन्तु वहीं उन्हीं परिस्थितियों में वहाँ उसकी औपचारिकता निभानी पड़ती है अन्यथा आधुनिका तितलियाँ अब भी उसकी लिप्सा और भोग-विलास पर पलती हैं

"देवराज इन्द्र हूँ मैं ।
स्वर्ग का सुघड़ सिंहासन
सदैव ही सुरक्षित है मेरे लिए
कितनी ही तपस्याओं की उपलब्धि परखी यह,
धारण करता हूँ मंत्रणाओं के बल पर मैं
और वज्रघोष में डुबाता हूँ विरोधी स्वर
द्वार खोलती हैं वे मेरी मेनका, रम्भा
उर्वशी वशीकरण प्रवीणा अप्सराएँ,
और संचित तपस्याओं का फल केवल मेरा है
वैभव विलास का विपुल साम्राज्य सदा,
शाश्वत पुण्यों से प्राप्त मेरा है, मेरा है ।
सारे लोकों की समस्त सुख-सुविधाएँ
मेरे चरणों में मैं उनका उपभोक्ता हूँ
इन्द्राणी शची तो मेरी ही है किन्तु वे
रमणी मनहारी अप्सराएँ भी मेरी हैं
महलों में मोहिनी की धीमा रंगमहल में
नूपुर की रुनझुन न थमती है
सोम भरे पात्र प्यास बढ़ाती है ।

क्यों व्यर्थ बहाते अश्रु तुम्हारी आँखें यों ही रोती हैं
मैं तो वह सीप नहीं जिससे मिलते जीवन के मोती हैं,
मेरी स्नेहिल किरणों के संग नभ के तारक मुस्काते हैं
मैं विस्मित-सी रह जाती हूँ वे मुझे बताने आते हैं।

(गीता श्रीवास्तव)

'शर्मिष्ठा' शीर्षक कविता में पौराणिक आख्यान के आधार पर नारी के पश्चाताप और व्यथा का चित्र आँका गया है

"पितर ! तुम न मानो दुख
माँ ! ममता त्याग दो
जन हित-पक्ष में
अर्पित कर दो मुझको
लिखा गया है यदि मैं—
दासी बन जाऊँगी
इच्छाओं के कच्चे घड़े
टूट जायेंगे
अपनी आकांक्षाएँ
छलना ही होती है
समझाओ क्यों कोई
जाने मेरी व्यथा का
मैंने अपराध किया
मुझे दण्ड सहने दो
करने दो प्रायश्चित्
जलने दो मुझे
देवयानी के गर्व में।

(अपर्णा)

'झूठी मनुहारें' की कुछ पंक्तियाँ

"जीवन जलता है जलने दो
मैं डरता नहीं अंगारों से

कर सकता निर्मित नव प्रभात
प्रतिदिन जीवन की हारों से

घन घोर नाद करती उल्का—
का आलिङ्गन कर सकता हूँ

कैसे दूँ पाती ?
प्रीति नई क्या ऐसी ?
अनदेखा पर बासी !
यह क्या अनजानी सुधि—
मुरली स्वर-फाँसी ?
टेर रहे घड़ी-घड़ी
बाँहें दो बढ़ा तरी
तीर बीच प्यासी ।
बीतो दुर्लभ्य अवधि
बीते का अवधि यदि
पलकें उतारती !
कैसे दूँ पाती ?
क्या कहूँ, क्या भाव चलें
ये श्वासों की मुहरें,
हारें तो अपने को
जीत तुम्हें बुहरें !
अब तो भय भूल चुकी
होकर यह धूल चली,
पीरों की चाली !
धारा में कागज की
नावें बहा दी वेणु
लहरें क्या जातीं ?
कैसे दूँ पाती ?"

(प्रकाशवती)

ऊपर की पाती मनोभावानुसार असफल प्रेयसी द्वारा किसी निष्ठुर प्रणयी को लिखी गई है जो अनिवार्यतः अपनी ही कामनापूर्ति की अभावोत्पादकता के वैचित्र्य का सजीव रूप है किन्तु नीचे की चिट्ठी भगवान की सेवा में अर्पित की जा रही है जिसका अतापता कुछ भी नहीं और भक्ति एवं प्रेम की भावना में विभोर उसकी करुणा और दया की याचना में बड़ी ही सीधी-सादी अकृत्रिम भावाभिव्यंजना है :

"चिट्ठी मैं लिख रही हूँ इसका जवाब दीजे ।
कब तक हमें मिलोगे इसका पता तो दीजे ॥
चिट्ठी मैं अपनी लिखके किस किस पते से भेजूँ ।
यह कौनसी जगह है, हमको बता तो दीजे ॥
अपना परिचय मैं दे रही हूँ इसमें शर्म ही क्या है ।
गुनहगार मैं बहुत हूँ इस पर भी पीर कीजे ॥
यह पत्र पढ़ते-पढ़ते कहीं थक न जाइएगा ।

टकरा-टकरा कर उनसे हँस पड़ती थी ।
मानो कहती हो
'क्या मुझे न जाने दोगी ?
तुम बेचारी स्थिर हो निश्चल हो
नहीं तो साथ तुम्हें भी ले चलती
पर रुक न सकूँगी......"
द्रुत गति से लहराता यह गान नदी का
फिर वेग-सहित उत्साह-सहित बढ़ती जाती आगे ।

देखा जब विस्तार भूमि का, पशु-पक्षी नर-नारी
वेग हुआ कुछ मन्द
अनायास ही दृष्टि मुड़ी,
पर छूट चुकी थी गोद पिता की ।

तब लिया आसरा कूलों का कुछ दीन भाव से,
किन्तु चपल थी अल्हड़ थी चंचल थी सरिता—सहमी अभिलाषा
मुसकायी फिर से वह बाल-सुलभ-विश्वास लिये मन में
संगिनि बन कूलों को वह चली सहज आगे ।

जीवन कुछ हरा-भरा था
जाग उठा स्नेह, औदार्य हृदय में ।

पाया आलय कंकड़, कीचड़ सूखी डाली ने,
मुरझाए पल्लव तिरस्कार था तट का
था छिपना उसके अंचल में ।

सरिता सुख से बहती जाती
सहसा झंझा ने प्रलय मचा दी छिना किनारा कूलों से ।

विस्मित बोली सरिता
हाथ बढ़ाए, भय से कातर
उन्हें पकड़ने दौड़ी ।

शान्त हुआ वह आन्दोलन
फिर दिया सहारा कूलों ने ।

अब समझ चली थी सरिता भी जीवन की गति ।
गिरि की गोदी से उतर पड़ी थी जो सवेग
बहती है आज वही सरिता धीमे-धीमे
मन्थर गति से ।"

(उमा पाठक)

भंग पूजा हो गई विश्वास की—
जीतने पर भी तभी तो हार है।"

(देववती शर्मा)

दीपावली के उपक्रम में ज्योति का वन्दन एवं अभिनन्दन करती हुई कवयित्री की उदात्त भावना देखिए

"इस ज्योति का वन्दन करो !
सौ बार अभिनन्दन करो !
जो रश्मि-रथ पर बैठ कर है आ रही दीपावली

दुर्गम तिमिर पथ पार कर
हर मोड़ में हर द्वार पर
बढ़ मरीचिका के बीच में बन ज्योति प्राणों की जली !

नक्षत्र बन नभ में खिली !
भू पर बहुत जलती चली !
फूली निशा की डाल पर मुस्कान सोने की फली !

यह ज्योति का त्योहार है
मानो तिमिर से हार है ।
सत से असत को जीत जग की कामना फूली फली !"

(श्यामा सलिल)

'शिला' में अहिल्या के मिस कवयित्री अपनी स्थिति का बोध कराती है

"राम के चरणों को छू कर एक शिला
अहिल्या बनी
इसलिए चरण दुबारा वे
धो लिये गए
अच्छा होता मेरे भी
चरण तुम्हारे
यदि धो लिये होते
दुनिया की सारी मान्यताओं से दूर
एक स्पर्श के बाद
आज पत्थर तो न बनती ।

(शुभा)

इस प्रकार जीवन की बहुरूपता और वैविध्य के आकलन के लिए नारी भी उतनी ही सन्नद्ध और तत्पर है तथा पुरानी टेक्नीक व रूप के प्रति अवज्ञा का भाव

प्रकृति का महान् चितेरा—महाकवि कालिदास

अनन्तव्यापी प्रकृति का निस्सीम प्रसार जिसके विराट् चित्र-फलक पर उस महाकवि के काव्य-सृजन की अमिट रेखाएँ खिंची और उन्हीं की प्रेरणा के वशीभूत हो जो अपने अंतस् की आकांक्षाओं के तुमुल अंतर्निनाद को लेकर उससे एकात्म्य हो उठा। प्रत्यक्ष को स्पर्श करती उसकी उत्तरोत्तर अनुभूति ज्यों-ज्यों अधिक गहरी और संवेदनशील होती गई उतना ही अन्तर्पट अनावृत होता गया और रहस्यमय स्तर भेदकर उसकी अमूल्य निधियाँ किसी दुर्वार मंत्र-शक्ति से दृष्टि के सम्मुख बिखरती गईं। समूचे वातावरण में रमकर उसकी कल्पनाएँ विस्फारित हुईं। अनायास जैसे प्रकृति की रमणियों से आँख-मिचौनी खेलते-खेलते वह खो गया हो और अभिन्न से घुल मिलकर उसकी तन्मयता अधिक भावस्थ हो उठी हो। यों महाकवि कालिदास के जीवन-दर्शन की विभिन्न श्रेणियाँ हैं और इन्हीं श्रेणियों के अनुसार उनका भावोन्मेष हुआ है।

प्रकृति अपने विस्तृत अर्थ में वह सब कुछ है जिसके प्रत्येक अणु-अणु का अपना इतिहास है। अतएव सौन्दर्य की इस लीलाभूमि के मनोमुग्धकारी रूप ने सदा इस महाकवि के अन्तर को झकझोरा। प्रकृति के नव-नव रूप और उसकी समष्टि के प्रतीकात्मक प्रसार—नीलाम्बर, धरती की मनोमोहक हरीतिमा एवं उपवन नदी-नाले और पर्वत-समूह यहाँ तक कि छोटे-छोटे पेड़-पौधे और फल-फूल तक ने रसानुभूति के माध्यम से उसकी बृहत् सत्ता का आभास कराया। मन की एकरसता उसकी प्रगाढ़तम अनुभूति और परम आनन्द की पराकाष्ठा को उस सुषमा और सौन्दर्य बोध में लय किया था सत्य शिव सुन्दरम् की ओर प्रवाहित करने वाला है।

कवि की अतीन्द्रिय रसाभिषिक्त भावना का व्यापक स्पन्दन ही भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकृति के उन्मुक्त ऐश्वर्य को क्रियात्मक रूप में वरण करता आया है। कारण—प्रकृति के विविध रूपों को अपनी कल्पना-रस से अभिषिक्त करने में वह खो गया। जीवन के राग-विराग प्रवृत्ति-निवृत्ति भोग एवं संयम को कभी अपने सुख को कभी अपनी समाधि विराम को कभी सौन्दर्यबोध की श्रेष्ठतम कसौटी पर कभी अपने रसावेश और सहज उल्लास-प्रियता को उजागर करने के निमित्त उन्होंने प्रकृति के रोमांच परिहास और समग्र उपादानों से रागात्मक सम्बन्ध जोड़ा उसके प्रति

आदि नाटकों में ऋतु विलास प्रकृति-वर्णन और निसर्ग की मनोरम झाँकी बड़े ही भव्य और उदात्त रूप में मिलती है। न केवल वनस्थलियों के सुरम्य लता-गुल्म फूल-पत्ते वृक्ष-वाटिकाएँ, नदी-निर्झर, पर्वत-समूह और अनन्त वन प्रान्त के व्यापक प्रसार का हमें वर्णन मिलता है बल्कि षड्ऋतुएँ—ग्रीष्म वर्षा शरद हेमन्त शिशिर और वसन्त और उनके साथ ही अलग-अलग महीनों ज्येष्ठ, आषाढ़ सावन भादों क्वार, कार्तिक अगहन पूस माघ फाल्गुन चैत वैशाख आदि भिन्न-भिन्न अवस्थिति और कार्य-व्यापारों का भी विशद वर्णन है। अपने खण्ड-काव्य 'ऋतु संहार' में बदलती ऋतुएँ, उनका अंतरंग प्रभाव और भाव-उपकरण से समूचे वातावरण में परिवर्तन तो है ही वरन् इसके विपरीत मनुष्यों के आचरण और सूक्ष्म प्रक्रियाओं तक पर असर दिखाया गया है। जैसे—वसन्त ऋतुराज है और सहज सौन्दर्योल्लास जागता है तो ग्रीष्म प्रखर किरणों से सबको व्याकुल कर देता है। किन्तु ग्रीष्म के बाद पावस अर्थात् वर्षा ऋतु तपती धरा को अपनी शीतल फुहारों से शान्त करती है उसके सूखे प्राणों में नवजीवन का संचार करती है। 'ऋतु संहार' का समूचा दूसरा सर्ग वर्षा-ऋतु के वर्णन में लिखा गया है। आषाढ़ के महीने में जब बादल उमड़ने-घुमड़ने लगते हैं पपीहा मयूर, कोकिल सारस चकोर, पारावत आदि पक्षी आशा-भरी आँखों से मुँह बाए आकाश को ताकने लगते हैं प्यासी धरती पेड़-पौधे फूल-पत्ती पशु-पक्षियों के विषाद की भूमिका न बनकर उनके स्नेह-सिंचन के लिए तत्पर हो उठती है तभी उनके अपेक्षित मनों से साम्य रखने वाली मानवी प्रेम भावना का सृजन कर हंस जैसे पक्षी को कमल-नालों का पाथेय ले मानसरोवर की ओर उड़ाया गया है। पवन की प्रेरणा से गतिमान मेघ जब आकाश में उड़ते हैं तो हंसों की पंक्ति भी उनके साथ साथ तैरती सी चलती है। वर्षा से उल्लसित हो—

"विपत्र पुष्पां नलिनीं समुत्सुका
विहाय भृङ्गाः श्रुतिहारिनिस्वनाः ।
पतन्ति मूढाः शिखिनां प्रनृत्यतां
कलापचक्रेषु नवोत्पलाशया ॥

अभिराम गुंजार करते उत्कण्ठित भ्रमर पत्ररहित कमलिनी का परित्याग कर मोरों के पुच्छ-मंडल को ही भ्रमवश नए-नए कमल मानकर उस पर टूट पड़ते हैं और विभोर हो नर्तन सा करते हुए घूमने लगते हैं। वर्षा के प्रभाव से—

'प्रभिन्न वैदूर्यनिभैस्तृणाङ्कुरैः
समाचिता प्रोत्थित कन्दलीदलैः ।
विभाति शुक्लेतररत्न भूषिता
वराङ्गनेव क्षितिरिन्द्रगोपकैः ॥

अर्थात् वर्षा से धरती की छटा कैसी निराली हो गई है। वह सबत्र जल स्फुरित है वर्षा ने नाना रंगों हर ओर से भर दिया है। विल्लौर के घास के अंकुर

पर्वत-समूह और न जाने कितनी अगणित वस्तुएँ जो महाकाव्य में मिली हैं उनके चिर सहयोग से जीवन में स्फूर्ति और प्रेरणा भरने के लिए, उसे सत्य सुन्दर उदात्त और समृद्ध बनाने के लिए, यही नहीं अपितु हर कोण और हर पहलू से उसमें संपूर्ति खोजने के लिए महाकवि कालिदास ने प्रकृति वर्णन के रूप में जो महत्तर भावसृष्टि की है उसके कारण हम आज भी और आने वाले युगों तक अपने लघु वृत्त से ऊपर उठकर उसकी विराट् असीमता का आभास पा सकेंगे।

सामने ही कुछ दूरी पर हँसते हुए समुद्र का व्यापक प्रसार,

पास ही वृहदाकार पर्वत जो धूमिल रंग और दिव्य आभा की तरलता से छिक्त मेघों-सा चमक रहा था

चरागाहों और नीची सतह वाली जमीन पर उषःकालीन सहज मधुरिमा का आच्छादन

ओस कुहरा और पक्षियों का संगीतमय स्वर तथा खेत बोने के लिये श्रमिकों का प्रस्थान आदि सब कुछ शानदार था।"

("Magnificent
The morning rose in memorable pomp
Glorious as ever I had beheld—in front
The sea lay laughing as a distance near
The solid mountain shone, bright at the clouds,
Grain-tinctured, drenched in emphrean light
And in the meadows and the lower grounds
Was all the sweetness of the common dawn
Dew vapours, and the melody of birds
And labourers going forth to till the fields.")

ज्यों-ज्यों कवि की बुद्धि का विकास होता है, उसकी सहज भावना की सौंदर्यानुभूति में प्रकृति सचेतन और सप्राण हो उठती है पुनः उसी के साथ तद्रूप होकर आनन्द से उल्लसित होती है। शनैः-शनैः इस आत्म-चेतना के प्रसार में प्रकृति सर्वचेतन हो उठती है और उस क्षण प्रकृति उसे अपनी ही चेतना का एकरूप और समगति प्रतीत होती है।

'पृथ्वी और समुद्र समस्त दृश्य-जगत् और उसके समक्ष फैला हुआ अम्बुधि का निस्सीम वक्ष-प्रसार एक विचित्र आनन्दानुभूति से ओतप्रोत है। उपत्यका बक को स्पर्श करते हुए मेघ अव्यक्त प्रेम की सृष्टि करते हैं। आनन्द की अभिव्यक्ति में वाणी मूक है और शब्द मौन उसकी आत्मा इस दृश्य के सौन्दर्य-रस का आस्वादन कर रही है। मन शरीर, प्राण—सभी तो उसमें विलय हो गए हैं उसका पार्थिव शरीर ही मानो उसमें आ समाया है। उन दृश्यों में ही वह खोया-सा खड़ा है उन्हीं में उसकी चेतना और प्राण कम्पित हैं। ईश्वर-प्रदत्त सुखों में विभोर वह अपने अन्तर्मानस को विचारों से नितान्त शून्य पाता है, इनमें ही मानों वे खो गये हैं। धन्यवाद वह नहीं दे सकता। शोक प्रकट करने में भी वह असमर्थ है। अपनी मूक अन्तश्चेतना से एकरूप हो वह उस परम शक्ति की अभ्यर्थना में संलग्न है जिसने उसका सृजन किया और जो उस दिव्य-प्रेम एवं महानन्द की अनुभूति कर रहा है जो प्रशंसा और अनुनय से परे है।"

"(Ocean and earth the solid frame of earth
And ocean a liquid mass in gladness lay

अस्फुट भाव से अतीत की मधुर स्मृतियों को गुनगुना देती है। प्रेम की अभिव्यक्ति के रूप में कवि अपने भावों को प्रकृति में प्रतिबिम्बित देखता है। प्रेम की वेदना का रूप यदि प्रकृति में है तो प्रेम की तृप्ति भी उसी में दिखाई देती है। कभी-कभी प्रकृति की विराट् गोदी में वह अपने भावों को भर सामने से हट जाता है।

"प्रशान्त

निश्चल नीरव जल मेरे मस्तिष्क पर उल्लास का दुर्वह भार सा बनकर छा गया है और आकाश जो पहले कभी इतना सुन्दर न लगा था मेरे हृदय में पैठकर मुझे स्वप्न-विभोर सा बना रहा है।

("The calm
And dead still water lay upon my mind
Even with a weight of pleasure, and the sky
Never before so beautiful, sank down
Into my heart, and held me like a dream.")

सच तो यह है कि प्राकृतिक सौन्दर्य एवं सौकुमार्य की उपासना में अहर्निश निरत वर्डसवर्थ ने सुन्दर एवं सरस भावों की लड़ियां पिरो कर अपने काव्य को सजाया है। उसकी अन्तर्हित भावनाएँ प्रकृति से तद्रूप हो मानों साकार हो उठी हैं।

"अप्रैल का सुन्दर, स्वच्छ प्रभात है। यह नदी अपनी स्वाभाविक उद्दामता से गर्वित यौवन की मदमाती चाल से प्रवाहित हो रही है। नदी के प्रवहमान जल की प्रतिध्वनि वासन्तिक वायु में आ विलीन होती है। सभी सजीव वस्तुओं से आनन्द और आकांक्षा आशाएँ और इच्छाएँ अगणित ध्वनियों की भाँति फूटी पड़ रही हैं।"

("It was on April morning fresh and clear
The rivulet, delighting in its strength
Ran with a youngman s speed and yet the voice
Of waters which the river had supplied
Was softened down into a vernal tone
The spirit of enjoyment and desire
And hopes and wishes from all living things
Went circling, like a multitude of sounds.")

ग्रीष्म जैसी अनाहूत ऋतु का वर्णन करते हुए कोई भी कवि प्रकृति के उन नाना रूपों एवं दृश्यों तक नहीं पहुँच पाया है, जिसका वर्णन वर्डसवर्थ की कविताओं में अनायास ही मिलता है।

"उत्तरी मैदान स्वच्छ हवा में तैरता हुआ दूर तक नजर आ रहा है। धुन्ध भरे बादलों की फिसलती छाया पृथ्वी की सतह को चितकबरा सा बना रही है।"

"(The northern downs
In clearest air ascending, showed far off

Hath had elsewhere its setting,
And cometh from afar
Not in entire forgetfulness,
And not in utter nakedness,
But trailing clouds of glory do we come
From God, who is our home;
Heaven lies about us in our infancy;
Shades of the prison house begin to close
Upon the growing Boy
But He beholds the light and whence it flows
He sees it in his joy
The youth who daily farther from the East
Must travel, still is Nature's Priest,
And by the vision splendid
Is on his way attended
At length the Man perceives it die away
And fade into the light of common day)

अनन्त और शाश्वत अन्तःप्रकृति में रमकर वर्ड्सवर्थ की कल्पना का प्रसार इतना व्यापक हो गया है कि तुच्छ से तुच्छ उपकरणों में भी उसे विराट् छाया छटा पटाती नजर आती है। ल्यूसी ग्रे (Lucy Gray) की निम्न पंक्तियों में कवि के कोमल हृदय की धड़कन सुन पड़ती है।

'सम विषम पथों पर भटकती हुई वह बिना पीछे मुड़े एकाकी गीत गाती है, जो वायु के स्तरों में ध्वनित होता रहता है।"

('Over rough and smooth she trips along
And never looks behind
And sings a solitary song
That whistles in the wind.)

कवि के लिये व्यक्त सत्य है—प्रकृति और मानव। इन्हीं के आध्यात्मिक प्रणय का रूप उसे सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। इन्हीं से सम्उद्भूत रूप-व्यापार उसके हृदय पर मार्मिक प्रभाव डाल कर उसके भावों का प्रवर्तन करते हैं। इन्हीं रूप-व्यापारों के भीतर उसे भगवदीय कला का साक्षात्कार होता है, इन्हीं का सूत्र पकड़ कर उसकी भावना अव्यक्त सत्ता का आभास पाती है। प्रकृति के रोम-रोम में कण-कण में एक दिव्य अलौकिक शक्ति सन्निहित है। उसकी दृष्टि में प्रकृति निर्जीव नहीं प्रत्युत् सजीव एवं सप्राण है। वह मनुष्य के दुःख-सुख में योग देती है। वह उसके साथ रोती है, हँसती है। वह उसकी महत्त्वाकांक्षाओं दुर्बलताओं इच्छाओं वेदनाओं तथा सुखों में सदैव साथ रहती है। एक स्थल पर वह कहता है

१९

महाकवि गेटे के दार्शनिक विचार

महाकवि गेटे के मत में व्यक्ति के आत्मविकास की सम्भावनाएँ परिस्थितियों की विवश स्वीकृति नहीं वरन् उसकी अपनी पूर्णता की प्रक्रिया हैं क्योंकि वह अपने कितने ही प्रयत्नों को अहर्निश पूर्णता की ओर उत्प्रेरित करता रहता है। उसकी विकल्पात्मक वृत्ति आंतरिक साक्षात्कार से गतिशील होती है और उसकी इस अभीप्सा और संकल्प में ही विश्वसृष्टि का आदिम अंकुर छिपा हुआ है।

यों सांगोपांग रूप में अनेक कोण एवं आयामों में रख कर जाँचने-परखने से जीवन का वैविध्य कैसा असीम दीख पड़ता है ? कितने अनबूझ प्रश्नचिह्न सामने आ खड़े होते हैं ? भावसत्ता के माध्यम से भिन्न आकांक्षाओं के तानबाने के रूप में बने हुए जीवन के वैभिन्न्य प्रकट होते हैं तो लगता है कि गेटे जैसे सच्चे कलाशिल्पी की अनुभूतियाँ कितनी संवेद्य कितनी प्रेषणीय हैं। एक स्थल पर :

"मनुष्य का जीवन क्या है—एक भ्रामक, मिथ्या स्वप्न कितने ही व्यक्तियों ने इस बात को समझा-बूझा है और मैं स्वयं इसे बखूबी अनुभव कर रहा हूँ। जब मैं सोचता हूँ कि हमारी सक्रिय जिज्ञासु प्रवृत्तियों की पैठ कितनी स्वल्प कितनी संकुचित परिसीमा में है तथा साथ ही यह देखता हूँ कि हमारी कार्य-शक्तियाँ किस प्रकार व्यर्थ के प्रपंचों में रमी हैं कि जिनका अनिवार्य परिणाम यह होता है कि वे उन्हीं की स्थायित्व के प्रयास में खप जाती हैं, तब मैं मूक और जड़वत् हो जाता हूँ। मैं अपने 'स्व' का विश्लेषण करता हूँ और वहाँ एक ऐसी दुनिया पाता हूँ जिसमें सशक्त जागरूक आह्वान के बदले धूमिल इच्छा-आकांक्षाएँ और कल्पना का गुबार उमड़-घुमड़ रहा है। तब उस क्षण मेरे नयनों के समक्ष मानो हर वस्तु तैरने लगती है और संसार के मिथ्यात्व में खोया हुआ मैं सहज मुस्कराता और स्वप्न देखता रहता हूँ।"

मनुष्य की सबसे बड़ी कमजोरी है कि वह बौद्धिक तर्क के मोह में फँस जाता है और उसे नित-नई खोज और दिमागी कसरत में बड़ा रस आता है। चिन्तन-मनन द्वारा नहीं बल्कि कभी-कभी नितांत उथली और हास्यास्पद जिज्ञासा का प्रश्रय ले वह जिन्दगी के ऐसे जटिल एवं गम्भीर प्रश्नों का समाधान खोजता है जिसे मनुष्य की बुद्धि अथवा तर्क से परे सामान्य व्यवहार के स्तर को भेदकर सत्य

—यह कह कर कि मैं उसमें विश्वास नहीं करता। वह सर्वशक्तिमान परमेश्वर क्या मेरे, तेरे और समस्त चराचर जगत् के रूप में व्यक्त नहीं होता ? क्या हमारे ऊपर आकाश नहीं है, क्या हमारी दृष्टि के समक्ष पृथ्वी का अनन्त प्रसार फैला हुआ नहीं है और क्या हमारे सिरों पर मित्र की भाँति मुस्कराते चाँद-सितारे नित्य ही उदित नहीं होते ? मुख से मुख नेत्र से नेत्र हृदय से हृदय और तेरा-मेरा साक्षात्कार होने पर क्या उसकी परोक्ष-अपरोक्ष सत्ता का आभास नहीं होता और क्या इस प्रकार तेरे-मेरे जीवन के चतुर्दिक लिपटे हुए दृश्य-अदृश्य रहस्य का उद्घाटन नहीं हो जाता ? उसकी शक्ति अपरिमेय और अचिन्त्य है। उस अव्यक्त सत्ता की अचेतन अभिव्यक्ति को अपने हृदय में अनुभव कर। जब तेरा हृदय दिव्य रस से आप्लावित हो जाय तो उसी ब्रह्मानन्द अर्थात् प्रेम और ईश्वर की निनादित होती हुई अनुकम्पा समझ।"

ईश्वर कोई स्थूल या सहज ही इन्द्रियगोचर होने वाली वस्तु नहीं है, वह तो भीतर ही भीतर समग्र सत्ता या पूर्ण सत्ता का एक तरह साक्षात् उन्मेष है। इस गहरी दृष्टि का रहस्य है कि मूलगत तत्त्वों की तह तक पैठ सके। बाहरी तौर पर इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं बल्कि असीम और अनंत का सम्यक ज्ञान—जो शक्ति है प्रेरणा है और सजीव स्वरूप है—इसी की व्याख्या में गेटे ने लिखा

"कौन वह शक्ति है जो हृदय को आन्दोलित करती है और जिससे समस्त तत्त्वों पर विजय प्राप्त कर ली जाती है ? क्या यह उस समस्वरता के अतिरिक्त कुछ और है जो हृदय में प्रकट होकर सारे संसार को उससे समन्वित कर देती है। जबकि प्रकृति चरखे पर अनवरत अर्थहीन धागे को अनायास कातती जाती है और सम्पूर्ण सृष्टि की धमनियों का झंझावात परस्पर टकरा कर भीषण अट्टहास करता है, तब कौन उन्हें जीवनदायी प्रवहमान स्वरलहरियों में संविन्यस्त करता है जिससे वह सुस्वरता से सम्पन्न हो जाता है। पृथक्-पृथक् विशृंखल, विभक्त सत्ताओं को सर्वव्यापी पावनता के लिए कौन आह्वान करता है जिससे कि वे अचिन्त्य समस्वरता के साथ ध्वनित हो उठती हैं। वह कौन है जो प्रबल मनोवेगों के अंधड़ में अथवा आत्मा की दुर्भेद्य गहनता में सौम्य अरुणिमा का आलोक भर देता है तथा सुखद बसन्त की अर्धस्फुट कलिकाओं को प्रेमपथ पर बिखेर देता है ?

आह ! मैं जगत् की उस निगूढ़ शक्ति को पहचान सकूँ और समग्र विधायक-शक्ति एवं मूल बीज को खोज सकूँ तथा कोरे शब्दाडम्बर से मुक्त हो जाऊँ।

अनन्त प्रकृति ! क्या मैं तुम्हें आयत्त कर पाऊँगा ?"

दरअसल मनुष्य में स्वसत्ता का अहंकार इतना प्रबल और उद्दाम है कि वह अपने समक्ष किसी को नहीं आँकता। यहाँ तक कि वह भगवान तक को चुनौती देता है। इसी भाव से प्रेरित होकर गेटे ने लिखा

"अपने को परमेश्वर का प्रतिरूप मानकर मैं यह समझ बैठा था कि मैं सत्यतम

—यह कह कर कि मैं उसमें विश्वास नहीं करता। वह सर्वशक्तिमान परमेश्वर क्या मेरे तेरे और समस्त चराचर जगत् के रूप में व्यक्त नहीं होता? क्या हमारे ऊपर आकाश नहीं है? क्या हमारी दृष्टि के समक्ष पृथ्वी का अनन्त प्रसार फैला हुआ नहीं है और क्या हमारे सिरों पर मित्र की भाँति मुस्कराते चाँद-सितारे नित्य ही उदित नहीं होते? मुख से मुख नैन से नैन हृदय से हृदय और तेरा-मेरा साक्षात्कार होने पर क्या उसकी परोक्ष-अपरोक्ष सत्ता का आभास नहीं होता और क्या इस प्रकार तेरे-मेरे जीवन के चतुर्दिक लिपटे हुए दृश्य-अदृश्य रहस्य का उद्घाटन नहीं हो जाता? उसकी शक्ति अपरिमेय और अनिर्वच है। उस अव्यक्त सत्ता की अचेतन अभिव्यक्ति को अपने हृदय में अनुभव कर। जब तेरा हृदय दिव्य रस से आप्लावित हो जाय तो उसी ब्रह्मानन्द अर्थात् प्रेम और ईश्वर की निनादित होती हुई अनुकम्पा समझ।

ईश्वर कोई स्थूल या सहज ही इन्द्रियगोचर होने वाली वस्तु नहीं है, वह तो भीतर ही भीतर समग्र सत्ता या पूर्ण सत्ता का एक तरह साक्षात् उन्मेष है। इस गहरी दृष्टि का रहस्य है कि मूलगत तत्त्वों की तह तक पैठ सके। बाहरी तौर पर इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं बल्कि असीम और अनंत का सम्यक् ज्ञान—जो शक्ति है, प्रेरणा है और तत्त्वीय स्वरूप है—इसी की व्याख्या में गेटे ने लिखा :

"कौन वह शक्ति है जो हृदय को आन्दोलित करती है और जिससे समस्त तत्त्वों पर विजय प्राप्त कर ली जाती है? क्या यह उस समस्वरता के अतिरिक्त कुछ और है जो हृदय में प्रकट होकर सारे संसार को उससे समन्वित कर देती है। जबकि प्रकृति चरखे पर अनवरत धर्मनाल धागे को अनायास कातती जाती है और सम्पूर्ण सृष्टि की हलचलों का झंझावात परस्पर टकरा कर भीषण अट्टहास करता है तब कौन उन्हें जीवनदायी प्रवहमान स्वरलहरियों में सविभक्त करता है जिससे वह सुस्वरता से सम्पन्न हो जाता है। पृथक्-पृथक् विशृंखल विभक्त सत्ताओं को सर्वव्यापी भावनता के लिए कौन आह्वान करता है जिससे कि वे अनिर्वच समस्वरता के साथ ध्वनित हो उठती हैं। वह कौन है जो प्रबल मनोवेगों के अंधड़ में अथवा आत्मा की दुर्भेद्य गहनता में सौम्य अरुणिमा का आलोक भर देता है तथा सुन्दर वसन्त की अर्धस्फुट कलिकाओं को प्रेमपथ पर बिखेर देता है?

आह! मैं जगत् की उस निगूढ़ शक्ति को पहचान सकूँ और समग्र विधायक-शक्ति एवं मूल बीज को खोज सकूँ तथा कोरे शब्दाडम्बर से मुक्त हो जाऊँ।

अनन्त प्रकृति! क्या मैं तुझे स्वायत्त कर पाऊँगा?

दरअसल मनुष्य में स्वसत्ता का अहंकार इतना प्रबल और उद्दाम है कि वह अपने समक्ष किसी को नहीं आँकता। यहाँ तक कि वह भगवान तक को चुनौती देता है। इसी भाव से प्रेरित होकर गेटे ने लिखा

"अपने को परमेश्वर का प्रतिरूप मानकर मैं यह समझ बैठा था कि मैं सनातन

कोप, जिसमें कल्पना स्वरचित यन्त्रणाओं से पीड़ित होती है। आयासपूर्वक उस घाटी की ओर बढ़ चल जिसके सङ्कुचित मुख के चतुर्दिक नरक की लपटें प्रदीप्त हो रही हैं। चाहे विनाश का भय ही परिणाम क्यों न हो तो भी उत्साहपूर्ण संकल्प से इस मार्ग को ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हो जा।

असंतोष की प्रबल आकांक्षा होते हुए भी संतोष का स्रोत हृदय में बरबस फूट नहीं पड़ता। यह सरिता इतनी शीघ्र क्यों सूख जाती है कि हम प्यासे ही रह जाते हैं? लोकोत्तर रहस्य का महत्त्व ऐसी ही अवस्था में हमारी समझ में आता है और हम पावन आह्वान की ओर उत्कण्ठित हो जाते हैं, जो और कहीं भी इतनी क्षमता एवं सुषमा के साथ भासमान नहीं होता—जैसा कि नवीन साल्म में। प्रभात काल में मैं भय से काँपता हुआ उठता हूँ और दिन का दर्शन करके मुझे रोना आता है क्योंकि यह दिवस अनवरत चक्र में एक भी आकांक्षा को पूर्ण नहीं कर सकता। इतना ही नहीं वह आनन्द के पूर्वाभास तक को दुराग्रह द्वारा घटा देता है और क्रियाशील हृदय की उमड़ती हुई रचनात्मक प्रवृत्ति के मार्ग में व्यवधान उपस्थित कर विघ्न डाल देता है।

मैं तो अपना जीवन उद्दाम उद्वेग चक्र में वासनामय उन्माद में स्नेहपूर्ण घृणा में स्फूर्तिदायक उपेक्षा में उत्सर्ग कर देना चाहता हूँ। ज्ञान की पिपासा से मुक्त हुआ मेरा हृदय भविष्य में किसी पीड़ा से पृथक नहीं रहेगा—मानव मात्र के भागधेय को मैं अपने अन्तरतम में भोगना चाहता हूँ। महान् से महान् और क्षुद्र से क्षुद्र को मैं अपनी आत्मा द्वारा ग्रहण करना चाहता हूँ और सबके सुख-दुःख को अपने अंतर में राशिभूत कर लेना चाहता हूँ ताकि मेरी आत्मा उन सबके समान विस्तृत होकर अन्त में उन्हीं के समान छिन्नभिन्न हो जाय।

साहसपूर्ण निर्णय सम्राज्य को दृढ़तापूर्वक पकड़ लेता है, छूट कर जाने नहीं देता जब चूँकि संकल्प को करना अनिवार्य हो जाता है वह उसको पूर्ण करके ही मानता है।"

'स्व' का विवेक होने पर अंतर्निरीक्षण द्वारा यह महान् तथ्य हमारे समक्ष उभर आता है कि आत्मा क्या है। आत्माएँ तत्त्वतः एक हैं तो उनमें यह वैषम्य यह पार्थक्य और भेदभाव क्यों? यदि बाह्य उपाधियों के कारण य भेदभाव और पार्थक्य हैं तो वस्तुतः ये उपाधियाँ क्या हैं? क्यों अवांछित रूप से वे आत्मा से संश्लिष्ट हो जाती हैं और किन परिस्थितियों में उसे अपनी जकड़बन्दी में आबद्ध कर लेती हैं? कैसे उनसे छुटकारा मिलना संभव है? वह कौन सी महत् शक्ति है जो उसकी सीमाओं और विवशताओं के बावजूद दिशा-निर्देश कर उसे आगे बढ़ाती है? इन्हीं प्रश्नों का समाधान खोजने के लिए गेटे ने इस महत् शक्ति को सम्बोधन कर लिखा

'ओ महत् शक्ति! मैंने जो कुछ पाने की तृषा से प्रार्थना की थी तूने मुझको वह सब प्रदान किया। तूने अग्नि की लपटों में अपनी आकृति का दर्शन यों ही व्यर्थ

प्रवहमान दृष्टिगत होतीं। गम्भीर गह्वरों सहित पर्वत-श्रेणियाँ मेरी दिव्यगति को न रोक पातीं। आलोक-मण्डित सागर अपने वक्षःस्थल को मेरी दृष्टि के सामने फैला देता। ऊपर अनन्त आकाश है और नीचे सागर की लहरें। कैसा मनोरम स्वप्न है, पर शोक कि दैहिक पंख मानसिक पंखों के समान हल्के-फुल्के नहीं हो सकते। तो भी लवा नील गगन में घूमने वाला गीत गाता है तब उच्च देवदारु के अमेय विस्तीर्ण में पंखों वाली चील मँडराती है। जब क्रौंच स्थलों और सागरों को पार करता हुआ अपने नीड़ की ओर उड़ने का प्रयत्न करता है तब प्रत्येक मानव-हृदय में पृथ्वी से दूर ऊँचे उड़ जाने की उत्कण्ठा जगा करती है।"

अंततः सर्वात्मा सच्चिदानंद घन में ही समस्त ज्ञान-विज्ञान भक्ति एवं दर्शन की अखण्ड साधना अव्याहत है। उससे परे है ही क्या? सचमुच वह सर्वशक्तिमान परमेश्वर ही सब कुछ है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' उसी से सब उत्पन्न होते हैं, उसी से पुष्ट होते हैं और उसी में लौटकर समाहित हो जाते हैं। तो यह है क्या जीव? यथार्थतः यह आत्मा ही ब्रह्म है! उसमें और ब्रह्म में कोई अंतर नहीं। अतः स्वयमेव को पहचानो। अपनी आत्मा को इतना ऊँचा उठाओ जिससे सर्वाङ्गीण रूप में उसका पूर्ण परिपाक हो सके। जब तर्क थक जाता है लक्ष्य अस्थिर होकर डगमगाने लगता है और आत्मा में जड़ता का तिमिर छा जाता है तब उसी का आलोक तो भटके हुए को गतिमान करता है। अतएव हर स्थिति में परमेश्वर की अभ्यर्थना ही जीवन की सार्थकता है।

किसमें यह साहस है कि उसका नाम ले? कौन यह घोषणा कर सकता है कि मैं उसमें विश्वास करता हूँ! कौन अनुभव करने वाला यह कहने का साहस कर सकता है कि मैं उसको नहीं मानता। वह सर्वात्मा सर्वव्यापक क्या तुझे-मुझे और स्वयं अपने को घेरे हुए और धारण किए हुए नहीं है? क्या गुम्बद के सदृश आकाश हमारे ऊपर नहीं छाया हुआ है? क्या नीचे धरा स्थिर नहीं पड़ी है? क्या सनातन सौहार्दपूर्ण तारिकाएँ हमारी ओर ताका नहीं करतीं? क्या तेरी निखिल भावनाएं हृदय और मस्तिष्क की ओर उमड़ कर तेरे चारों ओर सनातन प्रत्यक्ष और परोक्ष रहस्य के द्वार तानाबाना नहीं बुनतीं! ऐसा महान् है यह अपने हृदय को उससे परिपूर्ण कर ले और जब तू पूर्णतया उसे आत्मसात् कर ले तो तू उसको जो नाम चाहे दे डालना, चाहे उसको ईश्वर मानना, चाहे हृदय! चाहे प्रेम चाहे परमेश्वर! मेरे पास उसके लिए कोई नाम नहीं है। भावावेश ही सर्वस्व है नाम और उपाधि तो उस स्वर्गिक कान्ति को धूमिल करने वाला धुआँ और नाद मात्र है।

सम्पर्क स्थापित करके ही एक नवीन आभासहीन संवेदना को मुखरित किया था।

टाल्सटाय की विवेकशीलता ने काव्य-ग्रंथों में कलात्मक रुझान के साथ-साथ सांगोपांग सरसता और शक्ति का भी समन्वय किया। इस महान् लेखक ने रूस के पुरुष और नारी के राष्ट्रीय चरित्र का पूर्ण विश्लेषण कर उनके शताब्दियों से चले आ रहे स्वतन्त्रता-संघर्ष को चित्रित किया। न सिर्फ उनकी स्वतन्त्रता, उनकी समृद्धि और फौलाद की सी शक्ति के लिए ही उसकी लेखनी ने मार्ग प्रशस्त किया बल्कि उस सर्वथा नवीन पथ की लीक पकड़ने का भी संकेत किया जहाँ संघ-स्थापना की पृष्ठभूमि में एक वृहद् मानववादी भावना पनप रही थी। बाद में सार्वजनिक आन्दोलन के साथ-साथ उसने खूनी क्रान्ति का पृष्ठ भी खोला और समकालिक समाज के जीवन का मर्मस्पर्शी चित्रांकन प्रस्तुत किया। आधी से अधिक शताब्दी तक टाल्सटाय की दृढ़ और सत्यवादी आवाज् संसार भर में गूँजती रही—पूँजीवादी वर्ग की पैशाची वृत्ति के दंभ को तोड़ती हुई और उनकी आत्म अभ्युदय की क्वाहिश या इस संहिता और तमाम 'सभ्यता' की नकाब में पाखण्ड और छल-कपट की परतों में छपी दासता व बलात्कार का पर्दाफाश करती हुई।

टाल्सटाय के विषय में प्रसिद्ध है कि यदि अन्य विद्वानों का कृतित्व जोड़ें तो उनसे दुगुना उस एक व्यक्ति ने अकेले ही किया। साठ वर्ष तक वह रूस में घूमता रहा तमाम चीजों को देखते हुए—गाँवों-नगरों में गाँवों के स्कूलों में जेलों और हवालातों में अपराधियों और कैदियों की कोठरियों में कैबिनेट मंत्रियों और अधिकारियों के आमोद-स्थलों में राजधानी के दफ्तरों में किसान और मजदूरों की झोंपड़ियों में फैशनपरस्त स्त्रियों के ड्राइंग रूमों में न जानें कहाँ-कहाँ और किन-किन के जीवन में झाँक कर उसने अपने अनुभवों को बटोरा। अपने उदार दृष्टिकोण और नित-नई परिस्थितियों में निरखने-परखने और उसमें से कुछ पा लेने की प्रकृति के कारण उसने कितनी ही समस्याओं से सदैव संघर्ष किया।

टाल्सटाय ने जो मार्ग जनता के सामने प्रशस्त किया था वह अत्यन्त कष्टप्रद था क्योंकि उसका जीवन और कृतित्व प्रतिकूल धाराओं में बँटा हुआ पेचीदा सामाजिक उथल-पुथल का परिचायक था। चलती-फिरती सादी घटनाओं ने उसका ध्यान बँटाया और इन्हीं घटनाओं के माध्यम से उसकी सारी आगामी क्रियाओं का सूत्रपात हुआ। वह महान् कलाकार, जो जन्म से ही जीवन का प्रेरक रहा 'धर्म-स्वर्ग' शोषित वर्ग का रक्षक और बेमेल प्रतिक्रियों का चालक बना। साथ ही साथ समस्त राजकीय सामाजिक और धार्मिक संगठनों का—जो बेसहारे निर्धन किसानों को चूसना और लूटना ही जानते थे—उनका एक उत्कृष्ट आलोचक भी बन गया। टाल्सटाय ने समय की दिशा-दृष्टि को मोड़ा और तमाम परम्परागत अन्धविश्वासों को तोड़ डाला।

"मैं जीवन के दायरे को अपने में समेटने की कोशिश करता हूँ।' टाल्सटाय ने अपनी एक पुस्तक 'कन्फेशन' में लिखा है। 'मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि यह जीवन नहीं है, बल्कि यह जीवन की विडम्बना है और एक किस्म का तिरस्कार या

भाव बालक है और वह रचना उन्हें हँसाएगी रुलाएगी तो मैं उसको लिखने में अपनी पूर्ण शक्ति और सारा जीवन लगा दूँगा

विश्व में कलाकार जितना ही नवीन है उतना ही पुराना भी। देश काल और परिस्थितियों के अनुसार उसके विचारों में परिवर्तन तो होता रहता है, किन्तु उसके सृजन द्वारा जो सहज चिरत्व की स्थापना होती है वह अतीत वर्तमान और भविष्य के छोरों को एक साथ जोड़ देती है। आत्मचेता कलाकार वर्तमान की क्षीणता को एकदम पहचान लेता है और विभिन्न स्तरों पर जो यथातथ्य है उसी को 'आधुनिकता' का पुट देकर भूत-भविष्य के संदर्भ में प्रतिष्ठित करने का प्रयास करता है। एक स्थल पर

'कलाकार जो कुछ अभिव्यक्त करना चाहता है उसे पूरी तरह प्रकट करने के लिए उसके पास हुनर होना चाहिए। हुनर प्राप्त करने के लिए उसे श्रमपूर्वक काम करना चाहिए।

कलाकार को अपने हृदय की गहराइयों से लिखने के लिए अपने विषय में मग्न होनी चाहिए। इसलिए उन विषयों के बारे में उसे कुछ नहीं कहना चाहिए जिसके प्रति वह उदासीन है। किन्तु जिन बातों को वह हृदय से चाहता है उनके बारे में उसे अवश्य लिखना चाहिए।

कला की उत्पत्ति के लिए ये तीन आधारभूत आवश्यकताएँ हैं और अन्तिम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके बिना अथवा विषय की लगन के बगैर कला का कोई कार्य सम्भव नहीं।

लेखक बनने की ख्वाहिश तो होती है, पर लेखक बनने के लिए उसे क्या साधना करनी चाहिए, चारों ओर दिशा व काल की परिधि में किस प्रकार अपने हर एक-एक क्षण को चिरन्तनता में बाँध देने की उत्कण्ठा होनी चाहिए अर्थात् कोई पूछे चिरन्तनता क्या ?—तो वह लेखक के स्वयं को विभोर व तन्मय करने वाला मन का पूर्णत्व है जिसका अणु-अणु, कण-कण—दिशा और काल के परे—समय के चिरन्तन प्रवाह में मग्न हो जाता है। अपने मित्र को लिखे एक पत्र में टाल्सटाय ने रचनाकार या लेखक के सम्बन्ध में जो उद्‌गार व्यक्त किये वे निम्न हैं

मेरी समझ में प्रथमतः व्यक्ति को तब लिखना चाहिए जब उसके वे विचार जिन्हें वह अभिव्यक्त करना चाहता है इतने प्रबल हों कि उन्हें शब्दों का रूप दिये बिना वह उनसे छुटकारा न पा सके।

लेखन के अन्य कारण (उदाहरणार्थ महत्त्वाकांक्षा या आर्थिक विवशता) लेखन के मुख्य कारण (अर्थात् आत्माभिव्यक्ति की अनिवार्यता) से सम्बन्धित होते हुए भी लेखन की श्रेष्ठता एवं ईमानदारी को भ्रष्ट कर देते हैं। इससे सचेष्ट रहना चाहिए।

दूसरे, वह वस्तु जिससे प्रायः ही वास्ता पड़ता है और जिस के लिए कई समकालीन लेखक भी दोषी हैं उनकी यह कामना है कि दूसरों से भिन्न एवं मौलिक लिखा

चमकता रहा। मानव-संहार, हिंसा और रक्त-पिपासा हर काल और हर परिस्थिति में गर्हित है, अतएव ध्वंस से निर्माण की ओर प्रेरित होना श्रेयस्कर है। फलतः 'वि ध्वंसन' में उसने युद्ध के विरुद्ध अपने विचार प्रकट किये। एक साहित्यकार को विनाश के भीतर से कौनसी उपलब्धियाँ हो सकती हैं इसलिए बुनियादी तौर पर संकुचित दृष्टि स्वार्थ और अनाचार की भावना से पृथक् जीने की कला विकसित होनी चाहिए। मानव-एकता और समग्र सामाजिक प्रगति के लिए अवांछनीय तत्वों का मूलोच्छेद कर भौतिक कल्याण और विश्वशान्ति की ओर अग्रसर होने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। उन्हीं दिनों की अपनी डायरी में उसने लिखा

"मेरे हृदय में यह भावना प्रबल हो गई है कि मैं अपने समस्त जीवन को इस नवीन धर्म के लिए बलिदान कर दूं था। यह नवीन धर्म अप्रतिरोध विश्वबन्धुत्व और विश्वशांति की ओर प्रेरित करने वाला होगा।

और तभी से युद्ध के विरुद्ध विश्वव्यापी युद्ध छेड़ने की वैचारिक क्रान्ति ने उसमें सत्य और दार्शनिक बुद्धि की प्रखरता जगाई। उसके विचारों ने अपने जमाने पर जबर्दस्त छाप डाली और अपने जीवन काल में ही वह मानवता के प्रतिदूत के रूप में जन-भावनाओं को दूर तक समेट ले गया। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया उसके विश्वास अधिकाधिक पुष्ट होकर फलीभूत हुए। उसे देश के भावी जीवन में एक महान् परिवर्तन का पूर्वाभास हो गया था। अतः उसकी यह आवश्यकता ही उसकी धारणाओं को नित-नव विकास की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए इतनी दूर तक ले गई जहाँ खींचतान और अन्यमनस्कता से परे नव शिल्प और नई कथन भंगिमा को उभार कर उसने सामने रखा। छायावाद, लघु मानववाद और अहंता मनोवृत्तियाँ किसी हद तक मान्य मान भी ली जायें किन्तु वे अधिकाधिक गहरी जड़ें जमाकर हमारे जीवन की उत्फुल्लता को कालिखी उदासीनता और खड़ी-गाढ़ी उकताहट की मनहूसियत में न समो दें—यह देखना है। दरअसल सच्चे कलाकार की खूबी है कि इस ऊब और उदासी में भी अमर विश्वास के स्पर्शों का उसे आभास मिलता रहे।

स्वयं लेनिन ने टाल्सटाय को एक सच्चे कलाकार के रूप में देखा जिसने सहृदयता से प्रताड़ित और शोषित मजदूर वर्ग की आशाओं का सजीव चित्रण किया। लेनिन ने टाल्सटाय पर अनेक लेख लिखे।

लेनिन ने एक स्थल पर कहा है—'टाल्सटाय बड़ा था बहुत बड़ा। उसने ऐसे-ऐसे विचारों और भावों को प्रस्तुत किया है जो करोड़ों रूसी किसानों में जम चुके थे तब भी उस समय जबकि अभिजात्य आन्दोलन रूस में अपने पूरे जोरों पर था।"

टाल्सटाय की डायरी का एक पृष्ठ जो अक्तूबर, १९०५ में लिखा गया था वर्ग भर के रूसी आन्दोलन की भावनाओं का विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

"मैं इन लाखों-करोड़ों के बीच में से लिखता हूँ" टाल्सटाय ने १९०५ में अपने एक पत्र में लिखा। इन लाखों-करोड़ों की ओर से और इन्हीं का पक्ष लेते हुए टाल्सटाय ने धनी-वर्ग की अत्यन्त कटु आलोचना की। अभिजात्य 'सभ्यता' अथवा कला

आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है। जीवन की कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें स्वस्थ चिंतन हो, स्वातन्त्र्य का पोषक भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो—जो जीवन में गति दे, संघर्ष, बेचैनी व प्रतिक्रिया उत्पन्न करे, हमें पस्त न करे, अपितु जागरूक बनाये। कला के अलग अलग मानदण्डों का व्यवहार किया जा सकता है किन्तु उनके द्वारा कला और लोक जीवन में ऐसी निकटता और सामीप्य लाया जा सकता है जिससे कला को तो संवर्द्धन प्राप्त हो और साथ ही लोक-जीवन भी समृद्ध होता चला जाए। साहित्य में हमारी आत्माओं को जगाने की, हमारी मानवता को संवेत करने की, हमारी रसिकता का तृप्त करने की शक्ति होनी चाहिए। वाल स्ट्रीट के साहित्यिक सिपाहियों ने 'रूसी षड्यन्त्र कारियों' से मिलकर इस लेखक की रचनाओं को अश्लील व अमद्र साबित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने टाल्सटाय की क्षमता को ग़लत रूप से पेश किया, उसकी कला क्षमता को मिथ्या और ढकोसला बताया और पूँजीवाद समाजवादी प्रवृत्ति की खिलाफत को कल्पित और बकवास समझा। उनका कहना है कि संसार जिसे मानव-जीवन का चितेरा और जिसकी सबल लेखनी को पूँजीवाद का संहारक बताता है वह उतना अधिक खरी कसौटी पर नहीं उतरता वह तो केवल संगठित सरकार की ख्याली उड़ानों में ही तैरना जानता है।

अमेरिका के प्रतिक्रियावादी आलोचकों ने न केवल टाल्सटाय की निन्दा की वरन् अपने हिमायतियों के पुछल्ले बन उनके अविस्मरणीय उपन्यासों तक को 'जीवन का अवास्तविक मूल्यांकन' करार दिया। 'वार एण्ड पीस' का रचयिता उनके लिए उस उच्च वर्ग नागरिक के अतिरिक्त कुछ नहीं था जिसने एक पारिवारिक वंशावली को उच्च लोगों के पढ़ने का मनोरंजन मात्र बना दिया था। अगर इन आलोचकों पर विश्वास किया जाय तो टाल्सटाय के उपन्यास भारी भरकम और अवास्तविक घटनाओं के अतिरिक्त कुछ नहीं और न ही १८१२ के स्वदेश-युद्ध के कुछ प्रतिष्ठित मनुष्यों के चित्रण—जिनके अभिजात ने 'वार एण्ड पीस' के पृष्ठ रँगे थे।

किन्तु उनके द्वारा विरोधी पक्ष का आक्रोश भी जमा और कभी-कभार इन कीचड़ उछाल समीक्षाओं में उठाए गए भले-बुरे प्रश्न ही उसकी जागरूक और सतत प्रतिभा के प्रमाण बन कर प्रकट हुए।

१८१२ के युद्ध पर टाल्सटाय ने हमें एक अभूतपूर्व महाकाव्य दिया है। नैपोलियन की सेनाएँ फील्ड मार्शल कैरेटेस से पराजित नहीं हुई थीं बल्कि रूसी सेना से पराजित हुई थीं जिसके लड़ाकू सैनिक यूरोप भर में अद्वितीय थे जिन्हें निर्भीक साथियों और रूसी जनता द्वारा दुगुनी सहायता और जोश मिला।

जैसा कि लेखक ने स्वयं कहा है कि 'वार एण्ड पीस' के विचार जनता से उसे मिले हैं। टाल्सटाय का कहना है— १८१२ का युद्ध मातृभूमि के लिए जीवन और मृत्यु की कड़ी चुनौती था। यह संघर्ष था—रूसी हृदयों का। तमाम रूसी पुरुष और

रूस में ऐसी विद्रोहिणी नारी का अस्तित्व आँका जो साहस पूर्वक जिन्दा रही प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझी और हारी नहीं चाहे टूट फूट गई। पति से सम्बन्ध विच्छेद और अन्त में उसकी मृत्यु उस समाज को खुली चुनौती है जो सच्चे मानवीय भावों का खुलेआम गला घोंटते हैं।

मृत्यु के समय स्वयं अन्ना के हृदय के तार भी सहसा झनझना उठे थे जिसे गहरा सदमा और दुखी तमन्नाओं की कचोट ने जगा दिया था। उसके हृदय की गहराइयों में जो प्रेम का सोता फूट पड़ा था और जिस सुहाने सपने में वह खो सी गई थी और अपने अस्तित्व को विस्मृत कर बैठी थी वहाँ पहुँचकर उसे लगा कि उसमें पग-पग पर चटियल चट्टानें भी हैं और अंधकार में डूबी खाइयाँ भी।

दरअसल जीवन में अनेक दारुण आघात सह कर लेखक उत्पीड़ित को उबार करुणा रखने में समर्थ हुआ है। करुण पहलू अर्थात् दूसरों के दुख-दर्द को बड़ी ही पैनी दृष्टि से टॉल्स्टाय साथ ही ऐसे प्रसंगों में आत्मा की सम्पूर्ण गहराई उँडेल देना उस मनोवैज्ञानिक सत्य का उद्घाटन करता है जिसके बिना कोई भी कला महान नहीं होती। अकथनीय ग्लानि और अभिलाषा के इस दुहरे भाव की प्रतिक्रिया में एक साथ उभरती और सिमटती रेखाएँ स्थायी मानव-समस्याओं के सम्पूर्ण और सच्चे चित्र उभारने की क्षमता रखती हैं।

टाल्सटाय की लेखनी की अद्वितीय ताकत अवश्य ही अन्ना के जीवन के अन्तिम दिन में बहुत अधिक रूप रस कचोट खाकर तिलमिला देती है। जब वह अपनी बग्घी पर राजधानी की सड़कों से घूमती है और भूतकाल के भूले-बिसरे चित्र उसके सामने से गुजरने लगते हैं तब वह एक कचोटते हुए तान्त्रिक सम्मोहन के वशीभूत हो जाती है और कहती है—"यह सब नीचता है। ये गिरजाघर में घंटे बजा रहे हैं और वह व्यापारी कितनी सावधानी से व्यापार कर रहा है मानो उसे कुछ खो जाने का डर हो। ये गिरजाघर क्यों हैं यह घंटा क्यों है और यह क्यों धोखा है दगा है? क्या केवल इसलिए कि हम तथ्य को छुपा दें जिससे हम सब आपस में एक दूसरे से घृणा करें। जैसे ये मोटर-ड्राइवर आपस में खुलेआम गन्दी गालियाँ बक रहे हैं। यह सब मायाजाल है, दगाबाजी है, मिथ्या है, षड्यन्त्र है—नीचता है। उपन्यास की नायिका की मानवीय सुख की खोज और उसकी कारुणिक मृत्यु पाठक की हृदय-तन्त्रियों को झकझोर देती है।

टाल्सटाय का तीसरा प्रमुख उपन्यास 'रिसरेक्शन' है। उसमें निर्दयी अनिवार्य जमींदारी प्रथा का मर्मस्पर्शी चित्रांकन है। 'महान टाल्सटाय ने' —लेनिन के शब्दों में—"सबसे अधिक यथार्थ ढंग से झूठे नकाब को नोचा है।

कला के बारे में टाल्सटाय के विचार हैं कि कला लोगों को प्राप्य होनी चाहिए। अपने प्रसिद्ध लेख 'कला क्या है?' में उसने लिखा—"जैसे ही ऊपरी वर्ग की कला को विकास से हटकर कोई कला की अवनति की ओर अग्रसर होने लगता

२१

कुछ पाश्चात्य कवियों की ग्राम्य सामाजिकता

उच्चस्तरीय काव्य जीवन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों को आत्मसात् कर निगूढ़ अवधारणा और उदात्त भावना की संस्थिति का निरूपण करता है पर इससे पृथक कुछ ऐसा भी सृजन है जो रात-दिन के अनुभूत प्रयोगों और नित्य प्रति आँखों से गुजरने वाली घटनाओं और अगणित समस्याओं में से वास्तविकता को ग्रहण कर उसके सत्सौन्दर्य का दर्शन कराता है। ऐसी कविताओं में लोक-संवेद्य उपकरणों के बीच हृदय की सच्ची अनुभूतियाँ तरंगित होकर प्रवहमान रहती हैं। समाज के जीते-जागते दृश्यचित्र ऐसे पद्यों में जैसे तरल रहते हैं और परिस्थिति पात्र एवं प्रसंगानुकूल व्यापक अनुभूतियों के संयोजन से प्रभावोत्पादकता उत्पन्न करते हैं। कवि का अन्तर्मन लोकमानस की चिन्ता धारा से जुड़कर एक विशेष सजीवता और सुसम्पन्नता संजोता है जो जन-मन को तुष्ट करने वाले ग्राम-जीवन के अमृत कणों को छलकाता है।

यहाँ कतिपय पाश्चात्य कवियों की अनूदित कविताओं में लोक-संस्कृति के उपादानों की स्वीकृति और उनका निर्वाह केवल स्थूल अर्थों में ही नहीं हुआ अपितु उनमें सादगी, भाव-गांभीर्य और प्रयोजन की सच्चाई है। जीवन की अनगिन दैनन्दिन घटनाओं में से कुछ ऐसे व्यावहारिक मुक्तों को चुना गया है जो सीधे मन और प्राणों को छूते हैं।

सच सामान्य काव्य की विशेषता है कि कवि अपने विशिष्ट व्यक्तिगत और इधर-उधर बटोरे अनुभवों को इतना संवेद्य और व्यापक बनाकर प्रस्तुत करे कि जिस से उसकी तह तक पहुँचा जा सके। विभिन्न और बहुविध स्तर की चीजों के बावजूद इस प्रकार का सम्पूर्णाभास सर्जनात्मक सम्भावनाओं को अधिकाधिक विकसित करता है। कला-सृजन की दो मुख्य कसौटियाँ हैं—एक सैद्धान्तिक चेतना और दूसरी व्यावहारिक चेतना। मनोवैज्ञानिक व सैद्धान्तिक विवेचन आंतरिक संवाद का दिग्दर्शक है पर व्यावहारिक चेतना की अनुभूति किस प्रकार सामान्य अनुभूति के साथ एक सतह पर खड़ी की जा सकती है और उससे मानवीय भावनाओं का कैसे तादात्म्य किया जा सकता है—यह देखना है। दरअसल ऐसी अव्याहत कला ही उस वैचारिक संस्कृति को जन्म देती है जिसकी पृष्ठभूमि में एक परम्परा और दर्शन का निवास होता है तथा कुछ विशिष्ट लोकादर्शों की प्राप्ति के लिए वस्तुस्थिति की सापेक्षता और सत्य

निर्जीव कर दिया था। अत्यन्त परिश्रम के कारण उनका श्वास फूटा जा रहा था और आँखें निकली पड़ रही थीं। अन्त में वे कुछ मार्ग में निश्चेष्ट होकर गिर पड़े। वह जयघोष करती हुई भीड़ अब कहाँ थी? उसका कोलाहल तो बहुत पहले ही शान्त हो गया था। आनन्द के बाजे जो इस दौड़ का स्वागत कर रहे थे बहुत पीछे छूट चुके थे। सर बास्टर और उनका हार्ट घोड़ा*—ये ही दोनों अकेले दौड़ रहे थे। यह दौड़ पृथ्वी की सी नहीं वरन् स्वर्गीय सी प्रतीत हो रही थी। बेचारा हार्ट अत्यन्त कष्ट से पर्वत पर चढ़ा। वह कितनी दूर तक दौड़ा इसका विवरण देने के लिए मैं यहाँ नहीं रुकूँगा प्रत्युत उसकी हृदय-विदारक मृत्यु की घटना का ही उल्लेख करूँगा। सर बास्टर के सम्मुख उनका वीर अश्व दीन-हीन असहायावस्था में मरा हुआ पड़ा था।

वे मृत घोड़े से उतर कर एक झाड़ी के सहारे बैठ गये थे। कुत्ता मनुष्य अथवा परिचारक कोई भी उनके साथ नहीं था। इस निर्जन स्थान में उन्होंने विजयसूचक शब्द अथवा वाद्य-ध्वनि करना आवश्यक नहीं समझा। वे हर्ष से गद्गद् हो चुपचाप उस घोड़े के मृत शरीर को देखते रहे।

उस झाड़ी के समीप जहाँ सर बास्टर बैठे थे विजय प्रदान कराने वाला वह मूक प्राणी निर्जीव पड़ा था। उस के मुख से सफ़ेद झाग निकल रहे थे। उसके नासिका-रंध्र पहाड़ी के नीचे बहते हुए स्रोत के जल को स्पर्श कर रहे थे। उसके अन्तिम गहरे श्वास के साथ जो पर्ण-कण उड़ कर आ गये थे वे अभी तक वायु में प्रकम्पित हो रहे थे।

घोड़े की मृत्यु का दृश्य अपूर्व था। सर बास्टर आनन्दातिरेक के कारण बहुत देर तक स्थिर न बैठ सके। वे सोचने लगे—क्या मनुष्य का भाग्य इतना उज्ज्वल भी हो सकता है? उन्हें अलौकिक अपरिमित आनन्द की अनुभूति हो रही थी। वे प्रफुल्ल-चित्त चारों तरफ घूम-घूम कर उस स्थान का निरीक्षण कर रहे थे।

कुछ दूर पहाड़ी पर चढ़कर सर बास्टर ने अनेक अन्य पशुओं के पैरों के चिह्न घास पर देखे। मुख पर से स्वेद-कणों को पोंछकर उन्होंने

* (हार्ट उस घोड़े का नाम है जिस पर सवार होकर सर बास्टर ने दौड़ में विजय पाई थी। स्वामी-भक्त हार्ट ने अपने स्वामी को विजयी बनाने के प्रयत्न में अपने प्राणों की बलि दे दी। हार्ट का यह बलिदान इस कविता की मूल प्रेरणा है।)

गर्मी के सम्य असह्य उष्ण दिनों में सर वाल्टर अपनी चकित प्रेयसी के साथ उस मनोरम निकुंज में आते थे और अनेक नर्तकियों तथा गायिकाओं के नृत्य संगीतादि से अपना आमोद प्रमोद करते थे।

यथा समय सर वाल्टर की मृत्यु हुई और उनका मृत शरीर उनके पूर्वजों के समाधि-स्थान में दफ़ना दिया गया। किन्तु यह सब बतलाना हमारा उद्देश्य नहीं। अपने आशय को स्पष्ट करने के लिये हमें कुछ और भी कहना है।

आश्चर्यजनक कहानियाँ-किस्से लिखना मेरा व्यवसाय नहीं और न मैं इस कला से परिचित ही हूँ। मननशील व्यक्तियों के लिये अवकाश के समय कुछ चिन्तन का विषय प्रस्तुत करने में ही मुझे सुख प्राप्त होता है।

एक बार जब कि मैं हाव्स से रिचमाण्ड जा रहा था अपने मार्ग में एक लम्बी घाटी की चौकोर भूमि के तीनों कोनों पर तीन सूखे हुए जंगली वृक्ष देखे और एक वृक्ष लगभग चार गज की दूरी पर कुएँ के समीप देखा।

इन वृक्षों का क्या अभिप्राय है—यह जानने के लिये कौतूहलवश मैं घोड़े पर से उतर गया और तभी मैंने एक पंक्ति में खड़े तीन पत्थर के खम्भों को भी देखा जिनमें से अन्तिम खंभा ऊँची पहाड़ी के शिखर पर स्थित था।

वे वृक्ष बिल्कुल सूख गये थे। उनमें पत्ते नहीं थे शाखाएँ भी नहीं थीं। उस चौकोर टीले की हरियाली सर्वथा नष्ट हो चुकी थी किन्तु यह सब देखकर अनुमान लगाया जा सकता था कि विगत काल में यहाँ मनुष्य भी कभी रहते होंगे।

मैंने पहाड़ी के चारों ओर बहुत ध्यान पूर्वक देखा। ऐसा भयानक और निर्जन स्थान मैंने पहले कभी नहीं देखा था। प्रतीत होता था कि बसन्त का आगमन यहाँ होता ही नहीं और प्रकृति सदैव यहाँ रोती रहती है।

मैं वहाँ बहुविध भावों और विचारों में खोया हुआ खड़ा था। उस समय एक ग्वाला आता हुआ दिखाई दिया। मैंने उसे पुकारा और उस स्थान के बारे में पूछा।

वह व्यक्ति रुका और उसने वह कहानी बतलाई, जिसका उल्लेख मैं अपनी पूर्वोक्त कविता में कर चुका हूँ। उसने कहा— गुज़रे-ज़माने

'किन्तु अब न तो यहाँ घास है और न सघन छाया ही । धूप भी इस निर्जन बीहड़ प्रदेश में कभी नहीं चमकती। मेरी सम्मति म जब तक इन वृक्षों पत्थरों अकाशम सभी का क्षय नहीं हो जायगा तब तक यहाँ सूर्यदेव की कृपा नहीं होगी ।

प्रत्युत्तर में मैंने कहा—"महोदय ! आपका कथन सर्वथा सत्य है । मेरे और आपके विचारों में बहुत कम अन्तर है । उस अभाग जीव की दारुण हत्या प्रकृति की दृष्टि से छिपी नहीं अपितु वह अब भी उसकी मृत्यु पर सहानुभूति से अश्रु विमोचन करती है ।

'वह अव्यक्त शक्ति जो सर्वत्र वायु, मेघ पत्तों और निर्झरों में निहित है अपने प्रिय सरल निरपराध जीवों के कष्टों और दुःखों की पुनीत स्मृति में सदैव श्रद्धा और प्रेम के आँसू बहाया करती है।

'यद्यपि यह रमणीक स्थान आज वीरान और उजाड़ है और इसके चारों ओर सर्वनाश और अन्धकार दृष्टिगोचर हो रहा है तथापि प्रकृति कभी किसी समय इस स्थान का भी स्वागत करेगी और अपने सौंदर्य को वह यहाँ पुनः प्रसारित करेगी।

अब जो इन वस्तुओं को उसने नष्ट होने के लिए छोड़ दिया है वह इसलिए कि हमें यह विदित हो जाय कि हम कितने तुच्छ मनोवृत्ति के और विवेकहीन हैं । किन्तु भविष्य में दया करके वह इन दुःखद स्मारकों को पृथ्वी के गर्भ में छिपा लेगी । मित्र ! प्रकृति ने जो कुछ हमारे समक्ष प्रदर्शित किया है तथा जो कुछ अपने भीतर छिपा रखा है उससे हम यह उपदेश ग्रहण करें कि हम अपने सुखों और महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए तुच्छ से तुच्छ जीव को भी कभी क्लेश न पहुँचावें ।

अपनी सुप्रसिद्ध कविता 'लूसी ग्रे' में वर्ड्सवर्थ ने बड़ी मार्मिक और करुणाप्लावित भावनाओं का विम्दर्शन कराया है जो किसी तार्किक आधार पर स्वतःसिद्ध नहीं अपितु अतर्क्यपूर्ण अंतर संघात को व्यक्त करता है

"मैं प्रायः ल्सी ग्रे के विषय में सुनता था—और एक बार जबकि मैं वन में भ्रमण कर रहा था तो प्रातःकाल की सांध्य-बेला में मुझे उस एकाकिनी बाला के दर्शन हुए थे ।

पृथ्वी की विभूति वह सरल भोली कन्या एक विस्तृत भूखण्ड में रहती थी । अपने अल्प जीवन में वह सखी-सहेली का परिचय भी प्राप्त न कर सकी । मानव-सृष्टि में ऐसी उत्कृष्ट कुमारियाँ बहुत सौभाग्य

पुनः उनका अनुसरण किया। बहुत दूर तक भी वे समाप्त नहीं हुए। अन्त में लूसी के माता-पिता पुल पर पहुँचे। पुनः बर्फीले किनारे पर उन्हीं पद-चिन्हों का पीछा करते हुए वे पुल के मध्य में पहुँच गये। ठीक उसी स्थल पर इन पद चिन्हों का अन्त था।

इस दुर्घटना के पश्चात् भी लोगों का दृढ़ विश्वास है कि बालिका अभी तक जीवित है और शून्य वन-प्रान्त में यदा-कदा उसके दर्शन होते हैं। ऊँचे-नीचे दुरूह विषम पथों में भटकती हुई वह बिना पीछे मुड़े आगे बढ़ती रहती है और अत्यन्त करुण दुःखभरा गीत गाती है जो वायु के स्तरों में निरन्तर ध्वनित होता रहता है।

बड़े-बड़े कवियों तक की कविता के प्रेरणा-स्रोत कभी-कभी इतनी तुच्छ नगण्य वस्तुओं पर आधारित होते हैं कभी-कभी वे क्षुद्र जीवों के स्नेह सौहार्द और सहानुभूति में इतने आत्मविभोर हो उठते हैं कि उनके जीवनगत दृष्टिकोण अपनी समस्त यथार्थता के साथ उनके सम्मुख हाथ बाँधे खड़े रहते हैं। इंगलैण्ड के सुप्रसिद्ध कवि राबर्ट बर्न्स की यह विशेषता थी कि तुच्छ से तुच्छ वस्तुओं में भी उनकी दिलचस्पी और मानसिक रुचि सक्रिय थी। सन् १७८५ के नवम्बर मास में एक दिन ऐसी घटना घटी कि जब बर्न्स खेत में हल चला रहे थे तो उनके हल की छुरी से एक चूहे का बिल उलट-पुलट गया। चूहा भयातुर हो जोर से भागा। बर्न्स का ब्लेन नाम का एक सेवक छड़ी लेकर उसे मारने दौड़ा किन्तु बर्न्स ने उसे यह कह कर रोक दिया 'क्या इसने तुम्हारी कोई क्षति की है?' सन्ध्या समय वे कागज-कलम लेकर बैठ गए और उन्होंने चूहे पर कविता लिख डाली। बर्न्स की इस सुप्रसिद्ध कविता 'टु ए माउस' (To A Mouse) का भावार्थ नीचे दिया जाता है

"ओ छोटे क्षीण भयातुर, डरपोक प्राणी! तेरे पेट में यह कैसी उथल-पुथल मची? तुझे इस प्रकार आर्तनाद करते हुए शीघ्रता से सरपट दौड़ने की आवश्यकता न थी। मैं अपनी हिंसक आकांक्षाओं को लेकर तेरे पीछे भागने की धृष्टता न कर सकता था।

मुझे हार्दिक क्षोभ है कि मनुष्य का अनुशासन प्रकृति के सुखद सामाजिक बन्धनों को क्षण भर में ध्वस्त कर देता है। मेरे जैसे तुच्छ पृथ्वी से उत्पन्न तथा और चिरंतन साथी के प्रति तेरी यह दुर्भावना जिसने कि तुझे द्रुतवेग से भागने को बाध्य किया, न्यायसंगत ही है।

निःसन्देह, तू सदैव फलता-फूलता रहे। ओ छोटे जीव! तेरा अस्तित्व इतना स्वल्प है कि यदि तू हमेशा बरकरार रहे तो हानि ही क्या है। मैं तुझे सद्भावना पूर्वक आशीर्वाद देना कभी न भूलूँगा।

तेरा जरा सा छोटा घर उजड़ गया। अब इस चतुर्दिक फैली हरीतिमा में नया]

में ऐसे प्रमाण मिले हैं कि सम्राट् सोलोमन भी कबूतरों को डाक हरकारों के रूप में पालता था।

ग्रीक रोमन पारसी और सिराक्यूस के शाही सम्प्रदाय में इन कबूतरों को संदेशवाहक के बतौर इस्तेमाल किया जाता था। युद्ध और शान्ति प्रेम और व्यवसाय जीवन-मरण सुख-दुख सन्देशों का विनिमय उनके द्वारा होता था। गॉल की विजय के समय जूलियस सीजर ने कबूतरों से सहायता ली थी और इतिहासकार प्लाइन ने लिखा है कि सम्राट् हरटियस और ब्रूटस ने मोडना युद्ध-काल में कबूतरों को संदेश विनिमय का माध्यम बनाया था। सुप्रसिद्ध वाटरलू की लड़ाई में कबूतर अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए थे।

हमारे यहाँ मुस्लिम राजाओं से भी पूर्व कबूतरों का उपयोग होता रहा है और अंग्रेजी शासन काल तक उनके द्वारा 'डाक सर्विस' का उल्लेख मिलता है। कहते हैं कबूतर का वेग १२ मील प्रति घंटा से भी अधिक होता था। उक्त कविता ५६१ ४७८ ईसा पूर्व एक यूनानी कवि की रचना है जिसे सुप्रसिद्ध अंग्रेजी कवि टामस मूर ने अंग्रेजी में रूपान्तरित किया है।

"ओरे प्यारे कबूतर ! बताओ न !
क्यों तुम इस प्रकार अपने सुकोमल
आर्द्र पंखों को फड़फड़ा कर
वायु में पुष्पों की सुखद भीनी गन्ध
विकीर्ण करते उड़े चले जा रहे हो।
बताओ न ? किधर कहाँ
किस गन्तव्य की ओर
तुम भ्रमण कर रहे हो ? प्रिय पक्षी !
बताओ न मुझे अपनी
पूरी कहानी तो सुनाते जाओ।

विचित्र पथिक !
टीयस संगीत-परम्परा के चारण कवि से
मेरा सम्बन्ध है और न नीलवर्ण
कोमल नेत्रों वाली सौन्दर्य-अप्सरी के पास
उसका आदेश-पत्र
लिये जा रहा हूँ
आह !
इन नेत्रों ने न जाने कितनों को मदमस्त बनाया है
पर कवि तो सर्वाधिक उसके स्नेह-पाश में आबद्ध है।
प्रेम की देवी 'वीनस'

अपनी अवांछित उदारता का परिचय देते हुए उसने संदेश को बाहरी दीवार पर रख दिया है मानो कि मैं उन्हें लूँगी या वहीं पड़े रहने दूँगी ।

क्या मैं निर्मम हूँ या कि कृतघ्न क्योंकि इन अमूल्य बेशकीमती उपहारों के बदले में तुम्हें कुछ भी तो नहीं दे पा रही हूँ—सचमुच कुछ भी नहीं। किन्तु ऐसा नहीं, मैं निर्मम या कृतघ्न नहीं बल्कि मजबूर और दयनीय हूँ । ईश्वर से पूछो जो सर्वज्ञ है ।

अनवरत अश्रुओं ने मेरे जीवन की लालिमा को अपहृत कर लिया है और मुझे मृत और नितान्त निष्प्राण बना दिया है। यह ठीक नहीं है आखिर मेरा वह आधार नहीं बन सकता जो उसका है।

चले जाओ ! मुझ से दूर ! पर मैं ऐसा अनुभव करती हूँ मानो मैं अब से तुम्हारे आश्रय की छाया में खड़ी रहूँगी ।"

संचार-साधनों के समुचित विकास के पूर्व पैदल हरकारों को मार्ग की अनगिनत कठिनाइयों को पार करना पड़ता था। आँधी-तूफान वर्षा-धूप और ऊँची-नीची समतल या पर्वतीय भूमि पर दिल दहलाने वाले जंगली जानवरों से लोहा लेते हुए जान हथेली पर रख कर वास्तव में उन्हें आगे बढ़ना पड़ता था। इन हरकारों के पास एक चाबुक होती थी जिसमें छोटी-छोटी घंटियाँ लगी होती थीं जो इनके आगमन की सूचक थीं। सुप्रसिद्ध कवि रुडियार्ड किपलिंग ने 'ओवरलैंड मेल' की 'फूट सर्विस' (पैदल सेवा) का बड़ा ही रोमांचक वर्णन प्रस्तुत किया है।

"भारत की महारानी के नाम पर अग्रसर होते रहो ओ जंगल के स्वामी ! तुम चाहे कहीं भी हो आगे बढ़ते रहो।

सान्ध्य बेला में वन प्रांतर अस्थिर हो उठता है यहाँ का वातावरण अशांत हो जाता है, फिर भी हम वनवासी अपने घरों से आने वाले पत्रों की प्रतीक्षा कर रहे हैं। बाघ छिप जाएँ ! शेर अपनी दुम को पीछे मोड़ लें ! पहाड़ी डाक महारानी के नाम पर किसी तरह सुरक्षित पहुँच जाए।

ज्योंही सान्ध्य अंधकार सघन होता जाता है घंटियों की रुनझुन के साथ हरकारा पगडंडी पर मुड़ता है—उस पगडंडी पर जो पहाड़ी पर ऊपर ले जाती है। उसकी पीठ पर डाक के थैले लटके हुए हैं और ठोड़ी पर कपड़ा लिपटा है। कमरबंद पर डाकखाने का यह सूचक-चिह्न लटका है जिस पर लिखा है 'रेल से प्राप्त करते ही अमुक तारीख को हरकारे द्वारा ओवरलैंड मेल के दो थैले भेजे गये।"

क्या नदी में बाढ़ आ गई है ! उसे तैर कर पार करना होगा या नष्ट हो जाना होगा। क्या वर्षा ने सड़क को अवरुद्ध कर लिया है ? उसे शिखर पर से उतरना होगा। क्या भयंकर तूफान उसे रुकने का संकेत देता है ? पर आँधी-तूफान

वह हल चलाते बैल से अपनी ताकत की होड़ करती है
जैसे ही मिट्टी के ढोंके उखड़ते हैं
व्यथा के ढोंके उसके कष्ट को रूप देते हैं ।

रात्रि में
जबकि उसका काम खत्म होता है
वह पहाड़ियों पर जाती है
उस ध्वस्त बुर्ज की छितराई दहलियों के समीप
घुटने टेकने और रोने जहाँ उसका पति
बिजली से आहत होकर मरा था ।
मुँह अँधेरे से उठकर मध्य रात्रि तक
वह दुःख क्लेशों से अनभिज्ञ गुलाम सी
कड़ा श्रम करती है
स्वाभिमान की निर्मम जड़ता सँजोए
अपने असहाय आठ बच्चों का पालन-पोषण करती हुई
जो जिन्दगी के सुखों से वंचित हैं ।

मुँह अँधेरे से मध्य रात्रि तक
वह कड़ा श्रम करती है
उस अन्धे बैल की तरह,
जो कोल्हू में जुता हुआ
अपने चिर-परिचित पथ पर अविरल चक्कर काटता है
और दासता के अनाज को दलकर
जीवन की खुराक पैदा करता है ।"

मानव की उन्मुक्त आत्मा दासता का बंधन कभी भी स्वीकार नहीं करना चाहती मगर जिन्दगी की अनगिनत मजबूरियों और पेट की आग ने मजबूर नाम की चीज को जन्म दिया । गरीबी की मार उसकी आत्मा के स्वाभिमान को चाट जाती है, उसमें कुछ बचता नहीं । इंजिन की भट्टी में कोयला झोंकने वाले मजदूरों का एक दृश्य चित्र इसी कवि के मानस पटल पर कैसा उभरा है

"ऊपर तक उघाड़े बदन
वह भीतर खोह में घुस जाते हैं
उन भयंकर अँधियारी खोहों में
जो अग्नि से आच्छादित और धुएँ से ठसाठस हैं
वे नीचे छाया में बैठते हैं
उन सघन छायाओं में जो धूल, राख और कालिख से ओतप्रोत हैं ।

प्रभात के जन्म पर आकाश खुशियाँ मना रहा था।
वर्षा के बिंदुकणों से घास चमक रही थी
विशाल भूखण्ड में खरगोश उत्फुल्ल हो चौकड़ी भर रहा था।
कलकलित करती से जल का पथ उफनता और फुहारें भरता हुआ
वह दौड़ रहा था।
जहाँ जहाँ जाता था
वह धनु भी धूप में चमकता हुआ उसके साथ उड़ रहा था।

मैं तब उस विशाल भू-प्रदेश का पंथी था।
प्रसन्नता में विभोर खरगोश को चौकड़ी भरते मैंने देखा।
दूर वन्य-प्रदेश में जल की कलकलाहट भी मैंने सुनी
अथवा सब सुनकर भी जैसे अनजान था।
चंचल बालक-सा मस्त
सुहावने मौसम ने मेरे हृदय को अभिभूत कर लिया था।
मेरी अपनी व्यतीत स्मृतियाँ
दूसरों की विडंबना भरी मनहूस बातें
मैं सभी कुछ विस्मृत कर चुका था।

पर देखा कि प्रायः होता है खुशी का अतिशय्य विवेक-शक्ति
को शिथिल करता हुआ प्रसन्नता में हमें जितना ही ऊपर उठा देता है
विषाद के क्षणों में उतना ही नीचे फेंका भी देता है।
वह प्रभात मेरे लिए ऐसा ही सिद्ध हुआ।
भय भरी असम्भावित कल्पनाओं ने मुझे जकड़ लिया।
धुंधली उदासी और आशंकाएँ,
नहीं जानता कि उन्हें क्या कहूँ
मुझ पर बुरी तरह छा गई।

मैंने तभी पक्षी को आकाश में चहकते सुना। चपल खरगोश के
बारे में भी मैं सोचता रहा। आह! मैं पृथ्वी पर कैसा खुशनसीब
प्राणी हूँ। इन सौभाग्यशाली प्राणियों की भाँति ही
मैं समस्त दुश्चिंताएँ भुलाकर दुनिया से दूर—बहुत दूर—चला
आया हूँ। लेकिन क्या जाने एक दिन ऐसा भी कभी आए
जब एकाकीपन मनोवेदना दुःख और गरीबी मुझे आ घेरें।

सारी जिन्दगी मैंने मस्ती में गुजार दी मानों जीवन का व्यापार
केवल चन्द दिनों की बहार हो। मानो सभी अभीप्सित वस्तुएँ
मेरे सुखद विश्वास और अब तक की मेरी सुखद समृद्धि पर रीझकर

बारम्ब और कथा सा कठोर बनाना पड़ता है। यही एक तथ्य इस महाशति की दृष्टि की गहरी पैंठ का उपलब्ध प्रमाण बनकर निम्न कविता में प्रकट हुआ है :

"गहरे
नीचे गहरे
पृथ्वी के प्रसार कोष म
और नरक की-सी अंधेरी पतियों में भी
वे कोयला खोदते ह।
असीम की कठोर काली छाती को चीरकर
वे कोयला खोदते ह।

हर जगह
वासत की रेखाएं
जो सघन छायाएं बनकर उनकी आँखों में धंस जाती हैं
जबकि रात-सी कालिमा रन्ध्रों द्वारा
झकझोरती हुई
उन्हें काली नरक में ढकेल देती है।

गहरे
नीचे गहरे
पृथ्वी की अंधेरी सीली कोख में
चुपचाप और अनदेखे
उनका दिल धड़कता है
जबकि ऊपर
भयानक सूनापन
निर्मम घना
और कोयले की धूम्र-सा बादल बनकर
उनके सिर पर छाया रहता है

हमेशा
नीले स्वच्छ आकाश को
एक नजर देखने के लिए
उनकी आत्मा तड़पती है
और तारे
अप्रभावित पुलाव पृथ्वी के
विनाश के पृष्ठों में संक्षिप्त से जान पड़ते हैं

मैदानी भाग के छोर पर वह वृद्ध उस निश्चल बादल सा खड़ा था जो तूफानों की भीषण गड़गड़ाहट को भी नहीं सुनता और यदि चलता है तो एक साथ भार-संभार लेकर चलता है।

तदनन्तर अपने को अनिश्चित करके उसने उस तलय्या को छड़ी से झकझोरा और उसके गंदले पानी में इस प्रकार दृष्टि गड़ाकर देखा मानों कंठस्थ करने के लिए वह किसी पुस्तक को ध्यान से पढ़ रहा हो। एक अपरिचित का ध्येय लेकर और उसके समीप जाकर मैंने उससे कहा आज का सुबह एक सुन्दर सुहावने दिन का द्योतक है।

वृद्ध ने विनम्र भाषा में क्रमशः शब्दोच्चारण कर, मेरी बात का सौम्य उत्तर दिया। फिर मैंने उससे पूछा, 'आप यहाँ क्या कर रहे हैं? आप जैसे वयोवृद्ध व्यक्ति के लिए यह जगह नितांत सूनी है।' अपनी बुझी आँखों किन्तु अब भी प्रखर दृष्टि फेंककर किंचित् आश्चर्य के साथ उसने उत्तर दिया।

क्षीण कंठ से क्षीण शब्द धीमे-धीमे बाहर आए, पर प्रत्येक तरतीबवार एक के बाद एक गुरु गम्भीरता लिये और ऊँची भावनाओं को समेटे। चुने हुए शब्द और नपी-तुली बात जो साधारण व्यक्ति की समझ से परे की चीज़ थी ऐसी शानदार वक्तृता जैसी स्काटलैण्ड के समाधि-निवासी और धार्मिक व्यक्ति जो ईश्वर और आत्म मात्र के लिए सर्वस्व अर्पित कर देते हैं, बोलते हैं।

उसने बताया कि जल में वह जोंक ढूंढने आया है। वृद्ध और निर्धन होने के कारण यह व्यवसाय उसके लिए बड़ा ही कष्टप्रद और थका देने वाला हो गया है। उसे अनेक मुसीबतें उठानी पड़ती हैं। एक मैदान से दूसरे मैदान एक तलय्या से दूसरी तलय्या इस प्रकार दर-दर भटकता ईश्वर की कृपा पर निर्भर जैसा भी मौका देखता है वहीं आश्रय ग्रहण करता है। इस तरीके से ईमानदारी के साथ वह अपनी आजीविका कमाता है।

वृद्ध अभी तक मेरे समीप खड़ा बातें कर रहा था। लेकिन अब उसकी वाणी जल-प्रवाह सी धीमी बड़ी कठिनाई से ही सुन पड़ रही थी। शब्द को शब्द से पृथक करना कठिन था। उस आदमी का

ास्त और वज्र सा कठोर बनाना पड़ता है। यही एक तथ्य इस महाकवि की दृष्टि ो गहरी पैठ का ज्वलन्त प्रमाण बनकर निम्न कविता में प्रकट हुआ है :

"गहरे
नीचे गहरे
पृथ्वी के प्रस्तर कोष में
और नरक की-सी अँधेरी गलियों में भी
वे कोयला खोदते हैं।
ज़मीन की कठोर काली छाती को चीरकर
वे कोयला खोदते हैं।

हर जगह
कालस की रेखाएँ
जो सघन छायाएँ बनकर उनकी आँखों में धँस जाती हैं
जबकि रक्त-सी कालिमा रक्तों द्वारा
झकझोरती हुई
उन्हें काली खदान में धकेल देती है।

गहरे
नीचे गहरे
पृथ्वी की अँधेरी सीली कोख में
चुपचाप और अकेले
उनका दिल धड़कता है
क्योंकि ऊपर
भयानक सूनापन
निर्मम घना
और कोयले की धुआँ-सा बादल बनकर
उनके सिर पर छाया रहता है

हमेशा
नीले स्वच्छ आकाश को
एक नज़र देखने के लिए
उनकी आत्मा तड़पती है,
और तारे
असमापित गुलाब पुष्पों से
विनाश के पृष्ठों में उल्लिखित से जान पड़ते हैं

दारुण और वज्र सा कठोर बनाना पड़ता है । यही एक तथ्य इस महाकवि की दृष्टि की गहरी पैठ का ज्वलन्त प्रमाण बनकर निम्न कविता में प्रकट हुआ है

"गहरे
नीचे गहरे
पृथ्वी के प्रस्तर कोष में
और नरक की-सी अंधेरी गलियों में भी
वे कोयला खोदते हैं ।
ज़मीन की कठोर काली छाती को चीरकर
वे कोयला खोदते हैं ।

हर जगह
कालख की रेखाएँ
जो सघन छायाएँ बनकर उनकी आँखों में धँस जाती हैं
जबकि रात-सी कालिमा रस्सों द्वारा
झकझोरती हुई
उन्हें काली खदान में ढकेल देती है ।

गहरे
नीचे गहरे
पृथ्वी की अँधेरी सीली कोख में
चुपचाप और अनदेखे
उनका दिल धड़कता है
जबकि ऊपर
भयानक सूनापन
निर्मम घना
और कोयले की चट्टान-सा बादल बनकर
उनके सिर पर छाया रहता है

हमेशा
नीले स्वच्छ आकाश को
एक नज़र देखने के लिए
उनकी आत्मा तड़पती है,
और तारे
असम्भावित गुलाब पुष्पों से
दिमाग के पृष्ठों में संश्लिष्ट से जान पड़ते हैं

पाषाण और वज्र सा कठोर बनाना पड़ता है। यही एक तथ्य इस महाकवि की दृष्टि की गहरी पैठ का ज्वलन्त प्रमाण बनकर निम्न कविता में प्रकट हुआ है :

'गहरे
नीचे गहरे
पृथ्वी के प्रस्तर कोष में
और नरक की-सी अंधेरी बस्तियों में भी
वे कोयला खोदते हैं।
ज़मीन की कठोर काली छाती को चीरकर
वे कोयला खोदते हैं।

हर जगह
कालख की रेखाएं
जो सघन छायाएं बनकर उनकी आँखों में धँस जाती हैं
जबकि रात-सी कालिमा रस्सों द्वारा
झकझोरती हुई
उन्हें काली खदक में धकेल देती है।

गहरे
नीचे गहरे
पृथ्वी की अँधेरी तीखी कोख में
चुपचाप और अनदेखे
उनका दिल धड़कता है
जबकि ऊपर
भयानक सूनापन
निर्मम घना
और कोयले की धुआँ-सा बादल बनकर
उनके सिर पर छाया रहता है

हमेशा
नीले स्वच्छ आकाश को
एक नज़र देखने के लिए
उनकी आत्मा तड़पती है,
और तारे
असम्भावित गुलाब पुष्पों से
विनाश के पृष्ठों में संक्लिष्ट से जान पड़ते हैं

जबकि रात में पड़े
उनकी आँखों के सामने पिघलता है
वे भींच भिंचे हुए
कसकर चिपटकर
हाथों से लट्ठों को जकड़े रहते हैं
सब कसकर जकड़े हुए
मानो मौत के दुर्दान्त झोंकों को
अपने 'स्व' में समेट लेना चाहते हैं।

'हम्मालों के प्रति' शीर्षक कविता में भोर के पहले रात्रि में उनकी क्या स्थिति होती है, किस प्रकार आर्थिक दुर्व्यवस्था से अभिशप्त ये मेहनतकश मूक मानव जिन्दगी के दुर्वह भार को ढोते हैं और अपनी भयाक्रान्त विभीषिकाओं में स्तब्ध और दुःस्वप्न से समय बिताते हैं। डॉ॰ मदन मेकवानिसिस ने उनकी मर्मान्तक वेदना को ऐसे शब्दों में सजीव रूप में उभार कर दर्शाया है

'एक सकरी कोठरी में दुबककर बैठे हुए
जीवन की दुर्गन्ध और मृत्यु की विभीषिका से संत्रस्त
जहाँ हवा उन्हें कचोटती है
जैसे मोमबत्तियाँ अपनी लपट से पिघलकर नष्ट हो जाती हैं
उसी प्रकार उनका शरीर भी पिघलता है।

एक सँकरी कोठरी में दुबककर बैठे हुए
उनकी आँखें दूर रात्रि के अँधेरे में तरती हैं;
यहाँ तक कि सर्वनाश के पदचापों की ओर
और अन्धकार के दुरस्थ कोनों में
जहाँ मौत के पग भी कपकपा उठते हैं
और पक्षियों के बोल भी ठिठककर थम जाते हैं।

एक सँकरी कोठरी में दुबककर बैठे हुए
उनकी आँखें रात की अँधेरी तमस में खो जाती हैं
क्योंकि अभी तक
उनकी आँखों में खिसियाकर घुसकर नींद की खुमारी है।
यह मौत जिसमें खेतों का भय समाया हुआ है,
लपलपाते लिपटते अजगरों का भय,
धधकती, फटती लाल धरती का भय
और दरारों बेशुमार दरारों की हल्की चीख का भय,

मीलों लम्बे कपड़े पर
लगातार दौड़ते हैं
क्लांत सुन्न उंगलियों से
निर्मम कठोर पोरों से
निष्प्राण काली उंगलियों से
अब भी
सर्वत्र
वे ऐसा ही करते हैं।"

न केवल इस कवि की दृष्टि मानवों तक सीमित रही है बल्कि पतझड़ के व्यर्थ उजाड़ और इधर-उधर उड़ने वाले सूखे पत्तों तक को उसने अपनी उमड़ती संवेदना प्रदान की है।

'तुषार के तूफानी झोंकों से
पतझड़ के पत्ते
निर्जीव निष्प्राण और क्लांत से
मानो शरद ऋतु तक विश्राम करने के लिए
चरागाहों में इधर-उधर बिखर गए हैं।
संघर्षों से जूझकर
और सुप्त बनाकर
वे मानों गरम करने के लिए
झाड़ियों पेड़ों और जड़ों में रम गए हैं—
जैसे कठिन श्रम करते हुए किसानों को
उनके पाँवों पर लिपटे बोरे
सर्दी से बचाते हैं।"

इस कविता में कवि ने प्रेम और श्रम को परस्पर संश्लिष्ट कर दिया है। प्रेम और श्रम जीवन के प्रमुख व्यापार और एक दूसरे के पूरक सहयोगी और पावन रहे हैं।

"प्रतिक्षण प्रेम को पोषित करो
प्रेम जो न जाने कब से कितने चिर काल से
महान दुर्भेद्य रहस्य है
हृदय के प्रथम स्पन्दन
और चीत के पहले प्रयास से भी जो पुरोगामी है।

प्रतिक्षण श्रम को पोषित करो
श्रम, जो घृणा के भीषण तूफानों को
और अंधकार के दुर्लंघ्य पर्वतों को

विश्व-साहित्य के इतिहास में जिन्दगी को सर्वथा नई दृष्टि देने वाली स्फुट स्थितियों के कुछ अभिनव पहलू या क्षण बहुत ही महत्वपूर्ण हैं जिन्हें केन्द्र मानकर कलाकार अनुभवों का नया संस्पर्श और दृष्टिकोण प्राप्त करता है। निस्संदेह, ये क्षण बहुत ही महत्वपूर्ण हैं और इन क्षणों में सिरजी कला में उसका आत्मदर्शन होता है। तात्पर्य है कि प्रकारान्तर से भावों का यह सहज उन्मेष और भावुकता ही साहित्य की वह थाती है जो अपने सहज स्पर्श से अन्तरात्मा के भीतर तक पैठ कर प्राणों को पुलकित और हर्ष-विभोर करती रहती है।

